सुगम हिन्दी
ज्ञानेश्वरी

सुगम हिन्दी ज्ञानेश्वरी

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं। नीचे बैठा लिपिक इसका विवरण लिख रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोंडा, दूसरी सदी ई.,
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

सुगम हिन्दी ज्ञानेश्वरी

संत ज्ञानेश्वर

हिन्दी काव्यानुवाद
मोरेश्वर गणेश तपस्वी



साहित्य अकादेमी

Sugam Hindi Jnaneshwari : Hindi transtation in verse of Sant Jnaneshwar's *Jnaneshwari* by Moreshwar Ganesh Tapaswi, Sahitya Akadmi, New Delhi (1956).

प्रथम संस्करण :1956

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फीरोजशाह रोड, नयी दिल्ली 110 001

बिक्री केन्द्र

स्वांति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल
23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर मार्ग
कलकत्ता 700 053

172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग
दादर, बम्बई-400 014

गुना बिल्डिंग, दूसरी मंज़िल
304-305, अन्ना सालई, तेनामपेट
मद्रास 600 018

ए डी ए रंगमन्दिर,
109, जे. सी. मार्ग,
बंगलोर 560 002

ISBN 81-7201-756-1

लेजर टाइपसेटिंग : इन्दु प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली 110 006
मुद्रक : आकाशदीप प्रिंटर्स, दरियागंज, नयी दिल्ली 110 002

सन्त ज्ञानेश्वर

संक्षिप्त जीवनी

संत ज्ञानेश्वर ने धर्मपरायण तथा शास्त्राभ्यासी परिवार में जन्माष्टमी के दिन, ठीक भगवान श्रीकृष्ण के जन्म के समय पर शक संवत 1197 में जन्म लिया। उनके पिता विट्ठल पंत बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति तथा प्रारम्भ से ही वैराग्य में आस्था रखने वाले थे। माता रुखमाई भी पतिपरायणा एवम् धार्मिक सुसंस्कारों में पली थी। घर-गृहस्थी छोड़-छाड़ कर विट्ठल पंत एक दिन अचानक काशी चले गये और उन्होंने संन्यास ले लिया। वहाँ वे चैतन्याश्रम के नाम से प्रख्यात हो ही रहे थे कि उनके गुरु को रामेश्वर की यात्रा के दौरान रुखमाई से सारी बात मालूम हो गई; उन्होंने वापस आकर विट्ठल पंत को फटकार सुनाई और वापस गृहस्थाश्रम में जाने की आज्ञा दी।

गुरु की आज्ञा का पालन करने विट्ठल पंत वापस आलंदी आ गये और गृहस्थी सँभालने लगे। किन्तु उस जमाने के ब्रह्मवृंदों ने संन्यासाश्रम स्वीकारने के बाद लौटकर वापस गृहस्थी बसाने वाले विट्ठल पंत के परिवार का बहिष्कार किया। उनसे रोटी-पानी का नाता तोड़ा। उन्हें न जाने क्या-क्या यातनाएँ नहीं दीं। इसी बहिष्कृत जीवन में उनके चार सन्तानें हुईं। पहले निवृत्तिनाथ, दूसरे ज्ञानदेव, तीसरे सोपानदेव और चौथी मुक्ताबाई। इस बहिष्कृत जीवन में गाँव के बाहर एक कुटिया बनाकर वे बारह वर्ष तक रहे। फिर सारा परिवार तीर्थाटन के लिए निकल पड़ा।

संन्यास लेने के बाद फिर गृहस्थाश्रम में लौट आना धर्मबाह्य तो था ही, किन्तु अपने इस अपराध का दण्ड बच्चों को न मिले, इस हेतु विट्ठल पंत ने ब्रह्मवृंद को बार-बार बिनती की। निवृत्तिनाथ बड़े हो गये थे और अनुभव करने लगे थे कि घोर तपस्या किये बिना इस अपराध का परिमार्जन नहीं होगा। अतः वे प्रख्यात ज्योतिर्लिंगों में से त्र्यंबकेश्वर गये और वहाँ से पास ही गोदावरी का उगमस्थान जो ब्रह्मगिरी है, उसकी

अतिविकट परिक्रमा करने का देहदंड स्वयम् ही प्रतिदिन लेने लगे। एक दिन परिक्रमा के मार्ग में एक व्याघ्र उनके पीछे लग गया। प्राण बचाने के लिए भागते-भागते निवृत्तिनाथ श्री गहिनीनाथ की गुफा में क्या घुस गये, वहाँ से निकले तो सारा अध्यात्मज्ञान लेकर स्वानंदसाम्राज्य के सम्राट होकर ही। इन्होंने ही अपने दोनों भाइयों तथा बहन मुक्ताबाई को अध्यात्म-ज्ञान की राह पर चलने तथा मुक्ति पाने का गुरुमंत्र दिया।

ज्ञानेश्वर ने निवृत्तिनाथ को ही अपना गुरू माना ओर अपने इस अलौकिक ग्रंथ *ज्ञानेश्वरी* में स्थान-स्थान पर वैसा निरूपित भी किया। बहिष्कृत विट्ठल पंत समझ चुके थे कि जब तक ब्रह्मवृन्द दण्ड या प्रायश्चित्त नहीं देंगे, उन पर डाला गया बहिष्कार नहीं हटाया जायेगा। इसका दण्ड बच्चों को न मिले, इसलिए उन्होंने ब्रह्मवृन्दों से दण्ड देने का बार-बार अनुरोध किया। आलन्दी के ब्राह्मणों ने सारे शास्त्र छाने, किन्तु देहान्त के सिवा अन्य कोई प्रायश्चित्त उन्हें नहीं मिला। उन्होंने वह दंड विट्ठल पंत को सुनाया। अपनी सन्तान के कल्याण के लिए त्रिवेणी संगम में देह समर्पण के लिए विट्ठल पंत निकल गये। साथ में पतिपरायणा रुखमाई भी चली गईं।

शास्त्रों द्वारा इतना कठोर निर्णय सुनाये जाने के बावजूद भी ज्ञानेश्वर ने शास्त्रों में अपनी असीम आस्था कभी डिगने नहीं दी। ज्ञानेश्वरी के सोलहवें अध्याय में गीता के 24 वें श्लोक पर भाष्य करते हुए उन्होंने 460 वीं ओवी में तभी तो स्पष्ट कहा है— 'शास्त्रवचन में वर्जित। राज्य भी मानें तृणवत्। प्राशन करें ग्राह्य वर्णित। विष ही क्यों न हो।'

मातापिता की समस्या त्रासदी के रूप में ही क्यों न हो, अपना समाधान खोज कर चली गई थी। फिर भी इन बालकों का क्या हो ? यह सवाल अनुत्तरित था। निवृत्तिनाथ ने दक्षिण काशी नाम से प्रख्यात पैठण के ब्रह्मवृंदों के लिए आलंदी के ब्राह्मणों का पत्र लिया और पैठण के ब्राह्मणों से पूछा - 'हमारा क्या हो ?' तभी उन्हें भक्तिरस की गंगा को सर्वत्र पहुँचाने, अन्त्यजों को भी वंदन करने तथा सबमें एकता भरने के लिए निरूपण करने की आज्ञा दी। यही मानों इन बालकों के लिए शुद्धिपत्र था।

ज्ञानेश्वर समेत चारों भाई बहनों ने इसका पालन किया। यह दण्ड था। किन्तु उसके कारण महाराष्ट्र सारस्वत में तथा समूचे भारतभारती

के भण्डार में *ज्ञानेश्वरी* जैसा अनमोल ग्रंथराज आ सका। यह एक महानतम इष्टापत्ति ही सिद्ध हुई। ज्ञानेश्वर ने संवत् 1212 में *ज्ञानेश्वरी* पूरी की। उन्होंने *अमृतानुभव, अनुभवामृत,* तथा *चंगदेवपासष्टी* नामक ग्रंथ भी लिखे। सैंकड़ों अभंगों की भी रचना की। यह सब केवल इक्कीस वर्ष की आयु में उन्होंने पूरा किया और संवत् 1218 में समाधि ले ली।

ज्ञानेश्वर महाराज ने महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय के रूप में भक्ति गंगा ऐसे प्रवाहित की कि वेद जो त्रिवर्णों में ही सीमित हो कर रह गये थे, चारों वर्णों के लिए खुले हो गये। उन्होंने गीता को नया वेद बताया और शूद्रों, पुरुषों तथा महिलाओं सबके लिए उसका ज्ञान उनकी अपनी भाषा में उपलब्ध कराया। समाज जीवन जब आस्था खो चुका था, तब ज्ञानेश्वर ने उसे नई आस्था दी। 'जो जो मिल जाए प्राणिजात। उसे मानिए भगवंत' का सामाजिक समरसता का महान सन्देश उन्होंने दिया। और उनके माता-पिता को तथा भाइयों-बहनों को इतनी यातनाएँ दे चुके समाज के लिए भी कल्याण की ही कामना की।

ज्ञानेश्वर के समाधि लेने के बाद उनके शेष दो भाई तथा बहन ने भी आठ महीनों के अन्दर ही अन्दर अलग अलग स्थानों में समाधि ले ली।

मनोगत

चार वर्ष पूर्व जब श्री ज्ञानेश्वरी की सप्तशती मनायी गयी, तो मन में एक बात प्रबल हो गयी कि संत ज्ञानेश्वर की इस महान साहित्यिक-कलाकृति को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लाना आवश्यक है। यह इच्छा बलवती होती जाने के कारण क्या थे, यह तो पता नहीं, किन्तु मेरे अपने जो संस्कार रहे हैं, उनमें राष्ट्रीयता और धार्मिकता का अधिष्ठान है और सम्भवतः उनके कारण हृदयस्थ परमात्मा ने यह प्रेरणा मुझे दी होगी।

राष्ट्रीयता का अधिष्ठान मुझे बता रहा था कि इस महान राष्ट्र को जिन संतों की सीख ने ही आज तक जीवित रखा, उनकी, यहाँ के समाज को धर्मप्रवण तथा परिणामतः अपनी परम्पराओं का अभिमानी बनाने में अहम् भूमिका रही है। इस भूमिका को जब तक सारे राष्ट्र के सामने रखा नहीं जाता, यह राष्ट्र सही माने में गर्व के साथ खड़ा नहीं हो सकता। यह तभी सम्भव है कि प्रान्त-प्रान्त में पैदा हुई ऐसी महान विभूतियों के सन्देश, साहित्यिक रचनाएँ तथा अभिजात्य ग्रंथ-सम्पदा अन्य प्रान्तों की भाषाओं में उपलब्ध करायी जाय।

इस सन्दर्भ में सोचा जा सकता है कि कितने महाराष्ट्रेतर लोगों को ज्ञानेश्वर का नाम मालूम है ? कितनों को उनके योगदान की जानकारी है ? विगत चार दशकों से अधिक समय दिल्ली में पत्रकारिता करते हुए जब मैंने इन प्रश्नों के उत्तर खोजने की चेष्टा की, तो बहुत निराशा हुई। इसलिए यह विचार प्रबल होता गया कि सन्त ज्ञानेश्वर की महान रचना *ज्ञानेश्वरी* को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लाया जाय।

ज्ञानेश्वरी ही क्यों ? इसलिए, क्योंकि *ज्ञानेश्वरी* संत ज्ञानेश्वर की विश्वमान्य प्रातिनिधिक रचना है। इसमें ज्ञानेश्वर की प्रतिभा, प्रज्ञा, ज्ञान तथा तपस्या का निचोड़ है। वेदान्तशास्त्र जब केवल उच्च वर्णियों के लिए ही सीमित हो खड़े थे और उन लोगों की आस्था भी उसमें निहित

ज्ञान के प्रति घटती जा रही थी, वह विश्व की धरोहर माना जाने वाला ज्ञान स्त्री-पुरुष तथा शूद्रादि सभी के लिए खुला करने का एक क्रान्तदर्शी प्रयास यानी *ज्ञानेश्वरी*। केवल सोलह वर्ष की आयु में *श्रीमद्भगवद्गीता* का यह वृहत् भाष्य ज्ञानेश्वर ने उन दिनों की मराठी भाषा में तैयार किया। वही *ज्ञानेश्वरी है।*

संस्कृत भाषा में ही सीमित हो बैठे हमारे महान दर्शन को सन्त ज्ञानेश्वर ने जन साधारण के लिए उनकी भाषा में खोल दिया। *श्रीमद्भगवद्गीता* को वह वेदों का बीज मानते थे। अतः उसी गीता का भाष्य उन्होंने मराठी में किया। इसमें उन्होंने जो दृष्टान्त दिये हैं, जो उपमाएँ दी हैं, मराठी भाषा के भावविश्व के साथ जुड़ी जनजीवन की बारीकियों को जिस गहरी पैठ से उद्धृत किया है, उन्हें देख कर पाठक दंग हो जाते हैं। इसीलिए *ज्ञानेश्वरी* न केवल एक सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना है, अपितु वह गीता-जैसी अनमोल ज्ञानसम्पदा भी है।

ज्ञानेश्वरी इसीलिए महाराष्ट्र के ग्रामीण जीवन में भी लोकगीतों जैसी लोकप्रिय है। *ज्ञानेश्वरी* मराठी और महाराष्ट्र का मानबिन्दु है। *ज्ञानेश्वरी* महाराष्ट्र का सर्वस्व है। आधुनिक मराठी भाषा की ही नहीं, महाराष्ट्र जीवन तथा महाराष्ट्र धर्म की भी नींव *ज्ञानेश्वरी* है। *ज्ञानेश्वरी* एक काव्य तो है ही, किन्तु साथ ही उसमें धर्म है, दर्शन है, भक्ति है, योगसाधना है और व्यवहार भी है।

एक अभिजात्य महान काव्य के रूप में *ज्ञानेश्वरी* की महानता महाराष्ट्र सारस्वत में तो निर्विवाद है ही, भारत-भारती के लिए भी यह एक बहुमूल्य योगदान है। *ज्ञानेश्वरी* क्या नहीं है ? दार्शनिकों के लिए वह दर्शनशास्त्र का महान ग्रंथ है। धर्ममार्तण्ड धर्म का सच्चा सार *ज्ञानेश्वरी* में देखते हैं। भक्ति-सम्प्रदाय के लोग तो इसे भक्तिमार्ग की गीता ही मानते हैं। समाज सुधारकों को इसमें समाज-सुधार के बीजतत्त्व मिलते हैं। अतः *ज्ञानेश्वरी* नित्यनूतन है। उसे जितना पढ़ें, जितनी बार पढ़ें, उसका जितना अध्ययन करें, उसकी नयी-नयी परतें खुलती जाती हैं और ज्ञान की नयी अर्थ-छटाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर की वाणी का प्रसाद अक्षर-अक्षर में झलकता है। आत्मा से परमात्मा तक का सारा ज्ञान, ब्रह्म से कीटक तक सभी जीवों की उत्पत्ति स्थिति और लय की आध्यात्मिक संगति अत्यंत प्रासादिक शैली में, जनभाषा में, जनजीवन में हमेशा पाये जाने वाले

दृष्टान्तों के साथ काव्यबद्ध करना अनन्य साधारण प्रतिभा का ही चमत्कार है। विलक्षण आत्मविश्वास से वे ज्ञानेश्वरी लिखने के लिए अग्रसर हुए। "यह बोल मेरी मराठी में। अमृत से भी जीतेगा शर्त में। प्रयोग ऐसे शब्दों का मैं। रसीला करूँगा।। जिनकी कोमलता के आगे नादमाधुर्य लगेंगे फीके। सम्मुख छंदों की जिनके। सुगंध भी शरमायेगी।" (अध्याय ६।।१४-१५) में यह आत्मविश्वास प्रकट हुआ है।

ज्ञानेश्वर गीता-महात्म्य बताते हुए अपनी प्रतिभा का विलास इस तरह करते हैं—"और यहीं से सरस्वती। शास्त्रीयता है ओढ़ती। ब्रह्मज्ञान-कोमलता बढ़ती दिन दूनी चौगुनी। "यहाँ चातुर्य होता सयाना। दर्शन होता मधुराना। ऐश्वर्य होता है दूना। सकल सुखों का।। मधु को आती मधुरता। शृंगार पाता सुंदरता। पात्रता पाती लोकप्रियता। शोभा अवर्णनीय।। और क्षण भर सोचे मति। तो रंग में संगति दिखती। गुणों को सगुणता आती बहुत यहाँ।" (अध्याय १।। ३४-३८)

ज्ञानेश्वर की वाणी और प्रतिभा का प्रसाद इससे स्पष्ट हो जायेगा। माँ भारती को महाराष्ट्र साहित्य ने दो उपहार दिये हैं। एक है 'अभंग' और दूसरा है 'ओवी'। यही दो छन्द हैं जो महाराष्ट्र सारस्वत को अन्य भाषिक साहित्य की अपेक्षा विशेषता प्रदान करते हैं। तुलसी और सूरदास ने चौपाई, दोहा, सोरठा आदि द्वारा जो अद्वितीय देन भारत-भारती को दी है, वैसी ही महाराष्ट्र के साहित्य ने 'ओवी' और 'अभंग' द्वारा दी है। ज्ञानेश्वरी की रचना इसी ओवी छन्द में की गयी है। ओवी छन्द की अनेक रचनाएँ मराठी घरों में आबालवृद्ध स्त्री-पुरुषों को मुखाग्र है। ज्ञानेश्वर ने इसी छन्द को *ज्ञानेश्वरी* के लिए चुना, क्योंकि उन्हें घर-घर में अपनी काव्यरचना पहुँचानी थी। लोकभाषा में, लोकछन्द में की गयी रचना लोकप्रिय होनी ही थी, सो हो कर रही।

ओवी वैसे बड़ा लचीला छन्द है। इसमें गणछन्द की परिसीमाएँ नहीं हैं। मात्रा छन्द के रूप में यद्यपि वह साकार हुआ है, उसमें प्रत्येक चरण में आने वाली मात्राओं या अक्षरों की संख्या भी समान व निश्चित नहीं है। ओवी शब्द का अर्थ है, पिरोयी। हम जैसे माला को पिरोते जाते हैं, वैसे अपनी भावनाओं एवं प्रतिभा को शब्दों में पिरोते जाने वाले छन्द को मराठी में ओवी कहा जाता है। कर्ता, कर्म, विशेषण और क्रिया की रचना उसी क्रम में नहीं आती। संस्कृत के समान ये तीनों वाक्याधार आगे पीछे होते हैं। ओवी अर्थवाही है, शब्दवाही नहीं, इसीलिए लचीली

है। *ज्ञानेश्वरी* का पद्यानुवाद करते समय मैंने इसी 'ओवी' छन्द को हिन्दी जामा पहनाया है। अतः यह न केवल पद्यानुवाद है, अपितु समछन्दानुवाद भी है।

मूल मराठी *ज्ञानेश्वरी* सात सौ वर्ष पुरानी मराठी में लिखी गयी और आधुनिक मराठी की तुलना में वह काफी दुर्बोध भी हो गयी। इसलिए मूल ज्ञानेश्वरी का अर्थ समझाने के लिए अध्ययनकर्ताओं को भारी परिश्रम करना पड़ा । जैसे मूल वाल्मीकि रामायण का अनेक लोगों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार भाषान्तर, रूपान्तर तथा काव्यांतर करने का प्रयास किया, *ज्ञानेश्वरी* के बारे में भी हुआ है। *ज्ञानेश्वरी* का ओवी में समछन्दानुवाद करने के प्रयास भी हिन्दी में तीन एक हुए हैं, किन्तु ज्ञानेश्वर की प्रकांड ज्ञान-ईश्वरता के साथ-साथ जो विनम्र किन्तु सार्थक आत्मविश्वास की भावना थी, उसी का आदर्श मैंने अपने सम्मुख रखा। ज्ञानेश्वर ने स्वयं कहा है कि गीतार्थ बताने के प्रयास उनसे पहले भी हुए हैं। गीता के भाष्यकार भी हुए हैं। उन भाष्यकारों से राह पूछते मैंने अपनी अल्पमति से यह महान प्रयास सद्गुरु की कृपा से किया है। यही आदर्श सामने रख कर *ज्ञानेश्वरी* को सुगम, सुबोध करने के प्रयास मराठी में जिन (भाष्यकार) लोगों ने किये हैं, उनसे राह पूछते मैंने इस महान ग्रंथ को प्रचलित सुगम हिन्दी में अनूदित करने की चेष्टा की है।

इसमें *ज्ञानेश्वरी* के प्रकाण्ड पंडित श्री शंकर वामन उपाख्य मामासाहेब दांडेकर की *सार्थ ज्ञानेश्वरी* तथा प्रज्ञा भारती पं. श्रीधर भास्कर वर्णेकर द्वारा मराठी में प्रकाशित *सुबोध ज्ञानेश्वरी* मेरे मुख्य आधार रहे हैं। वास्तव में *ज्ञानेश्वरी* का आज की मराठी में जितना गद्य सरलीकरण दांडेकर जी ने किया है तथा उसे आज की सुबोध मराठी में ओवीबद्ध करने का जो बहुत ही प्रशंसनीय प्रयास वर्णेकर जी ने किया है, सारा मराठी सारस्वत इसके लिए दोनों का ऋणी रहेगा। दांडेकर जी द्वारा लिखे गये गद्य अर्थ तथा वर्णेकरजी द्वारा सुबोध मराठी में उसके किये गये पद्यांतर का सहारा लेकर मैंने इस *सुगम हिन्दी ज्ञानेश्वरी* की रचना की है।

मैं कोई आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं हूँ। *ज्ञानेश्वरी* में वर्णित सारे अध्यात्म को आत्मसात् करना घोर तपस्या से ही सम्भव है। इसके गूढ़ार्थ को समझने के लिए उतनी ही क्षमता वाले सद्गुरु की आवश्यकता है। अध्यात्मज्ञान का अभाव, आध्यात्मिक साधना की पूर्ण अनुपस्थिति तथा

गूढ़ार्थ के मर्म को समझने का प्रयास भी न करने की अपने अन्दर की त्रुटियों का पूरा अहसास मुझे है। फिर भी ज्ञानेश्वर जैसी महान प्रतिभा का काव्यविलास आज की सरल हिन्दी में उतारने का शिवधनुष मैंने उठा लिया, उसमें प्रत्यंचा लगा दी और 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा प्रयुक्तो' इस कार्य को पूरा कर दिया। यह तो सब ईश्वरीय प्रेरणा के बिना असम्भव ही था, अन्यथा मुझ-जैसा इस महान दायित्व को कैसे पूरा कर सकता था ? मेरी तो यही भावना है, यही धारणा भी है कि यह कार्य मैंने किया नहीं, उस हृदयस्थ परमात्मा ने ही यह मुझसे करवा लिया है।

हाँ, यहाँ मैं एक बात विनम्र दृढ़ता से सभी हिन्दी विद्वानों के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इस ग्रंथ में मैंने 'आत्मा' 'अग्नि' 'वायु' जैसे आम तौर पर हिन्दी में स्त्रीलिंग प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का सोच समझकर पुल्लिंग में रूप रखा है। मूल संस्कृत गीता का मराठी रूपान्तर *ज्ञानेश्वरी* है। इस भाष्य को मैंने हिन्दी में उतारा है। जिस हिन्दीतर भाषाओं के प्रभाव के कारण ये शब्द पुल्लिंग की बजाय स्त्रीलिंग प्रयोग होने लगे, उस प्रभाव को मैंने जान बूझकर नकारा है और संस्कृतानुसार ही इन शब्दों का लिंग-प्रयोग किया है।

ज्ञानेश्वर संन्यासाश्रम से लौट आये पिता की सन्तान थे। अपनी अल्पायु में उन्हें समाज ने बहुत कष्ट पहुँचाये। एक तरह से बहिष्कृत कर दिया। निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई ये चार भाई-बहन थे। चारों ने समाज द्वारा दी गई यातनाएँ झेलीं, किन्तु ज्ञानदेव ने उस समाज के बारे में मन में कोई कटुता नहीं रखी। समाज को जगाने, सही शिक्षा देने के लिए आवश्यक प्रबोधन उन्होंने अपनी *ज्ञानेश्वरी* द्वारा किया। मन की इतनी उदारता, इतनी महानता बिरले ही पायी जाती है। इसीलिए ज्ञानेश्वर लोकोत्तर महापुरुष माने जाते हैं। *ज्ञानेश्वरी* के प्रत्येक अध्याय में, अध्याय के प्रत्येक श्लोक में, प्रत्येक ओवी में यह प्रतीत होता है कि ज्ञानेश्वर इस समाज का प्रबोधन कर रहे हैं। उसका अनुरंजन करते समय उसके अन्तःकरण को स्पर्श कर अपने निरूपण के द्वारा उसे झकझोरकर उसमें परिवर्तन लाने में सफल हो रहे हैं। समाज कैसे बलशाली होगा, यह बताते समय वे नवसमाज का चित्र भी पाठकों के सम्मुख रखते हैं। *ज्ञानेश्वरी* की समापन-ओवियों में उन्होंने किसी मूर्त देवी-देवता से नहीं, अपितु विश्वात्मक देव से पसाउदान माँगा है।

यह पसाउदान *ज्ञानेश्वरी* का सर्वोत्तम आभूषण माना गया है। महाराष्ट्र के घर-घर में यह पसाउदान आस्थापूर्वक नयी पीढ़ी से मुखोद्गत कराया जाता है। सभा-सम्मेलनों और व्याख्यानों के अन्त में यह पसाउदान गाया जाता है। इस पसाउदान का हिन्दी रूपान्तर इस मनोगत के अन्त में अलग से स्वतन्त्र पृष्ठ पर छापा है।

किसी भी छोटी-बड़ी आराधना या पूजा-अनुष्ठान के अन्त में आमतौर पर क्या माँगा जाता है? धन मिले, संतान मिले, समृद्धि आये, संतति का कल्याण हो, उन्हें आयुरारोग्य प्राप्त हो, यही कामनाएँ आम तौर पर की जाती हैं। भगवान से यही माँगा जाता है। किन्तु ज्ञानेश्वर ने अपने पसाउदान में जो माँगा है, वह अपने में ही अत्यंत अलौकिक है। इसीलिए लोकोत्तर भी है। वे अपने लिए, अपने भाई बहनों के लिए कुछ नहीं माँगते। *ज्ञानेश्वरी* को वे वाग्यज्ञ कहते हैं, और इस वाग्यज्ञ से सन्तुष्ट हो कर विश्वात्मक ईश्वर यह वरदान दे कि खलों की खलता मिटे। दुष्टों का नाश हो, ऐसा वे नहीं माँगते, माँगते हैं कि दुष्टों की दुष्टता समाप्त हो। यानी आदमी प्रसंगानुसार कभी भला या कभी बुरा भी हो सकता है, पर उस आदमी का ही नाश ज्ञानेश्वर नहीं चाहते। वे चाहते हैं, वह आदमी सुधरे, अपनी बुराइयों को छोड़े और एक अच्छा नागरिक बनकर जीने का अवसर उसे मिले। क्या यह नव समाज की रचना का भव्य-दिव्य स्वप्न नहीं ? फिर माँगते है कि पाप का अँधेरा छँटे, विश्व में स्वधर्म का सूर्योदय हो। सन्त सज्जनों का वास सहवास प्रियजनों की भाँति सबको मिले। चन्द्र-सूर्य की भाँति प्रकाश देने वाले ये सन्तसज्जन सर्वत्र प्रकाश फैलाते हैं। किसी को कोई ताप नहीं देते। सब लोग सुखी हों, जिसे जो चाहिए प्राप्त हो, सबमें भाईचारा बढ़े और सभी प्रियजन बन कर आनन्द से रहें। यह है ज्ञानेश्वर द्वारा माँगा गया पसाउदान, यह ग्रंथ ही जिनके लिए जीवन है, उन्हें इह-पर भोगों पर विजय प्राप्त हो, ऐसा माँगते समय ज्ञानेश्वर का मन कितना उदार हो गया है। कहाँ है उस समाज के प्रति कटुता, जिसने उन्हें तथा उनके भाई बहन को अनेक यातनाएँ दी थीं ? प्रत्युत वे यही माँग रहे हैं कि लोगों में आयी दुष्टता का लोप हो, वे भले लोगों की संगति में रहें, सारे सुख हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े रहे, स्वधर्मानुसार वे आदिपुरुष के चिन्तन-मनन में अखंड रूप से लगे रहे, सबके साथ मैत्री करें और हम सब प्रियजन हैं, इसी भावना से जीवन यापन करें। इससे अधिक सर्वमंगल

एवं सर्वस्पर्शी कामना क्या हो सकती है ? ज्ञानेश्वरी का समापन इस पसाउदान की कामना से होता है। यही उसकी विशेषता है, यही उसकी महानता है।

ऐसे महान ग्रंथ के रचनाकार थे ज्ञानेश्वर। ज्ञानेश्वर मराठी, ज्ञानेश्वरी मराठी मैं स्वयं भी मराठीभाषी। उनकी *मराठी ज्ञानेश्वरी* प्रचलित सुगम हिन्दी में लाने का सौभाग्य मुझ मराठीभाषी व्यक्ति को मिला और देश की मूर्धन्य साहित्यिक संस्था साहित्य अकादेमी उसे प्रकाशित कर रही है, यह एक ऐसा संयोग जुड़ गया है, जिसे मैं विनम्र श्रद्धा से मणि कांचन योग मानता हूँ। बाकी सारा तो सुधी पाठकों की सेवा में अर्पित है।

–मोरेश्वर गणेश तपस्वी
३, 'धृपद', जे. बी. नगर
कॉलेज रोड
नाशिक (महाराष्ट्र)-४२२००५

पसाउदान

(अध्याय १८ वाँ)

अब विश्वात्मक ईश। इस वाग्यज्ञ से पाये सन्तोष।
प्रसन्न हो साशीष। देवे पसाउदान यह।। १७९३।।

कि खलों की कटुता मिटे। उनकी सत्कर्म में रुचि बढ़े।
प्राणिमात्र में मैत्री जुटे। परस्पर।। १७९४।।

पाप का तिमिर जाये। विश्व में स्वधर्म-सूर्योदय होवे।
जो जो चाहे वही पाये। प्राणिजात।। १७९५।।

मंगल बरसाते अक्षय। ईश्वरनिष्ठों के समवाय।
भूतल पर बिना प्रत्यवाय। मिलें सबको।। १७९६।।

उद्यान चल कल्पतरु के। गाँव चेतना चिन्तामणि के।
जो अर्णव पीयूष के। मुखरित।। १७९७।।

चन्द्र जो हैं अलांछित। मार्तण्ड जो तापरहित।
वे सभी के सुचरित। प्रियजन होवें।। १६९८।।

अधिक क्या यह त्रिलोक। पा कर सम्पूर्ण सुख।
आदि पुरुष को अहर्निश। भजे अखंडित।। १७९९।।

तथा जो जो भक्तिभावी। जो विशेष ग्रंथोपजीवी।
इह-पर भोगों पर विजयी। होते रहें।। १८००।।

तब कहते विश्वेशराऊ। यह होगा दान पसाऊ।
इस वर से ज्ञानदेव। सुखी हो गया।। १८०१।।

।। अध्याय पहला ।।

वंदन हे आदि ॐकार। वेदों में तव आविष्कार ।
अनुभव से साक्षात्कार। आपके आत्मरूप का ।। १।।

भगवन आप ही श्री गणेश। विश्वमति को देते प्रकाश ।
कहे निवृत्ति का दास। विस्तार से सुनियेगा ।। २।।

यह अशेष शब्दब्रह्म। वही इसकी मूर्ति उत्तम ।
वर्णकान्ति सोहे अनुपम। मनोरम मूर्ति की ।। ३।।

वेद इसके अवयव। अवर्णनीय जिनका देहभाव ।
अर्थ-शोभा एकमेव। धरोहर लावण्य की ।। ४।।

सभी अठारह पुराण। रत्न जड़े हैं आभूषण ।
प्रत्येक पद का चरण। गर्त प्रमेय-रत्नों का ।। ५।।

पदरचना अति मनभावन ! जैसे हो रंगीन वसन ।
वस्त्र की उस महीन। प्रभा शोभा निराली ।। ६।।

इस काव्य नाट्य में नूपुर। रुनझुनुते मंजुल मधुर ।
ध्वनि का अर्थ मनहर। सारी कोमलता लिये ।। ७।।

सहज दिखती मार्मिकता। इसकी निपुण कलात्मकता ।
जड़े रत्नों की मोहकता। कटिबंध की ।। ८।।

व्यासादि कवियों की प्रतिभा। इसकी मेखला की आभा ।
उत्तरीय की प्रभा। दशाओं में दमकती ।। ९।।

षड्दर्शन जो कहलायें। वे इस गणेश की भुजाएँ ।
विभिन्न विचारधाराएँ। आयुध बनीं ।। १० ।।

तर्कशास्त्र परशु बना। न्यायशास्त्र अंकुश पैना ।
रस भरा वेदान्त घना। मोदक कर में ।। ११ ।।

एक कर में भग्न दन्त। वही मानो बौद्ध मत ।
वर्तिकों द्वारा खंडित। सहजता से ।। १२ ।।

जो है सत्कारवाद। वही पद्मकर वरद ।
धर्मस्थापक सहजसिद्ध। अभयहस्त इसका ।। १३ ।।

विवेक जो अति निर्मल। वही शुंडा सीधी सरल ।
जो परमानंद केवल। महासुखदायी ।। १४ ।।

सम्वाद है दूधिया दाँत। शुभ्रता समता-संकेत ।
ज्ञानरूप नेत्र प्रदीप्त। विघ्नहर्ता के ।। १५ ।।

पूर्व उत्तर मीमांसा प्रमाण। लगते इसके दोनों कान ।
बोध-पराग का अमृतपान। करते मुनि भ्रमर-से ।। १६ ।।

प्रमेय ज्यों सतेज प्रवाल। द्वैत अद्वैत गण्डस्थल ।
दोनों विराजते तुल्यबल। मस्तक पर इसके ।। १७ ।।

उस पर ज्ञान-मकरंद लुटाते। दसों उपनिषद सिर पर भाते ।
मुकुट पर फूल से सुहाते। आभा निखारते न्यारी ।। १८ ।।

चरण युगल अकार। विशाल उदर मकार ।
मस्तक महामंडलाकार। मकार ॐकार का ।। १९ ।।

तीनों मिल कर बना। ॐकार शब्द अति घना ।
उसी आदि बीज की वंदना। करता गुरुकृपा से ।। २० ।।

जो अभिनव वाग्विलासिनि। चातुर्य-अर्थ कलाकामिनि ।
शारदा विश्वमोहिनि। करता वंदन उसका ।। २१ ।।

हृदयस्थ सद्‌गुरु ने कृपा कर। कराया भवसागर पार ।
तभी जागी श्रद्धा अपार। मन में विवेक के प्रति ।। २२ ।।

जैसे नयन में पड़ते अंजन। दृष्टि व्यापक होती तत्क्षण ।
फिर तो जहाँ भी पड़ते नैन। वहाँ प्रकटता महानिधि ।। २३ ।।

अथवा चिन्तामणि हाथ आते। सफल मनोरथ सदा होते ।
वैसे ज्ञानदेव के काज होते। निवृत्ति की कृपा से ।। २४ ।।

अतः सुज्ञजन गुरुसेवा करें। सार्थकता अर्जित करें ।
जड़ सिंचन से हरे भरे। वृक्ष होते ज्यों ।। २५ ।।

या तीनों लोक के तीर्थ। समुद्र स्नान में समाहित।
या प्राशन करते अमृत। सभी रस मिलते ।। २६ ।।

त्यों मैंने श्रीगुरु की। बार बार अभ्यर्थना की ।
जो कामनाएँ मन की। पूरी करता है ।। २७ ।।

अब सुनिये गहन कथा। सकल कौतुकों की जो माता ।
या अभिनव उद्यानवाटिका। विवेक वृक्षों की ।। २८ ।।

जो सभी सुखों का आदि कारण। सभी प्रमेयों का महानिधान।
या नवरसों का परिपूर्ण। अमृतसिन्धु है ।। २९ ।।

या है प्रकट मोक्ष स्थान। सभी विद्याओं का पीठासन ।
सकल शास्त्रों का निरूपण। श्रेष्ठतम जिसमें ।। ३० ।।

यह सभी धर्मों का मैहर। या सज्जनों का मर्मघर ।
लावण्यरत्नों का भण्डार। शारदा का ।। ३१ ।।

या नाना कथारूप भारती। त्रिलोक में ज्यों प्रकट होती ।
प्रतिभा विलास से महामति। महर्षि व्यास के ।। ३२ ।।

यह सभी काव्यों का राजा। गौरव-ग्रंथों का महाराजा ।
नवरसों को रसीलापन ताज़ा। यहीं से प्राप्त ।। ३३ ।।

और यहीं से सरस्वती। शास्त्रीयता है ओढ़ती ।
ब्रह्मज्ञान की मृदुता बढ़ती। दिन दूनी चौगुनी ।। ३४ ।।

यहाँ चातुर्य होता सयाना। दर्शन होता मधुराना ।
ऐश्वर्य होता है दूना। सकल सुखों का ।। ३५ ।।

मधु को आती मधुरता। शृंगार पाता सुंदरता ।
पात्रता पाती लोकप्रियता। शोभा अवर्णनीय ।। ३६ ।।

कलाओं में आती कुशलता। पुण्य का प्रताप बढ़ता।
जनमेजय का पाप होता। सहज यहाँ विनष्ट ।। ३७ ।।

और क्षण भर सोचे मति। तो रंग में संगति दीखती ।
गुणों को सगुणता आती। बहुत यहाँ ।। ३८ ।।

सूर्योदय होते ही जैसे। त्रिलोक नहाता तेज से ।
वैसे व्यास की प्रतिभा से। विश्व होता आलोकित ।। ३९ ।।

जो उर्वरा भूमि में बोया। उस बीज की फैलती काया ।
वैसे चारों पुरुषार्थों की माया। उत्फुल्ल महाभारत में ।। ४० ।।

जैसे नगर के नर नारी। सहज में बनते विचारी ।
वैसे व्यासोक्ति के अधिकारी। धवलकीर्ति होते ।। ४१ ।।

यौवन की दहलीज पर। नारी देह में आता निखार ।
अंग प्रत्यंग में आती बहार। अति लावण्यमयी ।। ४२ ।।

या वसंत के आते ही। पेड़ पौधे सब ही ।
वनशोभा बिखेरती मही। खिल उठती जैसे ।। ४३ ।।



अथवा ठोस सुवर्ण। देखने में जो साधारण ।
अलंकार बनाते [illegible]न। शोभा उनकी निराली ।। ४४ ।।

त्यों व्यासोक्ति से भूषित। सभी हो जाते पुनीत ।
यही जान कथा के आश्रित। इतिहास सारे ।। ४५ ।।

प्रतिष्ठा पाने विश्व में। विनम्र हो कर तन मन में ।
पुराण आख्यान रूप में। महाभारत में समाये ।। ४६ ।।

अतः जो महाभारत में नहीं। वह त्रिभुवन में कहीं नहीं।
तभी तो कहते सब ही। 'व्यासोच्छिष्ट जगत्रय' ।। ४७ ।।

जग में ऐसी सुरस कहानी। जो परमार्थ की है जननी ।
सुना चुके वैशम्पायन मुनि। जनमेजय राजा कों ।। ४८ ।।

वही कथा अपूर्व उत्तम। पवित्रता में अनुपम ।
जो परम मंगलधाम। अब ध्यान से सुनियेगा ।। ४६ ।।

गीता का यह प्रसंग। भारत-कमल का पराग ।
अर्जुन को स्वयम् श्रीरंग। बता रहे हैं ।। ५० ।।

वेदमहासागर को मथ कर। व्यास ने प्रतिभा लगा कर ।
जो नवनीत निकाला बाहर। वही यह कथा ।। ५१ ।।

इसे ज्ञानाग्नि पर तपाते। विवेक का उबाल आते ।
बना सुगंध फैलाते। गीता स्वरूप घी ।। ५२ ।।

विरक्त जिसकी इच्छा करते। संत जिसे अनुभव करते ।
वेदपारंगत जिसमें रमते। वही यह कथा ।। ५३ ।।

भक्तों के लिये श्रवणीय। तीनों लोक में वंदनीय ।
वह कथा आती सुदिव्य। भीष्मपर्व में ।। ५४ ।।

नाम उसका भगवद्‌गीता। विरंचि शिव द्वारा प्रशंसिता ।
सनकादिक द्वारा सेविता। अतीव श्रद्धा से ।। ५५ ।।

शरद की चाँदनी में जैसे। अमृतकण कोमल चंचु से ।
चकोर शिशु निरीहता से। चुगते चहकते हैं ।। ५६ ।।

वैसे थे निश्छल मन से। अत्यंत कोमल भाव से।
श्रोतागण इसके श्रवण से। सराबोर हों ।। ५७ ।।

निःशब्द चिन्तन होता जैसे। इन्द्रियबोध बिन भोग जैसे ।
कहने से पूर्व उतारें वैसे। मन में गीता-सिद्धान्त ।। ५८ ।।

भौंरे मकरंद ले जाते। पर कमल दल नहीं जानते ।
वही रीत आकलन के वास्ते। हो गीता-प्रमेयों के ।। ५९ ।।

छोड़े बिना अपना स्थान। होते ही पूर्ण विकसन ।
विभोर कमलिनी आलिंगन। करती जैसे चन्द्र का ।। ६० ।।

त्यों जिसका अन्तःकरण। शम-दम से सुस्थिर सम्पूर्ण ।
उसे ही गीता का रहस्यज्ञान। होगा कमलिनी-सा ।। ६१ ।।

अर्जुन की लिये योग्यता। जो संत बनेंगे श्रोता ।
उनसे हूँ विनय करता। सुनिये दत्तचित्त हो ।। ६२ ।।

यह सख्यभरा अनुनय। चरणस्पर्श कर सविनय ।
प्रभु आपका गहन हृदय। जान कर ही किया है ।। ६३ ।।

माता पिता की ऐसी ममता। कि बालक तुतला कर बोलता ।
फिर भी उन्हें सन्तोष होता। और अधिक ।। ६४ ।।

वैसे आप सज्जनों ने ममता से। मुझे स्वीकारा अपनेपन से ।
फिर क्यों विनती करूँ आपसे। अपनी त्रुटियाँ सहने की ।। ६५ ।।

किन्तु मेरा अपराध यही है। कि गीतार्थ कहने की ठानी है ।
आपसे आग्रह भी किया है। दत्तचित्त होने का ।। ६६ ।।

भुला कर कार्य की कठिनता। व्यर्थ मैं साहस बटोरता ।
धूप में जुगनू की क्षुद्रता। किस काम की ? ।। ६७ ।।

टिटहरी चाहे सागर सोखना। वैसे मेरा यह प्रयास बौना ।
बिना अधिकार के माना। अपने आपको सुपात्र ।। ६८ ।।

आकाश को भरना हो बाँहों में। उससे भी विशालता हो अपने में ।
यही सोच कर मन-ही-मन में। अपात्र जानूँ अपने को ।। ६९ ।।

गीतार्थ गहन निरूपण। स्वयं शंकर करते विवेचन ।
पार्वती प्रश्न कुतूहलपूर्ण। चकित हो कर करतीं ।। ७० ।।

तव शंकर करते निवेदन। तुम्हारा रूप ज्यों नित्यनूतन ।
गीता-तत्त्व भी उसके समान। जान लो देवि ! ।। ७१ ।।

है वेदार्थ सागर का गरजना। जिसका योगनिद्रा में खर्राटे भरना ।
यह गीता तो सर्वेश्वर का कहना। प्रत्यक्ष में रहा है ।। ७२ ।।

ऐसे जो है अगाध। जिसमें भरमाते वेद।
वहाँ मैं अल्प मतिमंद। भला क्या चीज़ हूँ ? ।। ७३ ।।

इस अनन्त को जानूँ कैसे ? तेज को उज्ज्वल करूँ कैसे ?
नभ मुट्ठी में बाँधे कैसे। भला कोई मशक ? ।। ७४ ।।

किन्तु यहाँ है एक आधार। उसी से बँध आया धीर ।
गुरुदेव मेरे पक्षधर। ज्ञानदेव कहें ।। ७५ ।।

अन्यथा मैं महामूर्ख। कर बैठूँ कोई अविवेक ।
संतकृपा का दीपक। प्रकाश है देता ।। ७६ ।।

यह सामर्थ्य है पारस का। कि सुवर्ण बन जाता लोहे का ।
पान करते अमृत का। मृत भी जी उठे ।। ७७ ।।

प्रसन्न होतीं सरस्वती। गूँगे को वाणी देती ।
यह तो है वस्तुस्थिति। नहीं कोई चमत्कार ।। ७८ ।।

कामधेनु जिसकी माता। उसे किस बात की दुर्लभता ?
इसीलिये मैं हूँ करता। ग्रंथ रचना यह ।। ७९ ।।

अतः न्यून को पूरा करें। अधिकता का त्याग करें ।
उचित को ही ग्रहण करें। विनती यही बार बार ।। ८० ।।

अब ध्यान दीजियेगा। आप कहलवायें वही कहूँगा ।
नचवायेंगे वैसे नाचूँगा। कठपुतली समान ।। ८१ ।।

वैसे मैं आपका कृपापात्र। सन्तों का सन्देशवाहक मात्र ।
अब आप ही मुझसे सर्वत्र। अलंकार-वर्षा करवाइये ।। ८२।।

निवृत्तिदास इस आज्ञा से। हो कर परम उल्लासित से ।
कहने लगे श्रोताओं से। मन लगा कर सुनियेगा ।। ८४।।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ।। १।।

तो पुत्रप्रेम से मोहित। धृतराष्ट्र संजय से पूछत ।
कुरुक्षेत्र का वृतान्त। विस्तार से कहो ।। ८५।।

कुरुक्षेत्र है धर्मक्षेत्र। वहाँ पाण्डव और मेरे पुत्र ।
चलाने को युद्धसत्र। आमने सामने डँटे हैं ।। ८६।।

तो अब तक कौन कहाँ। क्या क्या करता है रहा ।
क्या होता रहा वहाँ। सारा हाल सुनाओ ।। ८७।।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ।। २।।
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ।। ३।।

पाण्डव-सेना युद्धोन्माद से। मचलने लगी ऐसे ।
महाप्रलय में जैसे। मुँह बाए खड़ा कृतान्त ।। ८८।।

जलप्रलय-सी वह सेना। चढ़ आयी करती गर्जना ।
उबलते कालकूट की वर्जना। कौन करे ? ।। ८९।।

या बड़वाग्नि पूरे बल से। भभककर प्रलयवात से ।
सागर को सोख वेग से। नभ की ओर लपका हो ।। ९०।।

वह सेना इतनी भयंकर। नाना व्यूहों में तत्पर ।
लगती थी प्रलयंकर। रणक्षेत्र में ।। ६१।।

किन्तु उसे क्षुद्र मान। धिक्कारता दुर्योधन ।
गज झुंड को पंचानन। गिनता नहीं जैसे ।। ६२।।

फिर द्रोण के पास आ कर। वोला क्या आपने गुरुवर ।
देखा कैसा सैन्य सम्भार। उछला है पाण्डवों का ।। ६३।।

गिरि दुर्ग चल रहे हों जैसे। नाना व्यूह लगते वैसे ।
रचा वड़ी कुशलता से। इन्हें द्रुपदपुत्र ने ।। ६४।।

इसे आपने सिखाया। विद्याविभूषित किया ।
उसीने व्यूह है वनाया। देखिये कैसा ? ।। ६५।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।। ४।।

और भी हैं असाधारण। शस्त्रास्त्रों में प्रवीण ।
क्षात्रधर्म में अतिनिपुण। वीर पराक्रमी ।। ६६।।

वल प्रौढ़ता पौरुष में। जिनका सानी भीमार्जुन में।
प्रसंगानुसार सवका मैं। नाम आपको वताऊँगा ।। ६७।।

यह है युयुधान सुभट। नृपश्रेष्ठ विराट ।
और महारथी श्रेष्ठ। द्रुपद वीर ।। ६८।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ।। ५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ।। ६।।

धृष्टकेतु चेकितान। काशीश्वर वीर्यवान ।
उत्तमौजा उनके समान। शैव्य भी है यहाँ ।। ९९ ।।

युधामन्यु वह रहा। कुंतिभोज भी है यहाँ ।
पुरुजित आदि महा। राजप्रमुख आये हैं ।। १०० ।।

द्रोण से कहता दुर्योधन। वह देखो सुभद्रानंदन ।
जो है मानो प्रति अर्जुन। नाम जिसका अभिमन्यु ।। १०१ ।।

और ये रहे द्रौपदीकुमार। सारे महारथी वीर ।
और अनगिनत अपार। वीर एकत्रित यहाँ ।। १०२ ।।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ।। ७ ।।
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ।। ८ ।।

अब हमारी सेना के नायक। जो हैं विख्यात वीर सैनिक ।
उनके नाम सुनिये एक एक। प्रसंगानुसार ।। १०३ ।।

उदाहरण के लिये संक्षेप में। दो चार नाम ही गिनाता मैं ।
आप स्वयं और प्रमुखों में। जो जो हैं उन्हींके ।। १०४ ।।

यह हैं भीष्म गंगानंदन। प्रताप जिनका भानुसमान ।
रिपु-गज के लिये पंचानन। यह कर्ण महारथी ।। १०५ ।।

इनमें एक अकेला भी। विश्वसंहार कर दे अभी ।
पर्याप्त हैं कृपाचार्य भी। अकेले शत्रुओं को ।। १०६ ।।

यह विकर्ण यहाँ है। उधर अश्वत्थामा खड़ा है ।
जिसकी धाक मानी है। महाकाल ने सदा ।। १०७ ।।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ।। ९ ।।

यह समरजीत सौमदत्ति। और बहुत उसकी भाँति ।
जिनकी शक्ति की मिति। विधाता भी न जाने ।।१०८।।

जो शस्त्रविद्या पारंगत। मंत्रावतार मूर्तिमंत ।
विश्व के सभी अस्त्र ज्ञात। इनके ही बनाये ।।१०९।।

ये अनुपम मल्ल न्यारे। वीरता जिनमें ठाठे मारे ।
प्राणप्रण से यहाँ सारे। बने मेरे अनुचर ।। ११०।।

जैसे पतिव्रता जाया। मन में भी न छूती परकाया।
वैसे इनकी मुझ पर माया। अविचल श्रद्धा सी।। १११।।

हमारे कार्यसिद्ध्यर्थ। इनका जीवन समर्पित ।
ऐसे हैं ये अत्यंत। स्वामिभक्त सभी ।। ११२।।

ये निपुण युद्धकला में। यश कीर्ति अर्जित विश्व में ।
क्षात्रनीति के जगत में। ये ही कहलाते प्रणेता ।। ११३।।

ये सर्वांगपरिपूर्ण। हमारी सेना में विद्यमान ।
गिनती कर पाना कठिन। इन सबकी ।। ११४।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ।। १०।।

और क्षत्रियों में परम श्रेष्ठ। विश्वयोद्धाओं में वरिष्ठ।
भीष्म को नेतृत्व विशिष्ट। सौंपा हमारी सेना का ।। ११५।।

भीष्म ने सेना को साधा। अभेद्य दुर्ग-सा ढाढ़स बाँधा ।
त्रिलोक भी हो गया औंधा। इनके आगे ।। ११६।।

वैसे भी दुस्तर जलनिधि। उसकी सहायता यदि ।
करने लगा वड़वाग्नि। तब क्या हो ? ।। ११७।।

या झंझा और प्रलयाग्नि। दोनों की हो जाय संधि ।
वैसे गंगासुत की युति। हमारी सेना से ।। ११८।।

कौन इनका करे सामना। पाण्डव सैन्य तो है बौना ।
उसकी विशाल रचना। है केवल दिखाऊ ।। ११९ ।।

वह भीम मुसण्डा अति। वना उनका सेनापति ।
इतना कह कर नृपति। वात अधूरी छोड़ गया ।। १२० ।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।। ११ ।।

आगे बोला दुर्योधन। सैनिकों को कर सम्बोधन ।
अपने अपने सेनागण। अव सिद्ध रखो ।। १२१ ।।

अक्षौहिणी जिनके दल में। वे महारथी हो अग्र में ।
सब पूरे अनुशासन में। तैयार रहें ।। १२२ ।।

ऐसी रचना करें सारे। भीष्माज्ञा का पालन करें ।
गुरुवर आप देख-रेख करें। पूरी व्यवस्था की ।। १२३ ।।

भीष्म की रक्षा सब करें। मेरे जैसा उनका आदर करें ।
एक भीष्म ही के सहारे। सैन्य-सामर्थ्य हमारा ।। १२४ ।।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ।। १२ ।।

राजा की इन बातों से। सेनापति प्रसन्न अंतरतम से ।
उन्होंने अति आवेग से। किया सिंहनाद ।। १२५ ।।

दोनों सेनाओं का आद्यन्त। गूँजा उस निनाद से अद्भुत।
गगन हुआ प्रतिध्वनित। उसके कम्पन से।। १२६ ।।

प्रेरित उसकी ध्वनि से। वीरवृत्ति के आवेग से ।
भीष्मदेव ने रण-जोश से। शंख अपना फूँका ।। १२७ ।।

दोनों नाद मिले घनघोर। लगा त्रैलोक्य हो गया बधिर ।
अथवा नभ गिरेगा टूट कर। नीचे धरती पर ।। १२८ ।।

थर्राया ऊपर अम्बर। उफनाया नीचे सागर ।
प्रक्षुब्ध हुआ चराचर। थर थर काँपने लगा ।। १२९ ।।

उस महाघोष का गर्जन। भर गया दिगंत गिरि कानन ।
तभी बज उठे दनादन। रणवाद्य सेना के ।। १३० ।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ।। १३ ।।

कई रणवाद्यों का निनाद। इतना कर्कश भयप्रद ।
कि समझ गये बड़े धुरंधर। महाप्रलय आ गया ।। १३१ ।।

रणभेरियाँ दुंदुभि नक्कारे। ढोलक झाँझ मँजीरे ।
उठे रण के जयकारे नारे। शोर होने लगा ।। १३२ ।।

कोई जोश में ताल ठोंकते। चिल्ला कर कोई ललकारते ।
हाथी घोड़े रण मदमाते। होने लगे अनियंत्रित ।। १३३ ।।

कायरों की क्या कहें। सूखे पत्ते-से उड़े ढहे ।
कृतान्त भी मुँह छिपाये। धैर्य खो कर ।। १३४ ।।

कई खड़े खड़े ही मर गये। धैर्यवानों के दाँत बैठ गये ।
अंग - प्रत्यंग काँपने लग गये। ख्यातनाम वीरों के ।। १३५ ।।

ऐसा भीषण रण-गर्जन। सुन कर आकुल चतुरानन ।
देवता भी कहते मन-ही-मन। प्रलय है आ गया ।। १३६ ।।

देख कर वह आक्रोश। स्वर्ग के उड़ गये होश ।
पाण्डव सेना में जोश। कैसा है देखें ।। १३७ ।।

रथ था विजय का मेहर। या महातेज का भण्डार ।
गरुड़तुल्य अश्व चार। श्वेत जिसमें लगे हैं ।। १३८ ।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ।। १४ ।।

या पर्वत पंखों वाला। शोभायमान निराला ।
दसों दिशाओं में उजाला। था फैलाता रथ ।। १३९ ।।

स्वयं राजा वैकुण्ठ का। सारथी था उस रथ का।
बखान उसकी महिमा का। किसविध करूँ ? ।। १४० ।।

ध्वजस्तम्भ पर हनुमान। जो शंकर मूर्तिमान।
और स्वयं श्रीभगवान। सारथी पार्थ का ।। १४१ ।।

देखिये आश्चर्य प्रभु का। ऐसा अद्भुत प्रेम भक्त का ।
कि स्वयं उस पार्थ का। करता है सारथ्य ।। १४२ ।।

भक्त को पीछे कर। स्वयं आगे बढ़ कर।
पांचजन्य प्रसन्न हो कर। लीलया फूंकता है ।। १४३ ।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।। १४ ।।

उसका घोष घनघोर। गरजता अति गम्भीर।
जैसे उगते ही दिनकर। नक्षत्र सभी लोपते ।। १४४ ।।

वैसे रणवाद्य कौरवों के। पांचजन्य की ध्वनि सुन के ।
रह गये हक्के बक्के। लुप्त हो गया शोर ।। १४५ ।।

तभी अति गंभीर देख। बज उठा और एक शंख ।
देवदत्त नामक। फूँका था अर्जुन ने ।। १४६ ।।

पांचजन्य देवदत्त के। निनाद गम्भीर मिल के।
परचे उखाड़ते ब्रह्माण्ड के। शतधा सहस्त्रधा ।। १४७ ।।

फिर भीम को भी जोश आया। मानो महाकाल को क्रोध आया।
पूर्ण शक्ति से उसने बजाया। पोण्ड्र महाशंख ।। १४८ ।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ।। १६ ।।

निनाद उस महाशंख का। हुंकार महाप्रलय का।
अनंतविजय युधिष्ठिर का। गूंजने लगा ।। १४९ ।।

नकुल फूंकता सुघोष। सहदेव मणिपुष्पक।
उनके निनाद से अन्तक। भरमाया मन में ।। १५० ।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ।। १७ ।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्चमहाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ।। १८ ।।

वहाँ भूपति थे अनेक। द्रुपद द्रौपदेयादिक।
यह काशीपति देख। है महाबाहु ।। १५१ ।।

तथा अभिमन्यु अर्जुनसुत। सात्यकी अपराजित।
धृष्टद्युम्न नृपनाथ। और शिखण्डी भी ।। १५२ ।।

विराट आदि नृपवर। और जो सेना में मुख्य वीर।
अपने अपने शंख निरन्तर। फूँकने लगे ।। १५३ ।।

महाघोष का ऐसा आघात। कि शेष कूर्म भयभीत।
सहसा हुए प्रवृत्त। भू भार उतारने को ।। १५४ ।।

तीनों लोक डाँवाडोल। मेरु मंदार गये डोल।
सागर जल लिये उछाल। स्पर्शता कैलाश ।। १५५ ।।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ।। १६ ।।

पृथ्वी गर्भ में उथल-पुथल। नीचे आता लगा नभांचल ।
और नक्षत्र सकल। ओलों जैसे गिरेंगे ।। १५६ ।।

एक ही आक्रोश मचा। देवों का सहायक न बचा ।
सृष्टि की खो गयी वाचा। सत्यलोक में ।। १५७ ।।

सूर्य नभ में थम गया। मानो प्रलय अभी आ गया।
सर्वत्र हाहाकार मच गया। त्रिलोक में ।। १५८ ।।

तब कृष्ण भी हुए चकित। समझे, सृष्टि का होगा अंत।
सारे क्षोभ करने शान्त। शंखवादन रोका ।। १५६ ।।

इसलिए विश्व सँभल गया। अन्यथा युगान्त था आया।
जैसे ही कृष्णादिकों ने किया। मिल कर शंखध्वनि ।। १६० ।।

शंखघोष तो थम गया। किन्तु रव गूँजता ही गया ।
उसी ने नष्ट किया। कौरव दल को ।। १६१ ।।

सिंह जैसे गज-झुण्ड को। लीलया विदीर्ण करता सबको ।
वैसे वह निनाद कौरवों को। चीरता गया।। १६२ ।।

उस महाघोष को सुन कर। खड़े खड़े ही धैर्य खो कर ।
सब कहने लगे परस्पर। सावधान सावधान ।। १६३ ।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।। २० ।।

वहाँ जो बल-पौरुषयुत थे। महारथी और वीर थे ।
उन्होंने धीरज की बातें। कह कर सँभाला सबको ।। १६४ ।।

फिर सेना आगे बढ़ी। दूने आवेश से चल पड़ी ।
उसके कारण बढ़ी। क्षुब्धता त्रिलोक की ।। १६५ ।।

धनुर्धर धुरंधर वीर। तीर पर चलाते तीर ।
वर्षा होती निरन्तर। मानो प्रलय की ।। १६६ ।।

उसे देख कर अर्जुन। मन-ही-मन हुआ प्रसन्न ।
फिर गम्भीर हो शत्रुसैन्य। देखने लगा ।। १६७ ।।

युद्ध के लिये मचलते। देखा कौरवों को बढ़ते ।
फिर गांडीव अपने बूते। उठाया पांडुपुत्र ने ।। १६८ ।।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।। २१ ।।

और कहा श्री कृष्ण से। भगवन अब शीघ्रता से ।
दोनों सेनाओं के मध्य में। करें रथ को खड़ा ।। १६९ ।।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ।। २२ ।।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ।। २३ ।।

फिर मैं पल भर। देख लूँ सबको जी भर ।
युद्ध करने को आतुर। कौन कौन आये हैं ।। १७० ।।

यहाँ एकत्र बड़ा सम्भार। मुझे किनसे करना संगर ।
रण में देख लेना एक बार। आवश्यक है ।। १७१ ।।

कौरवगण अधिकतर। आतुर और दुष्टतर ।
बिना पराक्रम के संगर। करने के लोभी ।। १७२ ।।

ये युद्ध करना चाहते। किन्तु रण में धैर्य नहीं रखते।
इतना वर्णन करते। संजय ने आगे कहा ।। १७३ ।।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ।। २४ ।।

अर्जुन के ऐसा कहने पर। श्रीकृष्ण ने रथ हाँक कर ।
दोनों सैन्यों के मध्य ला कर। खड़ा कर दिया ।। १७४ ।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति ।। २५ ।।
तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।। २६ ।।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ।। २७ ।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

रथ को लाया उस स्थान पर। जहाँ भीष्म द्रोणादि वीर ।
और अनेक नृपवर। समीप ओर सम्मुख थे ।। १७५ ।।

वहाँ रथ को स्थिर कर। अर्जुन देखने लगा चहुँ ओर ।
उसने समस्त सैन्य सम्भार। निहारा गम्भीर हो ।। १७६ ।।

फिर अर्जुन ने कहा। देव, एकत्र हैं यहाँ ।
स्वकीय गुरुजन महा। सुनकर कृष्ण चकित ।। १७७ ।।

श्रीकृष्ण लगे सोचने। पता नहीं अर्जुन ने ।
मन में अपने न जाने। क्या क्या लाया है ।। १७८ ।।

अन्तर्यामी जानते बात। फिर भी रहे मौन शान्त ।
अर्जुन को अपनी बात। कहने दी ।। १७९ ।।

तव वहां धनंजय ने। पितृ पितामह अपने।
गुरुवंधु मामा सयाने। देखे ध्यान दे कर ।।१८०।।

वंधु वांधव सखा थे। मित्र परिजन भी थे।
परिचित कुमार आये थे। सारे वहाँ ।।१८१।।

ससुर सगे सम्वन्धी। पुत्र पौत्र भतीजे भी।
पार्थ ने देखे भांजे भी। समरभूमि पर ।।१८२।।

जिनका उपकार किया था। विपदा में जिन्हें वचाया था।
ममता से अपनाया था। छोटे वड़े थे वहाँ ।।१८३।।

ऐसे परिजन दोनों दलों में। सज्ज थे युद्धभूमि में।
देख कर असमंजस में। पड़ गया भारत ।।१८४।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।।२८।।

मन में उहापोह मचा। कृपावोध जागा साचा।
अपमानित हो शौर्य ऋचा। चली गयी हृदय से।।१८५।।

जो ललना रूपमती गुणी। श्रेष्ठ कुलोत्पन्ना मानिनी।
सहती न वह तेजस्विनी। कभी अन्य नारी को ।।१८६।।

चाह में नयी नवेली की। कामांध को विस्मृति पत्नी की।
वात भुला योग्यता की। उस पर भरमाता जैसे।।१८७।।

अथवा तपोवल से ऋद्धि। प्राप्त होते भ्रष्ट बुद्धि।
हो कर वैराग्य की सुधि। रहती नहीं जैसे ।।१८८।।

वैसी अर्जुन की हुई दशा। पौरुष जाता रहा सहसा।
क्योंकि उस पर नशा। चढ़ा करुणा का ।।१८९।।

ओझा दे मंत्र को बिसार। तो भूत उसी पर होता सवार ।
वैसे महामोह में लाचार। आकुल भारत हुआ ।।१६०।।

उसका धैर्य जाता रहा। करुणा ने हृदय गहा।
जैसे चाँदनी में झरता रहा। चंद्रकान्तमणि ।।१६१।।

वैसे पार्थ हुआ मोहित। अति स्नेह से द्रवित ।
फिर अत्यंत खेदसहित। बोला अच्युत से ।।१६२।।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे में रोमहर्षश्च जायते ।।२९।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।३०।।

उसने कहा देखिए भगवन। यहाँ देखे सारे स्वजन ।
पूरे गोत्र के परिजन। यहाँ एकत्र ।।१६३।।

संग्राम करने उद्यत। हुए सारे एकत्रित ।
किन्तु मेरे लिये यह उचित। कैसे रहेगा ? ।।१६४।।

आते इस युद्ध का विचार। सुध-बुध जाती मेरी गिरिधर ।
मनस्वास्थ्य हार कर। नष्ट हो जाता है ।।१६५।।

देखो शरीर कांप रहा। मुँह भी सूखा जा रहा ।
गात-गात हो रहा। विकल रोमांचित ।।१६६।।

रोम-रोम खड़ा हो गया। मन का संताप बढ़ गया ।
हाथ शिथिल पड़ गया। गांडीव पर से ।।१६७।।

न जाने वह कब फिसल गया। पता नहीं कब गिर गया
मैं तो ऐसा भरमा गया। इस मोह से ।।१६७।।

जो वज्र से भी कठिन । दुर्धर है अति दारुण।
यह व्यामोह असाधारण। उससे भी ।।१६९।

जिसने रण में जीता शिव को। नष्ट किया निवात-कवच को।
ग्रसा मोह ने उस अर्जुन को। देखते-ही-देखते ।।२००।।

सूखी लकड़ी को जैसे। भौंरा खा जाता भीतर से ।
किन्तु कली के बाहुपाश से। छुड़ा न पाता अपने को ।।२०१।।

वहाँ प्राण भी तज देगा। कमलदल को न चीरेगा ।
स्वजन-मोह त्यों कठिन होगा। कोमल हो कर भी ।।२०२।।

आदिपुरुष की यह माया। विरंचि भी समझ न पाया ।
उसीने पार्थ को भरमाया। कहता संजय ।।२०३।।

देख कर सकल स्वजनों को। सन्नद्ध युद्ध करने को ।
युद्ध-ईर्ष्या, अभिमान को। अर्जुन ने भुलाया ।।२०४।।

असमय करुणा कैसी। न जाने उसके मन आ बसी ।
कहने लगा, हृषिकेशी। निकल चलें यहाँ से ।।२०५।।

अति आकुल मेरा मन! वाचा हो गई है मौन ।
इनका वध करने की कौन। भला कैसे सोचेगा ? ।।२०६।।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।।३१।।

यदि कौरवों का वध करें। तो युधिष्ठिर आदि को क्यों न मारें ।
ये भी तो हैं हमारे। अपने गोत्रज ।।२०७।।

अतः आग लगे इस युद्ध को। कतई स्वीकार न यह हमको ।
क्यों व्यर्थ इस महापातक को। गले लगायें ? ।।२०८।।

देव! सोचने पर कई प्रकार से। अहित ही होगा इस युद्ध से ।
किन्तु उसको टालने में। लाभ ही लाभ हैं ।।२०९।।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।। ३२ ।।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।। ३३ ।।

कांक्षा नहीं है विजय की। न ही ऐसे राज्य की ।
अन्त में राज्य पा कर भी। मुझे करना क्या है ? ।। २१० ।।

इन सबका वध करेंगे। फिर जो सुख मिलेंगे ।
धिक्कारने योग्य ही होंगे। कहता पार्थ ।। २११ ।।

नहीं मिलते हैं ये सुख। सहर्ष सह लेंगे हम दुःख ।
प्राण त्याग भी होगा सार्थक। इनके लिये ।। २१२ ।।

किन्तु इनका पूर्ण विनाश कर। स्वयं जियें जीवन सुखकर ।
ऐसा तो स्वप्न में भी ईश्वर। सोचूँगा नहीं ।। २१३ ।।

इन वरिष्ठों का सोचें अहित। सो हम जन्मे किसके हित ?
और जीवन भी क्या नहीं व्यर्थ। यहाँ हमारा ? ।। २१४ ।।

पुत्र-प्राप्ति चाहता कुल । क्या उसका यही हो फल ?
कि वह अपने हाथों सकल। गोत्र को मार डाले ? ।। २१५ ।।

मन को वज्र बनायें। और इनको मार गिरायें।
ना! ना! हम मन में लायें। केवल कल्याण इनका ।। २१६ ।।

जो जो जग में हम जोड़ें। सब इनके लिये छोड़ें।
यह जीवन भी तज दें। इनके लिये ।। २१७ ।।

भूपों को दसों दिशाओं के। जीत कर अंकित करके ।
संतुष्ट करें मानस सबके। अपने कुल में ।। २१८ ।।

यही हमारे लिये उचित। किन्तु कर्मगति कैसी विपरीत ।
वे ही आज यहाँ उद्यत। हमसे युद्ध करने ।। २१९ ।।

पुत्र दारा और धन। सबका बिसरा के भान ।
शस्त्र और छाती तान। सभी यहाँ अड़े हैं ।। २२० ।।

इन सबका वध करूँ कैसे ? इन पर शस्त्र चलाऊँ कैसे।
अपने ही वक्ष पर करूँ कैसे। शस्त्राघात ? ।। २२१ ।।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।। ३४ ।।

क्या तुम न जानते ये कौन ? वे उधर भीष्म द्रोण।
जिनके उपकार असाधारण। रहे हम पर ।। २२२ ।।

यहाँ शालक, मामा, ससुर। बंधु, बांधव भी अपार ।
पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, और। मित्र, स्वजन सारे ।। २२३ ।।

ये सभी हैं अपने मेरे। सगे समधी वहुतेरे ।
इनकी हत्या का हमारे। सिर पर न चढ़े पाप ।। २२४ ।।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।। ३५ ।।

वे चाहें तो यहाँ अभी। हमारा वध कर दें सभी।
किन्तु उनके वध का कभी। विचार हम न करेंगे ।। २२५ ।।

त्रैलोक्य का राज्य भी। मिल जाये अकंटक भी ।
यह अनुचित कर्म कभी। श्रीहरि न करूँगा ।। २२६ ।।

यदि मैं ऐसे करूँगा। तो किनका आदर पाऊँगा ।
तुम्हें कैसे दिखा सकूँगा। अपना मुँह कृष्ण ? ।। २२७ ।।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।। ३६ ।।

वध करने पर गोत्रजों का। सहारा बन जाऊँगा दोषों का।
पा कर भी तुम्हें हे सखा। क्या खो न दूँगा ? ।।२२८।।

करने पर कुलक्षय। होगा पापों का संचय।
आने पर ऐसा समय। कहाँ ढूँढूँगा तुम्हें ? ।।२२९।।

उद्यान में लगते आग। मचती सर्वत्र दौड़भाग।
तब कोयल भी जाती भाग। उस उद्यान से ।।२३०।।

या सरोवर में कीच पा कर। चकोर भी उसे तज कर।
उड़ जाता अन्य स्थान पर। पंख फड़फड़ाते ।।२३१।।

वैसे पुण्य की आर्द्रता। सूखते ही माया ममता।
त्याग कर मेरे देवता ! आप भी चले जाओगे ।।२३२।।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३७।।

अतः मैं यह करूँगा नहीं। इस रण में शस्त्र धरूँगा नहीं।
आचरण यह निंद्य ही। मानता हूँ मैं।।२३३।।

कृष्ण साथ नहीं रहेगा। तो क्या हमारे पास रहेगा ?
हृदय हमारा हो जायेगा। दुख से विदीर्ण ।।२३४।।

अतः वधें हम कौरवों को। फिर भोगें सकल भोगों को।
ऐसा न मिले देखने को। कभी हमें ।।२३५।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।३८।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।३९।।

भटक कर अभिमान दर्प में। ये आये यहाँ समरांगण में।
हमें तो क्या अपने हित में। सोचना ही पड़ेगा ।।२३६।।

ऐसा कदापि न करें। कि हम अपनों को ही मारें।
जानते हुए कैसे करें। हलाहल का प्राशन ? ।। २३७ ।।

मार्ग चलते अकस्मात्। सिंह सम्मुख आये साक्षात्।
तो कतरा कर निकलना निश्चित। श्रेयस्कर होगा ।। २३८ ।।

उपलब्ध प्रकाश को तज कर। अंधकूप में बैठें जा कर।
आप ही बताइये इससे बढ़ कर। मूर्खता क्या होगी ? ।। २३९ ।।

अथवा सामने आग पा कर। जाते नहीं उससे बच कर।
क्या भस्म न कर देगी जला कर ? आप ही बताइये ।। २४० ।।

वैसे ये दोष हममें। आ जायेंगे रोम-रोम में।
जानते हुए इस रण में। संहार में कैसे जुटें ? ।। २४१ ।।

यों पार्थ उस अवसर पर। बड़ी दार्शनिक बातें कर।
पापों की गुरुता बता कर। कहने लगा कृष्ण से ।। २४२ ।।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।। ४० ।।

काष्ठ पर रगड़ते काष्ठ। अग्नि होता है प्रदीप्त।
भस्म कर देता समस्त। काष्ठ-ढेर को ।। २४३ ।।

वैसे गोत्र में फैला मत्सर। परस्पर का किया संहार।
तो पाप लगेगा घोर। पूरे परिवार को ।। २४४ ।।

अतः कारण इस पाप के। नष्ट होंगे धर्म कुल के।
अनाचार केवल अधर्म के। कुल में होंगे प्रबल ।। २४५ ।।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।। ४१ ।।

फिर तो सारासार विचार। योग्य अयोग्य आचार ।
इसके विधिनिषेध भी दूर। रहेंगे सभी ।। २४६ ।।

हाथ का दीपक बुझा कर। अँधेरे में राह चलने पर ।
सीधे मार्ग में भी ठोकर। अवश्यम्भावी ।। २४७ ।।

वैसे होते ही कुलक्षय। कुलधर्म लोप हो जाय ।
तो पाप के सिवाय। बचेगा ही क्या ? ।। २४८ ।।

होते यम-नियम का उल्लंघन। इंद्रियाँ करतीं स्वैराचरण ।
कुल स्त्रियाँ तज नियंत्रण। व्यभिचार करतीं ।। २४९ ।।

उत्तम और अधम वर्ण। आपस में मिलकर पूर्ण ।
पूर्णतः करते निर्मूलन। जातिधर्म का ।। २५० ।।

रखते ही खुले में पिंड। झपटता उस पर काक-झुण्ड ।
करता कुल में अंडबंड। वैसे संचार पापों का ।। २५१ ।।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ।। ४२ ।।

फिर उस सम्पूर्ण कुल को। और उस कुलघाती को ।
नरक प्राप्त दोनों को। होना अनिवार्य ।। २५२ ।।

इस प्रकार समस्त। कुल के होते दूषित ।
होते स्वर्गस्थ भी पतित। पूर्वज सारे ।। २५३ ।।

जहाँ नित्यकर्म नहीं होता। और नैमित्तिक भी टूटता ।
पितरों का तर्पण करता। वहाँ कौन ? ।। २५४ ।।

फिर पितर क्या करें ? स्वर्ग में कैसे वास करें ?
वे भी आ जाते नियरे। अपने कुल के ।। २५५ ।।

साँप काटता नख में। विष फैलता पूरे तन में ।
वैसे स्वजन-वध के पाप में। नष्ट होता पूरा कुल ।। २५६ ।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।। ४३ ।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ।। ४४ ।।
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।। ४५ ।।

भगवन, यहाँ और एक। हो जाता है महापातक ।
जिसके संसर्ग मात्र से लौकिक। नष्ट हो जाता है ।। २५७ ।।

एक घर में आग लगती। वह दूसरे घरों को जलाती ।
अर्जुन कहे, हे श्रीपति। यह पाप भी वैसा ।। २५८ ।।

जो इसके संसर्ग में आता। वह भी पतित हो जाता ।
संग संग नष्ट होता। उसी कुल के ।। २५९ ।।

ऐसे नाना पापों से युक्त। अर्जुन कहे वह कुल समस्त ।
घोर नरक में पीड़ित। हो जाता है ।। २६० ।।

एक बार उस नरक में जाते। फिर कल्पान्त बीत जाते ।
तब भी नहीं धुलते। पाप कुलक्षय के ।। २६१ ।।

देव ! इतना सुन कर भी। आप विचलितचित्त नहीं ।
क्यों हे अन्तर्यामी। इतने कठोर बनते हो ? ।। २६२ ।।

जिसके भोग के लिये। राज्य सुख की कामना करें ।
वह देह क्षणभंगुर है। कुलक्षय करें क्यों ? ।। २६३ ।।

अपने बड़ों को मारने की। चाह रख रण में आने की ।
भूल हम सबकी। क्या छोटा पाप है ? ।। २६४ ।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।। ४६ ।।

इसके उपरान्त क्या जीना। शस्त्र डाल ताने सीना ।
इनके तीरों को झेलना। कहीं बेहतर है ।। २६५ ।।

ऐसे में आता हो मरण। तब भी करूँगा उसका वरण ।
किन्तु अपने स्वार्थ के कारण। इन्हें मारूँगा नहीं ।। २६६ ।।

अपने समस्त परिजनों को। देख अर्जुन कहे कृष्ण को ।
कुलक्षय से प्राप्त राज्य को। नरक समान मानता हूँ ।। २६७ ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।। ४७ ।।

उस समय रण में श्रीकृष्ण से। अर्जुन ने अति उद्विग्न मन से ।
यों कहा भावुकता से। धृतराष्ट्र से कहता संजय ।। २६८ ।।

फिर बहुत आकुलता आयी। आँखें भी छलछला गयीं ।
रथ से उतरा तुरंत ही। छलांग लगा अर्जुन ।। २६९ ।।

ज्यों राजकुमार पदच्युत। होता हे पूरा श्रीहत ।
या होते ही राहुग्रस्त। सूर्य निस्तेज होता ।। २७० ।।

या होते सिद्धि प्राप्त। तपस्वी भी होता भ्रमित ।
काम आदि विकार पीड़ित। करते उसे ।। २७१ ।।

वैसे ही धनुर्धर अर्जुन। रथ से करते अवतरण ।
दिखा बहुत दुखी दीन। सारथी श्रीकृष्ण को ।। २७२ ।।

तजे धनुष, तर्कश, तीर। आँखों से बहने लगा नीर ।
संजय कहे राजन सुधीर। सुनो फिर क्या हुआ ।। २७३ ।।

अब इस पर वह वैकुंठनाथ। अर्जुन को देख खिन्न, क्लान्त ।
कैसे कहेगा परमार्थ। कहूँगा आगे।।२७४।।

उसका विस्तार से कथन। ध्यान दे कर करें श्रवण ।
निवृत्ति का दास दीन। ज्ञानदेव कहे ।।२७५।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिंदी में अनूदित ।
अर्जुनविषादयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय पहला ।

।। अध्याय दूसरा ।।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।। १ ।।

फिर संजय बोला धृतराष्ट्र से। राजन् सुनिये ध्यान से।
आकुल हो बड़े शोक से। पार्थ रुआँसा हो गया ।। १ ।।

देख कर परिवार समस्त। स्नेह उपजा मन में अद्भुत।
चित्त हो गया कैसे द्रवित। अब बताता हूँ ।। २ ।।

जैसे पानी में लवण घुलता। या बादल हवा से चलता।
वैसे उसका मन तज दृढ़ता। पानी पानी हो गया ।। ३ ।।

मोह से आकुल हो गया। जैसे कमल मुरझा गया।
या कीचड़ में फँस गया। राजहंस कोई ।। ४ ।।

देखा कि पाण्डुकुमार। महामोह से हो गया जर्जर।
तब उससे शारंगधर। सुनिये क्या बोला ।। ५ ।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।। २ ।।

बोला—पहले देखो अर्जुन। यहाँ क्या यह उचित आचरण ?।
तुम कर रहे क्या, हो कौन ? तनिक सोचो तो ।। ६ ।।

यह क्या तुम्हें हो गया ? क्या न्यून तुमने पाया ? ।
करने को क्या रह गया ? खेद किस बात का ? ।। ७ ।।

तुम्हारी तो ऐसी प्रकृति। कि अनुचित नहीं सोचती
धैर्य कभी नहीं तजती। अपकीर्ति भागती दूर ।। ८ ।।

शूरता में तुम अग्रणी। क्षत्रियों के मुकुटमणि ।
बढ़ी कीर्ति दिन दूनी। त्रिभुवन में तुम्हारी ।। ९ ।।

संग्राम में जीता शंकर को। नष्ट किया निवात-कवच को
गंधर्वो पर पराक्रम को। अंकित तुमने किया । १० ।।

इसलिये तुम्हारे सामने। तीनों लोक लगते बौने।
ऐसा पौरुष पार्थ सयाने। रहा है तुम्हारा ।। ११ ।।

और तुम ही उस वीरवृत्ति को। तज कर ताक रहे धरती को ।
चेहरा करता है रोने को। किस लिये भला ? ।। १२ ।।

करुणा से हो अति दीन। सोचो ज़रा मन में अर्जुन ।
क्या सूर्य भी कभी तमलीन। हो सकता है ? ।। १३ ।।

क्या मेघ से डरता पवन ? या अमृत को आता मरण ?
अग्नि को क्या कभी ईंधन। लील जाता है ? ।। १४ ।।

क्या पानी लवण में घुलता ? या कालकूट संसर्ग से मरता ? ।
या मेंढक भुजंग को खाता ? सोचो ज़रा ।। १५ ।।

क्या कभी सियार को वन में। सिंह से जूझते देखा तुमने ? ।
किन्तु वही बात यहाँ रण में। सत्य कर रहे हो ।। १६ ।।

ये बातें हीन भाव की। तुम्हारे लिये हैं व्यर्थ की ।
इनमें उलझ जाने की। आवश्यकता क्या ? ।। १७ ।।

अतः हो जाओ सावधान। छोड़ो मूर्खता अर्जुन ।
उठा साधो तीर कमान। रण में करुणा कैसी ? ।। १८ ।।

अरे तुम हो सकल ज्ञाता। समर में कैसी सदयता ?।
अशोभनीय यह विकलता। उचित कैसे ? ।। १९ ।।

यह यश का करेगी नाश। नष्ट करेगी मोक्ष की आस ।
अर्जुन से कहे जगन्निवास। देखो सोच कर ।। २० ।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। ३ ।।

अतः शोक ना करो। पूरा धीरज मन में धरो ।
शोचनीयता सारी हरो। अपने मन की ।। २१ ।।

यह तुम्हारे लिये अनुचित। नष्ट इससे सारा संचित ।
किसमें है अपना हित। विचारो मन में ।। २२ ।।

आज ही इस समर में। करुणा क्यों जागी मन में ? ।
क्या ये शत्रु पूर्व में। स्वजन नहीं थे ? ।। २३ ।।

क्या इनके नाते-रिश्ते। पहले तुम्हें ज्ञात नहीं थे ? ।
फिर आज ही क्यों भरमाते। अपने आपको ? ।। २४ ।।

आज इस युद्ध-प्रसंग में। बताओ नया क्या इसमें ।
प्रतिदिन तुम्हारे आपस में। झगड़े होते रहे हैं ।। २४ ।।

तब आज ही क्या हो गया। जो इनसे प्रेम उमड़ आया ।
मन बूझे बिना भरमाया। यह बात बुरी ।। २६ ।।

इस मोह के कारण। लगेगा प्रतिष्ठा में लांछन ।
परलोक का भी हनन। इह के साथ होगा ।। २७ ।।

करती न मन की दुर्बलता। कल्याण अथवा सहायता ।
क्षत्रिय को दिव्य अमरता। रण में मरने से ।। २८ ।।

यों वह कृपावंत समझाता। नाना तरह से सिखाता।
पाण्डुसुत इस पर क्या कहता। सुना उससे ।। २९ ।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। ४ ।।

भगवन इतना भाषण। देने का न कोई कारण।
आप ही करें चिन्तन। इस युद्ध का ।। ३० ।।

यह युद्ध नहीं, है प्रमाद। जिसके लिये हम सन्नद्ध।
पूजनीयों का उच्छेद। प्रकट रचा हमने ।। ३१ ।।

मातुपिता की सेवा करें। उनका सन्तोष बढ़ाया करें।
फिर उन्हीं का वध करें। अपने हाथों ? ।। ३२ ।।

साधुसन्तों को नमस्कार। करें आदर - सत्कार।
या कि उनपर निंदाप्रहार। करें अपने मुख से ? ।। ३३ ।।

देव ! ये गोत्र-गुरु हमारे। पूजनीय साँझ-सवेरे।
भीष्म द्रोण का सिर पर हमारे। ऋण है बहुत ।। ३४ ।।

हम इनसे सपने में भी। बैर कर सकते नहीं।
तब इनका वध अभी। हम करें कैसे ? ।। ३५ ।।

धिक्कार ऐसे जीवन का। यहाँ भ्रष्ट चित्त है सबका।
इनकी विद्या से वध इन्हीं का। क्या हम कर पायेंगे ? ।। ३६ ।।

मैं द्रोण का शिष्य कहलाया। धनुर्वेद इन्हीं से पाया।
इनके उपकार का ऋण क्या। इन्हें मार कर उतारूँ ? ।। ३७ ।।

जिनकी कृपा का मिले वर। उन्हीं का करने अनुपकार।
मैं क्या हूँ भस्मासुर ? पूछता अर्जुन ।। ३८ ।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।। ४ ।।

सागर है तो गहन अविचल। फिर भी सतही होता चंचल ।
किन्तु द्रोण का मन निःश्चल। क्षुब्ध न होता कभी ।। ३९ ।।

यह अनन्त गगन अपार। शायद उसका भी पा लें पार ।
किन्तु द्रोण अथाह गहन उदार। उनका पार न मिल सकता ।। ४० ।।

अमृत भी फीका हो जाये। वज्र शतशः टूट जाये ।
किन्तु कोई भी उपाय। इनकी शान्ति न तोड़ेगा ।। ४१ ।।

माता के समान ममता। कोई नहीं कर सकता ।
किन्तु द्रोण में माया-ममता। साक्षात् मूर्तिमंत ।। ४२ ।।

ये करुणा के उद्गमस्थान। सकल गुणों के निधान ।
विद्या के सागर महान। कहता पार्थ ।। ४३ ।।

इसविध ये सर्वश्रेष्ठ। और हम पर हैं कृपावन्त ।
इनका घात करने की बात। हम कैसे सोच सकते ? ।। ४४ ।।

प्राण जायें, न आवे रास। कि इनका रण में करके नाश ।
राज्यसुख भोगने की आस। हम मन में सँजोयें ।। ४५ ।।

यह कर्म अति अनिष्ट। राज्यभोग यदि इससे श्रेष्ठ।
भीख माँग कर जीना इष्ट। और श्रेष्ठतर ।। ४६ ।।

इससे अच्छा कि देश त्याग करें। या गिरिकंदराओं में वास करें ।
किन्तु अब शस्त्र का न करें। संधान इन पर ।। ४७ ।।

भगवन, तीरों को माँज कर। मर्माघात कर इनपर ।
क्या ढूँढ़ें भोग यहाँ पर। रक्तलांछित ? ।। ४८ ।।

रक्तस्नात भोग पा कर। क्या जीवन होगा सुखकर ?
युक्तिवाद तुम्हारा श्रीधर। गले उतरता नहीं ।। ४९ ।।

यों कहता कृष्ण से अर्जुन। सुनें ध्यान दे कर भगवन।
किन्तु श्रीकृष्ण को सब सुन। कुछ भी रास न आया ।। ५० ।।

यह देख अर्जुन सकपकाया। फिर जब कुछ सँभल पाया।
इतना ही कृष्ण से कह पाया। मेरी अनसुनी न करो ।। ५१ ।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम–
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।। ६ ।।

बात जो थी मेरे मन में। रख दी सम्मुख स्पष्ट वचन में।
किन्तु इससे अच्छा क्या जीवन में। ज्ञात आपको ही ।। ५२ ।।

जिनसे बैर की कल्पना। सुनते ही चाहिये देह त्यागना ।
वे हमसे चाहते लड़ना। इस समर भूमि में।। ५३ ।।

अब इनका हम वध करें। या युद्ध छोड़ प्रस्थान करें ।
उत्तम क्या, कैसे सुनिश्चित करें। आप ही बताइये ।। ५४ ।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। ७ ।।

हमारे लिये क्या है उचित। सोचने पर भी नहीं सूझत ।
कारण इस मोह से चित्त। बहुत आकुल है ।। ५५ ।।

जैसे होते तिमिरग्रस्त। नेत्र तेज होता लुप्त ।
पास की भी चीज़ें समस्त। दिखायी न देतीं ।। ५६ ।।

वैसी मेरी मति कुण्ठित। मानस हो गया है भ्रमित ।
अपना हित अनहित। समझ में नहीं आता ।। ५७ ।।

अतः भगवन कर विचार। उचित क्या है कहाँ सत्वर ।
आप ही सर्वस्व, मित्र, सहचर। अब हो हमारे ।। ५८ ।।

आप ही गुरु, बंधु, पिता। आप ही सखा, इष्टदेवता।
संकट में रक्षणकर्त्ता। आप ही हमारे ।। ५९ ।।

जैसे शिष्यों को गुरुवर। कभी न करते अस्वीकार।
सरिताओं का त्याग सागर। भला करेगा कैसे ? ।। ६० ।।

या तज कर अपत्य को। माता चली जाये कहीं को ।
तो अच्युत ! उस शिशु को। जीवन कौन देगा ? ।। ६१ ।।

वैसे सर्वोपरि हमें। एक आप ही हो जग में।
मेरी बात यदि तुम्हें। जँचती न हो ।। ६२ ।।

तो हमारे लिये क्या उचित। और क्या है धर्मविपरीत ।
वही अब बताओ त्वरित। हे पुरुषोत्तम ! ।। ६३ ।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।। ८ ।।

यहाँ एकत्र देख स्वकुल। शोक से मन है व्याकुल ।
तव उपदेश बिन गोपाल। वह शान्त न होगा ।। ६४ ।।

पृथ्वी का राज्य मिल गया। या इंद्रपद प्राप्त हो गया ।
मन से यह मोहमाया। कदापि न जायेगी ।। ६५ ।।

जैसे भुने बीजों की। उत्तम खेत में बुआई की ।
कितनी ही बढ़िया सिंचाई की। फिर भी न आती फ़सल ।। ६६ ।।

या जीवन ही समाप्त होता। औषधि का क्या काम बचता ?
तब तो एक ही सहारा होता। परमामृत का।। ६७।।

वैसे पा राज्य, सुख, समृद्धि। मुक्त नहीं होगी बुद्धि।
आपकी ममता कृपानिधि। केवल काम आयेगी।। ६८।।

इतना सब कह देने पर। मोहभंग हुआ पल भर।
दूसरे ही क्षण दबाया धर। फिर उसी ऊर्मि ने।। ६९।।

किन्तु शायद ऊर्मि न होगी। और ही कुछ बात रही होगी।
पकड़ मजबूत पड़ी होगी। मोह-सर्प की।। ७०।।

करुणा उठते हृदय-कमल में। मोहदंश हुआ मर्मस्थल में।
लहर पर लहर तन में। विष की फुहारें बनीं।। ७१।।

देख कर सारा प्रसंग। झट बढ़ा सपेरा श्रीरंग।
दृष्टिपात से विषभंग। कर सकता जो।। ७२।।

वैसे मोहग्रस्त था अर्जुन। पास ही था श्रीकृष्ण।
निज कृपा से रक्षण। करेगा उसका।। ७३।।

इसलिये मैंने कहा पार्थ। हुआ था मोह-सर्प दंशित।
मन में था यही हेत। कहे ज्ञानदेव।। ७४।।

वहाँ जब पार्थ अर्जुन। था भ्रमित और म्लान।
लगा जैसे मेघाच्छन्न। सूर्य ही हो।। ७५।।

तब वहाँ धनुर्धर। ऐसे हुआ दुखजर्जर।
जैसे ग्रीष्म में गिरिवर। होता बड़वानल से।। ७६।।

इसलिये सहज सुनील। कृपामृत से जो सजल।
वह मुड़ा श्रीगोपाल। महामेघ-सा।। ७७।।

वहाँ सुदर्शन की द्युति। मानो विद्युल्लता दमकती।
केशव की वाणी लगती। गम्भीर घनगर्जना।। ७८।।

वह परम उदार कैसे बरसेगा। अर्जुन-अनल कैसे शमेगा।
नया ज्ञानांकुर उगेगा। देखें कैसे ।। ७९ ।।

करिये वह कथा श्रवण। दत्तचित्त हो सावधान।
कहे निवृत्तिदास लीन। ज्ञानदेव ।। ८० ।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।। ९ ।।

संजय कहे सुनो राजन। फिर शोकाकुल हुआ अर्जुन।
करने लगा निवेदन। श्रीकृष्ण से ।। ८१ ।।

अर्जुन है सखेद कहता। संकोच-विवश न करो भ्राता ।
इस युद्ध के लिये सर्वथा। सिद्ध न हूँ निश्चित ।। ८२ ।।

यों कह कर पार्थ सहसा। बैठ गया हो मूक-सा ।
देख कर उसकी दशा। चकित श्रीकृष्ण ।। ८३ ।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।। १० ।।

फिर मन-ही-मन लगा कहने। यह क्या लाया मन में इसने ।
यह क़तई कुछ भी न जाने। कैसे समझाऊँ ? ।। ८४ ।।

इसकी समझ में आये कैसे। मन में धीरज जागे कैसे ।
ओझा अनुमान लगाता जैसे। भूतबाधा का ।। ८५ ।।

या व्याधि को असाध्य जान। वैद्य तत्काल कर निदान ।
दिव्य औषधि अमृतसमान। देने की सोचता ।। ८६ ।।

कुछ वैसा ही कृष्ण ने मन में। सोचा सेना दलों के मध्य में ।
जिससे उस समरांगण में। भ्रम टूटेगा अर्जुन का ।। ८७ ।।

मोह का अचूक कर निदान। सरोष प्रारम्भ किया भाषण।
जैसे माता का प्रताड़न। ममता भरा ।। ८८।।

या कड़वी दवा के भीतर। अमृत भरा होता कूट कर ।
ऊपर से नहीं होता गोचर। प्रभाव किन्तु दिखाता ।। ८९।।

वैसे ऊपर से क्रोधयुक्त। किन्तु अन्तर्यामी रससिक्त ।
ऐसे वाक्य श्रीअनंत। कहने लगे।। ९०।।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। ११।।

अर्जुन से लगे कहने। आज आश्चर्य देखा हमने ।
युद्ध के बीच यह तुमने। क्या प्रारम्भ किया है ? ।। ९१।।

अपने को ज्ञानी कहलाते। किन्तु अज्ञानता नहीं तजते ।
समझाने पर कहते। नीति अनीति कैसी ? ।। ९२।।

जन्मांध को पागलपन का दौरा। पड़ते वह जाता बौरा ।
तुम्हारी सोच का निरा। हाल वैसे हुआ है।। ९३।।

अपने प्रति अनभिज्ञ हो। किन्तु कौरवों पर शोक करते हो ।
यह विस्मय महाबाहो। हमें होता बारम्बार ।। ९४।।

तो तुम ही बताओ अर्जुन। क्या झूठ अनादि विश्वसृजन ?
और त्रिभुवन को संरक्षण। क्या तुमसे मिलता है ? ।। ९५।।

यहाँ ईश्वर एक महान है। प्राणिमात्र उसकी सन्तानें हैं ।
यह जो सबकी मान्यता है। क्या वह भी झूठी ? ।। ९६।।

आज ही क्या हो गया अर्जुन। कि जन्म मरण सब तेरे कारण ।
और तुमने चाहा तभी ये जन। नष्ट हो जायेंगे ? ।। ९७।।

भ्रामक अहंकार के वश। तुम न भी चाहो इनका नाश।
तो क्या यह कौरव वंश। कभी मरेगा ही नहीं ? ।। ९८ ।।

या तुम ही एक मारने वाले। और ये सब मरने वाले।
इस भ्रम के झूले हिण्डोले। क्यों झूलते हो ? ।। ९९ ।।

यह क्रम तो अनादिसिद्ध। सहजता से होता पार्थ।
क्यों होते तुम शोकग्रस्त। बताओ तो ? ।। १०० ।।

किन्तु मूर्खतावश तुम न जानते। व्यर्थ की चिन्ता करते।
और उलटे हमें ही हो देते। नीति उपदेश ।। १०१ ।।

देखो, जो विवेकी होते। उत्पत्ति-लय को भास मानते।
मन में शोक नहीं करते। दोनों का ही ।। १०२ ।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।। १२ ।।

अर्जुन सुनो हमारी बात। तुम, हम, यहाँ जो एकत्रित।
और राजा महाराजा समस्त। अमर नहीं हैं ।। १०३ ।।

ये जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। या निश्चय ही नष्ट होंगे।
यह भ्रान्ति आमूल तजोगे। यही अच्छा है ।। १०४ ।।

इनकी उत्पत्ति या विनाश। मायावश लगता आभास।
किन्तु आत्मा होता अशेष। और अविनाशी ।। १०५ ।।

वायु से पानी हिलता। उसमें लहरें है उठाता।
तो क्या है पैदा होता। वहाँ पर ? ।। १०६ ।।

बयार बहना थम जाये। और पानी निश्चल हो जाये।
तो आप ही बतायें। क्या नष्ट हुआ ? ।। १०७ ।।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।। १३ ।।

देह होती है एक। उसकी अवस्थाएँ अनेक ।
होती हैं दशाएँ अनेक। स्वयं देख लो ।।१०८।।

यहाँ किशोरपन होता। जो यौवन में लुप्त होता ।
किन्तु देह वही रहती। हर अवस्था में।।१०९।।

त्यों अनन्त देहों का प्रकटन। चैतन्य में होता लीन।
इसका है जिसे ज्ञान। मोह, दुःख उसे नहीं ।। ११० ।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। १४ ।।

मानव होता इन्द्रियाधीन। और इन्द्रियाँ विषयाधीन ।
इसी से भ्रम होता उत्पन्न। बढ़ती असमंजसता ।। १११ ।।

इन्द्रियाँ करतीं विषयसेवन। उसी से हर्ष शोक उत्पन्न।
सुख-दुख में अन्तःकरण। मग्न हो जाता है ।। ११२ ।।

इन विषयों की स्थिति भी। एक-सी न होती कभी ।
सुख दुःख दोनों भी। उनमें होते गोचर ।। ११३ ।।

निन्दा और स्तुति। देखो इनकी व्याप्ति।
सुनकर हो जाती मति। द्वेष-प्रेमयुक्त ।। ११४ ।।

मृदुता और कठिनता। स्पर्श विषय की विशेषता।
सुख दुख उनसे उपजता। शरीर संयोग में।। ११५ ।।

भयावह और सुन्दर। रूप के ये दो प्रकार।
नयनों को दुख-सुख अपार। उनके दर्शन से ।। ११६ ।।

सुगंध और दुर्गन्ध। परिमल के दो भेद।
नाक से संतोष खेद। पैदा करते हैं ।। ११७ ।।

त्यों ये द्विविध रस। उपजाते करते प्रीति त्रास।
इसीलिये विषय सहवास। भ्रष्ट करता मनुष्य को ।। ११८ ।।

जो होते इन्द्रियाधीन। शीतोष्ण बाधा के कारण।
सुखासीन दुःखाधीन। स्वयं ही हो जाते ।। ११९ ।।

इन्द्रियों को विषयबिना। रमणीय कुछ लगे ना।
प्रकृति का ताना-बाना। होता ही उनका ऐसे ।। १२० ।।

जो विषय भंगुर अनित्य। उनका अपरिग्रह ही सत्य।
विषयसंग का नित्य। त्याग करो धनुर्धर ।। १२२ ।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। १५ ।।

जो विषयाधीन नहीं। उन्हें जग में सुख-दुख नहीं।
गर्भवास फिर उन्हें नहीं। भोगना पड़ता ।। १२३ ।।

इन्द्रियों के विषयभोग में। लिप्त नहीं जो अग-जग में।
उसे अपने अन्तरतम में। पार्थ जानो अविनाशी ।। १२४ ।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।। १६ ।।

अर्जुन, अब आगे सुनो। जो कहता हूँ, मन में गुनो।
मर्म इसका पहचानो। जानते विवेकी जैसे ।। १२५ ।।

चैतन्य जो सर्वगत। इस विश्व में है गुप्त।
दार्शनिक तत्त्वज्ञ सन्त। सब स्वीकारते उसे ।। १२६ ।।

जैसे दूध और जल। गये हों पूरे घुल-मिल ।
राजहंस उस में से केवल। दूध पी लेता है ।। १२७ ।।

आग में अशुद्ध सुवर्ण। तपा कर परिपूर्ण ।
शुद्ध कर लेते कण-कण। चतुर जन जैसे ।। १२८ ।।

अथवा अत्यंत कुशलता से। दही में मथनी चलाने से ।
नवनीत आता जैसे। तह से सतह पर ।। १२९ ।।

भूसायुक्त धान जैसे। हवा पर उड़ावनी करने से ।
धान अलग हो कर भूसे से। नीचे रह जाता ।। १३० ।।

वैसे तत्व-विचार करने पर। प्रपंच रह जाता दूर ।
ब्रह्मतत्व होता सुस्थिर । ज्ञानियों के लिये ।। १३१ ।।

फिर उनमें अनित्य के प्रति। नहीं रहती आस्तिकमति ।
नित्य-अनित्य की प्रतीति। होती उनके मन में ।। १३२ ।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ।। १७ ।।

करते सार-असार का विचार। भ्रान्ति है विश्व असार ।
जो अविनाशी वही सार। समझ लो पार्थ ।। १३३ ।।

हे अर्जुन, यह त्रिभुवन। जिससे हुआ उत्पन्न ।
उसके नाम, रूप, चिह्न। कोई नहीं होते ।। १३४ ।।

जो सर्वदा सर्वगत। है जन्म-मरणातीत ।
करना चाहो उसका घात। फिर भी होगा नहीं ।। १३५ ।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।। १८ ।।

और यह सब शरीरजात। प्रकृति से नश्वर निश्चित ।
अतः हो कर निश्चिन्त। युद्ध करो अर्जुन ।। १३६ ।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।। १९ ।।

तुम देहाभिमान धर कर। केवल देह को विचार कर ।
कह रहे हो रह-रह कर। मैं मारूँगा ये मरेंगे ।। १३७ ।।

किन्तु अर्जुन, तुम्हें नहीं पता। सोचोगे यदि तत्त्वतः ।
न तुम हो वधकर्ता। न हैं ये वध्य ही ।। १३८ ।।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। २० ।।
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। २१ ।।

स्वप्न में जो देता दिखायी। वह स्वप्न की ही सचाई ।
जागने पर कहीं क़तई। कुछ दिखायी न देता ।। १३९ ।।

वैसे है यह सब माया। मन तुम्हारा व्यर्थ भरमाया ।
शस्त्र चलाने से छाया। न होती छिन्न-भिन्न ।। १४० ।।

कुम्भ में पड़ा सूर्यबिम्ब। उल्टा करने पर कुम्भ।
लुप्त होता प्रतिबिम्ब। सूर्य नष्ट न होता ।। १४१ ।।

मठ में नभ का आकार। लगता मठ के बराबर ।
मठ के गिरने टूटने पर। नभ अभंग ही रहता ।। १४२ ।।

वैसे शरीर का होता लोप। नष्ट न होता आत्मरूप ।
अतः यह भ्रान्ति का पाप। तजो बंधो! ।। १४३ ।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। २२ ।।

तज कर पुराना परिधान। नया करते हम धारण ।
एक देह तज, नया धारण। करता वैसे आत्मा ।। १४४ ।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। २३ ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।। २४ ।।

यह अनादि, नित्यसिद्ध। उपाधिरहित विशुद्ध ।
शस्त्रास्त्र से विच्छेद। होता नहीं इसका ।। १४५ ।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।। २५ ।।

जल-प्रलय में यह न डूबता। अग्नि न इसे जला सकता ।
वायु में भी असमर्थता। इसे सुखाने की ।। १४६ ।।

अर्जुन, यह है नित्य। अविचल और शाश्वत ।
सदा सर्वदा सर्वत्र। परिपूर्ण है ।। १४७ ।।

तर्क दृष्टि को भी। यह आत्मा न देता दिखायी ।
इससे मिलने को अतुरायी। ध्यानधारणा ।। १४८ ।।

मन के लिये यह असाध्य। साधना से भी अप्राप्य ।
यह असीम अपरिमेय। पुरुषोत्तम ।। १४९ ।।

यह सत्वादि त्रिगुणरहित। अनादि है विकाररहित ।
आकार के भी अतीत। है सर्वव्यापी ।। १५० ।।

इसे सत्य रूप में देखो। सबमें इसे देखना सीखो ।
तभी अपने शोक को। नष्ट कर पाओगे ।। १५१ ।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। २६ ।।

अथवा इसे यों न जान कर। मानते हो तुम नश्वर ।
तब भी हे नरवर। शोक अनुचित है ।। १५२ ।।

उत्पत्ति स्थिति अन्त। ये निरन्तर और नित्य ।
जैसे प्रवाह अखंडित। गंगाजल का ।। १५३ ।।

जो अखंडित है उद्‌गम में। अन्त में गिरता सागर में ।
प्रवाह रूप दिखता बीच में। सरिता जैसा ।। १५४ ।।

ये तीनों अवस्थाएँ बहुधा। प्राणिमात्र की होतीं सर्वदा ।
इनसे बच पाना सर्वथा। असम्भव है।। ५५ ।।

इन पर शोक करना पार्थ। तुम्हारे लिये अतः व्यर्थ ।
सहज सृष्टिक्रम का अर्थ। समझो अनादि ।। १५६ ।।

अथवा प्राणिमात्र यहाँ के। अधीन जन्म-मरण के ।
ये हों विचार तुम्हारे मन के। फिर भी शोक अनुचित ।। १५७ ।।

शोक करते हो किसका ? जन्म अथवा मरण का ?
दोनों यहाँ सबका। नियम अनिवार्य ।। १५८ ।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।। २७ ।।

जन्मा है वह मरेगा। मर गया, वह फिर जन्मेगा ।
यह अटल चक्र नित घूमेगा। शोक किस बात का ? ।। १५९ ।।

उदय और अस्त। अपने आप होते सतत ।
जन्म-मरण त्यों अखंडित। अटल हैं विश्व में ।। १६० ।।

समय आते महाप्रलय का। संहार होता त्रैलोक्य का ।
आदि-अन्त इसलिये सबका। है अनिवार्य ।। १६१ ।।

यह मान कर भी नहीं मानते। तो खेद किस बात का करते ?
क्या जान कर भी नहीं जानते। यह सब भारत ? ।। १६२ ।।

पार्थ, अन्य प्रकार से भी। देखने, सोचने पर भी ।
तुम्हें शोक करने की कभी। कोई बात नहीं ।। १६३ ।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।। २८ ।।

प्राणिमात्र का सम्भार। जन्मपूर्व था निराकार ।
जन्म लेने पर आकार। इन्हें प्राप्त होता ।। १६४ ।।

वे जहाँ नष्ट हो जाते। वहाँ भी अन्य रूप न पाते ।
पूर्वावस्था में ही आते। अपनी निराकार ।। १६५ ।।

बीच में भास आकार का। जैसे स्वप्न निद्रित का ।
मायावश जन्म-मरण का। आकार ब्रह्मस्वरूप में ।। १६६ ।।

अथवा पवन स्पर्श से नीर। लगता है तरंगाकार ।
या सुवर्ण बनता अलंकार। जैसे पर इच्छा से ।। १६७ ।।

वैसे जो-जो हैं मूर्त। उन्हें जानो माया-निर्मित ।
जैसे गगन आच्छादित। मेघपटल से ।। १६८ ।।

जिसका अस्तित्व नहीं मूल में। उसके लिये शोक क्यों मन में ?
निर्विकार चैतन्य रूप में। देखो सबको ।। १६९ ।।

उर में उसकी प्रीति जागते। ये विषय सन्तों को तजते ।
वे विरक्त भी वनवासी होते। जिसके लिये ।। १७० ।।

जिनको लक्ष्य बना कर। ब्रह्मचर्यादि व्रत लेकर ।
तप करते हैं मुनीश्वर। दृढ़ संकल्प से।। १७१।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।। २९।।

कुछ मन को एकाग्र कर। दृष्टि लगा कर ब्रह्म पर।
भारत, सारा संसार। भुला देते हैं।। १७२।।

कुछ इष्ट का गुणगान करते। उपरति मन में जगाते ।
अनंत तल्लीनता पाते। निरन्तर ।। १७३।।

कइयों ने सुन पायी शान्ति। देहबोध की हुई समाप्ति ।
कइयों ने की अनुभूति। तद्रूपता की ।। १७४।।

जैसे प्रवाह नदियों के। सागर में गिरते जाके ।
कारण स्थानाभाव के। लौटते नहीं किन्तु।। १७५।।

वैसे जिन योगियों की मति। पाती तद्रूपता की अनुभूति ।
उनकी वापस पुनरावृत्ति। नहीं होती संसार में ।। १७६।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। ३०।।

जो सर्वत्र सभी देहों में। अवध्य है इस अग-जग में ।
वह विश्वात्म चैतन्य सबमें। देखो पार्थ ।। १७७।।

उसकी सत्ता से केवल। यहाँ आना-जाना सकल ।
तुम होते हो आकुल। व्यर्थ किसलिए ? ।। १७८।।

वैसे भी क्यों अर्जुन। मानता नहीं तुम्हारा मन ?
तुम्हारा यह सारा रुदन। अत्यंत अनुचित।। १७९।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। ३१ ।।

अरे तुम क्यों न सोचते ? किसकी चिन्ता बैठे करते ?
क्यों स्वधर्म को भुलाते। तरते जिससे मानव ? ।। १८० ।।

क्या कोरवों को कुछ हुआ है ? या तुम पर कुछ बीती है ?
अथवा विश्व डूबने लगा हे ? यहाँ अकस्मात् ? ।। १८१ ।।

ऐसा हो जाय भले ही। स्वधर्म कदापि त्याज्य नहीं ।
फिर ऐसी करुणा के तई। तर जाओगे कैसे ? ।। १८२ ।।

हे अर्जुन, तुम्हारा चित्त। करुणा से होता हो द्रवित ।
ऐसा होना हे अनुचित। अब समर भूमि में ।। १८३ ।।

अरे गाय का क्यों न हो दूध। पथ्य में यदि हो निषिद्ध ।
नवज्वर में न देते प्रबुद्ध। विष बन जाता है ।। १८४ ।।

वैसे ग़लत समय ग़लत करते। सारे हित नष्ट हो जाते ।
सचेत हम तुम्हें करते। पार्थ, वीरवर ।। १८५ ।।

क्यों हो व्यर्थ आकुल। स्वधर्म को देखो केवल।
जिसका करते प्रतिपाल। अपाय नहीं होता ।। १८६ ।।

जैसे सही मार्ग पर चलते। विघ्न कभी नहीं आते।
या दीप लिये चलते। दुर्घटना नहीं ।। १८७ ।।

वैसे ही, हे धनुर्धर। स्वधर्म से चलने पर ।
मनोकामनाएँ सत्वर। पूर्ण होती हैं ।। १८८ ।।

इसलिये सोचो अर्जुन। तुम क्षत्रियों को युद्ध बिन।
अन्य कुछ भी उचित न। इस विश्व में ।। १८९ ।।

निष्कपट हो कर मन में। डट कर लड़ो समर में ।
जानते हो सब, तुम्हें। अधिक क्या समझाऊँ ? ।। १९० ।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। ३२ ।।

भाग्यशाली हो अर्जुन। यह युद्ध पर्व सुवर्ण ।
सकल धर्मों का निधान। प्रकट हुआ है ।। १६१ ।।

इसे संग्राम कहें कैसे ? हो प्रभावित तव शौर्य से ।
मानो स्वर्ग उदित हुआ जैसे। मूर्तिमंत ।। १६२ ।।

अथवा तुम्हारे गुण गुन कर। कीर्ति तुम पर मोहित हो कर ।
दौड़ी आई वरमाला लेकर। स्वयंवर करने ।। १६३ ।।

क्षत्रियों के अहोभाग्य से। बहुत पुण्य जोड़ने से ।
युद्ध प्राप्त होता जैसे। मार्ग चलते चिन्तामणि ।। १६४ ।।

या जँभाई देने मुख खोलते। अमृत कण उसमें आ गिरते ।
वैसे भाग्य से अकूते। यह युद्ध छिड़ा है ।। १६५ ।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। ३३ ।।

अब यदि छोड़ते हो रण को। और करते व्यर्थ शोक को ।
पहुँचाओगे अपने आपको। हानि अपरिमित ।। १६६ ।।

पूर्वजों द्वारा संचित। यश कीर्ति जो अपरिमित ।
उसका करोगे घात। शस्त्र डालते हो यदि ।। १६७ ।।

सारा सुयश मलिन होगा। विश्व निंदा करने लगेगा ।
तुम्हें ढूँढ़ता चला आयेगा। झुण्ड महापापों का ।। १६८ ।।

बिना पति के वनिता। अपमानित होती सर्वथा ।
वैसे स्वधर्म बिन जीता। उसकी दुर्दशा होती ।। १६९ ।।

रण में गिरे शव पर। गिद्ध आते झपटकर ।
वैसे स्वधर्महीन पर। महापाप झपटते ।। २०० ।।

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते ।। ३४ ।।

अतः स्वधर्म को छोड़ोगे। तो पाप के भागी बनोगे ।
अपयश को धो न पाओगे। कल्पान्त पर्यन्त ।। २०१ ।।

यश, कीर्ति नहीं जाते। ज्ञाता तभी तक जीते ।
कहो, इस वास्तव के रहते। कैसे छोड़ोगे रण ? ।। २०२ ।।

बन दयालु, निर्मत्सर। जाओगे रण से मुख मोड़कर ।
ये नहीं मानेंगे पर। सोच को तुम्हारी ।। २०३ ।।

वे चहुं-दिश तुम्हें घेरेंगे। बाणों की वर्षा करेंगे ।
तब कैसे बच पाओगे। दयाबोध से ? ।। २०४ ।।

फिर भी उस प्राणसंकट से। बच भी गये तुम भाग्य से ।
वह जीना तो मरण से। अत्यंत हीन ।। १०५ ।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।। ३४ ।।

किन्तु, तुम न करते विचार। आवेश से लड़ने आ कर ।
किन्तु मन में करुणा ले कर। जाओगे यहाँ से ।। २०६ ।।

तुम्हारी करुणा को अर्जुन। क्या सच मानेंगे ये दुर्जन ?
क्या न देंगे तुम्हें दूषण। बताओ तो ।। २०७ ।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।। ३६ ।।

ये कहेंगे, गया रे गया। अर्जुन डर कर भाग गया ।
यह कलंक तुम पर लग गया। तो क्या उचित ? ।।२०८।।

लोग प्रयास करके । या जीवन निछावर करके ।
धनी होते यश कीर्ति के। जग में धनुर्धर ।।२०९।।

गगन की भाँति निरुपम। वह कीर्ति यश उत्तम ।
तुम्हें प्राप्त है बिना श्रम। कुंतिपुत्र! ।। २१०।।

तुम्हारी कीर्ति है असीम। गुणसम्पदा अनुपम ।
ऐसा बजता डिंडिम। त्रैलाक्य में तुम्हारा ।। २११।।

देश-विदेशों के भूपति। चारण बन करते स्तुति ।
कृतान्त भी खाता भीति। जिसके श्रवण से ।। २१२।।

गंगा-सम निर्मल गहन। तव कीर्ति की महिमा सुन
कैसे होता कीर्ति-वरण। ज्ञात हुआ वीरों को ।। २१३।।

वह तुम्हारा पौरुष अद्‌भुत। सुनते ही ये वीर समस्त ।
हो गये हैं पूरे विरक्त। जीवन के प्रति ।। २१४।।

जैसे सिंह की दहाड़ सुनते। मत्त हाथियों के होश उड़ते।
वैसे ये सारे कौरव डरते। तुमसे ही पार्थ ।। २१५।।

वज्र जैसे पर्वतों के लिये। या गरुड़ साँपों के लिये।
वैसे कौरव अपने लिये। मानते तुम्हें ।। २१६।।

यह महानता होगी नष्ट। मिलेगी हीनता निकृष्ट।
बिना लड़े भागने को सचेष्ट। यदि तुम होगे ।। २१७।।

ये तुम्हें भागने भी न देंगे। पकड़ कर दुर्गति करेंगे ।
निन्दा भी जी भर करेंगे। तुम्हारी, मुँह पर ।। २१८।।

सुन हो जाये हृदय विदीर्ण। उससे भला शूरता से रण ।
जीत कर भोगे सम्पूर्ण। राज्य पृथ्वी का ।। २१९।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ।। ३७ ।।

या रण में जूझते-जूझते। वीरगति को प्राप्त होते।
तब भी स्वर्गसुख पाओगे। अनायास पार्थ ।। २२० ।।

इसलिये अर्जुन, उठो। इन बातों को छोड़ो, डटो।
तीर-कमान अपना खींचो। युद्ध करने के लिये ।। २२१ ।।

रण में लड़ना है स्वधर्म। सारे आचरण का है मर्म ।
क्यों भ्रान्ति और सम्भ्रम। जगाते मन में ? ।। २२२ ।।

नौका में कौन डूबता ? सीधे मार्ग ठोकर खाता ?
जिसमें चलने की असमर्थता। वही गिरेगा ।। २२३ ।।

दूध से तभी आता मरण। जब विष के संग प्राशन ।
वैसे सहेतुक धर्माचरण। दोषयुक्त ।। २२४ ।।

इसीलिये हे पार्थ। सर्वथा हो हेतु रहित।
लड़ो क्षात्रधर्मयुत। इसमें पाप नहीं ।। २२५ ।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।। ३८ ।।

दुख में न हों श्रीहत। या सुख में उल्लसित ।
हिताहित का बोध। कदापि न हो ।। २२६ ।।

यहाँ विजय मिलेगी। अथवा मृत्यु आयेगी ।
बात आगे क्या होगी। पहले नहीं सोचो ।। २२७ ।।

जो उचित अपने लिये। चले चलो कर्म किये।
भाग्य में जो भी आ जाये। सहते चलो ।। २२८ ।।

ऐसी हो मन की स्थिरता। फिर पाप नहीं लगता ।
इसलिये अब, हे भ्राता। लड़ो भ्रान्ति तज कर ।। २२९ ।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये
बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्धया युक्तो, यया पार्थ
कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। ३९ ।।

यह ज्ञानयोग संक्षिप्त। यहाँ किया निरूपित ।
अब बुद्धियोग सुनिश्चित। तुम्हें बतायेंगे ।। २३० ।।

बुद्धियोग के होते सिद्ध। कर्म करके भी नानाविध ।
पार्थ, उनके कोई बंध। बाधक नहीं होते ।। २३१ ।।

वज्र, कवच करते धारण। शस्त्र-अस्त्र, अग्निबाण ।
सब करते हुए सहन। विजय मिल जाती है ।। २३२ ।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। ४० ।।

वैसे ऐहिक सुख नष्ट न होता। मोक्ष सुख भी शेष रहता ।
पूर्वकर्म भी चलता रहता। अखंडित ।। २३३ ।।

कर्माधार से चलते रहें। कर्म फल की आस न रहे ।
जैसे ओझा को न होती है। भूतबाधा ।। २३४ ।।

उस विध यह निष्काम बुद्धि। हो जिसकी उपलब्धि ।
उसे जन्म-मरण की उपाधि। बाधक नहीं होती ।। २३५ ।।

यह बुद्धि अति निष्कम्प। इसे न छूते पुण्य-पाप ।
सत्व, रज, तम का लेप। इस पर नहीं होता ।। २३६ ।।

ऐसी सुबुद्धि पुण्यवश। हृदय में अल्प भी प्रकाश ।
करे तो सम्पूर्ण नाश। होता भवभय का ।। २३७ ।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। ४१ ।।

दीपकली होती छोटी। किन्तु बड़ा प्रकाश देती ।
वैसे इस बुद्धि को नाटी। कहना नहीं ।। २३८ ।।

पार्थ, जो बुद्धिमान होते। इसी सुबुद्धि को चाहते ।
क्योंकि यह चराचर में। दुर्लभ अत्यन्त ।। २३९ ।।

आम पत्थरों के समान। नहीं मिलता पारस पाषाण ।
संजीवक अमृत का कण। मिलता भाग्य से ही ।। २४० ।।

गंगा के लिये जैसे उदधि। वैसे परमात्मा जिसकी परमावधि ।
ऐसी वह योगबुद्धि। दुर्लभ सर्वथा ।। २४१ ।।

ईश्वर के बिना कोई। जिसके लिये प्राप्य नहीं ।
ऐसी बुद्धि एक ही। होती, अर्जुन, जगत में ।। २४२ ।।

इससे भिन्न जो दुर्बुद्धि। बहुधा होती वह विकृति ।
उसमें रमते अविवेकमति। सतत, निरन्तर ।। २४३ ।।

इसलिये मिलती उन्हें भ्राता। स्वर्ग-संसार-नरक अवस्था ।
किन्तु आत्मसुख से वे सर्वथा। वंचित ही रहते ।। २४४ ।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।। ४२ ।।

कर्मफल में आसक्ति रखते। वेदाधार से बातें करते ।
किन्तु प्रस्थापना हैं करते। केवल कर्म मार्ग की ।। २४५ ।।

कहते संसार में आ कर। यज्ञादिक कर्मों को कर ।
स्वर्गसुख का अति मनोहर। आनंद लें ।। २४६ ।।

स्वर्गसुख से बढ़ कर कहीं। अन्य सुख होता नहीं ।
यों कहते ये सदा ही। सभी दुर्मति ।।२४७।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ।।४३।।

हो कर विषयों में आसक्त। भोगविलास में दत्तचित्त ।
रहते, अर्जुन, कुकर्मरत। ये दुर्बुद्धि ।।२४८।।

नानाविध अनुष्ठान। यथाविधि करते पूर्ण ।
दक्षता से धर्माचरण। करते रहते ।।२४९।।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ।।४४।।

किन्तु एक ही अनुचित करते। स्वर्गकामना मन में रखते ।
और यज्ञपुरुष को भुलाते। आदिभोक्ता जो ।।२५०।।

जैसे कपूर राशि में। आग लगा दें पल में ।
या मिला दें मिष्टान्न में। गोला कालकूट का।।२५१।।

अमृत-कुम्भ मिला भाग्य से। उसे उलटा दें लात से ।
धर्मनाश ये वैसे। करते सहेतुक ।।२५२।।

पुण्य जोड़ने पर सायास से। क्या नाता संसार-सुख से ?
किन्तु ये जन अज्ञानी-से। यही जानते नहीं ।।२५३।।

निपुण महराजन धनलोभ से। पकवान बेचती चुपके से ।
अविचारी भोगलालसा से। वैसे गँवाते धर्म ।।२५४।।

इसलिये जानो पार्थ। जो विवाद्य बनाते वेदार्थ ।
उनके मन में होता स्वार्थ। और दुर्बुद्धि भी ।।२५५।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। ४५ ।।

अर्जुन, ये वेद निश्चित। सत्व रज तम युक्त ।
अतः उपनिषद समस्त। सात्विक हैं।। २५६ ।।

जहाँ निरूपित कर्मादिक। हैं केवल स्वर्गसूचक।
उन वेदों को रजतमात्मक। जानो, धनुर्धर ।। २५७ ।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।। ४६ ।।

अतः पहचानो अर्जुन। ये सुख दुख का मूल कारण ।
यहाँ अपना अन्तःकरण। भरमाओ नहीं ।। २५८ ।।

इन त्रिगुणों को करो अस्वीकार। मैं, मेरा छोड़ो विचार ।
आत्मसुख को कभी। मन से न हटने दो ।। २५९ ।।

वेदों में कहा है बहुत। दिया विविध मार्ग का संकेत।
किन्तु जिसमें अपना हित। उतना ही ग्रहण करो ।। २६० ।।

जैसे सूर्योदय होते। नाना मार्ग दिखायी देते ।
किन्तु क्या सारे होते। चलने योग्य ?।। २६१ ।।

अथवा जलमय सकल। हो गया अवनीतल ।
किन्तु हम लेते उतना ही जल। जितना आवश्यक ।। २६२ ।।

वैसे सभी ज्ञानी जन। वेदार्थ का करते मंथन।
अपेक्षित का करते ग्रहण। शाश्वत जो ।। २६३ ।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। ४७ ।।

अतः सर्वोपरि देखकर। पार्थ, तुम्हें यहाँ पर।
एक ही है अब उचिततर। स्वकर्म करना।। २६४।।

मैंने किया सारा विचार। यही आता मन में त्रिवार।
तजो अपना जीवन सार। विहित कर्म ।। २६५।।

किन्तु कर्मफल की आस न धरो। कुकर्मों का संग न करो ।
सत्कर्मों का ही वरण करो। निष्काम भाव से।। २६६।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। ४८।।

तुम हो कर योगयुक्त। फलाशा से अनासक्त।
स्वकर्म में दत्तचित्त। नित्य रहो।। २६७।।

प्रारम्भ कार्य में भ्राता। मिल भी जाय सफलता ।
परम सन्तोष की भावुकता। न आने दो ।। २६८।।

अथवा किसी कारणवश। उस कार्य में न मिले यश ।
तो मन में असन्तोष। न आवे तुम्हारे।। २६९।।

कर्म करते पूरा हो गया। तो मानो काम आ गया ।
विघ्न आ कर अधूरा रह गया। तो भी भला मानो।। २७०।।

हो सके उतना कर्म करो। सारा ईश्वरार्पण करो।
वही परिपूर्णता मानो। सहजता से।। २७१।।

पूर्ण-अपूर्ण कर्म के प्रति। सन्तुलित रहे चिति।
उसी को कहते योगस्थिति। ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित ।। २७२।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ।। ४९।।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। ५०।।

जहाँ मति और मन। पाते पूरा सन्तुलन ।
वहीं योग का सार निधान। अर्जुन पहचानो ।।२७३।।

बुद्धियोग का करते विचार। कर्मकाण्ड लगता न्यूनतर ।
बता रहे योगेश्वर। धनुर्धर को ।।२७४।।

कर्म करने पर ही पार्थ। यह योग सिद्ध है होत।
शेष कर्म फलाशारहित। यही योगावस्था ।।२७५।।

अतः बुद्धियोग ही श्रेष्ठतर। इसमें मन को करो स्थिर।
फल की आशा को अस्वीकार। करो मन से ।।२७६।।

जो बुद्धियोग आचरते। वे भवसागर तर जाते।
दोनों बंधनों से मुक्त होते। पाप-पुण्य के ।।२७७।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।। ५१ ।।

वे निरंतर कर्मरत रहते। किन्तु फल की आसक्ति न रखते ।
उनके समाप्त हो जाते। फेरे जन्म-मरण के ।।२७८।।

फिर वे बुद्धियोगयुक्त। परमपद पाते अच्युत ।
जहाँ ब्रह्मानंद अखण्डित। भरा होता है ।।२७९।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। ५२ ।।

तज दोगे इस मोह को। वैराग्य भायेगा मन को ।
तब तुम भी उसी पद को। प्राप्त करोगे ।।२८०।।

फिर निष्कलंक गहन। जागेगा आत्मज्ञान ।
निरिच्छ होगा मन। अपने आप तुम्हारा ।।२८१।।

फिर वहाँ जिज्ञासा कोई। या अतीत की स्मृति ही ।
सब लुप्त होती सहज ही। जानो धनंजय ।।२८२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। ५३ ।।

इन्द्रियों की आसक्ति। मति को चंचल कर देंती ।
आत्मस्वरूप की प्राप्ति। स्थिर बनाती उसे ।।२८३।।

समाधिसुख में केवल। मति होगी तुम्हारी निश्चल ।
तब तुम्हें मिलेगी अविकल। सम्पूर्ण योगस्थिति ।।२८४।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।। ५४ ।।

श्रीकृष्ण से कहता अर्जुन। यही विषय मैं पुनः पुनः ।
पूछूँगा तुमसे कृपानिधान। समझा कर बताइये ।।२८५।।

श्रीकृष्ण कहे, हे अर्जुन। पूछो जो चाहे तुम्हारा मन ।
निःसंकोच हो अपने प्रश्न। अवश्य पूछो ।।२८६।।

सुन कर यह अभिवचन। श्रीकृष्ण से कहता अर्जुन।
देव, स्थितप्रज्ञ है कौन ? पहचान उसकी क्या ? ।।२८७।।

और जो है स्थिरमति। अखंड लगाता समाधि।
उसके लक्षण और द्युति। कैसे होती है ? ।।२८८।।

वह रहता किस अवस्था में। व्यवहार करता किस रूप में ।
यह कुतूहल जागा मन में। बतायें विस्तार से ।।२८९।।

तब परब्रह्म का अवतार। षड्गुण ऐश्वर्य का आधार ।
क्या कहता सर्वेश्वर। सुनिये यहाँ ।।२९०।।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। ५५ ।।

सुनो अर्जुन, इस प्रसंग में। यह जो प्रबल अभिलाषा मन में ।
वही बाधक है आत्मसुख में। निश्चय ही ।। २६१ ।।

जो सर्वदा नित्य तृप्त। मन जिसका ज्ञानयुक्त ।
वह भी विषय में लिप्त। जिसके बल पर होता ।। २६२ ।।

वह काम मन से जा कर। आत्मानंद में विभोर होकर ।
जो विचरता स्थिरमति बन कर। वही स्थितप्रज्ञ है ।। २६३ ।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। ५६ ।।

नाना दुःखों के बीच में। उद्वेग न जिसके चित्त में ।
सुख की अभिलाषा में। जो नहीं बँधता ।। २६४ ।।

जिसके मन में कुंतिसुत। नहीं बसते काम-क्रोध ।
भय से भी जो अपरिचित। वही परिपूर्ण ।। २६५ ।।

ऐसा जो है बंधमुक्त। उपाधि आदि भेदरहित ।
उसे जानो सुनिश्चित। स्थितप्रज्ञ ।। २६६ ।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५७ ।।

जैसे चन्द्रमा परिपूर्ण। सबको प्रकाश देता समान ।
वैसे जिसका अन्तःकरण। भेदभाव न बरतता ।। २६७ ।।

ऐसी अखंड समता। प्राणिमात्र के लिये ममता ।
सदा लिये निरंतरता। रहती जिसके मन में ।। २१८ ।।

कुछ अच्छी बात होते। जिसे हर्ष दम्भ न छूते।
या बुरा प्रसंग आते। जो न करता खेद ।।२९९।।

ऐसा जो हर्ष-शोकरहित। आत्मबोध से ओतप्रोत।
उसे ही जानो प्रज्ञायुक्त। हे धनुर्धर ।।३००।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ५८।।

अथवा कछुआ जैसे। अवयव फैलाता हर्ष से।
या खींच लेता स्वेच्छा से। अपने आप ।।३०१।।

वैसे इन्द्रियाँ जिसके अधीन। इच्छानुसार करतीं आचरण।
उसी की प्रज्ञा को अर्जुन। स्थिर हुई जानो ।।३०२।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य प्रं दृष्ट्वा निवर्तते ।। ५९।।

अब अर्जुन, सुनो एक। तुम्हें सुनाता हूँ कौतुक।
निग्रह से तजते साधक। इन विषयों को ।।३०३।।

कानों को जो करते संयत। किन्तु रसना को असंयत।
उन्हें ये विषय सतत। सताते सहस्रधा ।।३०४।।

कोपलों को ऊपर मसलकर। नीचे जड़ों में पानी देकर।
क्या नष्ट होगा तरुवर। मूल से कभी ?।।३०५।।

वह तो उलटे उस पानी से। फूले-फलेगा ज़ोर से।
वैसे विषय इस रसना से। पुष्ट होते मन में ।।३०६।।

अन्य इन्द्रियों के विषय। छूट जायेंगे असंशय।
किन्तु रसना मोह से निरुपाय। होती है काया ।।३०७।

किन्तु साधक को परब्रह्म। होता जो अब अनुभवगम्य।
तब रसना का भी संयम। सहज होता है ।।३०८।।

देहभावना जब नष्ट होती। इन्द्रियाँ विषयों को भुलातीं।
'सोऽहम्' बोध की प्रतीति। तब प्रकटती है ।।३०९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।६०।।

अन्यथा इंद्रिय-दमन। करने का जो करते जतन।
ये इन्द्रियाँ उनके भी अधीन। होती नहीं हैं।। ३१०।।

अभ्यास की गश्त दे कर। यमनियमों की बाड़ लगा कर।
जो बस में लेता है कर। मन अपना ।। ३११।।

उसे भी कर देता आकुल। यह इन्द्रियों का बल।
जैसे डायन करती छल। ओझा को भी भरमाती ।। ३१२।।

ये विषय भी वैसे भरमाते। ऋद्धि-सिद्धि के रूप धरते।
इन्द्रियों का स्पर्श करते। भ्रष्ट करते योगी को ।। ३१३।।

मन फंसता इस उलझन में। अध्ययन नष्ट होता क्षण में।
प्रबल सामर्थ्य इन्द्रियों में। होता है महान ।। ३१४।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।६१।।

इसलिये सुनो, अर्जुन। इनका जो करता निर्दालन।
विषय-आस्था का तर्पण। करता नित्य ।। ३१५।।

विषयसुख का आकर्षण। डाले न जिस पर सम्मोहन।
वही योगनिष्ठा का सम्पादन। करने का अधिकारी ।। ३१६।।

जो आत्मज्ञान से युक्त। हो कर रहता है सतत ।
वो कभी नहीं बिसरत। मन में मुझे ।। ३१७ ।।

बाहर विषयों को तजा। किन्तु मन में उनको ही भजा ।
तो संसार-बंधन की सजा। कभी पूरी न होगी ।। ३१८ ।।

सेवन करते अल्प-सा विष। फैल जाता वह नखशिख ।
फिर निश्चय ही करता नाश। सारे जीवन का ।। ३१९ ।।

वैसे हृदय के भीतर कहीं। विषय-कामना अल्प भी रही।
तो सर्वनाश निश्चय ही। करती वह विवेक का ।। ३२० ।।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।। ६२ ।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। ६३ ।।

मन विषयों में रमता। तो निरासक्त भी भरमाता ।
विषयों के साथ प्रकटता। प्रत्यक्ष काम-देव ।। ३२१ ।।

हुआ उत्पन्न काम जहाँ। क्रोध पहले ही होता वहाँ ।
क्रोध में होता जहाँ-तहाँ। भरा व्यामोह ।। ३२२ ।।

व्यामोह की होते अभिव्यक्ति। सुमति सारी मारी जाती ।
जैसे झंझावात में ज्योति। बुझ जाती है ।। ३२३ ।।

समय आते अस्त का। निशा लीलती तेज, रवि का ।
मति मारे गये मनुष्य का। हाल वैसा होता है ।। ३२४ ।।

फिर वह अंधा अज्ञान से। बुद्धि भी आकुल अज्ञान से।
सर्वनाश सभी दिशाओं से। होता उसका ।। ३२५ ।।

जैसे जन्मांध दौड़ते। ठोकरें खा छटपटाते ।
वैसे मति भ्रष्ट होते। हाल होता अर्जुन ।। ३२६ ।।

ऐसा स्मृतिभ्रंश जब होता। बुद्धिनाश पूरा होता ।
सम्पूर्ण ज्ञान ही नष्ट होता। तब, हे भारत ।। ३२७।।

लुप्त होते चैतन्य शक्ति। जो देह की होती दुर्गति ।
वैसी होती जीव की स्थिति। बुद्धि नष्ट होने पर ।। ३२८।।

इसलिये सुनो अर्जुन। चिनगारी पड़ते ईंधन ।
भभक कर होता भीषण। जला सकता त्रिभुवन को।। ३२९।।

वैसे विषयों का चिन्तन। अल्प भी करता हो मन ।
इतना दारुण अधःपतन। हो ही जाता है ।। ३३०।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। ६४।।

इसलिये विषय-वासना को। अपने मन से निकाल फेंको ।
राग-द्वेष से अपने आपको। आमूल मुक्त पाओगे ।। ३३१।

राग-द्वेष के होते नष्ट। इन्द्रियाँ भले हों विषयरत ।
वासना से मन लिप्त। होता नहीं क़तई ।। ३३२।।

जैसे आकाशस्थ सविता। रश्मि करों से जग को छूता ।
फिर भी क्या वह लिप्त होता। संगदोष से विश्व के ?।। ३३३।।

वैसे विषयों के प्रति उदासीन। आत्मानंद में हो निमग्न ।
जो काम क्रोध विहीन। हुआ रहता है।। ३३४।।

जिसे विषयों में रहते भी। दर्शन होते आत्मस्वरूप के ही ।
कौन विषय, बाधा कैसी। बनेंगे उसके लिये ? ।। ३३५।।

यदि जल, जल को डुबायेगा। अग्नि, अग्नि को जलायेगा ।
तभी विषयसंग डुबो देगा। उस परिपूर्ण को ।। ३३६।।

इस विध आत्मानंद में केवल। जो तदाकार अविकल ।
उसीकी प्रज्ञा को अविचल। भ्रान्तिरहित मानो ।। ३३७।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।। ६५ ।।

अर्जुन, जिसका मानस। अखंड प्रसन्नता का निवास ।
भव-दुःख उसके आसपास। फटकते भी नहीं ।। ३३८ ।।

जिसका उदर और जठर। बहाता हो अमृत-निर्झर ।
भूख प्यास की पीर। उसे कभी न सताती ।। ३३९ ।।

वैसे जिसका हृदय प्रसन्न। उसे दुख पहुँचाये कौन ?
सहज परमात्मा में लीन। रहती उसकी मति ।। ३४० ।।

जैसे निर्वात स्थान में दीप। सर्वथा रहता निष्कम्प।
वैसे योगयुक्त अनूप। स्वरूप में स्थिरमति ।। ३४१ ।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।। ६६ ।।

यह योगयुक्तता का विचार। जागता न हो जिसके अन्दर ।
विषय-पाश उसे आ कर। तुरत बाँध लेते हैं ।। ३४२ ।।

पार्थ, उसमें स्थिर मति। कदापि नहीं होती ।
स्थिर बुद्धि में आस्था, धृति। नहीं होती लेश भी ।। ३४३ ।।

मति की ऐसी निश्चलता। न हो जिसकी मानसिकता ।
उसे कैसे मिले शान्तता। सोचो पार्थ ।। ३४४ ।।

जहाँ शान्ति का न लव लेश। वहाँ सुख को नहीं प्रवेश ।
जैसे पापी की ओर मोक्ष। देखता नहीं कदापि ।। ३४५ ।।

अग्नि में भुने बीज। यदि देने लगे उपज।
तभी अशान्त को सहज। सुख प्राप्त होगा ।। ३४६ ।।

इसलिये अस्थिरता मन की। जड़ है सभी दुखों की।
इसीलिये इन्द्रिय-निग्रह की। आवश्यकता परम ।। ३४७।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।। ६७।।

इन्द्रियों की कही बाते। जो पुरुष हैं आचरते।
वे तिर कर कभी न जाते। सागर विषयों का ।। ३४८।।

नौका को लगाते किनारे। झंझा उठे, हो वारे-न्यारे ।
तो खाई से कुएँ में गिरे। ऐसा ही होता ।। ३४९।।

वैसे कोई सिद्ध योगी। बना सकौतुक विषयभोगी ।
तो संसार दुखों से वह भी। ग्रस्त होता है।। ३५०।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। ६८।।

अपनी इन्द्रियाँ इसलिये। सहज स्वाधीन हो जाएँ ।
इससे बढ़ कर क्या है। सार्थकता जीवन की ? ।। ३५१।।

देखो कछुआ जैसे। अंग पसारता स्वेच्छा से।
इच्छा होते ही झट से। वापस खींच लेता है ।। ३५२।।

वैसे इन्द्रियाँ जिसके अधीन। आज्ञा का करतीं पालन ।
उसी की प्रज्ञा को अर्जुन। स्थिर जानो ।। ३५३।।

अब और एक गहन। पूर्ण पुरुष का लक्षण।
करूँगा तुम्हें निरूपण। सुनना ध्यान से ।। ३५४।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। ६९।।

जहाँ प्राणिमात्र हैं सोते। वहाँ जो रहते जागते ।
जहाँ सभी जागृत रहते। वहाँ जो सोता ।। ३५५ ।।

वही है उपाधिविहीन। वही है स्थितप्रज्ञ।
मुनि जनों में महान। और श्रेष्ठ भी ।। ३५६ ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।। ७० ।।

पार्थ, और एक है प्रकार। जिससे जाना जाता वह नर ।
जैसे प्रशान्त सागर। निरन्तर रहता है ।। ३५७ ।।

सरिताओं के प्रवाह मिल कर। गिरते हैं सागर में जा कर ।
पर वह न फूलता रत्ती भर। सीमा न लाँघता ।। ३५८ ।।

अथवा ग्रीष्म की मार सहे। सूखते सारे जलप्रवाह।
फिर भी रहता पूरा अथाह। सागर जैसे ।। ३५९ ।।

वैसे ऋद्धि-सिद्धि होते प्राप्त। जिसकी बुद्धि न होती विचलित ।
या उनके अभाव से अतृप्त। होता नहीं जो ।। ३६० ।।

वोलो, सूर्य का प्रांगण। क्या ज्योति से प्रकाशमान ।
जिसके न जलने के कारण। वह अँधेरे में रहेगा ? ।। ३६१ ।।

ऋद्धि-सिद्धि आयी गयी। इसकी स्मृति भी जिसे नहीं ।
मति आत्मा में खोयी। जिसकी महासुख में ।। ३६२ ।।

देख स्वगृह की सुन्दरता। जिसे इंद्रभुवन तुच्छ लगता ।
वह कैसे रम सकता। भील की कुटिया में ? ।। ३६३ ।।

जो अमृत को देता दूषण। कैसे करेगा काँजी सेवन ?
वैसे आत्मानंद के कारण। वह ऋद्धि-सिद्धि न भोगता ।। ३६४ ।।

स्वर्गसुख में भी हे भ्राता। जिसकी न होती कोई आस्था।
उसे ऋद्धि-सिद्धि की कथा। तुच्छ ही लगती है ।। ३६५ ।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ।। ७१ ।।

ऐसे आत्मबोध से सन्तुष्ट। परमानंद से जो पुष्ट।
उसे ही अर्जुन, स्थितप्रज्ञ। जानो तुम ।। ३६६ ।।

वह अहंकार को ठुकरा कर। सभी कामनाओं को तज कर।
स्वयं विश्वरूप हो कर। विचरता विश्व में ।। ३६७ ।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।। ७२ ।।

ऐसी निःसीम ब्रह्मावस्था। जो स्वयं अनुभव करता।
उस निष्काम को प्राप्त होता। परमपद अनायास ।। ३६८ ।।

यों चित्स्वरूप में लीन होने पर। देहान्त के समय पर।
स्थितप्रज्ञ के बाहर-भीतर। आकुलता नहीं होती ।। ३६९ ।।

उसी अवस्था का वर्णन। अपने मुख से श्रीकृष्ण।
करते हैं, सुनता अर्जुन। संजय कहता ।। ३७० ।।

सुन कर कृष्ण का निरूपण। मन में कहने लगा अर्जुन।
इस उपपत्ति के कारण। मेरी ही बात बनेगी ।। ३७१ ।।

सभी कर्मों का निषेध। देव स्वयं करते प्रतिषेध।
अतः करना यह युद्ध। अनुचित मेरे लिये ।। ३७२ ।।

सुन कर श्रीकृष्ण वचन। मन में हरषाया अर्जुन।
आशंकाओं का निरसन। करने प्रश्न करेगा ।। ३७३ ।।

वह प्रसंग अति मनोहर। मानो सभी धर्मों का आगर ।
या विवेकामृत का सागर। अमर्याद ।। ३७४ ।।

उसका समग्र निरूपण। करेंगे सर्वज्ञ श्रीकृष्ण ।
उसी का करेगा निवेदन। निवृत्तिदास ज्ञानदेव ।। ३७५ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
सांख्ययोग नामक समाप्त। उसका अध्याय दूसरा ।।

।। अध्याय तीसरा ।।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।। १ ।।

सुनो, अर्जुन कहे श्रीकृष्ण से। आपने जो कहा मुझसे ।
मैंने सुना बड़े ध्यान से। कमलापति ।। १ ।।

आपकी हो यही मान्यता। न कर्म, न कोई कर्त्ता ।
तो आपका उपदेश क्या अर्थ रखता। श्री अनंत ? ।। २ ।।

तो कैसे आप मुझको। कहते युद्ध करने को ।
बेझिझक उलझाते मुझको। यहाँ घोर कर्म में ? ।। ३ ।।

सभी कर्मों का निषेध भी। कर रहे हैं भगवन आप ही ।
फिर हिंसा की कार्यवाही। क्यों कहते करने को ? ।। ४ ।।

हृषिकेश, आप ही करो विचार। मानते हों अल्प कर्म को साधार ।
तो क्यों यह इतना हिंसाचार। करवाते मुझसे ? ।। ५ ।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।। २ ।।

केशव! आप ही कहते ऐसे। तो हम अज्ञ चलें कैसे ? ।
क्या हमारा अब विवेक से। सरोकार ही न रहा ? ।। ६ ।।

देव आपका उपदेश यही है। तो सम्भ्रम और क्या होता है ? ।
शौक आत्मबोध का है। खूब पूरा हुआ ! ।। ७।।

वैद्य पथ्य कह कर जाये। स्वयम् ही विष खिलाये ।
तो रोगी कैसे बच पाये। बताइयेगा ? ।। ८।।

अंधे को पथ से भटकायें। या बंदर को मदिरा पिलायें ।
त्यों यह सदुपदेश मेरे लिये। घातक होगा ।। ९।।

मैं तो अज्ञानी पहले से। फिर भ्रमित हूँ इस मोह से ।
श्रीकृष्ण ! इसी कारण से। पूछा विवेक ।। १०।।

किन्तु आपकी बातें श्रीपति। उलझन को और बढ़ातीं ।
क्या शरणागत के प्रति। ऐसा करना उचित ? ।। ११।।

हम तन, मन, प्राण से। हैं आपके भरोसे ।
किन्तु आपके ऐसा करने से। खेल सारा समाप्त ।। १२।।

अब आपका यह प्रवचन। क्या करेगा कल्याण ! ।
इच्छा, पाने की ज्ञान। यहाँ कौन करेगा ।। १३।।

अब तो जिज्ञासा गयी। मानसिकता ऐसी हुई ।
कि मन की स्थिरता जाती रही। उधेड़बुन में ।। १४।।

वैसे भी लीला तुम्हारी। अतर्क्य ही है गिरिधारी ।
या इस निमित्त आप हमारी। परीक्षा ले रहे हैं ? ।। १५।।

या गूढ़ सिद्धान्त बताते। आप मुझे हैं धोखा देते ।
वचन समझ में नहीं आते। आपके कतई ।। १६।।

इसलिये केशव सुनिये। गूढ़ वचन न बोलिये ।
विवेक क्या है कहिये। सुगम भाषा में ।। १७।।

मैं हूँ अत्यन्त जड़मति। मैं समझ सकूँ इस भाँति ।
वताइये सुस्पष्ट नीति। निश्चयात्मक ।। १८।।

औषधि हो रोग-हर। फिर भी हो अति मधुर।
और भी हो रुचिकर। रोगी के लिये ।। १९ ।।

वैसे सकल अर्थपूरित। तत्त्व बताइये जो उचित।
जिसके कारण मेरा चित्त। प्रेरणा पा सके ।। २० ।।

आप सा जब हो गुरु। इच्छा पूरी क्यों न करूँ ? ।
क्यों व्यर्थ संकोच करूँ ? तुम ही मातु हमारे ।। २१ ।।

कामधेनु का गोरस। मिलता हो भाग्यवश।
तो कामना का दुर्भिक्ष। क्यों हो वहाँ ? ।। २२ ।।

अथवा चिन्तामणि आते हाथ। याचना का कैसे संकट ? ।
जो हो मन में अभीष्ट। क्यों न माँगे वही ? ।। २३ ।।

जा अमृतसिंधु के किनारे। प्यास से क्यों रहे हारे ? ।
अन्यथा प्रयास ही क्यों करें। वहाँ तक जाने का ? ।। २४ ।।

वैसे जन्म-जन्मान्तर में। उपासना करने के बाद में।
भाग्य से जब श्रीहरि हमें। आप मिले हों, ।। २५ ।।

तो क्यों न अपनी इच्छा से। मन चाहा माँग लें आप से ? ।
आया है यह भाग्य से। दिन इच्छापूर्ति का ।। २६ ।।

सभी इच्छाएँ पूरी हुईं। पुण्य साधना सफल हुई।
मनोकामना भी तृप्त हुई। आज मेरी ।। २७ ।।

हे परममंगलधाम। सकल देव देवोत्तम।
केवल इसीलिये कर पाये हम। आपको अपने स्वाधीन ।। २८ ।।

माता का करने स्तनपान। समय असमय का बंधन।
नहीं मानती सन्तान। कदापि भी ।। २९ ।।

वैसे भगवन इस समय। मन जो चाहे हो निर्भय।
आपसे पूछूँगा अक्षय। कृपासिन्धु ।। ३० ।।

किन्तु जो हितकर परलोक में। आचरणीय इह लोक में।
वही सुनिश्चित आप हमें। बताइयेगा ।। ३१ ।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। ३ ।।

सुन कर अर्जुन की बात। श्रीकृष्ण हो विस्मित।
कहे अभिप्राय ध्वनित। बताया हमने ।। ३२ ।।

कर्मयोग को समझाते। ज्ञानयोग गया बताते।
प्रसंगानुरूप बातें। आ ही जाती है ।। ३३ ।।

किन्तु तुमने हेतु न जाना। व्यर्थ क्षोभ मन में माना।
दोनों मार्गों को बखाना। मैंने ही है ।। ३४ ।।

वीरवर, सुनो ध्यान से। दोनों निष्ठाएँ केवल मुझसे।
अनादि अनंत काल से। प्रकट हुई हैं ।। ३५ ।।

एक को ज्ञानयोग कहते। ज्ञानी जिसका अनुष्ठान करते।
उससे तद्रूपता पाते। मिलता परब्रह्म ।। ३६ ।।

दूसरा कर्मयोग कहलाता। जिसमें पाकर निपुणता।
यथासमय निर्वाण-अवस्था। प्राप्त करते साधक ।। ३७ ।।

मार्ग दो दिखायी देते। किन्तु अन्त में एक होते।
बने या बनाये भोजन से। तृप्ति जैसी एक-सी ।। ३८ ।।

अथवा पूर्व पश्चिम गामिनी। भिन्न लगती जलवाहिनी।
सागर में मिलते उनका पानी। एक हो जाता है ।। ३९ ।।

वैसे इन दोनों मतों में। एक ही तत्त्व मूल में।
किन्तु उनकी उपासना में। साधक होता स्वाधीन ।। ४० ।।

देखो, पंछी झट उड़ान भर। जा झपटता फल पर।
कैसे मनुष्य उस स्थान पर। जायेगा उसी वेग से ? ।। ४१।।

वह तो डाल-डाल चढ़कर। पूरे मार्ग पर चलकर।
सावधानी से फल पर। जा लपकेगा ।। ४२।।

वैसे ज्ञानयोग का आचरण। ज्ञानी करते पंछी समान।
और मोक्ष-सम्पादन। करते तुरन्त हैं ।। ४३।।

कर्मयोगी विहित मार्ग पर। शास्त्रानुसार चलकर।
यथासमय ज्ञानोत्तर। मोक्ष पाते हैं ।। ४४।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छिति ।। ४ ।।

यदि प्रारम्भ से कोई। कर्तव्य कर्मों के त्याग से ही।
कर्ममुक्त होना चाहे भी। वह असम्भव नितान्त ।। ४५।।

कर्तव्यकर्म को त्यागना। यानी है निष्कर्म होना।
अर्जुन ऐसा मानना। निरी मूर्खता है ।। ४६।।

परली पार जाना जहाँ। संकट-सा लगता हो महा।
बीच मझधार नौका वहाँ। कैसे छोड़ दे कोई ? ।। ४७।।

अथवा राँधना न चाहे। सिद्ध भोजन भी न खाये।
वह तृप्ति कैसे पाये। तुम ही बताओ ।। ४८।।

जब तक निरिच्छता नहीं। कर्ममुक्ति सम्भव नहीं।
आत्मतृप्ति को पाते ही। कर्मसायास समाप्त ।। ४९।।

इसलिये पार्थ सुनो बात। जो करना चाहे मोक्ष प्राप्त।
उसके लिये कर्म उचित। त्याज्य नहीं कदापि ।। ५०।।

और अपनी ही इच्छा से। कर्म करना या त्यागना कैसे।
सम्भव है, पूछे अर्जुन से। सारथी श्रीकृष्ण ।। ५१।।

यह बकवास है व्यर्थ। गम्भीर चिन्तन से समझो अर्थ।
टारै नाहि टरै पार्थ। कर्तव्य कर्म ।। ५२ ।।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।। ५ ।।

जब तक शरीर है निधान। कर्म करने तजने का प्रण ।
है केवल घोर अज्ञान। कर्म गुणाधीन सभी ।। ५३ ।।

कर्तव्य कर्म हैं जितने भी। सकल्प से उन्हें तज दें भी ।
इन्द्रियों के स्वभाव भी। क्या नष्ट हो जायेंगे ? ।। ५४ ।।

क्या कान सुनना छोड़ देंगे ? नेत्र देखना तज देंगे ? ।
नाक के छेद न रहे। तो क्या गंध नहीं आयेगी ? ।। ५५ ।।

क्या श्वसन रुक जायेगा ? मन विकाररहित होगा ? ।
भूख-प्यास बोध न रहेगा ? कामना होगी समाप्त ? ।। ५६ ।।

क्या स्वप्न जागरण न रहेंगे ? चरण चलना भुला देंगे ? ।
यह छोड़ो, क्या नहीं रहेंगे। जन्म और मरण ? ।। ५७ ।।

यदि यह सब रहेगा चलता ? तो किस कर्म का त्याग होता ? ।
देहधारी के लिये सर्वथा। कर्मत्याग असम्भव ।। ५८ ।।

कर्म प्रकृति गुण के अधीन। होते सभी हैं पराधीन ।
उन्हें करने तजने का अभिमान। इसलिये व्यर्थ ।। ५९ ।।

जैसे रथ में आरूढ़ रथी। स्वयं होता निश्चल यद्यपि ।
सर्वत्र विचरता फिर भी। परतन्त्रता से ।। ६० ।।

यद्यपि जड़ सूखा पत्ता। पवन पर वेग से उड़ता ।
गगन में भी है विचरता। स्वच्छन्द-सा ।। ६१ ।।

वैसे माया के सहारे से। इन्द्रियों के माध्यम से ।
कर्मातीत निरन्तरता से। कर्म करता रहता है ।। ६२ ।।

जब तक देह से नाता। कर्मत्याग नहीं हो सकता।
फिर भी कर्म तजूँगा कहता। केवल हठधर्मी ।। ६३ ।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।। ६ ।।

उचित कर्म को तज कर। कर्मेन्द्रियाँ संयत कर।
कर्मातीत जो नर। बनना चाहते ।। ६४ ।।

उनसे कर्मत्याग नहीं बनता। कर्तव्य मन में बना रहता।
कर्मत्याग की अहंता। जानो उनका दारिद्रय ।। ६५ ।।

वे तो वास्तव में पार्थ। होते पूरे विषयासक्त।
उन्हें पहचानना भक्त। तज कर भ्रान्ति ।। ६६ ।।

सुनो धनुर्धर ध्यान दे कर। सुनाऊँगा प्रसंगानुसार।
कैसे होते निरिच्छ नर। क्या लक्षण उनके ।। ६७ ।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।। ७ ।।

जिसका निश्चल अंतःकरण। जो परमात्मा में तल्लीन।
बाह्यतः और लोगों समान। आचरण जिसका ।। ६८ ।।

इन्द्रियों को आज्ञा न देता। विषयों का भय न रखता।
उचित कर्म जो करता रहता। सहजता से ।। ६९ ।।

उसकी कर्मेन्द्रियाँ कर्ममग्न। फिर भी न करे वह नियमन।
उनके विकारों के भी अधीन। वह नहीं होता ।। ७० ।।

वह न होता कामना-अधीन। मोहग्रस्त न होता मन।
जैसे कमलपत्र जलमग्न। हो कर भी भीगता नहीं ।। ७१ ।।

वैसे संसार में दिखायी देता। सकल जनों समान लगता ।
जैसे जल में होता। सूर्यबिम्ब ।। ७२ ।।

वैसे देखने पर सतही। जो लगता साधारण ही ।
अन्यथा जिसकी पात्रता कोई। नाप नहीं सकता ।। ७३ ।।

ऐसे लक्षणों से युक्त। जो आशापाशरहित ।
उसे ही जानो मुक्त। अर्जुन सदा ।। ७४ ।।

वही योगी है पवित्र। विश्ववंदना का पात्र ।
तुम भी वैसे बनो यह मंत्र। तुम्हें देता हूँ ।। ७५ ।।

अपने मन को संयत करो। अन्तःकरण को निश्चल करो ।
फिर कर्मेन्द्रियाँ जो करतीं, करने दो। सुख चैन से ।। ७६ ।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।। ८ ।।

इसलिये हो पाना कर्मरहित। सम्भव नहीं जग में मीत ।
क्यों चलें शास्त्रों के विपरीत। करो विचार इसका ।। ७७ ।।

इसलिये जो-जो कर्म उचित। और यथासमय है प्राप्त ।
उसे होकर हेतुरहित। करते चलो ।। ७८ ।।

पार्थ, और है एक बात। तुम्हें नहीं है कौतुक ज्ञात ।
ऐसा कर्म सहजतः। भवतारक होता है ।। ७९ ।।

देखो अधिकारानुसार। जो करे स्वधर्म का आचार ।
उसके लिये मोक्ष का द्वार। निश्चय ही खुलता है ।। ८० ।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। ९ ।।

सदा चलो स्वधर्म से। नित्य यज्ञ जानो उसे।
तदनुसार आचरण करने से। पाप नहीं लगता ।। ८१ ।।

इस स्वधर्म को तज देता। कुकर्म में आसक्त हो जाता।
तभी बंधन में है पड़ता। हर संसारी ।। ८२ ।।

अतः स्वधर्म अनुष्ठान। और अखंड यज्ञयाजन।
करता जो उसे बन्धन। कभी नहीं होते ।। ८३ ।।

नित्य यज्ञ नहीं करते। इसलिये कर्म में बँधते।
और मायापाश में उलझते। सभी लोग ।। ८४ ।।

इसी विषय में धनुर्धर। कथा सुनाता हूँ तुम्हें अमर।
विरंचि ने रचा संसार। बात तब की है ।। ८५ ।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।। १० ।।

तब यज्ञयोग सहित। बनाये प्राणि समस्त।
किन्तु उन्हें न था ज्ञात। यज्ञ क्या होता है ।। ८६ ।।

तब प्रजा ने पूछा प्रजापति। हमारा आधार क्या है, क्या है धृति?।
तब कमलजन्मा यथामति। समझाने लगा ।। ८७ ।।

जो हैं तुम्हारे वर्णाश्रम। उनका पालन है स्वधर्म।
सहज पूरे होंगे काम। उसकी उपासना से ।। ८८ ।।

व्रत नियमादि करो नहीं। शरीर पीड़न करो नहीं।
तीरथ करने जाओ नहीं। कहीं दूर ।। ८९ ।।

करो नहीं योग साधना। सहेतुक आराधना।
मंत्र-तंत्र का तानाबाना। बुनो गुनो नहीं ।। ९० ।।

देवी-देवताओं की भक्ति। उसकी न हो आसक्ति।
स्वधर्मयज्ञ की पूर्णाहुति। करो अनायास ।। ९१ ।।

निष्काम कर अंतःकरण। करो स्वधर्म यज्ञ अनुष्ठान।
जैसे पतिव्रता का आचरण। होता पति के प्रति ।। ९२।।

वैसे स्वधर्म दिव्य। तुम्हारे लिये परिसेव्य।
कहते सर्वज्ञ ब्रह्मदेव। प्राणिमात्र से ।। ९३।।

स्वधर्म प्रसन्न होगा। तो वही कामधेनु बनेगा।
तुम्हारा त्याग न करेगा। कल्पान्त तक ।। ९४।।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। ११।।

स्वधर्म के आचरण से। देवता सन्तुष्ट होंगे तुम से।
तुम्हें देंगे अपने आप से। मनोवांछित फल ।। ९५।।

स्वधर्म का सारा पूजन। देवताओं को करोगे अर्पण।
तो वे तुम्हारा सम्पूर्ण। योगक्षेम चलायेंगे ।। ९६।।

देवताओं को भजोगे। देवता तुम पर प्रसन्न होंगे।
यों अनुरक्त होंगे। आप परस्पर ।। ९७।।

तब जो भी करना चाहोगे। उसमें सहजसिद्धि पाओगे।
मनोरथ सफल होंगे। तुम्हारे अनायास ।। ९८।।

वाचा आपकी होगी सिद्ध। आज्ञापक बनोगे स्वयंसिद्ध।
महाऋद्धि होगी करबद्ध। आज्ञाकारी आपकी ।। ९९।।

आते ही ऋतु बसंत। जैसे लता वृक्ष समस्त।
फल- पुष्प पल्लवित। होकर खिल जाते हैं ।। १००।।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।। १२।।

वैसे सभी सुखों सहित। भाग्य हो कर मूर्तिमंत ।
राह पूछते साक्षात। आयेगा आपकी ।। १०१।।

इस विध भोग समस्त। भोग कर आप होंगे तृप्त ।
यदि हो स्वधर्मनिरत। आचरण आपका ।। १०२।।

किन्तु सकल सम्पदा होते प्राप्त। इन्द्रिय-मद से जो उन्मत्त ।
लेकर विषयों का आस्वाद। लुब्ध जो होंगे ।। १०३।।

यज्ञ से प्रसन्न हो कर। जो सम्पदा देंगे सुरवर ।
उसे स्वधर्म पर चल कर। ईश भजन में देंगे न जो ।। १०४।।

जो न करेगा होम हवन। या देवताओं का पूजन ।
ब्राह्मणों को न देगा भोजन। उचित अवसर पर ।। १०५।।

जो गुरुभक्ति से मुख फेरेगा। अतिथि सत्कार नहीं करेगा ।
जाति को सन्तोष न देगा। जो अपनी ।। १०६।।

इसविध धर्मकर्मविरहित। और अमीरी से प्रमत्त ।
जो केवल भोगासक्त। हो बैठेगा ।। १०७।।

सम्पत्ति का करेगा क्षय। उसे होंगे घोर अपाय ।
प्राप्त हो कर भी भोग संचय। उपभोग न कर सकेगा ।। १०८।।

चेतना आयु-समाप्ति पर। देह में न रहती पल भर ।
अथवा भाग्यहीन के घर। लक्ष्मी का वास नहीं ।। १०९।।

वैसे स्वधर्म की समाप्ति पर। नष्ट होता सुख का आधार ।
दीप बुझते सर्वत्र तिमिर। फैलता जैसे ।। ११०।।

जहाँ स्वधर्म होता नहीं। वहाँ स्वतन्त्रता रहेगी नहीं ।
सत्य है यह कालजयी। विरंचि कहे प्रजा से ।। १११।।

अतः जो स्वधर्म तजेगा। उसे काल दण्डित करेगा ।
चोर कह कर हर लेगा। सर्वस्व उसका ।। ११२।।

फिर दुनिया भर के दोष। घेर लेंगे उसे सरोष।
जैसे प्रेत होते ही प्रदोष। घेरते श्मशान को ।। ११३ ।।

त्रैलोक्य के सारे दुःख। नाना तरह के पातक।
दैन्य, दारिद्रय, सब एक-एक। आ बसते वहीं ।। ११४ ।।

उसका बुरा हाल है होता। उन्मत्त निरंतर रोते रहता।
वे दुःख उसे सर्वथा। छोड़ते नहीं कल्पान्त तक ।। ११५ ।।

इसलिये स्वधर्म को छोड़ो नहीं। विषय सुखों में बहको नहीं।
चतुरानन शिक्षा यही। देने लगा प्रजा को ।। ११६ ।।

कहता जैसे मछली जल बिन। तत्काल खो देती प्राण।
आपका भी हाल स्वधर्मबिन। होगा वैसे ही ।। ११७ ।।

इसलिये आप समस्त। अपने कर्तव्य कर्म में उचित।
रहें निरन्तर कार्यरत। कहता ब्रह्मदेव ।। ११८ ।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। १३ ।।

जो बुद्धि को कर निष्काम। करता रहता कर्तव्य कर्म।
समृद्धि का भी समर्पण। करता उसी लिये ।। ११९ ।।

गुरु, गोत्र, अग्नि, पूजता। अतिथि; द्विजों की सेवा करता।
नैमित्तिक यजन करता। पितरों के लिये ।। १२० ।।

उचित यज्ञयाग करता। यज्ञ में आहुति चढ़ाता।
फिर जो भी शेष बचता। उस यज्ञ से ।। १२१ ।।

उसे अपने घर ले जा कर। सेवन करता सपरिवार।
यह सेवन ही देता निवार। पाप सारे ।। १२२ ।।

यज्ञावशेष का करते भोजन। नष्ट होता पाप सम्पूर्ण।
जैसे करते अमृतप्राशन। महारोग जाता ।। १२३ ।।

जैसे तत्वनिष्ठ पुरुष। भ्रान्तिग्रस्त न होता लेश।
वैसे उसे न लगते दोष। यज्ञावशेष जो खाता।। १२४।।

अतः जो मिलता स्वधर्म से। विनियोग करो धर्म से।
अवशेष का सन्तोष से। फिर उपभोग लो।। १२५।।

पार्थ, इससे सर्वथा। आचरण न हो अन्यथा।
ऐसी यह आदि कथा। कहता मुरारि।। १२६।।

देह को जो आत्मा मानते। सभी विषय भोग्य समझते।
इसके अतिरिक्त नहीं स्मरते। किसी बात को।। १२७।।

सकल साहित्य है यज्ञहित। भ्रान्तिवश जो नहीं जानता।
और केवल भोगना चाहता। अहंभाव से।। १२८।।

जो-जो रसना को भाता। उस पकवान को बनाता।
और जो छक कर खाता। वह खाता पातक।। १२९।।

द्रव्य-जात हर वस्तु को। हवन-द्रव्य के रूप में देखो।
स्वधर्मयज्ञ में अर्पण उसको। करो आदिपुरुष को।। १३०।।

ऐसा न कर ये मूर्ख लोग। अपने ही लिये अनेक।
बनाते हैं नाना पाक। सुनो पार्थ।। १३१।।

जिससे यज्ञ सिद्ध होता। ईश्वर भी तृप्त होता।
वह सामान्य नहीं होता। अन्न धनुर्धर।। १३२।।

इसे न मानो साधारण। यह तो ब्रह्मस्वरूप अन्न।
विश्वजीवन का है कारण। अन्न यही।। १३३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। १४।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। १५।।

इस अन्न से ही हे अर्जुन। प्राणिमात्र का होता निर्माण ।
और सर्वत्र पर्जन्य। इस अन्न को बनाता ।। १३४ ।।

पर्जन्य का जन्म यज्ञ से। यज्ञ का होता कर्म से ।
कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से। वेदरूप जो ।। १३५ ।।

उस वेदब्रह्म का निर्माता। वह अविनाशी परमात्मा ।
इसलिये ब्रह्म से भ्राता। बद्ध चराचर विश्व ।। १३६ ।।

किन्तु सुनो सुभद्रापति। यज्ञ जो है कर्ममूर्ति ।
उसमें वेद, श्रुति, स्मृति। वास करते निरन्तर ।। १३७ ।।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। १६ ।।

यह परम्परा धनुर्धर। धर्मयज्ञ की निरन्तर ।
तुम्हें बतायी संक्षेप कर। मूल रूप में ।। १३८ ।।

यह है सर्वथा उचित। स्वधर्मरूप यज्ञ श्रेष्ठ ।
जो न आचरता उन्मत्त। इस लोक में ।। १३९ ।।

वह ढेर महापापों का। मानो भार है भूमि का ।
कुकर्म से इन्द्रियों का। दास हो जाता है ।। १४० ।।

उसका जन्म-कर्म सकल। जानो नितान्त असफल ।
जैसे नभ में मेघपटल। असमय आया हो ।। १४१ ।।

व्यर्थ गलथने के समान। उसका जग में जीवन ।
जो स्वधर्म अनुष्ठान। करता नहीं ।। १४२ ।।

इसलिये सुनो अर्जुन। स्वधर्म का न करें वर्जन ।
भक्तिभाव से आचरण। करें उसका ही ।। १४३ ।।

देहधारणा होते ही। कर्तव्य आते साथ ही ।
उचित कर्मो को व्यर्थ ही। फिर क्यों तजें ? ।। १४४ ।।

सव्यसाची, बात पते की। प्राप्ति होते नर देह की।
जिन्हें ग्लानि स्वकर्म की। वे मूर्ख होते हैं ।। १४५ ।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।

देहधर्मों को करते भी। रहता अखंड आत्मरत ही।
कर्म से लिप्त जरा भी। नहीं होता जो ।। १४६ ।।

वह आत्मबोध से सन्तुष्ट। इसलिये होता कृतार्थ।
अतएव होता है मुक्त। कर्म बन्धनों से ।। १४७ ।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। १८ ।।

अर्जुन, जैसे पाते तृप्ति। साधनों की परिसमाप्ति।
वैसे पाते आत्मतुष्टि। कर्म स्वयं नहीं रहते ।। १४८ ।।

तब तक यह साधना। जीवन में पड़ती है करना।
जब तक आत्मबोध चेतना। जागती नहीं मन में ।। १४९ ।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।। १९ ।।

इसलिये हो कामरहित। स्वधर्म पर चलो नियत।
यही सर्वथा है उचित। तुम्हारे लिये ।। १५० ।।

जीवन में हो कर निष्काम। जो आचरते स्वधर्म।
उन्हें ही तत्वतः मोक्षधाम। मिलता पार्थ ।। १५१ ।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ।। २० ।।

बिना त्यागे स्वकर्म को। जिन्होंने पाया मोक्षपद को ।
ऐसे जनकादिक लोगों को। मिली जग में श्रेष्ठता ।। १५२ ।।

इसीलिये पार्थ, सर्वथा। स्वकर्म में हो पूरी आस्था ।
काम आती वह अन्यथा। अन्य अर्थ में भी ।। १५३ ।।

हम स्वधर्म पर चलते हैं। तो लोग भी प्रेरणा लेते हैं ।
उनके नष्ट हो जाते हैं। दुःख सारे ।। १५४ ।।

जो कृतार्थ हो जाते। व निष्कामता प्राप्त करते ।
उन्हें भी कर्म करने पड़ते। लोगों के लिये ।। १५५ ।।

पथ में अन्धे को सँभालते। सनेत्र जाता आगे चलते ।
वैसे अज्ञों को मार्ग दिखाते। धर्म पर चलते सुज्ञ ।। १५६ ।।

सुज्ञ यदि ऐसा नहीं करेंगे। तो अज्ञ बेचारे क्या जानेंगे ? ।
किसविध जान पायेंगे। इस मार्ग को ? ।। १५७ ।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। २१ ।।
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।। २२ ।।

यहाँ बड़े जैसा करते। उसे ही सब धर्म कहते ।
उनका ही अनुसरण करते। सामान्य जन ।। १५८ ।।

यह सब है स्वाभाविक। अतः तजे बिना कर्मादिक ।
रखना पड़ता आचरण नेक। सन्तों को भी ।। १५९ ।।

दूसरों की क्या कहूँ बात ? मुझे देखो यहाँ पार्थ ।
इसी प्रथा को चरितार्थ। स्वयं कर रहा हूँ ।। १६० ।।

कदाचित किसी संकट से। अथवा किसी कामना से ।
मैं आचरण करता ऐसे। यदि सोचते हो ।। १६१ ।।

तो जग में मेरे समान। कोई नहीं परिपूर्ण।
यह सामर्थ्य मेरी अर्जुन। जानते हो तुम ।। १६२ ।।

मृत गुरुपुत्र को मैंने। जिलाया, देखा तुमने।
निरिच्छ होकर भी कर्म अपने। मुझे करने पड़ते हैं ।। १६३ ।।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। २३ ।।

स्वधर्म में मेरा आचरण। होता आकांक्षी नर के समान।
फल की आशा उसी समान। रखता हूँ मन में ।। १६४ ।।

उद्देश्य होता मेरा एक। कि संसार का प्राणि प्रत्येक।
जो अधीन है मेरे नेक। कर्मभ्रष्ट न हो ।। १६५ ।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।। २४ ।।

मैं आत्मानंद में तल्लीन। हो रहता हूँ निमग्न।
तो ये मेरे अधीन जन। तर जायेंगे कैसे ? ।। १६६ ।।

देख कर मेरा आचरण। ये सब करते धर्माचरण।
मैं न करूँ धर्मपालन। लोकव्यवस्था नष्ट होगी ।। १६७ ।।

इसलिये जो है सर्वज्ञ। न तजे धर्माचरण।
अपना ही उदाहरण। रखे सबके सामने ।। १६८ ।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। २५ ।।

देखो, फल की आशा से। सकाम करता आचरण जैसे।
निष्काम भी ठीक वैसे। महत्त्व दे कर्म को ।। १६९ ।।

सारी भावी लोक संस्था। रक्षणीय है सर्वथा।
कर्म की आवश्यकता। है इसी कारण ।।१७०।।

सन्त स्वयं सन्मार्ग पर चलें। विश्व को भी उसपर चलायें।
स्वर्ग की कामना न रखें। मन में कदापि ।।१७१।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वानयुक्तः समाचरन् ।। २६ ।।

जो दूध भी कष्ट से पीता। पकवान कैसे खा सकता ?।
इसलिये पकवान, हे भ्राता। शिशु को नहीं देते ।।१७२।।

जो न जाने कर्म की योग्यता। उसे ज्ञान की श्रेष्ठता।
समझाने की व्यर्थता। उपहास में भी न करें जैसे ।।१७३।।

उसे तो सत्कर्म ही सिखायें। सत्कर्म को ही नित्य सराहें।
स्वयम् उस पर चल कर दिखायें। सन्तजन ।।१७४।।

जो लोकसंग्रह के वास्ते। कर्म का आचरण करते।
कर्मबन्धन नहीं सताते। उन्हें कदापि ।।१७५।।

बहुरूपिये, राजा-रानी बनते। स्त्री-पुरुष भाव नहीं रखते।
किन्तु लोगों के समक्ष करते। आचरण पति-पत्नी सा ।।१७६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। २७ ।।

किसी दूसरे का भार। अपने माथे लेने पर।
क्यों न अपनी ग्रीवा पर। अकड़ न आयेगी ।।१७७।।

शुभाशुभ कर्म वैसे। होते प्रकृतिधर्म से।
मूर्ख उनका मतिभ्रम से। कर्ता अपने को मानता ।।१७८।।

देहाभिमान ऐसा दृढ़। धारण करता जो मूढ़।
उसे यह परमार्थ गूढ़। कभी नहीं बताना ।।१७९।।

अस्तु, छोड़ो अब यह बात। किसमें है तुम्हारा हित।
बताऊँगा, दत्तचित्त। हो कर सुनो अर्जुन ।।१८०।।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ।। २८ ।।

प्रकृतिजात हैं गुण विकार। उनसे कर्म का विस्तार।
ज्ञानियों के मन में आधार। दोनों को नहीं होता ।। १८१।।

देहाभिमान को तजकर। गुणकर्मों के पार जाकर।
रहते केवल साक्षी बन कर। शरीर में ।। १८२।।

देहधारी हो कर भी। वे कर्म से बँधते नहीं।
सूर्य को बाँध सकते नहीं। जैसे कर्म विश्व के ।। १८३।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।। २९ ।।

जो प्रकृति के अधीन होता। गुण-सम्भ्रम में नहीं उलझता।
वही कर्मबद्ध है होता। इस दुनिया में ।। १८४।।

विकारवश इन्द्रियों के। व्यवहार जो नित्य के।
होते यद्यपि किसी के। वह अपने मानता है ।। १८५।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।। ३० ।।

कर कर्मों का आचरण। मुझको करो उन्हें अर्पण।
किन्तु मन को रखो तल्लीन। आत्मानन्द में ।। १८६।।

मैं कर्त्ता हूँ इस कर्म का। लाभ मुझे मिले इसके फल का।
चित्त को इस अभिमान का। स्पर्श भी न होने दो ।।१८७।।

तजो देह की आसक्ति। कामनाओं की तजो प्रीति।
फिर यथोचित लो अनुभूति। सकल भोगों की ।।१८८।।

अब कोदंड उठाओ कर में। चढ़ जाओ फिर से रथ में।
वीरता को वरो मन में। सन्तोष से ।।१८९।।

अपना यश जग में फैलाओ। स्वधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाओ।
इस भार से मुक्त कराओ। मेदिमी को ।।१९०।।

अब निशंक हो कर पार्थ। युद्ध पर ध्यान करो केन्द्रित।
बात इसके अतिरिक्त। और कोई न करो ।।१९१।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ।।३१।।

अर्जुन, यह मेरा विचार। जिन्हें है सादर स्वीकार।
इस पर श्रद्धा से आचार। जो करते हैं ।।१९२।।

वे कर्म करते हुए भी। कर्मरहित रहते सभी।
आचरणीय है निश्चय ही। विचार यह मेरा ।।१९३।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ।।३२।।

किन्तु विषयासक्त हो कर। इन्द्रियों को लड़िया कर।
जो मेरा यह विचार। धिक्कारते हैं ।।१९४।।

जो इसे सामान्य समझते। और इसकी अवज्ञा करते।
इसे अतिशयोक्ति कहते। बतियाते हैं ।।१९५।।

उन्हें मोह-मदिरा में मत्त। विषय-विष से व्याप्त।
अज्ञान-पंक में निर्भ्रान्त। डूबा जानो ।।१९६।।

जैसे, शव के कर में चढ़ाया। रत्न सर्वथा व्यर्थ गया।
या जन्मांध कहे सवेरा आया। प्रमाण नहीं ।।१९७।।

अथवा जैसे प्रकाश चन्द्र का। नहीं, कौए के काम का।
वैसे, मूर्ख को विवेक का। कोई उपयोग नहीं ।।१९८।।

और पार्थ, सुनो एक। इस परमार्थ से जो विमुख।
उनसे कोई सम्भाषण तक। नहीं करना चाहिये ।।१९९।।

वे विवेक को नहीं मानते। और निन्दा भी करने लगते।
क्या पतंगे कभी सह सकते। प्रकाश को ? ।।२००।।

दीपक का करते आलिंगन। पतंगा पाता निश्चय मरण।
वैसे करते विषयाचरण। आत्मघात निश्चित ।।२०१।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।३३।।

अतः कौतुकवश ही सही। इन्द्रियों का लालन कहीं।
ज्ञानी पुरुष न करें कभी। भूल से भी ।।२०२।।

क्या कोई साँप से खेलता? या बाघ-संसर्ग सफल होता ?।
क्या हलाहल पच जाता। सेवन करने पर ? ।।२०३।।

खेल-खेल में आग लगती। काबू में न आये तो भभकती।
इन्द्रियों को लड़ियाने की वृत्ति। वैसे भली नहीं ।।२०४।।

नाना उपभोगों का झंझट। पालें ही किसलिये व्यर्थ।
पराधीन देह के लिये पार्थ। अकारण ही ? ।।२०५।।

करके नाना प्रयास। समृद्धि जोड़ कर अहर्निश।
अपने आपको देह के वश। करें ही किसलिये ? ।।२०६।।

यहाँ सर्वोपरि कष्ट कर। असीम सम्पत्ति प्राप्त कर।
किन्तु स्वधर्म का त्याग कर। देह को पालें क्यों ? ।।२०७।।

इस पंचभौतिक काया के। पंचत्व में विलीन होते ।
फिर यत्नपूर्वक खोजते। क्या मिलेगा ? ।।२०८।।

अतः केवल शरीर पोषण। प्रत्यक्ष में है शोषण ।
इसमें अपना अन्तःकरण। लगाना ही नहीं ।।२०९।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।। ३४ ।।

इन्द्रियों का प्रिय। सेवन करते विषय ।
सन्तुष्ट होगा असंशय। हृदय तुम्हारा ।। २१० ।।

साव-चोर मिले अचानक। नगर में शान्ति रहती सीमा तक ।
वैसे यह सन्तोष तात्कालिक। तत्त्वतः होता है ।। २११ ।।

बचनाग ऐसा मधुर होता। चखते ही मन को भाता ।
किन्तु वह है लाता। प्राणान्त निश्चित ।। २१२ ।।

जैसे, लालच में आमिष के। मछली मरती भरमा के ।
वैसे काम से इन्द्रियों के। लालच होता सुख का ।। २१३ ।।

किन्तु उसमें लगा कांटा। अपना प्राण ले सकता ।
इसका भान नहीं रहता। गुप्तता के कारण ।। २१४ ।।

वैसे, अभिलाषा में सुख की। जो करे कामना विषयों की ।
वह अग्नि में क्रोध की। जा गिरता सहसा ।। २१५ ।।

जैसे, मृग को मारने। बहेलिये उसे घेरने ।
चारों ओर से हाँकने। लग जाते हैं ।। २१६ ।।

विषयसुखों की वही रीति। इसलिये न हो उनसे प्रीति ।
काम-क्रोध दोनों की परिणति। घातक होती अत्यंत ।। २१७ ।।

उन्हें पास फटकने न दें। उनकी याद भी मिटा दें ।
आत्मनिष्ठा को रहने दें। सदाबहार ।। २१८ ।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। ३५ ।।

अर्जुन, अपना स्वधर्म। प्रारम्भ में लगता हो दुर्गम ।
फिर भी सर्वथा उत्तम। आचरण उसी का ।। २१९ ।।

परधर्म का व्यवहार। देखने में लगे सुन्दर ।
फिर भी, हम आचार। स्वधर्म का ही करें ।। २२० ।।

ब्राह्मण कितना भी दीन। शूद्र के घर का पकवान ।
कैसे करेगा सेवन ? तुम ही बताओ ।। २२१ ।।

यह अनुचित कैसे करें ? कैसे अग्राह्य की आस धरें ? ।
वांछित मिलने पर भी करें। स्वीकार कैसे ? ।। २२२ ।।

पराये सुन्दर महल देखकर। मन अवश्य आता उन पर ।
किन्तु अपनी कुटिया उनके खातिर। कैसे गिरा दें ? ।। २२३ ।।

यह रहने दो, पत्नी अपनी। कुरूपा हो चाहे जितनी ।
बनने को गृहस्वामिनि। वही योग्य होती है ।। २२४ ।।

अर्जुन, वैसे ही स्वधर्म। कितना भी क्यों न हो दुर्गम ।
स्वर्गलोक का साथी उत्तम। वही होता है ।। २२५ ।।

लो शर्करा दूध की बात। दोनों मधुरिमा के लिये ख्यात ।
किन्तु कृमि रोग से जो पीड़ित। उनको ले कैसे ? ।। २२६ ।।

फिर भी रोगी करे हठीलापन। और करे उनका सेवन ।
उसके नाश का ही कारण। बनेंगे वे ।। २२७ ।।

अतः,जो दूसरों के लिये विहित। किन्तु अपने लिये अनुचित ।
अर्जुन, सुनो हित की बात। उन पर न चले कभी ।। २२८ ।।

करते हुए स्वधर्माचरण। होता हो देहपतन ।
उसे ही हितप्रद जान। दोनों लोक में ।। २२९ ।।

देवताओं के शिरोमणि। कह गये यों शारंगपाणि।
तब धनुर्धर वीराग्रणी। कहता--देव मेरी सुनो' ।। २३० ।।

आपकी सारी कथनी। मैंने दत्तचित हो सुनी।
अब पूछूँगा मैं अपनी। कुछ ख़ास बातें ।। २३१ ।।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३६ ।।

ज्ञानावस्था से हट कर। सन्मार्ग से भ्रष्ट हो कर।
क्यों भटकते वाम मार्ग पर। ज्ञानी जन, श्रीकृष्ण ? ।। २३२ ।।

ये तो सर्वज्ञ हैं होते। ग्राह्य-अग्राह्य को जानते।
वे भी परधर्म पर चलते। क्यों और कैसे ? ।। २३३ ।।

भूसा और धान के कण। अंधा नहीं सकता बीन।
किन्तु दृष्टिवान भी कुछ क्षण। अंधा क्यों बनता है ? ।। २३४ ।।

जो सारी आसक्ति तजते। वे ही पुनः आसक्त होते।
वनवासी हो कर भी करते। लौकिक व्यवहार क्यों ? ।। २३५ ।।

ये समाज से दूर जाते। अपने को पापों से बचाते।
फिर बरबस ही क्यों उलझते। उन्हीं पापों में ? ।। २३६ ।।

जिनसे हो जाती घृणा। वे ही आ लिपटते पुनः।
पुरुष हो कर अनमना। उनसे घिरता क्यों ? ।। २३७ ।।

यह जो है विवशता। इसमें बलवान कौन होता ?।
धनुर्धर है पूछता। हृषिकेश से ।। २३८ ।।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।। ३७ ।।

इस पर सन्तहृदयकमल भृंग। योगी जिसकी साधना में दंग।
वह पुरुषोत्तम श्रीरंग। कहता अर्जुन से ।। २३९ ।।

ये काम और क्रोध। इनमें न करुणा की गंध।
ये कृतान्तसम समर्थ। सर्वनाश करने में ।। २४० ।।

ये ज्ञान-धन के भुजंग। विष-कन्दराओं के व्याघ्र।
भक्तिमार्ग के मातंग। वधिक क्रूर ।। २४१ ।।

ये पाषाण देह-दुर्ग के। पशु-बाड़े इंद्रिय-ग्राम के।
विश्व डरा रहता इनके। व्यामोह-बल से ।। २४२ ।।

ये मानस के रजोगुण। आसुरी सम्पदा से जिनका जनन।
अविद्या से ही इनका शमन। होता रहता है ।। २४३ ।।

उत्पन्न यदपि रज से। इन्हें प्रीति तमोगुण से।
प्रमाद मोह का ज्ञान उसीसे। इन्हें मिला है ।। २४४ ।।

ये जीवन के होते बैरी। मृत्यु इनकी है सहचरी।
अतः इनका सम्मान भारी। होता यमलोक में ।। २४५ ।।

बुझाने इनकी क्षुधा प्रदीप्त। विश्व-कवल भी अपर्याप्त।
इनका काम क्रोध व्यापार समस्त। आशा प्रत्यक्ष बढ़ाती ।। २४६ ।।

जिसकी मुट्ठी में, अर्जुन। समा जाते चौदहों भुवन।
वह भ्रान्ति इनकी छोटी बहन। अत्यंत प्रिय लाडली ।। २४७ ।।

वह चूल्हा-चौकी खेलती। त्रैलोक्य को चाट जाती।
उसकी चेरी बन कर जीती। प्रत्यक्ष तृष्णा ।। २४८ ।।

मोह करता इनका सम्मान। इनका अहंकार से लेन-देन।
उँगलियों पर त्रिभुवन। नचाता जो ।। २४९ ।।

जिसने सत्य की आंते निकाली। पाप की भूसी भीतर डाली।
उस पाखंड को बलशाली। इन्हीं ने किया ।। २५० ।।

इन्होंने शान्ति का चीर हरा। माया मातंगिनि को शृंगारा।
भ्रष्ट किया उसके द्वारा। साधुओं को ।। २५१ ।।

विवेक को किया नष्ट। वैराग्य को नष्ट-भ्रष्ट।
निग्रह को चारों खाने चित। किया इन्हींने ।। २५२ ।।

उजाड़ा सन्तोष-वन को। ढहाया धैर्य-दुर्गों को।
उखाड़ा इन्होंने आनंद को। जड़ मूल से ।। २५३ ।।

इन्होंने कुचले पौधे बोध के। अक्षर मिटा दिये सुख के।
जनमानस में तापत्रय के। पलीते जला दिये ।। २५४ ।।

ये देह के संग जनमते। जीव में गहरे जड़े रहते।
ढूँढे भी नहीं मिलते। ब्रह्मादिक को ।। २५५ ।।

ये चेतना के पड़ोस में रहते। ज्ञान की पंगत में पलते।
इसीलिये न संयत हो पाते। महाप्रलय में भी ।। २५६ ।।

ये पानी के बिना डुबोते। बिना आग के जला देते।
बिना बोले खा जाते। प्राणों को लीलया ।। २५७ ।।

ये बिना शस्त्रों के मारते। बिना रज्जु के बाँधते।
ज्ञान को भी जीत लेते। बाज़ी लगाकर ।। २५८ ।।

ये बिना कीचड़ गाड़ देते। पाश के बिना फाँस देते।
अंतरंग में वास करते। इसलिये अजेय ।। २५९ ।।

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। ३८ ।।

जैसे चन्दन भुजंगों से। लिपटा रहता मूल से।
अथवा गर्भस्थ शिशु जेर से। पूरा ढँका रहता ।। २६० ।।

अथवा जैसे, सूर्य प्रभाहीन। या अग्नि धूमविहीन।
अथवा आईना रजविहीन। होता नहीं कहीं ।। २६१ ।।

वैसे, इन काम क्रोध के बिना। हमने न देखा कहीं ज्ञान।
जैसे भूसे के बिना धान। उपजता ही नहीं ।। २६२ ।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। ३९ ।।

ज्ञान मूलतः विशुद्ध। किन्तु इनसे होता अवरुद्ध।
इसीलिये वह सर्वथा अगाध। दुर्लभ हो गया ।। २६३ ।।

काम-क्रोध पर विजय करोगे। तभी इस ज्ञान को पाओगे।
किन्तु इन्हें जीत सकोगे। यही असम्भव ।। २६४ ।।

इन्हें जीतने जीवन में। आवेश हो भी तन-मन में।
ऐसा बनता जैसे अग्नि में। डाला हो ईंधन ।। २६५ ।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। ४० ।।

वैसे जो-जो करो उपाय। वह इनकी ही करता सहाय।
मिलती इन्हें ही विजय। हठयोगी पर भी ।। २६६ ।।

यह है तो यूँ कठिन। एक उपाय, करूँगा कथन।
कर सको तो उस पर आचरण। अर्जुन अवश्य करो ।। २६७ ।।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।। ४१ ।।

ये इन्द्रियों में रहते। वहीं से कर्म-प्रेरणा देते।
तुम इन्द्रियों को मार सकते। तो मारो सर्वथा ।। २६८ ।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। ४२ ।।

फिर मन का भटकाव रुकेगा। बुद्धि का बंधन छूटेगा।
तभी सहारा भी टूटेगा। इन पापियों का ।। २६९ ।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ४३ ।।

मन से इन्हें भगा दोगे। तो इन्हें निश्चय ही मरा पाओगे।
जैसे बिना रविकिरण के। मृगजल नहीं होता ।। २७० ।।

काम-क्रोध का होते नाश। ब्रह्मस्वराज्य आयेगा हाथ।
भोगेगा जीव सुख समस्त। अपने आप ।। २७१ ।।

यह गुरु-शिष्यों की कथा। जीव-जीवात्मा की एकता।
यहाँ पाते मन की स्थिरता। विचलित न होती कदापि ।। २७२ ।।

सकल सिद्धों का राजेश्वर। लक्ष्मीपति परमेश्वर।
कह गया देवदेवेश्वर। संजय कहे धृतराष्ट्र से ।। २७३ ।।

अब वह श्रीअनंत पुनः। बतायेगा कथा प्राचीन।
करता जायेगा प्रश्न। पांडुसुत नये नये ।। २७४ ।।

ऐसी उस कथा की योग्यता। और ऐसी है सुरसता।
कि सुन कर सभी श्रोता। सुखसिंधु में तैरेंगे ।। २७५ ।।

कहे ज्ञानदेव निवृत्ति का। करते विकास बुद्धि का।
श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का। श्रवण कीजिये ।। २७६ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
कर्मयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय तीसरा ।।

।। अध्याय चौथा ।।

भाग जागा आज कानों का। जो पाया धन गीता का ।
स्वप्न भी मानस का। हुआ साकार ।। १।।

पहले ही यह विवेक की कथा। फिर जगन्नियंता उसका वक्ता ।
और भक्तराज अर्जुन श्रोता। करता श्रवण ।। २।।

जैसे पंचम सुर में सुगंध। अथवा सुगंध और सुस्वाद ।
वैसे मिला परमानन्द। इस कथा में ।। ३।।

कैसी अपूर्वता भाग्य की। गंगा मिल गयी अमृत की ।
अथवा साधना श्रोताओं की। हो गयी सफल ।। ४।।

अब सभी इन्द्रियाएँ। कानों में आ समायें ।
सम्वाद-सुख का आनन्द पायें। गीता नामक ।। ५।।

श्रोता कहते तजो प्रास्ताविक। बताओ मूलकथा सात्विक ।
जो अर्जुन ने बन भाविक। सुनी श्रीरंग से ।। ६।।

तब कहा संजय ने राजा से। दैवी गुण वाले अर्जुन से ।
श्रीकृष्ण अत्यंत प्रेम से। कहने लगा ।। ७।।

जो न पिता वसुदेव को। न ही माता देवकी को ।
क़तई नहीं बलदाऊ को। बताया कभी ।। ८।।

लक्ष्मी इतनी अंतरंग। उसे भी न मिला यह प्रेमसुख ।
इतना प्रेम श्रीरंग। बरसाता अर्जुन पर ।। ९।।

सनकादिक मुनिगण। यही आशा करते रातदिन।
किन्तु वह नहीं हुई पूर्ण। जितनी अर्जुन की।। १०।।

जगदीश्वर का प्रेम। अर्जुन से है अनुपम।
पता नहीं पुण्य सर्वोत्तम। कौन - सा जोड़ा उसने।। ११।।

अर्जुन से उसकी इतनी प्रीत। कि अमूर्त भी हो गया मूर्त।
मुझे लगता निश्चित। दोनों एकात्म हैं।। १२।।

अन्यथा जो वेद-दुर्गम। वेदार्थ के लिये अगम।
ध्यान के लिये सुगम। होता नहीं।। १३।।

वह भगवान आत्मस्वरूप। अनादि और निष्कम्प।
कृपालु हुआ अनूप। अर्जुन पर।। १४।।

जैसे त्रैलोक्य-वस्त्र व्यवस्थित। वैसे यह आकारातीत।
हो कर भी, अर्जुन के प्रेमांकित। देखो कैसे हुआ है।। १५।।

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।। १।।

देव कहता अर्जुन से। यह योग मैंने सूर्य से।
कहा था किन्तु उसे। बहुत दिन हो गये।। १६।।

फिर विवस्वत ने सम्पूर्ण। इस योग का निरूपण।
करते पूरा विवेचन। किया मनु से।। १७।।

मनु ने इस पर किया आचरण। इक्ष्वाकु से किया निवेदन।
ऐसे बढ़ी मूलतः प्राचीन। परम्परा इस योग की।। १८।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। २।।

कुछ राजर्षियों ने भी इसका। अध्ययन का पाया मौक़ा ।
किन्तु तब से आज तक का। युग इससे अनभिज्ञ ।। १९ ।।

लोगों की विषयों में आसक्ति। आकर्षण देह का अति ।
इसलिये उन्हें विस्मृति। आत्म बोध की ।। २० ।।

मार्ग से भटकते आस्तिकता। विषयसुखों में ही सार्थकता ।
देहादि उपाधियों से ममता। इन्हें होती प्राणप्रिय ।। २१ ।।

अन्यथा गाँव में दिगम्बरों के। मूल्यवान वस्त्र किस काम के ? ।
समाज में जन्मान्धों के। क्या महत्त्व सूर्य का ? ।। २२ ।।

अथवा बहरों की सभा में। किसकी रुचि संगीत में ? ।
अथवा लोमड़ी को चाँदनी में। क्या आनन्द ? ।। २३ ।।

या चन्द्रोदय के समय ही। जिनकी आँखें रहती मूँदी ।
अर्जुन, वे काक आदि। क्या जाने चन्द्र को! ।। २४ ।।

वैसे विरक्ति को न पहचानते। विवेक की भाषा न समझते ।
ऐसे मूर्ख कैसे पा सकते। भला मुझको ? ।। २५ ।।

न जाने कैसे मोह बढ़ गया। उसने काल को व्यर्थ गँवाया ।
अतः यह योग लोप हो गया। इह लोक से ।। २६ ।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। ३ ।।

वही योग अब क्रमप्राप्त। मैंने तुम्हें बताया भारत ।
विहित-अविहित समस्त। तजो शंका सर्वथा ।। २७ ।।

यह मेरे जीवन का रहस्य। क्यों न तुम्हें बताऊँ प्राणप्रिय ? ।
तुम मेरे लिये हो अति प्रिय। इसीलिये बताता हूँ ।। २८ ।।

तुम हो साक्षात् प्रेममूर्ति। भक्तिभावना की पूर्ति ।
मैत्री की सचेत अभिव्यक्ति। तुम ही धनुर्धर ।। २९ ।।

अर्जुन, तुम हो अपने मेरे। कैसे तुम्हारी वंचना करें।
यदपि यहाँ शस्त्र धारे। हम आये युद्ध को ।। ३० ।।

फिर भी पल दो पल रुक कर। युद्ध का कोलाहल सह कर ।
हटाऊँ तुम्हारा अज्ञान तिमिर। यह कर्त्तव्य मेरा ।। ३१ ।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ।। ४ ।।

तब अर्जुन कहता हे देवता। पुत्र से प्रेम करती माता ।
इसमें आश्चर्य ही क्या होता। कृपानिधि ? ।। ३२ ।।

तुम भवश्रान्तों के त्राता हो। अनाथ जीवों की माता हो ।
कृपालु जन्मदाता हो। तुम ही हमारे ।। ३३ ।।

सन्तान के पंगु जन्मते। माता को कष्ट उठाने पड़ते ।
तुम तो यह ख़ूब जानते। बतायें क्या! ।। ३४ ।।

अब मेरे प्रश्नों पर। ध्यान दीजिये गिरिधर ।
क्रोध न कीजिये मुझपर। मेरी बातों से ।। ३५ ।।

आपने अभी तक जो बात। मुझे समझायी है अनंत ।
उसको ज़रा भी मेरा चित्त। मान सकता नहीं ।। ३६ ।।

विवस्वान की कही बात। वह तो पूर्वजों को भी अज्ञात ।
तो उसे उपदेश सुविचारित। आपने कब दिया ? ।। ३७ ।।

विवस्वान था प्राचीन। आप श्रीकृष्ण अर्वाचीन ।
अतः विसंगति से परिपूर्ण। लगती बात आपकी ।। ३८ ।।

आपका जीवन अति अद्भुत। हमारे लिये तो वह अज्ञात ।
किन्तु इसलिये ही उसे असत्य। कैसे कह दें ? ।। ३९ ।।

मुझ अज्ञानी की समझ में। आ सके ऐसी भाषा में।
समझाइये कैसे अतीत में। सूर्य को दिया उपदेश ? ।। ४० ।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।। ५ ।।

विवस्वान के समय भ्राता। मेरा अस्तित्व ही नहीं था।
यह तुम्हारी मान्यता। निरी भ्रान्ति है ।। ४१ ।।

बात समझ में आती नहीं। कि तुम जन्म ले चुके हो कई।
किन्तु तुम्हें स्मरण रहा नहीं। अपने पूर्वजन्मों का ।। ४२ ।।

मैंने जब जब इस धरती पर। धारण किया अवतार।
सबका स्मरण निरन्तर। रहा है मुझे ।। ४३ ।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।। ६ ।।

इसलिये सारा अतीत। मुझे याद है पूरा साम्प्रत।
अजन्मा हूँ फिर भी प्रकृतिजात। मेरे जन्म सभी ।। ४४ ।।

मेरी अक्षयता अक्षुण्ण। जन्म मरण प्रतिबिम्ब समान।
मायावश होते भासमान। मेरे, मुझमें ही ।। ४५ ।।

मैं सदा स्वतन्त्र, स्वाधीन। किन्तु भ्रान्ति के ही कारण।
दिखता हूँ कर्म के अधीन। सिद्धान्ततः ।। ४६ ।।

वस्तु एक किन्तु दो दिखायी देतीं। यह तो दर्पण की चमत्कृति।
अन्यथा क्या वे दो होतीं। वस्तु विचार से ? ।। ४७ ।।

वैसे अर्जुन, मैं तत्वतः अमूर्त। किन्तु होता हूँ जब मायायुक्त।
तब विश्व के कल्याणार्थ। देह धारण करता हूँ ।। ४८ ।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। ७ ।।

जो-जो है धर्म कहलाता। उसका संरक्षण मैं ही करता ।
युग-युग से यही क्रमिकता। चली आ रही है ।। ४९ ।।

अजन्माबोध दूर रखता हूँ। अव्यक्तता को भुलाता हूँ ।
जब अधर्म को देखता हूँ। हावी धर्म पर ।। ५० ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। ८ ।।

तब भक्तों का हो पक्षधर। मैं होता हूँ साकार ।
धारण करता हूँ अवतार। अज्ञान तिमिर हटाता हूँ ।। ५१ ।।

अधर्म की मर्यादा तोड़ता। मैं दोषों की सनदें फाड़ता ।
सुख की ध्वजा हूँ फहराता। सज्जनों द्वारा ।। ५२ ।।

दैत्यों का संहार करता हूँ। सज्जनों का सम्मान बढ़ाता हूँ ।
धर्म को नीति से जोड़ता हूँ। दृढ़तापूर्वक ।। ५३ ।।

अविवेक का गुल हूँ झाड़ता। विवेक को हूँ सतेज करता ।
योगी समाज दिवाली मनाता। तब निरन्तर ।। ५४ ।।

आत्मसुख विश्वव्याप्त होता। धर्मध्वज ऊँचा लहराता ।
भक्त-मानस खिल जाता। सात्विकता से ।। ५५ ।।

लुप्त होते पाप के पर्वत। उदित होता पुण्य प्रभात ।
जब प्रकट होती मेरी मूरत। पांडुसुत सुनो ।। ५६ ।।

इसी कार्य के लिये भ्राता। युग-युग में हूँ अवतरता ।
इस बात को पहचानता। वही सच्चा विवेकी ।। ५७ ।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।। ९ ।।

अजन्मा होकर भी जन्म लेता । अकर्ता हूँ फिर भी कर्म करता ।
जो मेरी यह अलिप्तता । जाने, वही परमभक्त ।। ५८ ।।

वह देह के संग नहीं चलता । देहबोध में नहीं रमता ।
मृत्यु के बाद आ मिलता । मेरे रूप में ।। ५९ ।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।। १० ।।

जो भूत, भविष्य पर नहीं रोते । और कामनारहित होते ।
जो कदापि नहीं होते । क्रोधान्वित ।। ६० ।।

जो धन्य, मुझे पा कर । जीते हैं मेरी सेवा कर ।
सन्तोष करते आत्मज्ञान पर । वीतरागी ।। ६१ ।।

जो पुंज तपोतेज के । आश्रयदाता हैं ज्ञान के ।
स्वयम् पावन-तीर्थ के । तीर्थरूप जो ।। ६२ ।।

वे मुक्त मुझमें आ मिलते । अथवा मुझसे एकाकार होते ।
उनमें-मुझमें नहीं रहते । भेदभाव कोई ।। ६३ ।।

पीतल पर चढ़ा कजरारापन । यदि नष्ट होता है सम्पूर्ण ।
तो ढूँढ़े कहीं सुवर्ण । किसलिये ? ।। ६४ ।।

वैसे यम-नियमों में तप कर । तपोज्ञान से हुए जो प्रखर ।
वे मुझसे हो गये एकाकार । इसमें सन्देह क्या ? ।। ६५ ।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। ११ ।।

जो जैसा मुझमें अन्यथा। भक्तिभाव को है रखता।
मैं भी उसका बन जाता। भक्त वैसा ही ।। ६६ ।।

ये मानव प्राणि सकल। स्वभाव से हैं भजनशील।
मुझमें ही हैं केवल। एकरूप भी ।। ६७ ।।

किन्तु इसका नहीं जिन्हें ज्ञान। वे बुद्धिभेद के कारण।
मुझमें देखते अनेकपन। संकल्पना से ।। ६८ ।।

वे मुझमें भेद देखते। मुझ अनाम को नाम देते।
देवी या देवता कहते। मुझ शब्दातीत को ।। ६९ ।।

मैं, जो सर्वत्र सदा समान। उसमें बुद्धिभ्रम के कारण।
अधम उत्तम वर्गीकरण। करते ये अज्ञानी ।। ७० ।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।

फिर मन में रख कर नाना हेत। मनभावन उपचारों सहित।
नाना देवताओं को नित। भजते मगन हो कर ।। ७१।।

तब उनका सभी अपेक्षित। हो जाता उन्हें प्राप्त।
किन्तु अर्जुन, वह निश्चित। फल उनके ही कर्म का ।। ७२ ।।

दाता हो, या हो पाता। कर्म के अतिरिक्त नहीं होता।
इस नरलोक में भ्राता। फल देता कर्म ही ।। ७३ ।।

खेत में जो बोया जाता। उसके सिवा अन्य न उगता।
अथवा दर्पण में वही दिखता। जो हम देखते ।। ७४ ।।

गिरिकन्दरा के किनारे। हम जो भी शब्द उच्चारें।
उसी की प्रतिध्वनि हमारे। कानों को सुनायी देती ।। ७५ ।।

वैसे, इस सभी भजन का। साक्षी हूँ मैं अकेला।
जिसकी रही जैसी भावना। फल वैसा ही मिलता है ।। ७६ ।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।। १३ ।।

वैसे, ये चारों वर्ण। मैंने ही किया इनका निर्माण ।
गुण-कर्मों का विभाजन। करके यथोचित ।। ७७ ।।

प्रकृति धर्म का सारासार। करते हुए सही विचार ।
व्यवस्था कर दी तदनुसार। वर्ण-कर्मों की ।। ७८ ।।

मूलतः सब लोग समान। किन्तु गुण-कर्मों का विभाजन ।
सहज कर गया चार वर्ण। व्यवस्थित ।। ७६ ।।

यों गुणकर्मों के अनुसार। वर्ण-व्यवस्था हुई साकार ।
इसलिये मैं हूँ पार। चारों वर्णों के ।। ८० ।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।। १५ ।।

ये हुए मुझसे तत्त्वतः। किन्तु मैं न हूँ इनका कर्ता ।
इसे जो समझ लेता। वह है कर्ममुक्त ।। ८१ ।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।। १५ ।।

मुमुक्षु जितने भी हो गये। मुझे इसीविध जानते हुये ।
अपने कर्म भी करते गये। जग में धनुर्धर ।। ८२ ।।

जैसे भुने बीज बोने पर भी। कोई उपज देते नहीं ।
वैसे ये निष्काम कर्म ही। उन्हें मोक्ष देते हैं ।। ८३ ।।

कितना ही हो ज्ञानवान। कर्म-अकर्म की पहचान ।
उसके लिये भी नहीं आसान। बता पाना ।। ८४ ।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। १६ ।।

किसे कहते हैं कर्म ? क्या होता है अकर्म ? ।
पंडित इसका जानते मर्म। पड़ते असमंजस में ।। ८५ ।।

पार्थ, जैसे सिक्का खोटा। हूबहू है खरा लगता ।
आँखों को भी धोखा देता। डाल असमंजस में ।। ८६ ।।

वैसे संकल्प मात्र से जो। प्रतिसृष्टि के निर्माता हों ।
वे भी भ्रान्तिवश कर्म को। निष्कर्म मानते हैं ।। ८७ ।।

इस कर्म-अकर्म को विचारते। क्रान्तिदर्शी भी हैं भरमाते ।
मूर्ख किस खेत की मूली होते ?। इसलिये वही बताता हूँ ।। ८८ ।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ।। १७ ।।

विश्व का निर्माण करने का। जो संकल्प है ईश्वर का ।
वही तत्त्वतः कर्म है, उसका। यथार्थ बोध आवश्यक ।। ८९ ।।

फिर वर्णाश्रम के लिये उचित। जो विशेष कर्म शास्त्रोक्त ।
उसका ज्ञान सुनिश्चित। प्राप्त करें सर्वोपरि ।। ९० ।।

जिसमें स्वकर्म का निषेध। वह परमात्मा में ही निशुद्ध ।
जिसका हो संकल्प दृढ़। वह न बँधता कर्म से ।। ९१ ।।

कर्म की व्याप्ति है गहन। सारे जग को करता स्वाधीन ।
छोड़ो यह, सुनो लक्षण। ज्ञानी जन के ।। ९२ ।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।। १८ ।।

जो कर्म तो सकल करता। अपने को कर्ता नहीं मानता ।
कर्म फल की आशा न रखता। कर्म करते हुए भी ।। ९३।।

सर्वत्र आत्मरूप देखता। वही सच्ची नैष्कर्म्यता ।
कर्तव्य का भी लोप होता। जिसमें, वही ज्ञानी ।। ९४।।

सभी कर्मों को देह से। करता यदपि नियम से ।
युक्त ऐसे लक्षणों से। वही ज्ञानी ।। ९५।।

वह खड़ा जल के किनारे। निज रूप जल में निहारे ।
किन्तु मैं भिन्न हूँ, बोध पूरे। मन में स्पष्ट रहता ।। ९६।।

अथवा नौका में यात्रा करता। तट-वृक्षों को भागते देखता ।
किन्तु विवेक से पहचानता। वृक्ष हैं अचल ।। ९७।।

वैसे सभी कर्मो को करता। जान कर उनकी असत्यता ।
कर्मरहित परम सत्ता। देखता अपने में ।। ९८।।

अथवा उदयास्त को देखता। अचल सूर्य चलता लगता ।
वैसे कर्म में निष्कर्मता। देखता ज्ञानी ।। ९९।।

दिखता मनुज के समान। होता केवल ब्रह्म महान ।
जल में होता सुर्यदर्शन। किन्तु सूर्य भिन्न उससे ।। १००।।

विश्व को बिना देखे देखता। बिना किये सब कुछ करता ।
भोगे बिना भोगता। सकल भोग ।। १०१।।

वह बैठा रहे एक स्थान में। किन्तु जानो गया सब स्थानों में ।
अधिक क्या, वह प्रत्यक्ष में। साक्षात् विश्वरूप ।। १०२।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।। १९ ।।

अर्जुन, जानो ज्ञानी वही। जिसे कर्म में अनास्था नहीं ।
किन्तु फल की आस भी नहीं। जिसके हृदय में ।। १०३।।

और यह कर्म मैं करूँगा। या प्रारब्ध को पूरा करूँगा।
यह संकल्प भ्रष्ट न करेगा। जिसके मन को ।।१०४।।

जिसने ज्ञानाग्नि में दे दी। सभी कर्मों की आहुति।
वह परब्रह्म की प्रतिकृति। मानव रूप में ।।१०५।।

त्वक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ।।२०।।

जो देह से अनासक्त। फल की आशा से विरक्त।
आत्मानंद में ही मस्त। नित्य रहता ।।१०६।।

गर्भगृह में सन्तोष के। अमृतकुम्भ आत्मबोध के।
सेवन करते छक-छक के। कभी नहीं अघाता ।।१०७।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।२१।।
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ।।२२।।

आशासहित अहंकार की। आहुति चढ़ाता कामना की।
मधुरता अधिकाधिक सुख की। ज्ञानी चखता है ।।१०८।।

अतः जब, जो भी प्राप्त होता। उसी के सुख में मस्त रहता।
अपना पराया भेद न रहता। उसके मन में ।।१०९।।

वह दृष्टि से जो देखता। या कानों से जो सुनता।
उसी के साथ तद्रूपता। पाता उसी क्षण ।।११०।।

मार्ग में चलते-चलते। या बातें करते-करते।
देह - व्यापार चलाते। तद्रूप हो जाता ।।१११।।

अस्तु, यह विश्व जिसे। न लगता भिन्न अपने से।
अर्जुन, कोई कर्म कैसे। उसे बाधक होगा ? ।।११२।।

मन में मत्सर आ जाये। इतना भी द्वैत जो न देख पाये ।
उसे निर्मत्सरी का लगायें। विशेषण कैसे ? ।। ११३ ।।

अतः जो सब तरह से मुक्त। वह सकर्मा भी कर्मरहित ।
सगुण हो कर भी गुणातीत। मानो उसे ।। ११४ ।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।। २३ ।।

वह यदपि होता देहधर। चैतन्य का उसमें निखार ।
ब्रह्म कसौटी लगाने पर। खरा उतरता परब्रह्म ।। ११५ ।।

जो इस विध होता मुक्त। किन्तु यज्ञादि कर्मों से युक्त ।
सभी कर्म उसी में लुप्त। वह ऐसा ज्ञानी ।। ११६ ।।

जैसे असमय मेघपटल। नभ में दिखायी देता विरल ।
बिना बरसे लुप्त सकल। अपने आप ।। ११७ ।।

वैसे ज्ञानी यज्ञादि विहित कर्म। आचरता मान कर धर्म ।
किन्तु ऐक्यभाव का मर्म। ऐक्य में ही मिलता उन्हें ।। ११८ ।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। २४ ।।

यह हवन, मैं होता। इस यज्ञ का वह भोक्ता ।
ऐसी भावभिन्नता। नहीं उसकी मति में ।। ११९ ।।

अतः वह जो करता इष्ट यज्ञ। उसके मंत्र और हव्य ।
सबको मानता दिव्य। आत्मस्वरूप ।। १२० ।।

इसलिये ब्रह्म ही है कर्म। ऐसी जिसकी मति है सम ।
उसका किया कर्त्तव्य कर्म। निष्कर्म ही तत्त्वतः ।। १२१ ।।

तज अविवेक का कुँवारपन। विरक्ति का किया पाणिग्रहण ।
फिर अद्वैत का उपासन। प्रारम्भ किया जिन्होंने ।। १२२ ।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ।। २५ ।।

जो यजनशील रात-दिन। अज्ञानसहित अपना मन ।
गुरूपदेश-अग्नि में अर्पण। करते धनंजय ।। १२३ ।।

अग्निहोत्री योगाग्नि के। उपासक देवयज्ञ के ।
उससे आत्मसुख के। मनोरथ पूरे करते ।। १२४ ।।

दैवयोग से देह का पालन। ऐसी जिनकी धारणा पूर्ण ।
न करते केवल देहभरण। वे महायोगी ।। १२५ ।।

जो अग्निहोत्री ब्रह्माग्नि के। यज्ञ द्वारा ही यज्ञ के।
उपासक बनते, उनके। लक्षण अब सुनाता हूँ ।। १२६ ।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ।। २६ ।।

वे काया, वाचा, मन से। पवित्र इन्द्रिय-द्रव्य से ।
आत्मसंयम की अग्नि से। हवन करते अग्निहोत्री ।। १२७ ।।

विरक्ति का सूर्योदय होता। संयम अग्निकुण्ड बन जाता ।
फिर उसमें प्रज्ज्वलित होता। इन्द्रियाग्नि ।। १२८ ।।

वैराग्य की ज्वाला सुलगती। विचार की लपटें उठतीं ।
आशा का धुँआ छोड़ देतीं। पंचेन्द्रिय वेदियाँ ।। १२९ ।।

फिर वेदोक्त मंत्रघोष में। इन्द्रियरूपी यज्ञवेदी में ।
विषय आहुतियाँ चढ़ाने में। लग जाते अग्निहोत्री ।। १३० ।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ।। २७ ।।

इस तरह कोई भ्राता। दोषों का क्षालन करता ।
विवेक को हृदय पर घिसता। कोई धनंजय ।। १३१ ।।

उसे धैर्य से दबाते। शान्ति से दृढ़ थामते ।
गुरूपदेश से घिसते। पूरी शक्ति लगा कर ।। १३२ ।।

एकरस होकर घर्षण करते। तत्काल यत्न सफल होते ।
ज्ञानाग्नि को प्रकट करते। सायास तत्काल ।। १३३ ।।

पहले ऋद्धि सिद्धि का संगम। लुप्त हो गया यज्ञधूम ।
फिर प्रकट हो गया सूक्ष्म। विस्फुल्लिंग ।। १३४ ।।

यम-संयम से सुखाया। अतः जो निर्दोष हो गया ।
ऐसा विशुद्ध मन बन गया। ईंधन यज्ञ का ।। १३५ ।।

उससे ज्वाला हुई उत्पन्न। वासना गयी समिधा बन ।
मोह का घी लगा, हवन। किया उसका ।। १३६ ।।

जीव बन गया दीक्षित। 'सोऽहं' मंत्रोच्चारसहित ।
इन्द्रिय-कर्मो की सतत। चढ़ायी आहुतियाँ ।। १३७ ।।

फिर प्राण-कर्मों के पात्र से। पूर्णाहुति अर्पण करने से ।
ऐक्यबोध का सहजता से। हुआ अवभृथ स्नान ।। १३८ ।।

संयमाग्नि के हविशेष। उन्हें माना पुरोडाश ।
वही आत्मज्ञान का सुख। ग्रहण किया उन्होंने ।। १३९ ।।

इसविध किये यज्ञों से। वे मुक्त हो गये त्रिभुवन से ।
यज्ञ यदपि नहीं एक-से। फल-प्राप्ति एक ही ।। १४० ।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। २८ ।।

किसी को कहते द्रव्ययज्ञ। किसी को तपोयज्ञ ।
किन्हीं को कहते योगयज्ञ। किया निवेदन जिनका ।। १४१।।

शब्द से शब्द का हवन करता। वह वाग्यज्ञ कहलाता ।
ज्ञान से ब्रह्म समझाता। वह है ज्ञानयज्ञ ।। १४२।।

ये सभी यज्ञ हैं विकट। इनका अनुष्ठान दुर्घट ।
किन्तु जितेन्द्रिय के लिये सुघट। योग्यतावश ।। १४३।।

जो पुरुष है योगसम्पन्न। वे ही कर सकते ये यज्ञ ।
जिन्होंने जीवात्मा का हवन। किया परमात्मा में ।। १४४।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।। २९।।

कोई अपान अग्नि को जलाते। प्राणद्रव्य की आहुति देते ।
कोई नित्य हवन करते। अभ्यासयोग के द्वारा ।। १४५।।

कोई प्राणवायु में अपान। कर देते पार्थ, पूरा विलीन ।
कोई दोषों का करते निरोधन। प्राणायाम जो ।। १४६।।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।। ३०।।

कोई हठयोग को आचरते। सभी आहारों का संयम करते ।
प्राणों में ही हवन करते। प्राणों का सत्वर ।। १४७।।

ऐसे मोक्षाभिलाषी सकल। सभी होते हैं यजनशील ।
यज्ञ द्वारा मन का मैल। धो डाला जिन्होंने ।। १४८।।

सभी अज्ञानों के होते दग्ध। शेष आत्मानन्द शुद्ध ।
फिर यज्ञ-याज्ञिक भेद। रहता ही नहीं ।। १४९।।

यहाँ याज्ञिक की इच्छा पूर्ण। और यज्ञक्रिया सम्पन्न।
इसलिये सभी कर्मों का अवसान। अर्जुन, होता है ।। १५० ।।

जहाँ विचारों को नहीं प्रवेश। कामनाओं का भी नहीं स्पर्श।
नहीं लगते द्वैत-दोष। भ्राता धनंजय ।। १५१ ।।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।। ३१ ।।

ऐसे जो होते अनादि सिद्ध। पुरोडाश को विशुद्ध।
सेवन करते ब्रह्मनिष्ठ। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' कहते हुए ।। १५२ ।।

यज्ञावशेष ज्ञानमृत। पी कर जो होते तृप्त।
वे अनायास होते प्राप्त। ब्रह्मपद को ।। १५३ ।।

जिन्हें न वरती विरक्ति। संयमाग्नि की सेवा न होती।
जिनसे योगसाधना नहीं बनती। नरजन्म पा कर भी ।। १५४ ।।

अरे, जिनका न ठीक ऐहिक। उनका क्यों सोचते पारलौकिक ?।
किसलिये उनकी बातें अनेक। करते हो अर्जुन ? ।। १५५ ।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।। ३२ ।।

ऐसे ये नाना यज्ञ। जिनका किया निवेदन।
वेदों में उनका वर्णन। आता विस्तार से ।। १५६ ।

करना क्या उस विस्तार से ?। यज्ञ का उद्गम कर्म से।
इस सार को समझोगे मन से। कर्मबन्धन न रहेगा ।। १५७ ।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।। ३३ ।।

अर्जुन, वेद जिनका मूल। जिनमें क्रियाएँ हैं बहुल।
जिनका पहला सुफल। होता स्वर्गसुख ।। १५८ ।।

वे तत्वतः द्रव्ययज्ञ। ज्ञानयज्ञ से कहीं हीन।
'जैसे तारे तेजहीन। सूर्य के सामने ।। १५९ ।।

परमात्मसुख का निधान। जिसे पाने योगीजन।
ज्ञान का डाल कर अंजन। दिन रात जागते ।। १६० ।।

प्रारम्भ कर्मों का फलस्थान। कर्मातीत ज्ञान की खान।
साधकों का तृप्तिस्थान। धनंजय जो ।। १६१ ।।

जहाँ प्रकृति पंगु होती। तर्क की दृष्टि जाती।
जिससे इन्द्रियाँ भुला देतीं। विषयसंग ।। १६२ ।।

मन की मानसिकता जाती। शब्द की शाब्दिकता रहती।
जहाँ लगता हो गयी प्राप्ति। परब्रह्म की ।। १६३ ।।

जहाँ वैराग्य का दैन्य जाता। विवेक का मोह नहीं रहता।
बिना ढूँढे मिल जाता। सहज आत्मरूप ।। १६४ ।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। ३४ ।।

ऐसा जो श्रेष्ठ ज्ञान। उसे चाहता हो यदि मन।
तो सर्व भाव से करो भजन। ब्रह्मज्ञानी सन्तों का ।। १६५ ।।

सन्त है ज्ञान का मन्दिर। सेवा उसका महाद्वार।
स्वाधीन करो उसे जा कर। धनुर्धर, फुर्ती से ।। १६६ ।।

वहाँ तन मन जीवन लगा कर। सेवा करो चरणों में गिरकर।
स्वीकारो, अभिमान तज कर। दास्य सन्तों का ।। १६७ ।।

फिर करने पर वांछित प्रश्न। वे सन्त करेंगे समाधान।
उस बोध से अन्तःकरण। होगा संकल्परहित ।। १६८ ।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।। ३५ ।।

उनके बोधामृत के कारण। तुम्हारा चित्त ब्रह्मसमान ।
होगा भय, संशयविहीन। जब, हे अर्जुन ।। १६९ ।।

तब अपने सहित। ये भूत मात्र समस्त ।
मेरे स्वरूप में अखण्डित। देखोगे तुम ।। १७० ।।

गुरुकृपा प्रसाद मिलेगा। तब आत्मज्ञान उदित होगा ।
मोह तिमिर नष्ट होगा। मन से धनंजय ।। १७१ ।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ।। ३६ ।।

तुम भले ही हो पाप के आगर। अथवा हो भ्रान्ति के सागर ।
या व्यामोह के पर्वत दुस्तर। क्यों न हो पार्थ ।। १७२ ।।

फिर भी ज्ञानशक्ति के आगे। ये सभी हैं क्षुद्र, अभागे ।
ऐसा सामर्थ्य नित्य जागे। इस ज्ञान में ।। १७३ ।।

उदय होते इस ज्ञान का। अस्त होता विश्व-भ्रम का ।
इतना सर्वोत्तम है गया आँका। यह आत्मज्ञान ।। १७४ ।।

इस ज्ञान के आगे पार्थ, तुम्हारे व्यामोह की क्या बात ? ।
आत्मज्ञान का कोई, मीत। सानी नहीं रखता ।। १७५ ।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। ३७ ।।

महाप्रलय की काली आँधी। विश्व पर उमड़-घुमड़ आती ।
उसके आगे क्या है हस्ती। क्षुद्र, भूरे मेघ की ? ।। १७६ ।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।। ३८ ।।

अथवा पवन-कोप के सहारे। जो पानी को भी जला डारे ।
वह प्रलयाग्नि घासफूस के मारे। बुझेगी कैसे ? ।। १७७ ।।

यह कदापि न होगा प्रियवर। अतः अनुचित है उसका विचार ।
ज्ञान के समान पावनतर। कुछ भी नहीं ।। १७८ ।।

इस चैतन्य के समान कोई। इस विश्व में दूजा नहीं ।
वैसे इस ज्ञान के सम भी। कुछ भी नहीं पवित्र ।। १७९ ।।

तेज से प्रतिबिम्ब के। सूर्य की तुलना हो सके ।
अथवा गगन आलिंगन से। आयेगा बाहों में ।। १८० ।।

अथवा धरती के समान। मिल जायेगा अन्य वजन ।
तभी ज्ञान के समान। कुछ मिल सकेगा! ।। १८१ ।।

इसलिये नानाविध देखते। अनेक बार विचार करते ।
ज्ञान की पवित्रता को पाते। हम ज्ञान में ही ।। १८२ ।।

जैसे अमृत का आस्वाद। होता अमृत के ही समान ।
वैसे ज्ञान का उपमान। केवल ज्ञान ही ।। १८३ ।।

अब इस पर अधिक बोलना। है समय व्यर्थ गँवाना ।
अर्जुन कहे, आपका कहना। सत्य है केशव ।। १८४ ।।

किन्तु ज्ञान की क्या पहचान। ऐसा जब पूछता अर्जुन ।
तब जान गये श्रीकृष्ण। मनोगत उसका ।। १८५ ।।

फिर अर्जुन से कहे श्रीकृष्ण। सुनो देकर पूरा ध्यान ।
कैसे करें ज्ञानसम्पादन। समझाऊँगा तुम्हें ।। १८६ ।।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। ३९ ।।

आत्मसुख के आस्वाद से। जिसका मन ऊबा विषयों से।
इन्द्रिय-भोगों का जिसके मन से। हो गया निष्कासन ।।१८७।।

मन की इच्छा तक न बताता। प्रकृतिजात का श्रेय न लेता।
श्रद्धा भोग से जो पाता। परमसुख ।।१८८।।

ऐसे पुरुष को ढूँढ़ते। स्वयम् ज्ञान आता दौड़ते।
जिसमें ओतप्रोत भरे होते। शान्ति के भंडार ।।१८९।।

हृदय में ज्ञान के होते ही स्थिर। फूटते शान्ति के अंकुर।
फिर आत्मबोध का विस्तार। होता शतशः ।।१९०।।

फिर जिधर देखो उधर ही। शान्ति ही शान्ति देती दिखायी।
निज, परत्व का भाव नहीं। रहता, उस शान्ति में ।।१९१।।

इस ज्ञान-बीज का विस्तार। होता ही जाता उत्तरोत्तर।
क्या कहें, होता अपार। विस्तार ज्ञानवृक्ष का ।।१९२।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। ४०।।

वह जीवन भी जीवन कैसे ? आत्मज्ञान की आस न जिसे।
अभागे जीवन को ऐसे। मरण कहना उचित ।।१९३।।

जैसे गृह हो निर्जन। या देह चेतनाविहीन।
वैसे ज्ञानशून्य नर-जीवन। केवल मोहमय ।।१९४।।

ज्ञान न मिला हो, माना,। किन्तु पाने की हो कामना।
तब तो कुछ सम्भावना। होती ज्ञानप्राप्ति की ।।१९५।।

ज्ञान प्राप्त नहीं है, न हो। किन्तु पाने की आस्था भी न हो।
ऐसे नर को जानो, महाबाहो। गिरा संशय अग्नि में ।।१९६।।

अमृत भी लगे स्वादहीन। ऐसा अरुचिपूर्ण हो जीवन।
तो जानो शीघ्र ही मरण। आने वाला है ।।१९७।।

वैसे प्रसन्न विषयसुखों में। उदासीन जो ज्ञान के बारे में ।
उसे संशयग्रस्त जीवन में। जानो निःसन्देह ।। १९८ ।।

जो संशय में डूबता-उतराता। वह निश्चय ही नष्ट होता ।
दोनों सुखों को खो देता। ऐहिक, पारलौकिक ।। १९९ ।।

काल-ज्वर जिसे चढ़ जाता। वह शीत-ऊष्ण नहीं जानता ।
धूप तथा चाँदनी को मानता। एक जैसा ।। २०० ।।

वैसे सत्य और असत्य। अनुकूल और विपरीत ।
हित तथा अहित। न जानता संशयात्मा ।। २०१ ।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबन्धन्ति धनंजय ।। ४१ ।।

जन्मान्ध के लिये जैसे। दिन रात होते एक से ।
संशयी वैसे, सबसे। होता अनभिज्ञ ।। २०२ ।।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ।। ४२ ।।

अतः संशय से बढ़ कर। कोई पाप नहीं घोर ।
विनाश का फंदा भयंकर। जानो इसे ।। २०३ ।।

इसलिये उसका तजो साथ। इसे पहले करो परास्त ।
अज्ञान में ही यह पार्थ। रहता हमेशा ।। २०४ ।।

अज्ञान का तिमिर बढ़ता। तब मन में यह पनपता ।
विश्वास-पथ से सर्वथा। भटका देता है ।। २०५ ।।

यह मन में ही न रहता सीमित। बुद्धि को भी करता ग्रसित ।
फिर हो कर संशयग्रस्त। देखता त्रैलोक्य को ।। २०६ ।।

यदपि यह ऐसे बढ़ जाता। फिर भी उसे जीता जा सकता।
यदि, कर में हो लपलपाता। ज्ञान खड्ग ।।२०७।।

ज्ञान-शस्त्र की तेज धार से। यह नष्ट होता जड़-मूल से।
फिर मन हो जाता इससे। मुक्त पूर्णतः ।।२०८।।

अतः उठो अब हे पार्थ। यह जो संशय हृदयस्थ।
उसे पूरा करो ध्वस्त। जड़-मूल से ।।२०९।।

यों सर्व ज्ञान का जनक। श्रीकृष्ण जो ज्ञानदीपक।
कृपालु हो देता सीख। सुनो राजन् ।।२१०।।

इस भापण का पूर्वापर। करते हुए पूरा विचार।
प्रश्न करेगा यथावसर। कैसे-कैसे अर्जुन ।। २११।।

उस कथा की तर्कसंगति। उसके आशय की सम्पत्ति।
रस सौन्दर्य की उन्नति। कहूँगा आगे ।। २१२।।

जिसकी उत्कृष्टता पर। आठों रस करें निछावर।
जो यहाँ विश्रामघर। सज्जनों की मति का ।। २१३।।

वह शान्ति रस उमड़ेगा। ऐसी मराठी भाषा बोलेगा।
सागर से भी गहन होगा। अर्थ जिसका ।। २१४।।

त्रिभुवन को करने आलोकित। सूक्ष्म सूर्यबिम्ब भी पर्याप्त।
वैसा उसका शब्द है सुव्याप्त। अनुभूति से ।। २१५।।

जैसे कल्पतरु का तना। पूरी करता जनकामना।
वह बोल भी मनोकामना। पूर्ण करेगा वैसे ।। २१६।।

यह सब क्या करूँ बखान ?। श्रोता है सहज सर्वज्ञ।
फिर भी करता हूँ अनुरोध। कृपया ध्यान दीजिये ।। २१७।।

यहाँ साहित्य और शान्ति। इनकी मूरत है बोलती।
जैसे लावण्य कुलशीलवती। हो पतिव्रता भी ।। २१८।।

शर्करा पसंद हो पहले ही। दवा रूप में दिया हो उसे ही ।
तो क्यों न करें सेवन उसका ही। बारम्बार ? ।। २१९ ।।

मलय वायु की मंद सुगंध। उसमें आये अमृत का स्वाद ।
और उसमें आन मिले नाद। संयोगवश, ।। २२० ।।

तो स्पर्श से होगा तन शीतल। स्वाद से रसना हर्षोत्फुल्ल ।
साध होगी पूरी सफल। कर्णेन्द्रियों की ।। २२१ ।।

वैसे इस कथा का श्रवण। कानों के लिये है पारण ।
भवदुःखों के सारे लक्षण। जायेंगे जड़-मूल से ।। २२२ ।।

यदि मंत्र से ही बैरी मरे। तो शस्त्र धारे क्यों फिरें ? ।
दूध, चीनी रोग हरे। तो नीम-रस पियें क्यों ? ।। २२३ ।।

वैसे मन को जीते बिना। इन्द्रियों को सताये बिना ।
अनायास होती मोक्षसाधना। गीता श्रवण से ।। २२४ ।।

इसलिये प्रसन्न चित्त से। गीतार्थ को सुनें ध्यान से ।
कहता ज्ञानदेव सबसे। दास निवृत्ति का ।। २२५ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
ब्रह्मार्पणयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय चौथा ।।



।। अध्याय पाँचवाँ ।।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तनमे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।। १ ।।

तब अर्जुन कहता श्रीकृष्ण से। आपका यह उद्‌बोधन कैसे ? ।
कुछ स्पष्ट कहेंगे तो हार्दिकता से। सोचूँगा उस पर ।। १ ।।

पहले सकल कर्म-संन्यास। आपने बताया हमें खास ।
अब कर्मयोग में रस। क्यों बढ़ाते हैं ? ।। २ ।।

आपकी बातों के दो-दो अर्थ। इसलिये हम अज्ञजन हैं भ्रान्त ।
निश्चित क्या है अर्थ। समझ नहीं पाते ।। ३ ।।

एक तत्त्व करते हैं निरूपित। बात एकनिष्ठ हो यही उचित ।
यह क्या कोई भगवंत। तुमसे कहे ? ।। ४ ।।

इसलिये मैंने आपसे। अनुरोध किया था पहले से ।
कि परमार्थ हमें ध्वनितार्थ से। कृपया न बताइये ।। ५ ।।

अस्तु, जाने दें गयी बात। दोनों में मार्ग कौन सा श्रेष्ठ ? ।
वही बतलाइये हमें स्पष्ट। देवाधिदेव ।। ६ ।।

जो सहायक अन्तपर्यन्त। फलदायी भी होगा निश्चित ।
और आचरने में हो प्रशस्त। हमारे लिये ।। ७ ।।

निद्रासुख को छोड़े बिना। जिस पर सम्भव हो चलना।
ऐसा सुखसाधन बताना। प्रभो हमें ।। ८ ।।

अर्जुन का अनुरोध सुन। श्रीकृष्ण हो गये प्रसन्न।
सन्तुष्ट हो कर कह गये वचन। कामना होगी पूरी ।। ६ ।।

कामधेनु जैसी माता। जिस भाग्यवान को मिलती भ्राता।
उसे तो चन्द्र भी सहज मिलता। खेलने के लिये ।। १० ।।

शंकर ने प्रसन्न हो कर। उपमन्यु की माँग पर।
दूध-भात के लिये क्षीरसागर। क्या नहीं दिया था ? ।। ११ ।।

वैसे उदारता का जो सदन। प्राप्त होते वह श्रीकृष्ण।
सभी सुखों का आश्रयस्थान। अर्जुन क्यों न होगा ? ।। १२ ।।

लक्ष्मीकान्त जब हो धनी। मन की मुराद पूरी है होनी।
इसमें क्या है अनहोनी ? चमत्कार भी कैसा ? ।। १३ ।।

अतः अर्जुन ने जो कह दिया। वह हँसते हुए देव ने दे दिया।
अब सुनो क्या कह गया। अर्जुन से श्रीकृष्ण ।। १४ ।।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। २ ।।

श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन सुनो। संन्यास कर्मयोग दोनों।
मोक्षदायक ही हैं जानो। सिद्धान्ततः ।। १५ ।।

फिर भी सुज्ञ-अज्ञ जनों को। भवसागर तर जाने को।
कर्मयोग ही श्रेयस्कर सबको। जैसे बाल-बच्चों को नौका ।। १६ ।।

सारासार सोचने पर। आसान है चलना इस पर।
इससे होती है सुकर। संन्यास फल की प्राप्ति ।। १७ ।।

इसलिये करता हूँ कथन। संन्यासयोग के लक्षण
जिससे देखोगे अभिन्न। दोनों योगों को

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।। ३ ।।

बीती बात का स्मरण नहीं। अप्राप्त की आकांक्षा नहीं
निश्चलता जिसकी सदा ही। ऐसी मेरु-गिरि सी

मैं और मेरे का स्मरण। न करे जिसका अन्तःकरण
उसे संन्यासी जानो, अर्जुन। निरन्तर

मन से जो ऐसा निःसंग। विषय तजते उसका संग
सुख पाता सदा अभंग। वही जग में

उसे घर संसार आदि का। त्याग नहीं करना पड़ता।
क्योंकि अनासक्ति से सर्वथा। वह कर्म करता है

देखो अग्नि के बुझने पर। और केवल राख ही बचने पर
उसे कपास में लपेट कर। रख सकते अनायास

वैसे सभी उपलब्धियों में। जो बँधता नहीं कर्मों में
संकल्प का उसके मन में। स्थान ही नहीं होता

टूटने पर संकल्प-पाश। जीवन में आता संन्यास
अतः कर्मयोग और संन्यास। दोनों एक समान

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।। ४ ।।

वैसे भी पार्थ, भ्राता। जो मूर्ख होते सर्वथा
वे ज्ञानयोग-कर्मयोग-व्यवस्था। समझेंगे कैसे ?

जिन्हें नहीं होता ज्ञान। वे कहते कर्म-संन्यास भिन्न
क्या एक ही दीपक के विभिन्न। प्रकाश होते हैं ?

जो स्वानुभव से समुचित। परमतत्त्व से परिचित।
वे दोनों योगों में निश्चित। पाते अभिन्नता ।। २८ ।।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।। ५ ।।

ज्ञानयोगी जो है पाता। वही कर्मयोगी को भी मिलता।
इसलिये दोनों में अभिन्नता। सहज होती ।। २९ ।।

आकाश और अवकाश में। भेद नहीं है दोनों में।
वैसे ही ज्ञान-कर्मयोगों में। जो ऐक्य देखता ।। ३० ।।

उसे ही मिला ज्ञान अनोखा। उसी ने आत्मस्वरूप को देखा।
दोनों को अलग करती रेखा। जो करता नहीं अनुभव ।। ३१ ।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।। ६ ।।

जो कर्ममार्ग से पार्थ। चढ़ता है मोक्ष-पर्वत।
वह महापुरुष शिखरस्थ। अतिशीघ्र होता है ।। ३२ ।।

जो कर्ममार्ग पर नहीं चलते। उनके प्रयास व्यर्थ होते।
वे कदापि नहीं कर पाते। प्रगति, संन्यास मार्ग पर ।। ३३ ।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। ७ ।।

मन को भ्रान्ति से निकाला। गुरुवचन से धो डाला।
आत्मरूप में कर डाला। विलीन जिसने ।। ३४ ।।

सागर में जब तक पड़ता नहीं। लवण रहता अलग छोटा ही।
सागर में विलीन होते ही। विशाल होता सागर-सा ।। ३५ ।।

वैसे, होते ही कामनाविहीन। मन होता चिति में विलीन।
यदपि छोटा और एक तन। त्रैलोक्य को व्यापता ।। ३६ ।।

कार्य, कर्म, और कर्त्ता। इनसे जो मुक्त होता।
वह लौकिकतः सब करता। फिर भी अकर्ता ही जानो ।। ३७ ।।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ।। ८ ।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।। ९ ।।

अर्जुन, जिसमें देहबोध ही। लेशमात्र रहता नहीं।
उसमें कर्त्ताबोध क़तई। बताओ कैसे रहेगा ? ।। ३८ ।।

इसविध त्यागे बिना तन। अमूर्त ब्रह्म के सारे गुण।
दिखायी देते परिपूर्ण। कर्मयोगी में ।। ३९ ।।

अन्यथा वह भी औरों के समान। करते हुए शरीर धारण।
शरीर व्यापार सम्पूर्ण। करता रहता है ।। ४० ।।

वह भी नयनों से देखता। कानों से है श्रवण करता।
फिर भी उनमें लिप्त न होता। आश्चर्य कितना! ।। ४१ ।।

वह त्वचा से स्पर्श जानता। नाक से है गंध लेता।
समयोचित बोलता। वह भी है अर्जुन ।। ४२ ।।

वह आहार को स्वीकार करता। त्याज्य वस्तुओं को त्यागता।
निद्रा के समय सो जाता। सुख चैन से ।। ४३ ।।

अपनी इच्छा के अनुसार। वह करता सभी व्यवहार।
हर कर्म का आचार। करता यथासमय ।। ४४ ।।

उसकी धड़कन, श्वसनादिक। उसका देखना पलक-अपलक।
क्या क्या गिनाऊँ ? प्रत्येक। हलचल उसकी सामान्य ।। ४५ ।।

किन्तु स्वानुभव के कारण। उसका सारा आचरण।
कर्त्ता-कार्य-कारणविहीन। होता है पार्थ ।। ४६।।

भ्रान्ति-शैया पर सो गया। स्वप्न-सुखों में खो गया।
ज्ञानोदव होते जाग गया। फिर भी कर्त्ता वह नहीं ।। ४७।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। १०।।

जब आत्मबोध की संगत होती। इन्द्रियों की प्रवृत्ति।
अपने-अपने विषय में रहती। व्यग्र सदा ।। ४८।।

जैसे प्रकाश में दीपक के। होते सभी व्यवहार घर के।
वैसे सभी कर्म देह के। होते ज्ञानी के द्वारा ।। ४६।।

किन्तु कर्म करते हुए भी। कर्म उसे बाँधते नहीं।
जैसे कमलदल भीगता नहीं। पानी में रह कर पानी से ।। ५०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।। ११।।

जिसमें बुद्धि का कोई काम नहीं। मन में अंकुर उगते नहीं।
ऐसे व्यवहार को ही। कहते हैं शरीर ।। ५१।।

शिशु जैसे मन बुद्धि बिन। हाथ-पाँव चलाता, अर्जुन।
देहमात्र से योगीजन। व्यवहार करते वैसे ।। ५२।।

यह पंचतत्त्वों से निर्मित। शरीर, जब होता निद्रित।
मनोव्यापार जैसे अविरत। चलते हैं सपनों में ।। ५३।।

अर्जुन, देखो कौतुक सारा। कैसे वासना का पसारा।
भोग शरीर को जगाये बिना। सुख-दुख का कराता उससे ।। ५४।।

इन्द्रियों के जाने बिन। जो व्यवहार करता तन।
उसी को अर्जुन सुज्ञजन। कहते मनोव्यापार ।। ५५।।

यह मनोव्यापार करने पर भी। जिन्हें अहंकार छूता नहीं ।
ऐसे योगी बँधते नहीं। कर्म के बन्धन में ।। ५६ ।।

पिशाच-चित्त के समान। भ्रमित होता है जब मन ।
विक्षिप्त इन्द्रियाचरण। हुआ लगता है ।। ५७ ।।

वह सब कुछ है देखता। पुकारा तो सुन लेता ।
किन्तु ज्ञान क़तई नहीं होता। अपने शब्दों का ।। ५८ ।।

जो-जो घटता अनजाने। इन्द्रियों का कर्म मानें ।
अर्जुन से श्रीकृष्ण ने। ऐसा कहा वहाँ ।। ५९ ।।

जो होता सोचे समझे। उसे बुद्धि का कर्म पहचानें ।
यों अर्जुन से नारायण ने। व्याख्या की ।। ६० ।।

मन-बुद्धि पुरस्सर। कर्म करते योगीवर ।
फिर भी कर्मातीत हो कर। मुक्त रहते वे ।। ६१ ।।

बुद्धि से देह तक की स्मृति। अहं की उन्हें नहीं होती ।
कर्म करते हुए भी कृति। रहती उनकी विशुद्ध ।। ६२ ।।

अरे, कर्ताबोध-बिन कर्म। वही है सच्चा निष्कर्म ।
जानते वे यह मर्म। गुरुकृपा से ।। ६३ ।।

अब शान्त रस का चषक। भर-भर कर गया छलक ।
शब्दातीत ज्ञान, बालक। मैंने कह जो दिया ।। ६४ ।।

जो इन्द्रियों को तृप्त। करके हो गये विरक्त ।
वे ही सुनने के पात्र। हैं इस ज्ञान को ।। ६५ ।।

श्रोता कहते हैं इस पर। छोड़ो यह विषयांतर ।
कथा चलने दो निरंतर। टूटे न श्लोक-संगति ।। ६६ ।।

जो मन के लिये अगम्य। बुद्धि को भी न सहजगम्य ।
हमारा है अहोभाग्य। आपने हमें बताया ।। ६७ ।।

जो शब्दातीत स्वभावतः। वही हो शब्दों में मिलता।
विवेचन की क्या आवश्यकता। मूल कथा बढ़ाओ ।। ६८ ।।

जानकर उत्कटता श्रोताओं की। दास निवृत्ति का कथा आगेकी।
श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद की। कहने लगा ।। ६९ ।।

अर्जुन से कहते श्रीकृष्ण। ब्रह्मनिष्ठा का सत्य लक्षण।
सुस्पष्ट करूँगा निवेदन। सुनो ध्यान से ।। ७० ।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।। १२ ।।

जो आत्मज्ञान से पूर्ण। कर्मफल से है उद्विग्न।
घर बैठे करता सम्पादन। वह शान्ति का ।। ७१ ।।

अन्य संसारी कर्मबन्धन से। अभिलाषा की गाँठों से।
बँध जाता है खूँटे से। फल भोग के ।। ७२ ।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।। १३ ।।

रख कर्मफल की लालसा। कर्म करनेवाले करते जैसा।
अपने को अकर्ता मान वैसा। कर्म उपेक्षा करता जो ।। ७३ ।।

वह देखेगा जिधर-जिधर। सुख की वर्षा होगी उधर।
वह खड़ा उस स्थान पर। खड़ा रहेगा महाबोध ।। ७४ ।।

जो नवद्वारों वाली देह में। रह कर भी न होता उसमें।
करते हुए भी लिप्त कर्म में। न होता फलत्यागी ।। ७५ ।।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। १४ ।।

सोचो, जैसे सर्वेश्वर। लगता हे निर्विकार।
किन्तु वही करता विस्तार। त्रिभुवन का ।। ७६ ।।

उसे कैसे कहा कर्त्ता ?। क्योंकि कर्म न उसे छूता ।
वैसे उदासीन जो रहता। होता नहीं कर्मलिप्त ।। ७७ ।।

योगनिद्रा बिना तोड़े। अकर्त्तापन बिना छोड़े ।
स्वयं पंचभूतों के बाड़े। खड़े करता वह ।। ७८ ।।

वह घट-घट में है रहता। किन्तु कभी किसीका नहीं होता ।
जगत आता जाता रहता। कुछ भी जानता नहीं ।। ७९ ।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।। १५ ।।

पाप-पुण्य पास होता। फिर भी उन्हें नहीं देखता ।
या साक्षी भी नहीं बनता। अन्य बातों की क्या कहें ? ।। ८० ।।

सगुण के साथ लिये सहजता। वह सगुण हो कर खेलता ।
किन्तु उसकी निर्गुणता। भंग नहीं होती ।। ८१ ।।

सृजन, पालन, संहार। करता विश्व का परमेश्वर ।
यह जो कहता चराचर। अज्ञान है निरा ।। ८२ ।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। १६ ।।

यह अज्ञान आमूल मिटता। तब भ्रान्ति का तिमिर छंटता ।
फिर अकर्त्तापन प्रकटता। परमेश्वर का ।। ८३ ।।

ईश्वर ही जब अकर्ता। तो मैं भी अकर्त्ता कहलाता ।
क्योंकि वही मैं यह स्वभावतः। स्वयंसिद्ध है ।। ८४ ।।

यह विवेक हो जिसके मन में। उसे विभेद न त्रिलोक में ।
प्रतीत करता कण-कण में। विश्व है मुक्त ।। ८५ ।।

जैसे प्राची के घर द्वार। होती दीवाली सूर्योदय पर ।
शेष दिशाओं का भी तिमिर। नष्ट हो जाता ।। ८६ ।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।। १७ ।।

स्थिरमति आत्मज्ञाता। स्वयं को ब्रह्मरूप मानता ।
पूर्ण में निष्ठा रखता। ब्रह्मपरायेण अहर्निश ।। ८७ ।।

ऐसा सर्वव्यापक ज्ञान भ्राता। जिसके मन को पुकारता आता। ।
वह सर्वत्र समद्रष्टा बनता। शब्दों में क्या कहें ? ।। ८८ ।।

स्वयं को ब्रह्मरूप मानते। वे विश्व को भी वैसा देखते ।
श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते। आश्चर्य न करो ।। ८९ ।।

जैसे कौतुकवश भी सुदैव। दैन्य को न करता अनुभव ।
या विवेक भ्रान्ति का गाँव। जानता नहीं ।। ९० ।।

सूर्य, जैसे स्वप्न में भी। तिमिर को देखता नहीं ।
अमृत के कानों नहीं। पड़ती मृत्युवार्ता ।। ९१ ।।

दाह होता भी है कैसे। चन्द्र नहीं जानता जैसे ।
भूतमात्र में भेद वैसे। नहीं जानते ज्ञानी ।। ९२ ।।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। १८ ।।

यह मशक, यह गज। यह ब्राह्मण, यह अंत्यज ।
यह पराया, यह आत्मज। यह भेद रहता कहाँ ? ।। ९३ ।।

अथवा यह गाय, यह श्वान। एक महान, एक हीन ।
यह द्वैत का स्वप्न। कैसे देखे ज्ञानी ? ।। ९४ ।।

जहाँ अहंकार बचा होगा। वहीं भेदभाव रहेगा ।
जहाँ मूल में अहं न होगा। वहाँ भेद कैसे ? ।। ९५ ।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। १९ ।।

अतः सर्वत्र सदा सम। स्वयं ही है अद्वय ब्रह्म ।
जानता यह सम्पूर्ण मर्म। समदृष्टि का ।। ९६ ।।

छोड़े बिना विषयासक्ति को। दंड दिये बिना इंद्रियों को ।
अनुभव करता अनासक्ति को। जो निष्काम भाव से ।। ९७ ।।

लोकाश्रय में रहते हुए भी। लौकिकाचरण करते भी ।
लौकिक अज्ञान को भी। छोड़ा जिसने ।। ९८ ।।

पिशाच यदपि जन में रहता। लोगों को न दिखायी देता ।
वैसे, जग इसे नहीं पहचानता। देहधारी होकर भी ।। ९९ ।।

तेज हवाएँ जब चलतीं। जल की जल पर लहरें उठतीं ।
आम जनता उसे भिन्न मानती। जल कल्लोल ।। १०० ।।

जिसके मन में सर्वत्र समता। उसका नाम रूप भले ही होता ।
उसे साक्षात् ब्रह्म तत्त्वतः। मानना चाहिये ।। १०१ ।।

जो ऐसे समद्रष्टा जन। उनके संक्षेप में लक्षण ।
तुम्हें बताऊँगा अर्जुन। कहते श्रीकृष्ण ।। १०२ ।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।। २० ।।

जैसे मृगजल की बाढ़ में। पर्वत न डूबते पानी में ।
वैसे जो शुभाशुभ प्रसंग में। विकारवश नहीं होता ।। १०३ ।।

वही ज्ञानी, कहे माधव। जानता समदृष्टि का तत्त्व ।
यही क्यों, ब्रह्म स्वयमेव। अर्जुन, वही होता ।। १०४ ।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।। २१ ।।

आत्मस्वरूप को तज कर। वह न होगा इंद्रिय-किंकर। ।
विषय-भोग करेगा अस्वीकार। आश्चर्य इसमें कैसा ? ।। १०५ ।।

अपार आत्मसुख से मन। उसका सन्तुष्ट परिपूर्ण ।
अतः उससे बाहर चरण। वह रखता ही नहीं ।। १०६ ।।

जिसने कमलदल थाल पर। चन्द्रकिरणें खायीं मनोहर। ।
वह भाग्यवान चकोर। क्या रेत में मुँह मारेगा ? ।। १०७ ।।

वैसे, सुख आत्मरूप में। जिसने पाया सहज में ।
वह अनासक्त विषयों में। होगा निः सन्देह ।। १०८ ।।

विषय भोगों के सुख से। कौन वश होते सहजता से। ।
इसका जरा कौतुक से। विचार कर देखो ।। १०९ ।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। २२ ।।

जिन्होंने न देखा आत्मसुख। वे ही होते विषयोन्मुख ।
भूसी खाते मिटाने भूख। दरिद्री जैसे ।। ११० ।।

अथवा जैसे प्यासे हिरन। जल छोड़ भ्रम के कारण ।
मृगजल पीने करते प्रयाण। मरुस्थल को ।। १११ ।।

वैसे, आत्मदर्शन जिन्हें नहीं। आत्मसुख भी मिला नहीं ।
विषयसुखों का उन्हें ही। आकर्षण होता नित्य ।। ११२ ।।

विषयों में सुख है होता। यह कहना ही ग़लत सर्वथा ।
कौंधने से कहीं तड़िता। सवेरा होता नहीं ।। ११३ ।।

आँधी, धूप और वर्षा। इनसे बादल करेंगे रक्षा ।
तो तिमंजिले प्रासाद की मंशा। करेगा कौन ? ।। ११४ ।।

इसलिये विषयों में सुख होता। यह बात व्यर्थ है तत्वतः ।
बचनाग में है मधुरता। कौन कहेगा ? ।। ११५ ।।

या पीडा-ग्रह को मंगल। मरीचिका को कहना जल ।
वैसे विषयभोग को कहना सुख। निरी बकवास ।। ११६ ।।

नागफन की छाया कहीं। चूहों को शीतलता दे पायी ? ।
वताओ तो अर्जुन भाई। कहे श्रीकृष्ण ।। ११७ ।।

जैसे आमिष लगा काँटा। मीन नहीं चबाता ।
तभी तक वह बच पाता। विषयसुख होता वैसे ही ।। ११८ ।।

देखें विरक्त भाव से। तो विषयसुख लगते ऐसे ।
पांडुरोग में जैसे। होती पुष्टता ।। ११९ ।।

इसलिये विषयभोग में सुख। जानो साद्यन्त होता दुःख ।
किन्तु क्या करेंगे वे मूर्ख। विषयासक्त जो ।। १२० ।।

वे अन्तर नहीं जानते। तत्परता से भोग भोगते ।
क्या मवाद कीचड़ के कीड़े। घिन मानते कभी ? ।। १२१ ।।

दुःख ही उनका मर्मघर। वे विषय पंक के दर्दुर ।
विषयजल के ये जलचर। विषय तजेंगे कैसे ? ।। १२२ ।।

दुःख योनियाँ समस्त। हो जायेंगी पूरी व्यर्थ ।
यदि जीव तजेंगे पार्थ। विषयों में आसक्ति ।। १२३ ।।

और गर्भवास का संकट। जन्म-मरण का कष्ट ।
इनकी अनथक बाट। चलेगा कौन ? ।। १२४ ।।

विषयी विषय छोड़ेंगे। तो महादोष कहाँ रहेंगे ? ।
और क्या व्यर्थ न होंगे। संसार-शब्द सारे ? ।। १२५ ।।

विषयभोग के दुःखों को। जिन्होंने माना सुख, उनको। ।
उन्हींने मिथ्या अविद्यादिक को। सत्य निरूपित किया ।। १२६ ।।

अर्जुन, तुम ठीक से सोचोगे। विषयों को बुरा पाओगे ।
भरमा कर भूल से इनके। मार्ग पर चलो नहीं ।। १२७ ।।

और इन्हें विरक्त पुरुष। त्यागते, जैसे हो विष ।
विरक्ति से विषय सुख। उन्हें न भाता दुःख-सा ।। १२८ ।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।। २३ ।।

देहधारी हो कर भी अर्जुन। देहधर्म जो रखते स्वाधीन ।
नाम न लेते वे ज्ञानी जन। कभी विषयों का ।। १२९ ।।

वे बाह्य सुखों को न जानते। आन्तरिक सुखों को भोगते ।
श्रीकृष्ण ऐसे समझाते। धनुर्धर को ।। १३० ।।

निराला इनका भोगना। पंछी-सा न फलों को चखना ।
भुलाना पड़ता अपना। भोक्ताबोध यहाँ ।। १३१ ।।

भोग में एक अवस्था आती। अहंकार यवनिका उठती ।
जीव सुख की भेंट होती। प्रगाढ़ आलिंगन में ।। १३२ ।।

उस आलिंगन प्रक्रिया में। एकरूपता आती प्रवृत्ति में ।
जैसे, जल जल में मिलते। दिखता नहीं पृथक ।। १३३ ।।

वायु होते नभ में विलीन। दोनों का न रहता अलगपन ।
वैसे आत्मा-वृत्ति का मिलन। होते, केवल सुख शेष ।। १३४ ।।

होते द्वैत की भाषा समाप्त। यद्यपि होता एकत्व प्राप्त ।
किन्तु एकत्व का साम्प्रत। साक्षी कौन रहता ? ।। १३५ ।।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।। २४ ।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।। २५ ।।

जो स्वयं आत्माराम बना। आत्मानन्द उसी ने जाना।
असम्भव जिसका वर्णन करना। उसे व्यक्त करें कैसे ? ।। १३६ ।।

ऐसे सुख में जो तल्लीन। आत्मरूप में जो विलीन।
आत्मानन्द की उन्हें अर्जुन। प्रतिमूर्ति जानो ।। १३७ ।।

वे प्रतिबिम्ब आनंद के। या अंकुर आत्मसुख के।
अथवा हैं मन्दिर आत्मबोध के। लगते मुझे ।। १३८ ।।

वे परब्रह्म के स्वभाव। या विवेक के गाँव।
अथवा मूर्तिमंत अवयव। ब्रह्मविद्या के ।। १३९ ।।

ये सत्त्व से भी सात्विक। या चैतन्य का रूप मोहक।
रुको ज्ञानेश, इनका एक-एक। कितना बखान करोगे ? ।। १४० ।।

सन्तों की प्रशंसा में रमते। कथा को ही भुला देते।
दूसरी बातों का करने लगते। वर्णन सुंदर ।। १४१ ।।

इस रसीली स्तुति को रोक कर। गीतार्थ दीप को जलाकर।
मंगल ज्ञान से साधुमन-मन्दिर। आलोकित करो ।। १४२ ।।

श्रीगुरु निवृत्तिदास की। ज्ञानेश्वर को सूचना प्रेम की।
मिलते ही यों कृष्णोपदेश की। कथा आगे चलायी ।। १४३ ।।

अर्जुन, अनंत सुख के दह में। जो गहरी पैठ लगाकर तह में।
स्थिरता पा कर उसी स्थान में। तद्रूप हो जाते हैं ।। १४४ ।।

या धवल आत्मप्रकाश में। विश्व को देखते आत्मरूप में।
देहयुक्त हों, तब भी उन्हें। ब्रह्मरूप ही मानो ।। १४५ ।।

ब्रह्मसुख है गाँव उत्तम। अविनाशी और उत्तम।
उस गाँव के ये निष्काम। होते अधिकारी ।। १४६ ।।

जो महर्षियों के लिये सुरक्षित। भाग्य से पा जाते विरक्त।
संशयरहितों के लिये फलित। निरन्तर जो ।। १४७ ।।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। २६।।

जिन्होंने विषयासक्ति से। मन को जीत लिया बल से।
वे ब्रह्मपद पाकर वहाँ से। हटते ही नहीं।। १४८।।

वे साक्षात् मोक्षरूप परब्रह्म। आत्मज्ञानियों का लक्ष्य चरम।
उन्हें ही जानो योगी उत्तम। पंडुसुत यहाँ।। १४९।।

वे ऐसे कैसे हो गये ? देह में ब्रह्मत्व कैसे पा गये ?।
यह पूछो तो बतायें। तुम्हें संक्षेप में।। १५०।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।। २७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। २८।।

जो विरक्ति का आधार लेकर। विषयों को निकाल बाहर कर।
मन को मन के ही भीतर। करते एकनिष्ठ।। १५१।।

इड़ा, पिंगला, सुषम्ना तीनों। जहाँ मिलतीं भवें दोनों।
दृष्टि स्थिर कर वहाँ मानो। वापस ले जाते मुनि।। १५२।।

फिर दायीं, बायीं साँस छोड़ते। प्राण अपान एक करते।
चिदाकाश में ले जाते। जब चित्त को।। १५३।।

झरनों, नालों को समाती। गंगा, सागर में मिल जाती।।
फिर उन्हें अलग न कर पाती। हमारी दुनिया।। १५४।।

वैसे विचार वासनाओं का। अपने आप नष्ट हो जाता।
जब निरोध प्राणवायु का होता। मन लोपता चिदाकाश में।। १५५।।

जब यह संसार चित्र निखरता। तो मन का पर्दा फट जाता।
जलाशय जब सूख जाता। बिम्ब न दिखता जैसे।। १५६।।

मन ही जब यों लोप होता। तो अहंकार कहाँ रह सकता ? ।
अतः देहधारी हो जाता। स्वयम् परब्रह्म ।। १५७ ।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।। २९ ।।

जिन्होंने ब्रह्मपद पाया। जैसा कि मैंने अभी बताया ।
उन्होंने इसी मार्ग को लिया। इसीलिये ।। १५८ ।।

यमनियमों के गिरिवर। अभ्यास के महासागर ।
लाँघ कर हो गये पार। इसीलिये वे ।। १५९ ।।

उन्होंने किया स्वयं को निर्लेप। फिर लिया प्रपंच को नाप ।
इसीलिये वे ब्रह्मस्वरूप। बन कर रहे, अर्जुन ।। १६० ।।

यों अभिप्राय योगमुक्ति का। कहता सर्वेश्वर जगत का ।
तो अर्जुन मार्मिक मति का। हो गया चकित ।। १६१ ।।

देख कर कृष्ण समझ गया। पार्थ से हँसते हुए कह गया ।
क्या मन प्रसन्न हो गया। मेरी बातों से ? ।। १६२ ।।

अर्जुन कहे हृषिकेश। मनबूझों के आप नरेश ।
मेरे मन के भाव अशेष। आपने जान लिये ।। १६३ ।।

सोचे-विचारे प्रश्न मेरे। आपने पहले ही जाने सारे ।
तो अब मुझ पर कृपा करें। समाधान हो सुस्पष्ट ।। १६४ ।।

तैरने से चल कर जाना। बहुत सुगम होता, माना ।
अष्टांग योग जो बखाना। वैसा ही सुगम ।। १६५ ।।

निर्बलों को हम जैसे। सुगम यह ज्ञानयोग से ।
साध्य होता हो यदि देर से। उसी पर चलेंगे ।। १६६ ।।

इसलिये एक बार पुनः। चाहता हूँ करना श्रवण ।
विस्तार से हो तो भी कृष्ण। सम्पूर्ण सुनाइये ।। १६७ ।।

सुनने के बाद हे अर्जुन। यही हो तुम्हारा चयन।
मुझे क्या कष्ट, करते कथन ?। सानन्द सुनाऊँगा ।। १६८ ।।

सुनने के बाद, हे अर्जुन। करने वाले हो अनुष्ठान।
तो भला अपना निवेदन। अधूरा क्यों रखूँगा ? ।। १६९ ।।

पहले ही माता की ममता। और प्रिय पुत्र हो प्रश्नकर्त्ता।
तो उस प्रेम की अद्‌भुतता। जान सकता कौन ? ।। १७० ।।

वह करुण रस की वृष्टि। या नवस्नेह की सृष्टि।।
वैसे भगवान की कृपादृष्टि। कौन बखाने ? ।। १७१ ।।

वह अमृत ढाँचे में ढली। या प्रेम पी हुई मतवाली।
अर्जुन के मोह में घुली। अतः न आती बाहर ।। १७२ ।।

ज्यों-ज्यों इसकी करें बात। दूर रह जाता कथासूत्र।
फिर है भी शब्दातीत। स्नेह कृष्णार्जुन का ।। १७३ ।।

जहाँ ईश्वर भी अपना नाप। नहीं जानता है आप।
वहाँ उसका सारा प्रताप। आँकना व्यर्थ ।। १७४ ।।

ध्यान में लें पिछला कथन। अर्जुन पर मोहित लगे कृष्ण।
आग्रह से कहते उससे पुनः। सुनो भ्राता ।। १७५ ।।

जिस विध भी हे अर्जुन। होगा तुम्हारा प्रबोधन।
उसी विध कौतुक के कारण। योग-मार्ग यह बताऊँगा ।। १७६ ।।

इस योग का नाम क्या है ?। उसका उपयोग भी क्या है ?।
अथवा अधिकारी कौन है?। इस योग का ? ।। १७७ ।।

ऐसा जो भी इस विषय में। कहने योग्य होगा तुम्हें।
वह सारा निवेदन मैं। करूँगा पार्थ ।। १७८ ।।

इसलिये सुनो देकर ध्यान। इतना कह कर श्रीकृष्ण।
कर गया जो निवेदन। है अगले अध्याय में ।। १७९ ।।

श्रीकृष्ण अर्जुन का संग। बिना छोड़े बतायेगा योग ।
कहूँगा वह सारा प्रसंग। कहे दास निवृत्ति का ।।१८०।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
संन्यासयोग नामक समाप्त। उसको अध्याय पाँचवाँ।।

।। अध्याय छठा ।।

संजय कहता धृतराष्ट्र से। सुनो राजन बड़े ध्यान से।
कृष्ण बताता है कैसे। अभिप्राय योग का ।। १ ।।

सहज ब्रह्मरस का पारण। पार्थ हित करता नारायण।
अतिथि बन हम उसी क्षण। पहुँच गये वहाँ ।। २ ।।

भाग्य की महिमा क्या कहें। जैसे प्यासा पानी पिये।
स्वाद चखते ही पाये। सुख अमृत का ।। ३ ।।

राजन् वैसी हुई हमारी गत। ब्रह्मज्ञान मिला अकल्पित।
तब राजा संजय से कहत। यह नहीं पूछा तुमसे ।। ४ ।।

सुन कर राजा की बात। संजय मन-ही-मन कहत।
इसका हृदय है पूरा मोहित। पुत्र-प्रेम से ।। ५ ।।

संजय अपने मन में हँसा। कहे बूढ़े को मोह ने ग्रसा।
वरना अब तक तो भला-सा। सुनता रहा सम्वाद ।। ६ ।।

किन्तु ऐसा होगा कैसे ?। जन्मांध देख पायेगा कैसे ?।
यह क्रुद्ध होगा इस बात से। सोच कर डरा संजय ।। ७ ।।

किन्तु स्वयं अपने मन में। फूला न समाया हर्ष से।
सम्वाद जो सुनने को मिला उसे। कृष्णार्जुन का ।। ८ ।।

इस आनन्द की तृप्ति से। अत्यंत प्रसन्न चित्त से।
बोलेगा धृतराष्ट्र से। आदरपूर्वक संजय ।। ९ ।।

क्षीरसागर के मंथन से। अमृतलाभ हुआ जैसे ।
छठें अध्याय का वैसे। गीता में स्थान ।। १० ।।

यह गीतार्थ का है सार। या विवेकसिंधु का पारतीर ।
अथवा योगवैभव का भण्डार। द्वार जिसके खुले ।। ११ ।।

यह आदिमाया का विश्राम-स्थान। जहाँ शब्दब्रह्म होता मौन ।
इससे फूटता अंकुर कोमल। गीतावल्ली का ।। १२ ।।

ऐसा यह छठाँ अध्याय। जिसमें सम्पूर्ण श्रेष्ठ साहित्य ।
उसे सुनो लगा मन। सुनाता हूँ ।। १३ ।।

यह बोल मेरी मराठी में। अमृत से भी जीतेगा शर्त में ।
प्रयोग ऐसे हर शब्द का मैं। रसीला करूँगा ।। १४ ।।

जिनकी कोमलता के आगे। नादमाधुर्य लगेंगे फीके ।
सम्मुख छन्दों के जिनके। सुगंध भी शरमायेगी ।। १५ ।।

रस का ऐसा लगेगा चस्का। कान भी लेंगे आस्वाद उसका ।
सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना। दावा करेंगी उस पर ।। १६ ।।

यों तो शब्द विषय कानों का। किन्तु रसना कहेगी यह जीभ का ।
नाक को आभास होगा गंध का। इन शब्दों से ।। १७ ।।

इन शब्दों की देख कर रीति। नयनों को भी मिलेगी तृप्ति ।
कहेंगे इसमें है खुलती। रूप की खान ।। १८ ।।

वाक्य जब पूरा होगा। मन बाहर आ जायेगा ।
आलिंगन करने फैलायेगा। बाँहें अपनी ।। १९ ।।

इन्द्रियों में कलह होगा। किन्तु शब्द सबको सन्तोष देगा ।
जैसे विश्व को देता जगा। अकेला सूर्य ।। २० ।।

वैसे शब्द की व्यापकता। प्रतीत होगी असाधारणता ।
चिन्तामणि की गुणवत्ता। होगी शब्द में ।। २१ ।।

मैं इन शब्दों के थाल बनाता। उनमें कैवल्यरस रहा परोसता ।
अन्न-संतर्पण हूँ करता। निष्काम के लिये ।। २२।।

आत्मज्योति के प्रकाश में। इन्द्रियों के बिना जाने ।
जो भोजन करना जाने। उसे ही यह प्राप्त होगा ।। २३।।

यहाँ सभी श्रोतागण। तज कर श्रवण-साधन ।
मन से ही करें सेवन। इस महाभोज का ।। २४।।

शब्द का छिलका उतार कर। अर्थब्रह्म तक पहुँच कर ।
सुख मे तल्लीन हो कर। परम सुख पायें ।। २५।।

ऐसी कोमलता आयेगी। तभी इसकी उपादेयता होगी ।
अन्यथा सारी बात होगी। गूंगे-बहरे-जैसी ।। २६।।

अस्तु, यह रहने दो प्रतिपादन। श्रोताओ के न गुण-अवगुण ।
जो स्वभावतः निष्काम पूर्ण। वे ही इसके अधिकारी ।। २७।।

चहेते आत्मबोध के लिये। स्वर्ग-संसार जिन्होने होम दिये ।
उनके बिना इसके रस भाये। नही हैं किसी को ।। २८।।

कौआ चन्द्र को न पहचानेगा। वैसे आम जन इसे नहीं जानेगा ।
किन्तु चकोर चन्द्र को मानेगा। खाद्य जैसे ।। २९।।

वेसे यह ग्रन्थ सुज्ञो का विश्राम। अज्ञो के लिये पराया ग्राम ।
अधिक कुछ कहने का काम। नहीं यहाँ ।। ३०।।

किन्तु जो कह गया प्रसंगवश। क्षमा करें, मैं था विवश ।
अव सुनिये क्या हृषिकेश। निरूपण करता है ।। ३१।।

बुद्धि के लिये जो दुर्गम। शब्दातीत और अगम ।
उसे गुरुकृपा से सुगम। करके बताऊँगा ।। ३२।।

जो न दिखायी दे आँखों को। बिना नैन देख सकें उसको ।
यदि ज्ञानबल आपको। प्राप्त हो अतीन्द्रिय ।। ३३।।

जादूगर को भी जो न मिलता। वह सोना लोह में मिल जाता ।
यदि भाग्य से हाथ लग जाता। पारस-पत्थर ।। ३४ ।।

वैसे गुरुकृपा की पात्रता। हो तो क्या नहीं मिलता ? ।
मुझे वही मिली, कहता। ज्ञानदेव श्रोताओं से ।। ३५ ।।

इसीलिये में अब बोलूँगा। शब्दों में अरूप को दिखाऊँगा ।
इन्द्रियों से करवाऊँगा। भोग अतीन्द्रिय का ।। ३६ ।।

सुनिए, यश, श्री, औदार्य। ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ।
ये छहों गुणवर्य। बसते उसमें ।। ३७ ।।

इसलिये उसे भगवान है कहते। असंगों के संग जो रहते ।
वे कृष्ण अर्जुन से हैं कहते। हो जाओ सावधान ।। ३८ ।।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। १ ।।

योगी और संन्यासी दोनों। मेरे कहने पर एक न मानो ।
गहन सोचो तो स्वयं जानो। दोनों एक ही हैं ।। ३९ ।।

तजते दूजे नाम का आभास। पाओगे योग ही है संन्यास ।
ब्रह्मदृष्टि से अवकाश। दोनों में नहीं ।। ४० ।।

जैसे भिन्न-भिन्न नामों से। एक व्यक्ति को पुकारते ।
अथवा अलग-अलग मार्गों से जाते। एक ही स्थान पर ।। ४१ ।।

जैसे जल एक ही होता। घड़ों में अलग दिखायी देता ।
वैसे जानो भिन्नता। योग और संन्यास में ।। ४२ ।।

अर्जुन, बात है सर्वसम्मत। जो कर्म करके भी विरक्त ।
कर्मफल में अनासक्त। वही योगी होता है ।। ४३ ।।

धरती अहंकार के बिन। वृक्षादि का करती निर्माण।
किन्तु उनके फल की कभी न। करती आशा ।। ४४ ।।

वैसे परम्परा के अनुसार। या गुणकर्मानुसार।
जो कर्त्तव्य यथावसर। करना हो ।। ४५ ।।

उसे उचित ढंग से करता। किन्तु अहंभाव नहीं धरता।
बुद्धि को जो विमुख करता। फल की आशा से ।। ४६ ।।

उसे ही संन्यासी जानो। पार्थ, मन में पहचानो।
उसे ही योगीश्वर मानो। निःसन्देह ।। ४७ ।।

इष्ट कर्मों को बन्धन मानता। और सभी को त्याग देता।
किन्तु नये कर्म पर चलता। साथ-ही-साथ ।। ४८ ।।

जैसे एक लेप को धोता। दूसरा फिर लगाता।
वैसे ही आचरण करता। वह व्यर्थ में ।। ४९ ।।

गृहस्थाश्रम का भार एक। सब पर होता स्वाभाविक।
उसमें संन्यासाश्रम अधिक। लेता सिर पर ।। ५० ।।

अतः अग्निसेवा तजो नहीं। कर्मसीमा लखो नहीं।
योगसुख न जायेगा कहीं। होगा अपने ही पास ।। ५१ ।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।। २ ।।

जो संन्यासी, योगी वही। ऐसी एकता की जगमाहीं।
ध्वजा ऊँची है फहरायी। नाना शास्त्रों ने ।। ५२ ।।

संन्यास से संकल्प टूटता। तभी योग का सार मिलता।
अनुभव से जो यह जानता। वही योगी ।। ५३ ।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।। ३ ।।

योग-पर्वत के शिखर पर। जिसे चढ़ जाना है धनुर्धर।
वह पहले कर्म-सोपान पर। चढ़ना न भूले ।। ५४।।

यमनियम की तलहटी से। योगासनों की पगडंडी से।
प्राणायाम की चट्टानों से। ऊपर को चढ़ते जायें ।। ५५।।

आयेगी प्रत्याहार की टूटी चट्टान। जो मति के लिये भी फिसलन।
हठयोगी भी जिसके कारण। धैर्य खोते हैं ।। ५६।।

किन्तु योगाभ्यास के बल पर। अधर में झूलती चट्टान पर।
वैराग्य नाखून गड़ा कर। चढ़ना सम्भव है ।। ५७।।

तो यूँ प्राण-अपान के वाहन में। आओ धारणा के मैदान में।
वहाँ से ध्यान के प्रदेश में। करो प्रवेश ।। ५८।।

जहाँ से आगे पथ होता नहीं। प्रवृत्ति का मोह रहता नहीं।
साध्य, साधन दोनों ही। एकरूप होते जहाँ ।। ५९।।

चरण बढ़ते रुक जाता। अतीत का स्मरण नष्ट होता।
ऐसी पारदर्शी अवस्था। प्राप्त करो समाधि में ।। ६०।।

इस विध जो योगासीन होता। वह सर्वार्थ से परिपूर्ण बनता।
उसके लक्षण चुनिंदा। अब बताता हूँ ।। ६१।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ।। ४।।

इन्द्रियों के घर में जिसके। विषयों का आना-जाना रुके।
तलघर में आत्मबोध के। जो विश्राम कर रहा हो ।। ६२।।

सुख-दुखों के लपटते-झपटते। जिसके भाव चंचल न होते।
साक्षात् विषय पास आते। रहता जो निश्चिन्त ।। ६३।।

इन्द्रियाँ हो जायें कर्मप्रवृत्त। फिर भी अर्जुन, जिसका चित्त।
फल की आशा में आसक्त। होता नहीं है ।। ६४।।

इन्द्रियाएँ कर्मलीन। फिर भी जो निद्रित, उदासीन।
उसे ही मानो, अर्जुन। योगासीन सच्चा।। ६५।।

तब अर्जुन अनन्त से कहता। सुन कर हूँ विस्मय करता।
कौन उसे इतनी योग्यता। देता है देव ?।। ६६।।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। ५।।

तब हँस कर बोले श्रीकृष्ण। विचित्र तुम्हारी बात, अर्जुन।
क्या किसे देता है कौन। अद्वैतावस्था में ?।। ६७।।

व्यामोह की शैया पर। जब अविद्या से सोता है नर।
तब उसे आते सपने भयंकर। जन्म और मृत्यु के।। ६८।।

फिर वह होता अचानक जागृत। सपने हो जाते व्यर्थ।
तब वह निश्चय ही जागृत। मानता अपने आपको।। ६९।।

इसविध हम अपना ही। नाश कर लेते आप ही।
मिथ्याभिमान मनमाहीं। करते नरदेह का।। ७०।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। ६।।

विचारपूर्वक तजे अहंता। फिर अस्तित्व ही ब्रह्ममय होता।
अपने आप सहज सधता। अपना कल्याण।। ७१।।

कोश-कीड़े जैसा, अन्यथा। पुरुष अपना ही बैरी बनता।
सुन्दर देह में रखता। आत्मबुद्धि को।। ७२।।

भाग्योदय का समय आता। तो अभागा अंधता चाहता।
या अपने हाथों ढँक लेता। अपने नयन।। ७३।।

या कोई मतिभ्रष्ट भरमाया। कहता है—'मैं खो गया'।
उसी धुन में खोया-खोया। रहता जैसे।। ७४।।

वह वास्तव में वहीं होता। किन्तु उसका मन नहीं मानता ।
भला क्या कोई कभी मरता। स्वप्न में हुये वार से ? ।। ७५ ।।

जैसे तोते के भार से नलिका। खाती है उलटा झोंका ।
तो उसके मन में उठती शंका। मैं भी उलट जाऊँगा ।। ७६ ।।

गर्दन दायें-बायें घुमाता। व्यर्थ में छाती फुलाता ।
पैरों, चंचु से पकड़ता। कस कर नलिका को ।। ७७ ।।

सोचता वाकई बँध गया मैं। पड़ता इसी भ्रम के बंधन में ।
थामता मुक्त पैरों में। दृढ़ता से नलिका को ।। ७८ ।।

व्यर्थ जकड़ा मानता अपने को। बताओ किसने बाँधा उसको? ।
काट ले जायें आधी नलिका। तब भी छोड़ता नहीं ।। ७६ ।।

अतः जो संकल्प बढ़ाता। आप ही अपना शत्रु बनता ।
जो वृथा अभिमान को तजता। वही है आत्मज्ञानी ।। ८० ।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ।। ७ ।।
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।। ८ ।।

जिसने जीता अपने मन को। शान्त किया वासनाओं को ।
वह पाता है परमात्मा को। अपने पास ही ।। ८१ ।।

जैसे, आग में तपाते अशुद्धता। जाकर सोना अधिक निखरता ।
वैसे, जाते ही सारी अहंता। जीव पाता ब्रह्मत्व ।। ८२ ।।

जैसे, होते घट का नाश। महाकाश में घटाकाश ।
मिल जाता है अनायास। अन्यत्र मिलन नहीं ।। ८३ ।।

वैसे, मिथ्या देहाभिमान। जिसका नष्ट होता संपूर्ण। ।
वही आदिपुरुष, हे अर्जुन। परमात्मा है ।। ८४ ।।

उसमें शीतोष्ण की भावना। अथवा सुख-दुख की कल्पना।
या मान और अवमानना। रहती ही नहीं ।। ८५ ।।

सूर्य जिस मार्ग से जाता। विश्व वहाँ आलोकित होता।
वैसे, ब्रह्मत्व से सत्य होता। सभी ब्रह्मरूप ।। ८६ ।।

मेघों से जलधाराएँ बरसतीं। वे सागर को नहीं चुभतीं।
वैसे, शुभाशुभ की बाधा न होती। ब्रह्मस्वरूप योगीश्वर को ।। ८७ ।।

स्वानुभव के आधार से। संसार असार लगता जिसे।
यह आसार लगे जिस ज्ञान से। दोनों हैं निजरूप ।। ८८ ।।

मैं व्यापक हूँ या अव्यापक। इसका करने पर विवेक।
द्वैत के अभाव में वह विवेक। चल नहीं पाता ।। ८९ ।।

ऐसा नर यदपि देहधारी। परब्रह्म से करता बराबरी।
जिसने इन्द्रियाँ सारी। जीत लीं, धनुर्धर ।। ९० ।।

यह क्षुद्र, वह महान। भेद न करे जिसका मन।
उसे ही जानो योगासीन। जितेन्द्रिय भी ।। ९१ ।।

माटी और सुवर्ण। दोनों हैं एक समान।
हो जाती उसकी, अर्जुन। समबुद्धि ऐसी ।। ९२ ।।

पृथ्वीमोल का रत्न। उसे लगता पत्थर समान।
इतना निरिच्छ उसका मन। होता पार्थ ।। ९३ ।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ९ ।।

वहाँ पराया और अपना। शत्रु या मित्र मानना।
ऐसी विचित्र कल्पना। करेगा कौन ? ।। ९४ ।।

बंधु-बांधव कौन उसे ?। कौन द्वेष करेगा उससे ?।
मैं ही विश्व हूँ, ऐसे। भाव जिसके हुए हों ।। ९५ ।।

फिर उसकी दृष्टि में। उच्च-नीच नहीं जग में।
पारस लगे सोने में। कसौटी कैसी ? ।। ९६ ।।

पारस सबका सोना करता। वैसे चराचर में समानता।
जो अपनी बुद्धि से देखता। निरन्तर ।। ९७ ।।

जैसे अलंकार विश्व के। होते नाना आकारों के।
किन्तु सभी ब्रह्म-सुवर्ण के। बनाये होते हैं ।। ९८ ।।

यह विशुद्ध ज्ञान। जिसे हो गया सम्पूर्ण।
वह आकारों के कारण। भरमाता नहीं ।। ९९ ।।

जैसे, वस्त्र होता है एक। धागे दिखायी देते अनेक।
वैसे, जिसे ब्रह्म एक। सर्वत्र दीखता ।। १०० ।।

यह अनुभव से अपने। ज्ञान पाया है जिसने।
समबुद्धि पायी उसने। निःसन्देह ।। १०१ ।।

तीर्थराज का दर्शन करते। मन में पूज्य भाव जागते।
वैसे, जिसके सहवास में आते। भ्रान्त में जागता ब्रह्म ।। १०२ ।।

उसके शब्द से धर्म जीता। कटाक्ष महासिद्धि देता।
स्वर्गसुख आदि लगता। खेल जिसका ।। १०३ ।।

उसका स्मरण जो भी करता। उसे वह अपनी योग्यता देता।
उसके स्तवन से होता। लाभ-ही-लाभ ।। १०४ ।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।। १० ।।

जिसका न होता कभी अस्त। ऐसा उदित होता अद्वैत।
फिर वह निमग्न अखंडित। रहता आत्मानंद में ।। १०५ ।।

यों विवेक से जो सोचता। महान अपरिग्रही कहलाता।
उसकी योग्यता को मानता। त्रैलोक्य निरन्तर ।। १०६ ।।

ये सिद्ध पुरुष के लक्षण। बता रहे अर्जुन को कृष्ण ।
जो रखते हैं विशेष स्थान। सर्वज्ञता में ।।१०७।।

वह पिता ज्ञानीजनों का। नेत्रप्रकाश दर्शकों का ।
संकल्प जिस समर्थ का। करता रचना विश्व की ।।१०८।।

प्रणव के हाट में पार्थ। बुना शब्दब्रह्म-पट विस्तृत ।
जिसके यश को आच्छादित। कर नहीं सकता ।।१०९।।

जिसके शरीर की आभा। सूर्य-चंद्र को देती शोभा ।
उसके बिना विश्व को प्रभा। कैसे मिलेगी ? ।। ११० ।।

जिसकी नाम-महिमा के सम्मुख। नभ लगता क्षुद्र कीटक ।
उसके गुणों का आकलन सम्यक्। कैसे कर पाओगे ? ।। १११ ।।

यह अधूरा सारा बखान। असम्भव बताना उसके लक्षण ।
किन्तु प्रसंग के कारण। कुछ बता दिये ।। ११२ ।।

जो द्वैत भावना को तोड़े। और ब्रह्मविद्या को उघाड़े ।
तो पार्थ की निश्चय ही तोड़े। प्रीत मधुरिम ।। ११३ ।।

यही सोच कर श्रीकृष्ण। बिना उघाड़े सारा ज्ञान ।
परस्पर प्रीत रखते अक्षुण्ण। बताते आधे मन से ।। ११४ ।।

जो अहंभाव में अटकेंगे। मोक्षसुख के लाचार बनेंगे ।
उनके सन्देह कलंकित करेंगे। प्रेम तुम्हारा ।। ११५ ।।

इसका अहंभाव जायेगा। यह मुझमें ही एकरूप होगा ।
तो इस विषय में क्या होगा। मुझ अकेले से ? ।। ११६ ।।

मिले शान्ति जिसे देखते। जिससे जी भर कर करूँ बातें ।
या जिसे लगा सकूँ छाती से। दूजा है कौन ? ।। ११७ ।।

इसके साथ हो गया अद्वैत। तो तन में समाती उत्तम बात ।
किसे करूँगा निवेदित। सोचते श्रीहरि ।। ११८ ।।

इसीलिये देवकीसुत। साधुलक्षण के पश्चात।
हौले - से मोड़ते बात। ब्रह्मज्ञान की ओर ।। ११९ ।।

असम्भव लगेगी यह बात। किन्तु जानो वह कुंतिसुत।
कृष्णसुख में ढलुवा मूरत। बन गया था ।। १२० ।।

आयु हो चुकी हो ढलती। वंध्या के कोई सन्तान होती।
तो वह प्रेम की पुतली बनती। नाचने लगती है ।। १२१ ।।

वैसी हुई अनंत की अवस्था। पार्थ के प्रति उसकी ममता।
यदि मैं नहीं देख पाता। आपसे यों कहता नहीं ।। १२२ ।।

देखो कैसी यह अद्‌भुताई। युद्ध में उपदेश देता साईं।
अर्जुन के आगे कृष्णप्रेम भाई। नाच रहा सकौतुक ।। १२३ ।।

चाहत में लाज आने लगे। व्यसन से थकान होने लगे।
पागलपन मति से हारने लगे। तो तीनों व्यर्थ ।। १२४ ।।

अतः इसका एक ही सार। अर्जुन मैत्री का आगर।
या देखने मन का शृंगार। दर्पण श्रीकृष्ण का ।। १२५ ।।

पार्थ इतना परम पवित्र। भक्तिबीज के लिये सुक्षेत्र।
इसीलिये हरिकृपा के पात्र। जग में हो गया ।। १२६ ।।

आत्मनिवेदन के पूर्व का। आमुख सख्यभक्ति का।
अधिष्ठाता देवता उसका। अर्जुन हो गया ।। १२७ ।।

बिना किये स्वामी-स्तवन। भक्त का ही हो गुणवर्णन।
इतना सहज लाड़ला अर्जुन। हो गया श्रीहरि का ।। १२८ ।।

जो अनुराग से पतिसेवा करती। उसकी प्रियोत्तमा कहलाती।
क्यों न सराही जाये वह सती ?। पति की अपेक्षा ? ।। १२९ ।।

वैसे अर्जुन की ही प्रशंसा। करने की है मेरी मन्शा।
क्योंकि त्रैलोक्य की भाग्यरेषा। बनने वही पात्र ।। १३० ।।

जिसके प्रेम के अधीन। निर्गुण भी हो गया सगुण ।
जिसकी मैत्री के कारण। पूर्णकाम भी अकुलाया ।। १३१ ।।

तब कहते श्रोतागण। क्या ही सुंदर है वर्णन ।
जिसने नादब्रह्म को सम्पूर्ण। जीत लिया है ।। १३२ ।।

वर्णन यह यदपि मराठी में। साहित्य के सुंदर रंगों में ।
अमिट मुद्रायें उठतीं हृदय में। कितना आश्चर्य ! ।। १३३ ।।

प्रतिभा की दूधिया चाँदनी में। मन हरषाता भावार्थ मे ।
गीता श्लोकार्थ पूर्ण रूप में। खिलता है कमल-सा ।। १३४ ।।

ब्रह्मजिज्ञासा पूरी करती। ऐसी इस वर्णन की महती ।
सभा विभोर हो डोलती। तल्लीनता में ।। १३५ ।।

निवृत्तिदास ने यह जानकर। कहा, सुनिये ध्यान देकर ।
पाण्डवकुल में भोर। हुई कृष्णोदय से ।। १३६ ।।

देवकी ने जिसे जन्म दिया। यशोदा ने पाल कर बड़ा किया ।
वह अनायास ही काम आया। पाण्डवों के ।। १३७ ।।

करनी न पड़ी सेवा अति। यथावसर न की बिनती ।
देखो पार्थ के भाग्य की गति। मिला श्रीहरि अनायास ।। १३८ ।।

कथा समाप्त की ज्ञानेश ने। तब नेह से कहा अर्जुन ने ।
इन सन्त लक्षणों को अपने में। नहीं पाता मैं कतई ।। १३९ ।।

इन लक्षणों का समझने सार। मैं सर्वथा अयोग्य किंकर ।
किन्तु आप समझायें तो श्रीधर। उसके योग्य हो लूँगा ।। १४० ।।

बात आपने मन में ठान ली। तो हो जाऊँगा मैं ब्रह्म भी ।
इसके लिये प्रयास जो भी। बतायेंगे, करूँगा अवश्य ।। १४१ ।।

न जाने यह किसकी कथा। सुन कर जो मन में पूजता ।
उसकी कितनी योग्यता। क्या कहूँ देव ।। १४२ ।।

मुझमें भी वह योग्यता आये। यदि आप मुझे अपनायें।
सुन श्रीकृष्ण मुसकाये। कहते अवश्य-अवश्य।। १४३।।

जब तक सन्तोष नहीं मिलता। तभी तक सुख का अभाव रहता।
किन्तु जैसे ही वह प्राप्त होता। अभाव सुख का कैसे ?।। १४४।।

सर्वेश्वर की सेवा करता। वह सहज ब्रह्मपद पाता।
भाग्यफलों में लदी नम्रता। अर्जुन में आ गई।। १४५।।

जो सहस्रों जन्म-जन्मान्तर में। इन्द्र के भी न होता वश में।
वह श्रीहरि, पार्थ के बस में। बात को टालता नहीं।। १४६।।

स्वयं ब्रह्मरूप होने की। पाण्डव ने जो इच्छा की।
श्रीकृष्ण ने बात उसकी। सहज में मान ली।। १४७।।

मन में आया श्रीकृष्ण के। पार्थ को लगे दोहद ब्रह्मत्व के।
तभी उदर में इसकी बुद्धि के। वैराग्य का गर्भ उपजा।। १४८।।

अन्यथा दिन अभी अधूरे से। फिर भी वैराग्य की बहार से।
सोऽहं भाव के बौर से। लदा-झुका लगता यह।। १४९।।

अतः फलने में ब्रह्मफल के। अधिक पल नहीं लगने के।
इतना वैराग्य मन में इसके। विश्वास हुआ कृष्ण को।। १५०।।

यह जो अनुष्ठान करेगा। तत्काल फल पायेगा
बताया अभ्यास नहीं होगा। व्यर्थ कदापि १५१।।

श्रीहरि ऐसा सोच कर। पार्थ से कहते उस अवसर पर।
सुनो अवधान से धनुर्धर। यह है राजमार्ग।। १५२।।

यहाँ तल में प्रवृत्ति-तरु के। करोड़ों फल लगे निवृत्ति के।
महेश यात्री इसी मार्ग के। हैं आज तक।। १५३।।

अन्य योगी भी चले इस पर। चिदाकाश में भटके वाममार्ग पर।
फिर स्वानुभव के बल पर। सन्मार्ग जाना उन्होंने।। १५४।।

फिर आत्मबोध के सीधे पथ पर। अति वेग से चले दौड़कर ।
विवेकमति से तज कर। अज्ञान मार्ग सभी ।। १५५ ।।

आगे महर्षी जो भी आये। साधक के सिद्ध बन गये।।
इसी पर चलते महान हो गये। आत्मज्ञानी जन ।। १५६ ।।

इस मार्ग का कर विचार। भूख-प्यास को देते बिसार ।
दिन या रात का विचार। करते नहीं कतई ।। १५७ ।।

फिर तो जहॉ भी पॉव पड़ते। मोक्ष के द्वार खुल जाते ।
पगडंडी पर भी चल पडते। मिलता स्वर्ग-सुख ।। १५८ ।।

पूर्व दिशा की ओर चलते। पश्चिम के प्रान्त में आ जाते ।
निश्चल बैठने को ही कहते। चलना इस मार्ग पर ।। १५९ ।।

इस मार्ग से जिस ग्राम जाते। हम स्वयं वह ग्राम हो जाते ।
तुम सब हो सहज जानते। बताये क्या ।। १६० ।।

पार्थ तब कृष्ण से कहता। कब बताओगे वह मार्ग देवता ? ।
उत्कंठा में हूॅ मरा जाता। उद्धार मेरा कीजिये ।। १६१ ।।

तब कहते हैं श्रीकृष्ण। जब कर रहा हूॅ निवेदन ।
उच्श्रृंखल हो ऐसे प्रश्न। करते हो क्यों ? ।। १६२ ।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।। ११ ।।

कहूॅगा सारा विस्तार से। पर उपयोगी होगा अनुभव से ।
अभ्यास के लिये किसी ऐसे। स्थान को ढूॅढो, ।। १६३ ।।

जहॉ मन सन्तोष पायेगा। उठने को जी नहीं करेगा ।
जिसे देखते ही दूना होगा। मन का वैराग्य ।। १६४ ।।

जिसे सन्तों ने हो बसाया। प्रसन्नता को हो बढ़ाया ।
मन में हो धैर्य को जगाया। जिसने अपरिमित ।। १६५ ।।

जहाँ अभ्यास सहज होता। अनुभव सखा बन जाता।
ऐसी विशेष रमणीयता। जहाँ अखण्डित ।। १६६ ।।

जहाँ से यूँ ही जाते-जाते। पाखण्डी आस्थावान होते।
तपाचरण करने की सोचते। वहाँ रह कर ।। १६७ ।।

राह चलते विषयासक्त। वहाँ आयें अकस्मात।
लौट जाने की बात। भुला देते जहाँ ।। १६८ ।।

रहना न चाहे, उसे रोक ले। घुमन्तु को बरबस बिठा ले।
और थपकी देकर जगा ले। वैराग्य को जो ।। १६९ ।।

अपना राज्य छोड़ कर। यहीं रहें एकान्त में आ कर।
ऐसा श्रृंगारप्रिय को लगे देख कर। जिस स्थान को ।। १७० ।।

इसविध जो हो परम श्रेष्ठ। सात्विक भी हो परमपवित्र।
जहाँ ब्रह्मानंद प्रकट। हुआ दिखायी दे ।। १७१ ।।

देखें इस बात को भी। कि वहाँ रहते हैं साधक सभी।
और लोगों का आवागमन भी। हो नगण्य ।। १७२ ।।

जड़ से, मधुर अमृत-से। और लदे नित्य फलों से।
वनवृक्षों की वाटिकाएँ ऐसे। घनी हों जहाँ ।। १७३ ।।

पग-पग पर झरने हों विपुल। वर्षा में भी जिनका जल।
कलकल बहता हो निर्मल। पार्थ, जहाँ ।। १७४ ।।

वहाँ धूप लगती हो शीतल। पवन हो गया हो निश्चल।
बहती मंद बयार हो केवल। जहाँ हौले-हौले ।। १७५ ।।

जो हो प्रायः निःशब्द। जहाँ न कोई श्वापद।
तोता अथवा षट्पद। न हो कोई ।। १७६ ।।

जलपक्षी अथवा हंस। दो चार ही हों सारस।
कभी कोयल भी अनायास। कूजन करती हो ।। १७७ ।।

हमेशा के लिये नहीं। किन्तु भूले भटके ही ।
आते जाते हों मोर भी। हमारी ना नहीं ।। १७८ ।।

किन्तु आवश्यक है पंडुसुत। चुनो ऐसा स्थान सुविचारित ।
जहॉं कोई मठ हो गुप्त। अथवा शिवालय ।। १७९ ।।

इन दो में जो पसंद आये। अथवा मन को भा जाये ।
वहॉं आसन जमायें। पा एकान्त ।। १८० ।।

ऐसा स्थान ढूंढ कर। मन को करते हुए स्थिर ।
जमायें दत्तचित्त हो कर। आसन ऐसे ।। १८१ ।।

दर्भासन बिछा धरती पर। मृगचर्म बिछाओ उस पर ।
श्वेत धौत वस्त्र उस पर। तह करके बिछाओ ।। १८२ ।।

कुश हों अत्यंत कोमल। बिछे हों पूरे समतल ।
घुले-मिले हों अविरल। सुव्यवस्था से ।। १८३ ।।

कहीं ऊँचा हो आसन। तो डोल जायेगा तन ।
नीचा हो गया आसन। भूमिदोष लगेंगे ।। १८४ ।।

अतः बरतो ऐसी दक्षता। रहे पूरी समतलता ।
इसविध बिछाओ, भ्राता। अपना आसन ।। १८५ ।।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।। १२ ।।

फिर, सद्गुरु का स्मरण कर। मन को एकाग्र कर ।
करो अनुभव अपने भीतर। आत्मानंद को ।। १८६ ।।

नष्ट हो कर सारी अहंता। अंतर्बाह्य होगी सात्विकता ।
उमड़ेगी भक्तिसरिता। सद्गुरुकृपा से ।। १८७ ।।

सब वासना की विस्मृति होगी। इन्द्रियों की मस्ती मिटेगी ।
प्रवृत्ति निर्विकार होगी। अन्तरतम में ।। १८८ ।।

जब तक रहेगी यह अवस्था। तब तक रुके रहो भ्राता ।
जैसे ही यह बोध होगा। हो जाओ आसनस्थ ।। १८६ ।।

तब तन-तन को संयत करता। वायु-वायु पर अंकुश धरता ।
ऐसा अनुभव करने लगता। साधक, पार्थ ।। १६० ।।

प्रवृत्ति निवृत्ति हो जाती। सहज समाधि लग जाती ।
वहाँ बैठते ही हो जाती। अभ्यास की पूर्तता ।। १६१ ।।

अब योगमुद्रा का वर्णन। सुनो दे कर अवधान ।
पिंडली से सटाओ रान। पलथी मार कर ।। १६२ ।।

तलुओं को मोड़ कर। एड़ियाँ ठीक से सटा कर ।
दृढ़ता से दबाओ गुदाद्वार। सीवन के पास ।। १६३ ।।

नीचे हो दायाँ चरण। बीच में दबाओ सीवन ।
फिर सहज बायाँ चरण। रखो दायें पर ।। १६४ ।।

गुदा, शिश्न के मध्य में। चार अंगुल का स्थान है, उसमें ।
डेढ़ अंगुल आगे पीछे में। छोड़ दो ।। १६५ ।।

शेष एक अंगुल स्थान पर। एड़ी अग्र दबाओ जाकर ।
सारा शरीर तोलो उस पर। बहुत धीरे - से ।। १६६ ।।

रीढ़ को उठाओ ऐसा। कि लगे ही नहीं उठाया-सा ।
दोनों टखनों को भी वैसा। उठा लो सीध में ।। १६७ ।।

तब देखो सारा शरीर। बिना लिये कोई आधार ।
टखनों के अग्र भाग पर। स्वयंभू लगेगा ।। १६८ ।।

इसे समझ लो, अर्जुन। मूलबंध का यह लक्षण ।
इसका नाम वज्रासन। गौण भी कहलाता ।। १६६ ।।

इस मूलबंधासन में। नीचे का मार्ग पल में। ।
बंद हो अपान तन में। होता ऊर्ध्वगामी ।। २०० ।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। १३ ।।

फिर अंजलि को कर द्रोणाकार। कर रख बायें चरण पर ।
जिससे लगेंगे उठे ऊपर। स्कन्ध दोनों ।। २०१ ।।

तन के यों उन्नत होते। मस्तक ग्रीवा-भीतर धंसते ।
अपने आप मूँदने लगते। द्वार नेत्रों के ।। २०२ ।।

ऊपर की पाँखें झपकतीं। नीचे की फैल-सी जातीं ।
पार्थ, दृष्टि तब होती। अर्धोन्मिलित ।। २०३ ।।

दृष्टि होती अन्तर्मुख। बाहर होती यदपि सकौतुक ।
नासाग्र पर एक टक। स्थिर हो जाती है ।। २०४ ।।

यों रहती भीतर ही भीतर। दृष्टि न आ पाती बाहर ।
नासाग्र पर अत्यंत स्थिर। रह जाती इसलिये ।। २०५ ।।

दिशाओं से कर भेंट। अथवा स्वरूप की जोहें बाट ।
यह इच्छा ही होती नष्ट। अपने आप ।। २०६ ।।

फिर कंठनली सकुचाती। चिबुक गलगिलटी में धँसती ।
वहाँ दृढ़ होकर दबाती। वक्षस्थल को ।। २०७ ।।

फिर कंठमणि है लोपता। यह मुद्रासन है भ्राता ।
जालंधरबंध कहलाता। योग-परिभाषा में ।। २०८ ।।

नाभिस्थल फूल जाता। उदर पीठ से सटता ।
भीतर पूरा खिलता। हृदय कमल ।। २०९ ।।

लिंगमूल से ऊपर को। नाभिस्थान से नीचे को ।
जो मुद्रा बनती उसको। कहते बंध उड्डीयन ।। २१० ।।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ।। १४ ।।

यों शरीर को छोड़ कर। योगाभ्यास आता बाहर।
आधार टूट जाता भीतर। मनोधर्म का ।। २११ ।।

कल्पना हो जाती कुण्ठित। प्रवृत्ति बन जाती प्रशान्त।
मनोविकार होते नष्ट। अपने आप सभी ।। २१२ ।।

क्षुधा न जाने कहाँ जाती। निद्रा पता नहीं कहाँ खो जाती।
उनकी याद तक नहीं रहती। इस स्थिति में ।। २१३ ।।

मूलबंध में बंद किया। वह अपान पीछे मुड़ गया।
तो ऊपर ही अटक गया। गुब्बारा बनकर ।। २१४ ।।

फिर क्षोभ से बलवान होता। निरोध स्थान में गुर्राता।
मणिपूरचक्र से जूझने लगता। बार-बार ।। २१५ ।।

वह आँधी होती बलवती। उदर में उथलपुथलती।
खँगाल कर बाहर फेंकती। बचपन के मल को ।। २१६ ।।

अपान अन्दर नहीं समाता। आँतों में विचरने लगता।
कफ़, पित्त के नष्ट करता। संचय सभी ।। २१७ ।।

सप्त धातु-सागर लाँघता। मेद के पहाड़ फोड़ता।
सम्पूर्ण मज्जा को निकालता। हड्डियों से ।। २१८ ।।

नसों को शिथिल करता। गात्रों को ढीला बनाता।
साधक को बड़ा डराता। किन्तु डरें नहीं ।। २१९ ।।

वह व्याधि उत्पन्न करता। किन्तु तत्काल परिहार भी करता।
आपस में खूब मिला देता। जल और पृथ्वी को ।। २२० ।।

तो दूसरी ओर भ्राता। वज्रासन की ऊष्णता।
देती है जागरिता। कुण्डलिनी शक्ति को ।। २२१ ।।

नागिन का शिशु नन्हा। कुमकुम में पूरा सना।
कुंडली मार कर नाना। सोया हो जैसे ।। २२२ ।।

वैसे वह कुण्डलिनि शक्ति। साढ़े तीन कुंडलियाँ बनाती।
मानो अधोवदना है सोती। सर्पिणी कोई।। २२३।।

अथवा बिजली का हो कंकण। अग्निज्वाला की तह समान।
या उज्ज्वल सुवर्ण-कंगन। लगती यह कुण्डलिनी।। २२४।।

बैठी नाभि-सम्पुट में सिमटी। वज्रासन की लगते चिकोटी।
यह सोती कुण्डलिनी शक्ति। जाग जाती है।। २२५।।

तब लगता कोई टूटा तारा। या सूर्य का ढह गया सहारा।
या तेज का बीज न्यारा। हुआ अंकुरित।। २२६।।

कुंडली को सीधा करती। कौतुक से अंगड़ाई लेती।
नाभि पर खड़ी हो जाती। शक्ति मानो।। २२७।।

बहुत दिनों की बुभुक्षित। छेड़ने के कारण क्रोधित।
आवेश से खड़ी होती त्वरित। मुँह बाये।। २२८।।

तब हृदयकमल के तल में। वायु भरे स्थान को पल में।
लेती वह अपनी चपेट में। चट खा जाती।। २२९।।

मुख की ज्वालाओं से। ऊपर तक नीचे से।
नोचती, लीलती लीला से। खाने लगती।। २३०।।

जहाँ भी पाती माँस। निगलती उसे अनायास।
लेती दो-चार ग्रास। हृदय के भी।। २३१।।

तलुओं, हथेलियों को ढूँढ़ती। ऊर्ध्व भाग को भी फोड़ती।
प्रत्येक जोड़ को तोड़ती। चाटती अंग-प्रत्यंग को।। २३२।।

अधोभाग को भी न छोड़ती। नखचर्म नोंच निकालती।
त्वचा को निचोड़ चिपकाती। अस्थिपंजर से।। २३३।।

सोखती अस्थि-नलियों को। चूस लेती शिरा-गूदों को।
और रोम-रोम के बीजों को। जला देती है।। २३४।।

सागर को सप्त धातुओं के। यह प्यासी एक घूँट ही पी के ।
रख देती पूरा सुखा के। सारा शरीर ।। २३५ ।।

जो नथनों को करती पार। बारह अंगुल बहती बयार ।
उसे पकड़ वापस भीतर। कर देती है ।। २३६ ।।

नीचे की अपान ऊपर उठती। ऊपर की प्राण नीचे दबती ।
इनकी भेंट में केवल बचती। परतें षट्चक्र की ।। २३७ ।।

तभी दोनों वायुएँ मिलतीं। किन्तु कुण्डलिनी शंकित होती ।
तुम ही यहाँ बची हो कहती। भागो यहाँ से ।। २३८ ।।

पार्थिव धातुओं को खाती। कुछ भी नहीं छोड़ती ।
और पूरा मिटा देती। उदकाँश देह का ।। २३९ ।।

पृथ्वी आप दोनों को खाती। तब जाकर कहीं तृप्त होती ।
फिर सौम्य बन पड़ी रहती। सुषुम्ना के पास ।। २४० ।।

वहाँ तृप्ति के संतोष से। जो विषवमन करती मुख से ।
उस गरल के अमृत से। जीती प्राणवायु ।। २४१ ।।

वह गरलाग्नि से आती। किन्तु तन को शीतलता देती ।
खोयी शक्ति लौटने लगती। उसके कारण ।। २४२ ।।

चलना रुकता नाड़ी का। व्यापार थमता वायुओं का ।
शरीर धर्म भी न हो पाता। उसके फलस्वरूप ।। २४३ ।।

इड़ा पिंगला जुट जातीं। तीनों ग्रंथियाँ छूट जातीं ।
नष्ट सम्बन्ध होते सभी। षट्चक्रों के ।। २४४ ।।

साँसों को रवि, शशि का नाम प्राप्त। किन्तु नाक के सामने सूत ।
रखें तब भी न दिखायी देवत। दृष्टि को कदापि ।। २४५ ।।

बुद्धि का प्रस्फुरण रुकता। परिमल नाक में ही रह जाता ।
वह भी कुण्डलिनिसह विचरता। सुषुम्ना में ।। २४६ ।।

तभी धीरे से ऊपर का। कुण्डा चन्द्रामृत का।
छलक कर रस अमृत का। गिरता कुण्डलिनी में ।।२४७।।

कुण्डलिनी में भरा अमृत। सर्वांग को करता प्लावित।
तत्काल ही रसपूरित। होती प्राणवायु ।।२४८।।

तपाये ढाँचे में मोम जैसे। मोम नहीं रहता, वैसे।
केवल तप्त रस ही से। भर जाता वह ।।२४९।।

वैसे साँचे में शरीर के। तेज ही ढाला जाके।
वस्त्रों से त्वचा के। ढँका जाता ।।२५०।।

जैसे, अभ्र का अवगुंठन। ओढ़ लेता सूर्यनारायण।
फिर उसे हटा कर दीप्तिमान। होता पुनः ।।२५१।।

वैसे, देह पर रूखा-सूखा। परदा जो होता त्वचा का।
वह हट जाता है निका। जैसे भूसी ।।२५२।।

फिर स्वयंभू रंग का केसर। मानो रत्नबीज के अंकुर।
ऐसा दिव्य तेज मनोहर। आता अवयवों में ।।२५३।।

या संध्या के लेकर रंग। लगता चितारे अंग-अंग।
या आत्मतेज का लिंग। बनाया हो ।।२५४।।

केसर से ओतप्रोत। छलकता जिससे अमृत।
अथवा गढ़ा मूर्तिमन्त। रूप शान्ति का ।।२५५।।

रंग लेप आनन्द का। अथवा रूप ब्रह्मसुख का।
या पौधा सन्तोष तरु का। लहलहाता ।।२५६।।

कनकचम्पा की वाटिका। या कुम्भ महान अमृत का।
या कुंज कोमलता का। महकता हो ।।२५७।।

शरद पूर्णिमा में सान्द्र। जैसे शोभता पूर्णचन्द्र।
लगता कोई मानवेन्द्र। बैठा आसन पर ।।२५८।।

कुण्डलिनी चन्द्रामृत पीती। तब काया ऐसी होती।
फिर कृतान्त को भी भीति। लगती उससे ।। २५६ ।।

वार्द्धक्य होता निवृत्त। तरुणाई होती विलुप्त।
फिर से हो जाता प्राप्त। बीता बचपन ।। २६० ।।

आयु में लगता छोटा। किन्तु सामर्थ्य होता अनूठा।
धैर्य में भी वह लगता। अनुपम ।। २६१ ।।

स्वर्णतरु के कोपलों से। नवकलिका खिलती जैसे।
नाखून भी नित्य नये से। देते दिखायी ।। २६२ ।।

नये दाँत निकल आते। किन्तु बहुत छोटे होते।
हीरों की पंक्ति से लगते। दोनों ओर ।। २६३ ।।

कण कौस्तुभ मणि के। तेजस्वी नन्हे आकार के।
लगते निकलते सर्वांग से। सतेज रोमांच ।। २६४ ।।

तलवे और करतल। लगते जैसे रक्तकमल।
नेत्र इतने सुनिर्मल। क्या बताऊँ ? ।। २६५ ।।

मोती परिपक्व होता। तो सीप में नहीं समाता।
स्वयं पूरा खुल जाता। जोड़ सीप का ।। २६६ ।।

वैसे पलकों में नहीं समाती। दृष्टि बाहर को निकल आती।
फिर गगन को बाँहों में लेती। पहले जैसी ।। २६७ ।।

काया, कंचन बन जाती। किन्तु लाघव वायु का लेती।
उसमें फिर न रह पाती। पृथ्वी-जल की मात्रा ।। २६८ ।।

फिर सागर पार वह देख सकता। स्वर्ग का निनाद सुन सकता।
चिऊँटी का जान लेता। मनोगत ।। २६६ ।।

पवन पर होता सवार। बिना छुये करता जल-संचार।
प्राप्त होतीं प्रसंगानुसार। नाना सिद्धियाँ उसे ।। २७० ।।

प्राणवायु की उँगली पकड़कर। चिदाकाश को सीढ़ियाँ बनाकर ।
सुषुम्ना का सोपान चढ़कर। आती जो हृदय में ।। २७१ ।।

वह कुण्डलिनी जगदम्बा। चैतन्य चक्रवर्ती की शोभा ।
जो स्वयं करती छाया। विश्वबीज के अंकुर पर ।। २७२ ।।

वह निराकार ब्रह्म की मूरत। शिव परमात्मा की सम्पुट ।
जो प्रणव की सुस्पष्ट। जन्मभूमि ।। २७३ ।।

वह बाला कुण्डलिनी। जब होती हृदयस्वामिनि ।
अनाहत नाद की ध्वनि। होती अखंडित ।। २७४ ।।

अर्जुन, बुद्धि तथा शक्ति। कुण्डलिनि में ही होती ।
तभी ध्वनि सुनाई देती। मंद ॐकार की ।। २७५ ।।

चित्र घोष कुंड में। ध्वनि निनाद रूप में ।
प्रणव के आकार में। लगते चित्रित ।। २७६ ।।

कल्पना करो तो समझेगा। किन्तु ऐसा कल्पक कहाँ मिलेगा ? ।
चिदाकाश में जो गूँजेगा। उसे नहीं समझोगे ? ।। २७७ ।।

अर्जुन, मैं भूल रहा था। पंचपवन का नाश न होता ।
तब तक चिदाकाश में भ्राता। वह निनाद गूँजता है ।। २७८ ।।

उस अनाहत मेघनाद से। आकाश जब गूँजता है ।
तब ब्रह्मरूप का खुलता है। द्वार सहज ।। २७९ ।।

कमलगर्भ के आकार का। दूजा चिदाकाश जो होता ।
उसमें चैतन्य है रहता। अधर में पार्थ ।। २८० ।।

उस हृदय में, धनुर्धारी। आती कुण्डलिनी परमेश्वरी ।
पाथेय महातेजधारी। खिलाती है ।। २८१ ।।

बुद्धि-शाक के उसमें व्यंजन। ऐसा परोसती भोजन ।
कि द्वैत भासमान। न हो कदापि ।। २८२ ।।

निज कान्ति जब छोड़ती। और वायुरूपता जब ओढ़ती ।
तब कुण्डलिनी कैसे लगती। सुनो, पार्थ ।। २८३ ।।

मानो वह सुवर्ण पुतली। ओढ़े हुए शाल सुनहली ।
रख देती हो निराली। उतार कर ।। २८४ ।।

या हवा के झोखे से बुझी। लगती है दीपशिखा कोई ।
अथवा कौंध कर गयी। बिजली गगन में ।। २८५ ।।

जैसे हृदयकमल पर। बिछी हो स्वर्णधार ।
या प्रकाशजल-निर्झर। बहता आया हो ।। २८६ ।।

फिर वह हृदयाकाश में। पूरी समा जाती पल में ।
जैसे शक्ति का रूप-शक्ति में। विलीन होता ।। २८७ ।।

उसे तब कहते हैं शक्ति। अन्यथा, वही प्राणज्योति ।
उसमें नाद, बिन्दु, कला, ज्योति। चारों गुण नहीं होते ।। २८८ ।।

उपचार मनोनिग्रह का। अवरोध प्राणवायु का ।
ध्यान-वान लगाने का। अब काम नहीं ।। २८९ ।।

कल्पना करने-तजने का प्रयास। समाप्त अब अनायास ।
यह साँचा औटाने खास। पंच महाभूतों को ।। २९० ।।

पिंड करे पिंड-ग्रास। यह आदिनाथ का उपदेश ।
उसी का बता गये उद्देश्य। महाविष्णु ।। २९१ ।।

गूढ़ार्थ का बस्ता खोल कर। यथार्थ की तहें सुलट कर ।
फैला दिया सामने ला कर। ग्राहक श्रोता ।। २९२ ।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। १५ ।।

शक्ति का तेज लोपता। तब दृश्य देह सूक्ष्म होता ।
फिर नहीं दिखायी देता। योगी लोगों को ।। २९३ ।।

यों तो वह पहले जैसा ही। होता शरीरधारी ही ।
किन्तु जैसे वायुरूप ही। बन जाता उसका देह ।।२९४।।

लगता जैसे कदली का तना। छाल छील कर खड़ा तना ।
या आकाश के निकल आये नाना। अवयव ।।२९५।।

ऐसा हो जाता जब शरीरी। उसे कहते गगनविहारी ।
तब नाना चमत्कारी। करतब दिखाता वह ।।२९६।।

साधक आगे चला जाता। पदचिह्न पीछे छोड़ जाता ।
उन पर ताँता लगा रहता। अष्ट सिद्धियों का ।।२९७।।

उन सिद्धियों से कोई। हमें लेना देना नहीं ।
लुप्त देह के देह में ही। होते भूत तीनों ।।२९८।।

पृथ्वी को आप गलाता। आप को तेज सुखाता ।
तेज वायु से हारता। हृदयाकाश में ।।२९९।।

वायु अन्त में अकेली रहती। किन्तु शरीर का आकार लेती ।
वह भी कालान्तर से देह तजती। मिल जाती आकाश में ।। ३००।।

तब कुण्डलिनि नाम मिटता। 'मारुत' नाम उसे मिलता ।
किन्तु शक्तित्व बना ही रहता। शिव से मिलते तक ।। ३०१।।

फिर जालंधरबंध को शक्ति। छोड़कर कंठस्थान फोड़ती ।
ब्रह्मरंध्राकाश में रहती। पर्वत पर ।। ३०२।।

ॐकार की पीठ पर। सत्वर पैर रख कर ।
'पश्यन्ती' की पौड़ी पार कर। आगे निकल जाती ।। ३०३।।

ॐकार का मकार नखती। कुण्डलिनी ब्रह्म में विलीन होती ।
जैसे सागर में मिल जाती। सरिता, धनंजय ।। ३०४।।

फिर ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो कर। 'सोऽहं' भाव की बाँहें फैलाकर ।
आलिंगन करती दौड़कर। परब्रह्म का ।। ३०५।।

पंच महाभूतों का परदा उठ कर। शिवशक्ति से मिलन हो कर ।
ब्रह्मानन्द में लीन हो कर। रहती चिदाकाश में ।। ३०६ ।।

जैसे, पानी सागर का। धारण करता रूप मेघ का ।
वर्षारूप में विलय उसका। फिर होता सागर में ।। ३०७ ।।

वैसे शरीर के मिष। परमेश में परमेश का प्रवेश ।
यह अद्वैत सागरसदृश। होता, पार्थ ।। ३०८ ।।

जीव-ब्रह्म क्या अलग थे। अथवा दोनों एक ही थे ।
इसकी चर्चा के भी वास्ते। कुछ नहीं रहता ।। ३०९ ।।

आकाश में आकाश मिलता। यह सिद्धान्त अर्जुन, तत्त्वतः ।
स्वयं जो अनुभव करता। वही सिद्ध ।। ३१० ।।

इस अवस्था की बात। पार्थ, होती शब्दातीत ।
अनुभव होता नहीं व्यक्त। सम्वाद द्वारा ।। ३११ ।।

सुनो जो वैखरी पार्थ। इसका बताना चाहती अर्थ ।
उसका सारा दम्भ व्यर्थ। हो जाता है ।। ३१२ ।।

भ्रू-लता के पार्श्व में भ्राता। म-कार प्रवेश पा नहीं सकता ।
वैसे ब्रह्माकाश में नहीं पाता। प्रवेश अकेला प्राण ।। ३१३ ।।

फिर वह वहीं घुल जाता। शब्दों का दिन डूब जाता ।
आगे चल कर विलय होता। आकाश का भी ।। ३१४ ।।

जिस महाशून्य के दह माहीं। आकाश का ही ठाँव नहीं ।
वहाँ शब्द का डाँड कोई। खेवेगा कैसे नाव ? ।। ३१५ ।।

अतः शब्दों की पकड़ में आवे। या सुनने से समझ पाये ।
ऐसा कोई नहीं है ये। त्रिवार जानो ।। ३१६ ।।

जब कभी सौभाग्य से। अनुभव कर पाता इसे ।
तब तद्रूप होता इससे। अनुभवकर्त्ता ।। ३१७ ।।

फिर जानने के लिये कुछ भी। वहाँ शेष रहता ही नहीं।
व्यर्थ निरूपण करने से कोई। लाभ नहीं, अर्जुन ।। ३१८ ।।

शब्दजात पीछे रह जाता। संकल्प समाप्त हो जाता।
वायु भी प्रवेश नहीं पाता। विचारों का वहाँ ।। ३१९ ।।

इस उन्मनावस्था का लावण्य। ज्ञानावस्था का तारुण्य।
अनादि और जो अगण्य। परम तत्व ।। ३२० ।।

जो है आकारातीत। मोक्ष का स्थान सुनिश्चित।
जहाँ आदि और अन्त। हुए विलीन ।। ३२१ ।।

जो विश्व का है मूल। योगतरु का है सुफल।
जो आनन्द का केवल। चैतन्य ही है ।। ३२२ ।।

जो महाभूतों का बीज। महातेज का भी तेज।
वही पार्थ, स्वरूप निज। जानो मेरा ।। ३२३ ।।

उसी स्वरूप से मैंने, अर्जुन। किया चतुर्भुज रूप धारण।
जब भक्तजनों को दुर्जन। सताते रहे ।। ३२४ ।।

यह अनिर्वचनीय महासुख। प्राप्त करते वे ही पुरुष।
जिनके संकल्प, सिद्धि तक। टिके रहते अर्जुन ।। ३२५ ।।

हमने यहाँ कहा जो साधन। उस पर जिन्होंने किया आचरण।
वे हुए हमारे समान। योग्यता में ।। ३२६ ।।

मानो शरीर में ढाला। परब्रह्म बोध रसीला।
वैसे हो गई ऊर्जस्वला। काया उनकी ।। ३२७ ।।

इस अनुभूति के आते ही। विश्व का भान रहता नहीं।
अर्जुन कहे, सत्य ही। कहा आपने ।। ३२८ ।।

आपने कहा जो साधन। वह ब्रह्मप्राप्ति का स्थान।
इससे होता समाधान। स्वानुभव से ।। ३२९ ।।

इसका अभ्यास हो दत्तचित्त। करते वो पाते ब्रह्मत्व ।
यह अब आपसे ज्ञात। कर लिया मैंने ।। ३३० ।।

केवल सुनकर ही यह बात। बोध पा लेता चित्त ।
क्यों अनुभव करने से प्राप्त। न होगी तल्लीनता ? ।। ३३१ ।।

इसलिये यहाँ अब कतई। सन्देह की गुंजाइश नहीं ।
किन्तु मेरी पल भर ही। बिनती सुनियेगा ।। ३३२ ।।

जो योग आपने बताया। मेरे मन को बहुत भाया ।
किन्तु इसके योग्य नहीं पाया। मैंने अपने आपको ।। ३३३ ।।

मुझमें है जितनी शक्ति। उसी से हो सिद्धि मिलती ।
तभी इस मार्ग पर श्रीपति। चलूँगा सुख से ।। ३३४ ।।

अथवा आपके बनाये पथ पर। चलना यदि होता दूभर ।
तो अपनी शक्ति के अनुसार। उचित क्या है, पूछूँगा ।। ३३५ ।।

ऐसी बनी मेरी धारणा। जिज्ञासा का कारण बना ।
इसके लिये क्षमा करना। सुनिये ध्यान से ।। ३३६ ।।

आपने जो बताया साधन। मैंने ध्यान से किया श्रवण ।
जो भी करे इसका अध्ययन। क्या सिद्धि पायेगा ? ।। ३३७ ।।

अथवा क्या योग्यता के बिन। यह नहीं होगा निष्पन्न ? ।
तब अर्जुन से कहता श्रीकृष्ण। यह क्या कह रहे हो ? ।। ३३८ ।।

केवल योगाभ्यास ही नहीं। अन्य साधारण कर्म भी ।
क्या योग्यता के बिना ही। सिद्ध हो जाते ? ।। ३३९ ।।

अरे, जो योग्यता कहलाती। सिद्धि से ही कूती जाती ।
साधिकार कर्म से मिलती। सिद्धि तत्काल ।। ३४० ।।

पहचान क्या योग्यता की ? । क्या वह बिकाऊ माल होती ? ।
क्या योग्यता की होती। कहीं कोई खान ? ।। ३४१ ।।

जो थोड़ा हो कर विरक्त। देहधर्मों को करता संयत ।
तो क्या वह अधिकारयुक्त। होता नहीं ? ।। ३४२ ।।

ऐसी युक्तियुक्त योग्यता। तुममें भी है भ्राता ।
यों उसकी संदिग्धता। मिटाई श्रीकृष्ण ने ।। ३४३ ।।

श्रीकृष्ण कहते, हे भ्राता। ऐसी है यह व्यवस्था ।
वह असंयत को सर्वथा। न होती प्राप्त ।। ३४४ ।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। १६ ।।

जो रसना के अधीन हो गया। या निद्रा के हाथों बिक गया ।
अधिकार नहीं उसने पाया। यहाँ, पार्थ ।। ३४५ ।।

या, जो हठधर्मिता से। वंचित रहता भूख-प्यास से ।
मुख फेर लेता आहार से। दुराग्रही ।। ३४६ ।।

हठपूर्वक नींद तजता। दिन रात जागते रहता ।
देह स्वाधीन नहीं रखता। वह योग क्या करे ? ।। ३४७ ।।

न हो अति विषयासक्ति। विरोध भी न हो अति ।
दोनों की घुटन महारथी। न हो मन में ।। ३४८ ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। १७ ।।

आहार का सेवन अवश्य करें। किन्तु उसका नियमन करें ।
सभी क्रिया-कलापों को करें। संयमपूर्वक ।। ३४९ ।।

वाणी हो संयमित। भ्रमण हो परिमित ।
निद्रा भी लें यथोचित। समय से ।। ३५० ।।

यदि करना हो जागरण। उसकी मात्रा का हो अवधान ।
सप्त धातुओं का नियमन। होगा अनायास ।। ३५१ ।।

ऐसे संयम से युक्तियुक्त। जो इन्द्रियों को करे तृप्त ।
उसका मन ही बढ़ाता नित्य। परम सन्तोष को ।। ३५२ ।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निः स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। १८ ।।

बाह्य इन्द्रियों का नियमन। करता भीतर सुख निर्माण ।
होता अनायास योगसाधन। अभ्यास के बिना ।। ३५३ ।।

जैसे, भाग्योदय होने से। उद्यमों के निमित्त से ।
सर्व सम्पदा सुख से। आती घर में ।। ३५४ ।।

वैसे, जो रहे यम-नियम से। योगाभ्यास करे कौतुक से ।
परिपक्व अनुभव उसे। देता आत्मसिद्धि ।। ३५५ ।।

अतः यह युक्तियुक्तता। जो भाग्यवश साध्य करता ।
मोक्षसिंहासन पर विराजता। अधिपति जैसे ।। ३५६ ।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।। १९ ।।

संगम, संयम व योग का। वही प्रयागतीर्थ आज का ।
चित्त ऐसे साधक का। होता क्षेत्रसंन्यासी ।। ३५७ ।।

उसे ही योगयुक्त मानो। प्रसंग से यह भी जानो ।
निर्वात स्थान का दीप है मानो। उसका चित्त ।। ३५८ ।।

अब तुम्हारा मनोगत। जान कर अर्जुन, निश्चित ।
बात कहेंगे, हो दत्तचित्त। सुनो ठीक से ।। ३५९ ।।

योगसिद्धि चाहते हो। किन्तु अभ्यास में दक्ष नहीं हो ।
किस बात का भय पाले हो। बताओ तो ? ।। ३६० ।।

अर्जुन, अपने मन माहीं। भय न पालो किसी बात का भी ।
ये दुष्ट इन्द्रियाँ व्यर्थ ही। डराती हैं ।। ३६१ ।।

जो आयु को स्थिर करती। आयी मृत्यु को लौटा देती ।
उस औषधि को क्या नहीं कहती। रसना बैरी ? ।। ३६२।।

जो परलोक के लिये हितप्रद। इन्द्रियों को लगता दुःखद ।
अन्यथा योग-सा सुखद। है ही क्या ? ।। ३६३।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।। २०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। २१।।

योगासन के बल पर भैया। जो अभ्यास तुम्हें बताया ।
उससे ही होगा, यदि हो पाया। इन्द्रियनिग्रह ।। ३६४।।

वैसे इस योग से अन्यथा। इंद्रियों का निग्रह होता ।
चित्त मिलने निकल पड़ता। आत्मरूप से ।। ३६५।।

यह चित्त निवृत्त होता। तब आत्मदर्शन कर पाता ।
पहचानते ही कहता। सोऽहं ब्रह्म ।। ३६६।।

होते स्वरूप का ज्ञान। सुख साम्राज्य में लीन ।
होता आत्मानन्द में विलीन। मन भुलाता अपने को ।। ३६७।।

जिसके बिना अन्य नहीं। जिसे न जानती इन्द्रियाँ भी ।
वह परब्रह्म स्वयं ही। साक्षात् बन जाता ।। ३६८।।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। २२।।

फिर तो मेरु से भी बड़े पर्वत। तन पर आ गिरें अकस्मात ।
तब भी उसका चित्त। डिगता नहीं ।। ३६९।।

शस्त्र से तन काट दिया। या अग्नि में जला दिया ।
तब भी आत्मसुख में सोया। वह जागता नहीं ।। ३७०।।

इतना आत्मसुख हो जाता। देहभान को भी बिसराता ।
अत्यंत सुख में भुला देता। शेष सभी ।। ३७१।।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ।। २३ ।।

इस सुख का चस्का लगता। तो मन वासना को भुलाता ।
संसार पाश में अन्यथा। उलझा रहता जो ।। ३७२।।

जो योग का सौन्दर्य। और सन्तोष का साम्राज्य ।
ज्ञान होता अनिवार्य। जिसके लिये ।। ३७३।।

वह सुख, अभ्यास के कारण। सामने आता देहधारी बन ।
देखते ही पाने लगता मन। तद्रूपता ।। ३७४।।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ।। २४ ।।

इस योग का आचरण आसान। यदि काम वध कर, अर्जुन ।
पुत्रशोक का दुःख दारुण। दिया संकल्प को ।। ३७५।।

विषय मर गये यह सुन कर। इन्द्रियों का नियमन देख कर ।
संकल्प हृदय फट कर। गतप्राण होते हैं ।। ३७६।।

ऐसा वैराग्य प्राप्त होता। तो संकल्प का आना-जाना टूटता ।
सुख से धैर्य के घर होता। वास बुद्धि का ।। ३७७।।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।। २५ ।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।। २६ ।।

धैर्य का आश्रय पाकर मति। मन को अनुभवपथ पर चलाती ।
और उसे सुस्थापित करती। आत्मभुवन में ।। ३७८।।

इस मार्ग से ब्रह्मप्राप्ति। जिन्हें सर्वथा असम्भव लगती।
उसके लिए, किरीटी। सुगमतर मार्ग दूजा ।।३७९।।

साधक एक नियम कर ले। जी लगा कर उस पर चले।
कि कृतसंकल्प से न ढले। किसी स्थिति में ।।३८०।।

इससे चित्त स्थिर हो जाये। तो अनायास काम बन जाये।
न तो जाने दो जहाँ जाये। स्वेच्छा से ।।३८१।।

स्वेच्छा से जहाँ जायेगा। वहाँ से नियम खींच लायेगा।
उसके कारण स्थिर होगा। तत्काल चित्त ।।३८२।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।२७।।

कालान्तर से अनेक बार। चित्त जब होगा स्थिर।
सहज पहुँचेगा पास सत्वर। आत्मस्वरूप के ।।३८३।।

आत्मदर्शन तद्रूप करेगा। द्वैत, अद्वैत में डूबेगा।
ऐक्य से आलोकित होगा। सारा त्रैलोक्य ।।३८४।।

नभ से भिन्न दिखायी देता। वह अभ्र जब छँट जाता।
शुद्ध गगन ही गगन होता। सर्वत्र जैसे ।।३८५।।

वैसे चित्त जब ब्रह्ममय होता। तो चैतन्य ही सर्वत्र रहता।
फलप्राप्ति का सुलभ मार्ग। दूजा ऐसा ।।३८६।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।२८।।

यह सुलभ योगस्थिति। उसकी करते जो प्रतीति।
वासना, संकल्प, सम्पत्ति। सब छोड़ कर ।।३८७।।

वे सफल सुख की संगति में। ब्रह्मपद पाने में।
लवण जैसे घुलते ही जल में। अलग नहीं रहता ।।३८८।।

वैसे होता उस मिलन में। एकरसता के भवन में।
जग को दिखायी देती सहज में। महासुख की दिवाली ।। ३८९ ।।

यह, पैर सिर पर ले कर। चलना हुआ पीठ के बल पर।
पार्थ, यह भी असम्भव लगने पर। और सुनो ।। ३९० ।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। २९ ।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ३० ।।

मैं हूँ सबके देह में। और यह सब हैं मुझमें।
दो मत कहीं इसमें। नहीं कदापि ।। ३९१ ।।

ईश्वर और यह विश्व। इनका परस्पर में एकत्व।
साधक की समझ में यह तत्त्व। आना चाहिये ।। ३९२ ।।

हे अर्जुन, अन्यथा भी। एकत्व की भावना से ही।
सब भूतों में लख मुझे ही। भजता जो ।। ३९३ ।।

भिन्नता प्राणि मात्र की। भावना न लाती द्वैत की।
जिसे अनुभूति अद्वैत की। सर्वत्र मेरे ।। ३९४ ।।

मैं और वह एक है। यह कहना ही व्यर्थ है।
बिना कहे सुस्पष्ट है। वह मैं ही हूँ ।। ३९५ ।।

प्रकाश और दीपक जैसे। दोनों योग्यता में एक-से।
वह होता मुझमें वैसे। मैं उसमें होता हूँ ।। ३९६ ।।

जैसे उदक के कारण रस। आकाश के कारण अवकाश।
वैसे, अर्जुन, वह पुरुष। मेरे कारण रूपधारी ।। ३९७ ।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। ३१ ।।

एक धागा जैसे वस्त्र में। वैसे मैं अकेला अणु-रेणु में ।
समबुद्धि से जिसकी समझ में। आयी यह बात ।।३९८।।

अथवा अलंकार होते अनेक। सबमें सोना होता एक ।
ऐसा एकत्व भाव अडिग। होता जिसका ।।३९९।।

तरु में जितने पत्ते आते। उतने पौधे नहीं लगाये थे ।
इस अद्वैत से अज्ञान-रातें। जिसकी आलोकित ।।४००।।

यदपि वह पंचभूतों में रहता। वहीं कैसे अड़ा रह सकता ? ।
अनुभव-सामर्थ्य से होता। मुझसे तुल्यबल ।। ४०१।।

कण-कण में व्याप्त हूँ मैं ही। जो अनुभव करता वह भी ।
वैसा न होते हुए भी। होता सर्वव्यापक ।। ४०२।।

वह यदपि शरीर में रहता। फिर भी शरीर का नहीं होता ।
शब्दों में इसकी अवर्णनीयता। वखानूँ कैसे ? ।। ४०३।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।

अतः अनावश्यक विशेष वर्णन। जो विश्व को जड़-चेतन ।
मानता अपने ही समान। अखण्डित ।। ४०४।।

सुख-दुःख का विकार। शुभाशुभ कर्म विचार ।
ऐसे द्वंद्व का संचार। नहीं जिसके मन में ।। ४०५।।

ये सम-विषम भाव। और भी विचित्र जो सर्व ।
उसे अपने ही अवयव। मानता जो ।। ४०५।।

और क्या-क्या बताऊँ पार्थ ?। त्रैलोक्य में मैं यह सुबोध ।
जिसने स्वानुभव से जाना सार्थ। अपने मन में ।।४०७।।

उसका भी एक देह तो होता। उसे भी सुखी-दुखी बताया जाता ।
किन्तु हमारी राय में तत्वतः। परब्रह्म वही ।।४०८।।

अतः अपने में विश्व को देखें। स्वयम् विश्व ही बन जायें ।
ऐसे साम्य की उपासना करें। धनंजय नित्य ।।४०९।।

यह तुम्हें हमने अनेक बार। इसलिये बताया बारम्बार ।
कि साम्य से बढ़ कर, धनुर्धर। प्राप्तव्य नहीं उत्कृष्ट ।। ४१० ।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। ३३ ।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।। ३४ ।।

श्रीकृष्ण से कहता धनुर्धर। आपने बताया कृपा कर ।
किन्तु मन के स्वभाव से श्रीधर। असम्भव मेरे लिये ।। ४११ ।।

यह मन कितना सूक्ष्म होता। ढूँढ़े भी नहीं मिलता ।
वैसे, त्रैलोक्य भी थोड़ा होता। इसके भ्रमण के लिये ।। ४१२ ।।

अतः यह सम्भव कैसे होगा। कि बंदर समाधि लगायेगा ।
अथवा आदेश से रुक जायेगा। झंझावात ।। ४१३ ।।

यह मन, बुद्धि को सताता। निश्चय को तोड़ देता ।
धैर्य को चकमा देता। निकल जाता दूर ।। ४१४ ।।

विवेक को यह भरमाता। सन्तोष को भी ललचाता। ।
बैठे-बैठे ही करा देता। परिक्रमा विश्व की ।। ४१५ ।।

जो रोकने से उछलता। संयम ही जिसका सहायक बनता। ।
वह मन कैसे तजेगा, देवता। अपना स्वभाव ? ।। ४१५ ।।

अतः मन की चंचलता जायेगी। तभी साम्य दृष्टि आयेगी ।
किन्तु लाख जतन से भी न जायेगी। उसकी चंचलता ।। ४१७ ।।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ३५ ।।

तब कहते हैं श्रीकृष्ण। पार्थ, तुम्हारा सत्य वचन ।
स्वभाव से ही यह मन। अति चंचल होता है ।। ४१८ ।।

किन्तु वैराग्य की सहायता से। अभ्यास में लगाया इसे ।
तो यह कालान्तर से। स्थिर हो पायेगा ।। ४१९ ।।

इसका एक गुण है श्रेष्ठ। चस्का लगते होता आसक्त ।
अतः आत्मसुख की ओर सतत। मोड़ो इसे ।। ४२० ।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।। ३६ ।।

अन्यथा जो विरक्त नहीं। अभ्यास को करते नहीं ।
उनके बस में यह होता नहीं। मानते हैं हम ।। ४२१ ।।

किन्तु यमनियम का पथ न लेता। जो वैराग्य को स्मरण न करता ।
केवल वासना-जल में ही रहता। डूबता-उतराता ।। ४२२ ।।

आजन्म जिसने मन को कभी। योगयुक्ति से चिकोटा नहीं। ।
कैसे आवेगी स्थिरताई। उसके मन को ? ।। ४२३ ।।

अतः जिससे मनोनिग्रह होता। ऐसा करो उपाय भ्राता ।
फिर देखें कैसे नहीं होता। मन सुस्थिर ? ।। ४२४ ।।

जितने योग के साधन हैं। वे क्या सभी मिथ्या हैं ? ।
फिर भी तू कह रहा है। अभ्यास असम्भव ? ।। ४२५ ।।

अपने में हो योगबल। तो मन कितना ही क्यों न हो चंचल ।
क्या महातत्व आदि सकल। अपने अधीन न होंगे ? ।। ४२६ ।।

तब श्रीकृष्ण से कहता पार्थ। आपने कहा सत्य और उचित ।
मनोबल की क्या बिसात। योगबल के आगे ।। ४२७ ।।

किन्तु उस योग की क्या पहचान। आज तक न था इसका ज्ञान ।
अतः मैं कहता था मन। होता निरंकुश ।। ४२८ ।।

आज आपके प्रसाद से। परिचित हुआ हूँ योग से ।
जन्मभर के लिये अब से। यह होगा पर्याप्त ।। ४२९ ।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।। ३७ ।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।। ३८ ।।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ।। ३९ ।।

किन्तु और एक, गुरुदेव। मेरे मन में है सन्देह ।
आपके बिना कोई वह। दूर नहीं करेगा ।। ४३० ।।

इसलिये कहिये, गोविन्द। यदि कोई पाने मोक्षपद ।
केवल हो कर सश्रद्ध। यत्न करता नहीं ।। ४३१ ।।

वह इन्द्रिय-ग्राम से निकलता। भक्तिमार्ग पर चलता ।
मोक्षनगर की ओर बढ़ता। जनार्दन ।। ४३२ ।।

किन्तु लक्ष्य तक नहीं पहुँचता। वापस भी लौट नहीं सकता ।
ऐसे में जीवन समाप्त होना। बीच में ही ।। ४३३ ।।

जैसे, असमय आये बादल। होते पतले, बिखरे, विरल ।
अकस्मात आते हैं केवल। न रहते, न बरसते ।। ४३४ ।।

वीच मार्ग में जो, वैसे। गया दोनों काम से ।
न मोक्ष न माया उसे। मिली श्रद्धावश ।। ४३५ ।।

जो इसविध दोनों को खोता। किन्तु श्रद्धा में डूबा रहता।
वह कौनसी गति पाता ?। बताइये गुरू ।। ४३५ ।।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।। ४० ।।

तब श्रीकृष्ण कहते, भ्राता। मोक्षसुख में जिसे आस्था।
उसे मोक्ष के सिवा अन्यथा। गति कौनसी ? ।। ४३७ ।।

किन्तु होता है केवल इतना। बीच में विश्राम पड़ता करना।
उसमें भी वह सुख पाता। देवदुर्लभ ।। ४३८ ।।

यदि लम्बे डग वह भरता। तेजी से चरण बढ़ाता।
तो मृत्युपूर्व पहुँच जाता। सोऽहं सिद्धि तक ।। ४३९ ।।

किन्तु, क्योंकि वेग न था इतना। आवश्यक है विश्राम करना।
किन्तु निश्चित है उसका पहुँचना। अन्त में मोक्ष तक ।। ४४० ।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। ४१ ।।

सुनो, यह कौतुक होता कैसे। जो मिलता शत यज्ञ करने से।
मुमुक्षु प्राप्त कर लेता उसे। अनायास ।। ४४१ ।।

फिर वहाँ जो होते अमोघ। अलौकिक नाना भोग।
उनका छक कर करते उपभोग। वह उकता जाता ।। ४४२ ।।

हे भगवन ! कहाँ से अचानक। विघ्न आया सुख में बाधक।
यों भोग भोगते अलौकिक। पछताता वह ।। ४४३ ।।

फिर जन्म लेता संसार में। सकल धर्मों के पीहर में।
वैभव-श्रीयुक्त के घर में। बढ़ता अंकुर-सा ।। ४४४ ।।

जहाँ सभी नीतिपथ पर चलते। सत्य-पवित्र, वही बोलते ।
शास्त्रीय दृष्टि से देखते। स्वकर्तव्य को ।। ४४५ ।।

जहां वेद ही जागृत ईश्वर। व्यवसाय है स्वधर्माचार ।
सार-असार विवेक विचार। मंत्री जिसका ।। ४४५ ।।

जिस कुल में चिन्तन। होता ईश्वर का चिरन्तन। ।
गृहदेवता का पूजन। ऐश्वर्य जहाँ ।। ४४७ ।।

जो पुण्यमार्ग पर चलता। सुख-सम्पन्नता जोड़ता ।
उस कुल में जन्मता। योगभ्रष्ट ।। ४४८ ।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। ४२ ।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। ४३ ।।

जो ज्ञानाग्नि में करते हवन। जो वेदनिष्ठ ब्रह्मसम्पन्न ।
ब्रह्म क्षेत्र में महान। जो अधिकारी ।। ४४९ ।।

बैठ सिद्धान्त के सिंहासन पर। जो राज्य करते त्रिभुवन पर ।
जो सन्तोषवन में पिक बन कर। कूजन करते ।। ४५० ।।

जो विवेक-तरु तले बैठते। ब्रह्मफलों का सेवन करते ।
ऐसे योगियों के घर जन्म लेते। योगभ्रष्ट ।। ४५१ ।।

बनते ही नन्ही देहाकृति। आत्मज्ञान की भोर होती ।
सूर्योदय से पहले फैलती। प्रभा जैसे ।। ४५२ ।।

उस अवस्था की राह न देखती। प्रौढ़ता आने तक नहीं रुकती ।
बचपन में ही वर लेती। सर्वज्ञता उसे ।। ४५३ ।।

जन्मसिद्ध प्रजा के कारण। सारस्वत प्रसवता है मन ।
होता सकल शास्त्रों का प्रकटन। मुख से स्वयमेव ।। ४५४ ।।

ऐसे जन्म की, अर्जुन। कामना करते देव-गण।
करते रहते होम हवन। स्वर्ग में इसके लिये ।। ४५५ ।।

देव भी हो कर भाट चारण। मृत्युलोक का करें वर्णन।
ऐसा जन्म, कहते श्रीकृष्ण। मिलता योगभ्रष्ट को ।। ४५६ ।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।। ४४ ।।

पूर्वजन्म का होते अन्त। जो सद्बुद्धि थी, भारत।
वही पुनः सर्वथा प्राप्त। होती योगभ्रष्ट को ।। ४५७ ।।

पैरपायला और भाग्यवान। उसके नेत्रों में डाला दिव्यांजन।
तो वह भूमिगत घन। देखता अनायास ।। ४५८ ।।

वैसे, जो सिद्धान्त दुर्बोध। गुरुबिन रहते अगम्य।
वहाँ इसकी बुद्धि प्रविष्ट। होती अनायास ।। ४५९ ।।

प्रबल इन्द्रियाँ तन के अधीन। मन होता पवन में लीन।
वायु होती सहज विलीन। चिदाकाश में ।। ४६० ।।

न जाने यह कैसे हो जाता। अभ्यास अपने आप होता।
मानस-घर ढूँढ़ते आता। समाधियोग ।। ४६१ ।।

मानो यह योगपीठ का भैरव। या आदिमाया का गौरव।
या वैराग्यसिद्धि का अनुभव। साकार हुआ हो ।। ४६२ ।।

जैसे यह संसार का हो नाप। या अष्टांगयोग का दीप।
या परिमल ने धरा रूप। चन्दन का ।। ४६३ ।।

वैसे, मानो सन्तोष का पुतला। सिद्धि-भांडार से निकला।
साधक-दशा में ही हो चला। उसी योग्यता का ।। ४५४ ।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।। ४५ ।।

वह शतकोटि वर्षों के। बाँध हजारों जन्मों के ।
लाँघ कर आत्मसिद्धि के। किनारे आ गया ।। ४६५ ।।

साधन जितने भी होते। सब उसके अनुचर बनते ।
विवेक-साम्राज्य उसे देते। सहजता से ।। ४६६ ।।

विचारों की प्रबल गति। विवेक को पिछड़ा देती ।
विचारों के परे करती। स्वरूप से तद्रूप ।। ४६७ ।।

वहाँ मन का अभ्रपटल हटता। वायु का वायु होना मिटता ।
स्वरूप में ही घुल जाता। आकाश भी ।। ४६८ ।।

अर्धबिन्दु में प्रणव लोपता। ऐसा शब्दातीत सुख मिलता ।
शब्द पहले ही मूक हो जाता। उस दशा में ।। ४६९ ।।

पा ऐसी ब्राम्ही स्थिति। जो गति को भी गति देती ।
उस अमूर्त की मूर्ति। बन जाता वह ।।४७० ।।

अपने अनेक पूर्वजन्मों की। मकड़ी उसने निकाल फेंकी ।
इसलिये लग्नघटिका उसकी। भर जाती जन्मतः ।। ४७१ ।।

फिर तद्रूपता से परिणय होता। होते ही पाता अभिन्नता ।
जैसे अभ्र के हटते ही स्वरूपता। पाता गगन ।। ४७२ ।।

वैसे, विश्व जहाँ से उत्पन्न होता। और अंत में जहाँ लोप हो जाता ।
उस ब्रह्मपद से एकरूपता। वह पाता सदेह ही ।। ४७३ ।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।। ४६ ।।

जिस लाभ की आशा से। धैर्य-बाहुओं के भरोसे ।
षट्कर्मधारा में सहजता से। कूद पड़ते कर्मनिष्ठ ।। ४७४ ।।

या जिस एक वस्तु के लिये। ज्ञान कवच धारण किये ।
भवरिपुओं से लड़ने के लिये। समर में जाते ज्ञानी ।। ४७५ ।।

या फिसलनभरी निराधार। तप-दुर्ग की प्राचीर।
तपस्वी झपटते उस पर। विजय पाने ।।४७५।।

जो भक्तों के लिये भजनीय। याज्ञिकों का यज्ञविषय।
स्वरूप ऐसा जो पूजनीय। सबको सदा ।।४७७।।

अर्जुन, वही मोक्षपद। वह स्वयं हो गया निरापद।
साधकों का जो साध्य। सिद्धतत्व ।।४७८।।

अतः कर्मठों के लिये वंदनीय। ज्ञानियों के लिये ज्ञेय।
तपस्वियों का आराध्य। वह तपोनाथ ।।४७९।।

आत्मा-परमात्मा का जहाँ मिलन। वहाँ एकरूप जिसका मन।
उसने किया हो देहधारण। पाता वह योग्यता ।।४८०।।

कहता हूँ इसी कारण। तुमसे मैं सदा, अर्जुन।
कि मन से योगी बन। भैया मेरे ।।४८१।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।। ४७ ।।

अरे, जो योगी बनता। वह देवों का भी देव होता।
मेरा सुख-सर्वस्व होता। चैतन्य-मूर्तिमत ।।४८२।।

भक्त, भजनीय और भजन। ये सभी भक्ति के साधन।
मैं स्वयं हूँ, इसका ज्ञान। होता उसे अखंडित ।।४८३।।

फिर तो उसकी मेरी प्रीति। अवर्णनीय हो जाती।
वह मैं ही हूँ, यह प्रतीति। साँची करो ।।४८४।।

हमारे प्रेम को, कुंतिसुत। कोई उपमा देना हो समुचित।
मैं शरीर वह आत्मा, यही निरूपित। कर सकते हो ।।४८५।।

यों भक्तचकोरों के चन्द्र। त्रिभुवन के श्रेष्ठ नरेन्द्र।
बोले कृष्ण गुणसमुद्र। कहता संजय ।।४८६।।

भरा था पार्थ-मन पहले से। योगश्रवण की आस्था से ।
वह दूनी हो गयी है इसे। जाना यदुनाथ ने ।।४८७।।

अतः सहज मन में हरषाया। मानो शब्दों ने दर्पण पाया ।
हर्ष से फूले न समाया। कहेगा श्रीकृष्ण ।।४८८।।

वह कथा आगे वर्णित। शान्तरस होगा अनावृत्त ।
कोठला खुलेगा पूर्णतः। प्रमेय बीजों का ।।४८९।।

सत्वगुण की वर्षा हुई। आध्यात्मिक तपन बह गयी ।
सहजता से क्यारियाँ बन गयीं। चतुर चित्त की ।।४९०।।

उस पर उत्तम सुनहली। अवधान की क्यारी मिली ।
अतः बुवाई की हो चली। उत्कण्ठा निवृत्ति को ।।४९१।।

मुझे अकरी बनाया गुरू ने। सिर पर हाथ रखा उन्होंने ।
मानो बीज ही डाला उसमें। कहता ज्ञानदेव ।।४९२।।

अतः मेरी वाणी से जो निकलता। सारा संतजनों को भाता ।
अब श्रीकृष्ण क्या-क्या कहता। करूँगा कथन ।।४९३।।

सुनें मन के कानों से। देखें बुद्धि की आँखों से ।
मनन करें एकाग्रता से। मेरे शब्दों का ।।४९४।।

सावधान हो श्रवण करते हुए। इन्हें उर में रखें सँजोये ।
सज्जनों के मन को ये। परम सुख देंगे ।।४९५।।

ये आत्महित करेंगे। संकट से उबारेंगे ।
प्राणिमात्र सुखी होंगे। इनसे जगत में ।।४९६।।

अब चतुर श्रीकृष्ण। कहेंगे सुन्दर ज्ञान ।
उसे ओवी छंद में बाँध। बताऊँगा मैं ।।४९७।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
आत्मसंयम योग नामक समाप्त। उसका अध्याय छठा।।

।। अध्याय सातवाँ ।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं माँ यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।। १ ।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।। २ ।।

सुनिये अनंत, अर्जुन से कहता। बात मेरी जानो भ्राता ।
तुम्हें मिल गयी योगयुक्तता। निश्चय ही ।। १ ।।

करतल पर रत्नसमान। मुझे जानोगे सम्पूर्ण ।
ऐसा विज्ञानयुक्त ज्ञान। दूँगा तुम्हें ।। २ ।।

यहाँ विज्ञान का क्या काम। जो प्रपंचज्ञान का ही नाम ।
यह प्रश्न करोगे अगम। तो पहले जानो उसे ही ।। ३ ।।

ज्ञान का जब समय आता। बोध आँखें मूँद लेता ।
जैसे किनारे लगा पोत, भ्राता। कभी डिगता नहीं ।। ४ ।।

वैसे, बोध जहाँ नहीं प्रवेशता। विचार उल्टे पाँव लौटता ।
तर्क, चातुर्य अधूरा होता। जिस स्थान पर ।। ५ ।।

अर्जुन, उसका ही नाम ज्ञान। प्रपंचज्ञान है विज्ञान ।
उसे ही सत्य निरूपण। अज्ञान है ।। ६ ।।

सारा अज्ञान नष्ट होगा। विज्ञान निःशेष जल जायेगा ।
और अपने ही भीतर प्रगटेगा। ज्ञान मूर्तिमन्त ।। ७ ।।

जहाँ वक्ता की वाणी रुकती। श्रोताओं की लालसा मिटती।
यह छोटा, यह बड़ा ऐसा मति। करती नहीं भेद ।। ८ ।।

वह जो सिद्धान्त गूढ़। उसे मैं करूँगा शब्दारूढ़।
जिससे बहुतों के लाड़। पूरे होंगे ।। ९ ।।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।। ३ ।।

हजारों मनुष्यों में, पार्थ। एकाध ही होता ज्ञानभक्त।
अनेकों ज्ञान-भक्तों में बिरला ही। जानता मुझे ।। १० ।।

जैसे, भरे संसार से। एक-एक शूर को चुनके।
अर्जुन, सेना खड़ी करते। लाखों की ।। ११ ।।

उनमें भी वार झेलता अनेकों। ऐसे किसी एक ही को।
विजय मिलती इस बात को। समझ लो, पार्थ ।। १२ ।।

ज्ञानेच्छा की बाढ़ में। कूदते अनेकों उत्साह में।
किन्तु पार जाने वाला उनमें। होता एकाध ही ।। १३ ।।

अतः यह ज्ञान नहीं सामान्य। वास्तव में है असामान्य।
बताऊँगा प्रसंग में अन्य। अब विज्ञान बताता हूँ ।। १४ ।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेवच।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।। ४ ।।

जैसे अपने देह की छाया। वैसे महत् आदिरूप मेरी माया।
इसे सतर्क हो सुनो, भैया। अवधान दे ।। १५ ।।

इसे ही प्रकृति कहते। इसके आठ प्रकार होते।
उत्पन्न इसी से होते। तीनों लोक ।। १६ ।।

कौन से ये आठ प्रकार। मन में शंका हो, धनुर्धर।
तो सुनो अवधान देकर। विवेचन करता हूँ ।। १७ ।।

आप, तेज, गगन। पृथ्वी, वायु और मन।
बुद्धि, अहंकार भिन्न। ये आठ विभाग हैं ।। १८ ।।

अपरेयमितस्त्वन्या प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।। ५ ।।

इन आठों की समस्थिति। वही मेरी परम प्रकृति।
पार्थ, वही है कहलाती। जीवभूत ।। १९ ।।

वह जड़ को जीवन देती। ज्ञान को सचेतन करती।
वही मन को मगन करती। शोक-मोह में ।। २० ।।

इसके सान्निध्य के कारण। बुद्धि होती है सज्ञान।
यह विश्व को करती धारण। अहंता के कौशल से ।। २१ ।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।। ६ ।।

जब जीवरूप सूक्ष्म प्रकृति। अष्टधा स्थूल रूप लेती।
भूत सृष्टि की लग जाती। मानो टंकसाल ।। २२ ।।

अंडज, स्वैदज, जारज, उद्भिज। चारों टकसाल से निकलते सहज।
सममूल्य होते ये केवल। आकार भिन्न होते ।। २३ ।।

योनियाँ चौरासी लक्ष। अन्य की गिनती अशक्य।
इनसे भरता क्षमता तक। भंडार आदिमाया का ।। २४ ।।

सिक्के पंच महाभूतों के। अनगिनत आते बनके।
प्रकृति ही उन सबके। हिसाब रखती ।। २५ ।।

सिक्कों को चिन्ह देती। फिर स्वयं ही उन्हें गलाती।
ऐसा कर्माकर्मानुसार करती। व्यवहार माया ।। २६ ।।

अस्तु, इस रूपक का दृष्टान्त। अब स्पष्ट बताता हूँ बात।
इतने नाम रूपों को विविध। रचती प्रकृति ही ।। २७ ।।

यह प्रकृति मुझसे अभिन्न। अतः होती मुझसे भासमान ।
आदि, मध्य, अन्त का कारण। इसलिये मैं ही ।। २८।।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।। ७।।

यह दीखता मृगजल। उसका सोचो क्या है मूल ।
सूर्यकिरण नहीं, केवल। प्रत्यक्ष सूर्य होता है ।। २९।।

अर्जुन, प्रकृति की निर्मिति। यह सृष्टि जब नष्ट होती ।
तब मूल स्थिति को पाती। जो मैं ही हूँ ।। ३०।।

सृष्टि गोचर या अगोचर। मुझमें ही होती, धनुर्धर ।
मणिमाला में जैसा सूत्र। वैसा मैं विश्व में ।। ३१।।

सोने के मणि बनाये। स्वर्ण सूत्र में उन्हें पिरोये ।
वैसे मैं विश्व को धारण किये। हूँ भीतर बाहर ।। ३२।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।। ८।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ९।।

अतः पानी में जो रस। अथवा पवन में स्पर्श ।
या चन्द्र-सूर्य में प्रकाश। मैं ही हूँ जानो ।। ३३।।

वैसा ही सहज विशुद्ध। मैं पृथ्वी में हूँ सुगंध ।
मैं गगन में शब्द। ॐकार वेदों में ।। ३४।।

नरों में जो नरत्व। जो अहंता का सत्व ।
वह पौरुष मैं, यह तत्त्व। बता रहा हूँ तुम्हें ।। ३५।।

अग्नि है नाम जिसका। वह ऊपरी कवच तेज का ।
हटाते उसे दर्शन जिसका। वह निजतेज मैं ।। ३६।।

नानाविध योनियों में। प्राणी जन्मते त्रिभुवन में।
जीते आहार ले जीवन में। अपना-अपना ।। ३७ ।।

कोई हवा पी कर जीते। कोई घास ही खाते।
कोई अन्न खा कर जीते। जल पी कर कोई ।। ३८ ।।

प्रकृतिवश प्राणी-जीवन। यों दिखायी देता विभिन्न।
किन्तु सबमें अभिन्न। मैं ही एक हूँ ।। ३९ ।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।। १० ।।
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।। ११ ।।

उत्पत्ति के समय विस्तार। पाता गगनरूपी अंकुर।
और अन्त में लीलता अक्षर। ॐकार के ।। ४० ।।

जब तक है यह विश्वाकार। दिखता है तदाकार।
प्रलय का बरपते कहर। कुछ भी नहीं रहता ।। ४१ ।।

ऐसा जो अनादि, सहज। मैं ही हूँ वह विश्वबीज।
तुम्हारी हथेली पर आज। रखता हूँ ।। ४२ ।।

उसका कर सही अवलोकन। करोगे उसका पूरा मनन।
तभी उसका फलज्ञान। होगा तुम्हें यथार्थ ।। ४३ ।।

अस्तु, ये शब्दों के आलाप। इनका करता हूँ संक्षेप।
तपस्वियों में जो तप। वह रूप मेरा ।। ४४ ।।

बलवानों का बल। मुझे ही जानो अटल।
धीमानों की मेधा केवल। मैं ही हूँ ।। ४५ ।।

जिससे प्राप्त अर्थ, काम। वह प्राणि मात्र के काम।
मैं ही, कहते आत्माराम। अर्जुन से ।। ४६ ।।

विकारों के होते प्रबल। उन्हें चलाता इन्द्रियानुकूल।
फिर भी धर्म के प्रतिकूल। होने नहीं देता ।। ४७ ।।

पगडंडी वर्जित कर्मों की। तज जो लेता, राह विधि की।
और मशाल नियमों की, रखता हाथ में ।। ४८ ।।

इसविध चलाता जो काम को। वह पूर्ण पा लेता धर्म को।
मोक्षधाम इसलिये संसारी को। मिलता मोक्षतीर्थ का ।। ४९ ।।

वह मंडवे पर वेद गौरव के। बेल चढ़ाता इतने काम के।
जब तक पल्लव कर्मफल के। छूते नहीं मोक्ष को ।। ५० ।।

ऐसा काम जो नियमबद्ध। प्राणिमात्र में बीजभूत।
वह मैं ही हूँ, कहता नाथ। योगीजनों का ।। ५१ ।।

क्या-क्या बताऊँ, धनुर्धर। यह जो वस्तुजात चराचर।
मुझसे ही पाया है विस्तार। समझा सबने ।। ५२ ।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।। १२ ।।

सत्व, रज, तम से अर्जुन। जो भी विकार हैं उत्पन्न।
वे सब मेरे ही कारण। इसे गुनो मन में ।। ५३ ।।

उत्पन्न वे मुझसे यद्यपि। मैं उनमें न होता कदापि।
जैसे, जागृति में न डुबाती वापी। जो देखी स्वप्न में ।। ५४ ।।

जैसे, रस से भरपूर होते। बीज सुडौल बन जाते।
किन्तु उनके अंकुर ही बनते। आगे चल कर काष्ठ ।। ५५ ।।

फिर क्या उस काष्ठ में। बीज होता अस्तित्व में ?।
वैसे, मैं नहीं होता विकारों में। विकारयुक्त होकर भी ।। ५६ ।।

अभ्र होता आकाश में। किन्तु आकाश नहीं अभ्र में।
अथवा पानी होता अभ्र में। किन्तु पानी में वह नहीं ।। ५७ ।।

उस पानी का होते घर्षण। तड़िता करती नभ में नर्तन ।
तो क्या उस तडिता में, अर्जुन। होता पानी ? ।। ५८।।

धुआँ उठता अग्नि से। किन्तु अग्नि नहीं धुएँ से ।
विकारयुक्त हो कर भी, वैसे। मैं न होता विकारों में ।। ५९।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।। १३।।

पानी पर काई जम जाती। वह पानी को ढँक देती ।
अभ्र के कारण नहीं दिखती। नभ की नीलिमा जैसे ।। ६०।।

स्वप्न तत्वतः होता असत्य। निद्रा के कारण लगता सत्य ।
तब आत्मरूप का स्मरण। होता क्या किसे ? ।। ६१।।

अथवा आँखों के पानी से। तिल्ली पड़ती नैनों में ।
किन्तु क्या वह दृष्टि में। बाधक नहीं बनती ? ।। ६२।।

वैसे, मुझमें अंकित, भैया। मेरे ही त्रिगुणों की छाया ।
किन्तु मेरे ही आड़े आया। परदा इसका ।। ६३।।

इसलिये प्राणी मुझे न जानते। मेरे हो करभी मद्रूप न होते ।
जैसे जल के जल में नहीं घुलते। मोती, पार्थ ।। ६४।।

माटी का घड़ा कच्चा होता। तो माटी में मिलाये मिल जाता ।
किन्तु वही भट्ठी में तपता। तो हो जाता भिन्न ।। ६५।।

वैसे प्राणिमात्र सर्व। मेरे ही हैं अवयव ।
किन्तु मायावश जीव। प्राप्त करते दशा ।। ६६।।

मेरे हो कर भी मैं नहीं। अपने ही मुझे जानते नहीं। ।
'मैं', 'मेरा' की भ्रान्ति में पड़ते ही। विषयांध हो गये वे ।। ६७।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। १४।।

मेरी इस त्रिगुणी माया को। भव पार कर जाने को। ।
क्या करना चाहिये तुमको। बताता हूँ, धनंजय ।। ६८ ।।

पहाड़ से ब्रम्हगिरि के। सोते निकले संकल्प के ।
जिनमें बुलबुले पंचभूतों के। ऐसी यह माया नहीं ।। ६९ ।।

जो सृष्टि-विस्तार के क्रम से। कालगति के वेग से ।
प्रवृत्ति-निवृत्ति के उत्तुंग-से। लाँघती तट ।। ७० ।।

त्रिगुण-मेघों की वर्षा होती। महामोह की बाढ़ आती ।
यमनियमों के नगरों को लेती। जो अपनी चपेट में ।। ७१ ।।

जिसमें विवर्त द्वेष के। और मोड़ मत्सर के ।
मुँह बाये विचरते प्रमाद के। महामीन ।। ७२ ।।

जहाँ सर्पाकार प्रपंच का। ज्वार कर्म-अकर्म का ।
तैरता आता सुख-दुःख का। कबाड़ जिस पर ।। ७३ ।।

वासना सुख के द्वीप पर। काम लहर उफन कर ।
टकराती झाग उछाल कर। भ्रमित होते जीव ।। ७४ ।।

बहाव में अहंकार के। मद-विद्या-धन-कुल के ।
उछालते विषयोर्मि के। उत्तुंग तरंग ।। ७५ ।।

जहाँ रेले उदयास्त के। ढहाते तट जन्म-मरण के ।
बुलबुले पंचभूतों के। उठते मिटते ।। ७६ ।।

जहाँ जलचर मोह-भ्रम के। लीलते आमिष धैर्य के ।
प्रचण्ड विवर्त अज्ञान के। चकराते रहते ।। ७७ ।।

भ्रान्ति के मटमैले जल में। जीव धँसते आशा के कीचड़ में ।
रजोगुण के कोलाहल में। गर्जन स्वर्ग का ।। ७८ ।।

तमोगुण की प्रबल धारा। सत्वगुण का दह गहरा ।
इस मायानदी को पार करना। अत्यंत दूभर ।। ७९ ।।

पुनर्जन्म की लहरें उठतीं। सत्यलोक के तट ढहातीं।
ब्रम्हाण्ड की शिलाएँ गिरतीं। धड़ाधड़ ।। ८० ।।

प्रकोप इस महाबाढ़ के। अब भी नहीं है रुके।
इसे पार करना किसी के। बस में नहीं ।। ८१ ।।

और एक है यहाँ आश्चर्य। कि तर जाने का हर उपाय।
सिद्ध होता है अपाय। कैसे, सुनो ।। ८२ ।।

जो इसमें घुसे बुद्धिबल पर। पता नहीं खो गये किधर।
ज्ञान के दह में गया डकार। घमंड कइयों को ।। ८३ ।।

तीन वेदों का बाँधा बेड़ा। किन्तु अहंता पाषाण उसमें जोड़ा।
उनका गर्क हो गया बेड़ा। मुँह में मद-मीनों के ।। ८४ ।।

जो यौवनावेश में कटिबद्ध। किन्तु हो गये मदन-विद्ध।
उन्हें वासना के नक्र क्रुद्ध। खा गये चाट कर ।। ८५ ।।

जो बुढ़ापे की लहर पर तैरते। मतिभ्रंश के जाल में उलझते।
पार्थ, वे पूरे जकड़े जाते। चहुँ ओर से ।। ८६ ।।

वे शोक-तट से जा टकराते। क्रोध-विवर्त में चकराते।
विपदाओं के गिद्ध नोचते। सिर उठाते ही ।। ८७ ।।

वे दुःख-पंक से लीपे गये। मृत्यु की रेत में धँस गये।
यों, जो विषय के पीछे पड़ गये। गये काम से ।। ८८ ।।

यज्ञक्रिया की पेटी किसी ने। बाँध ली पेट से अपने।
उन्हें स्वर्गसुख की चट्टानें। उलझा गयीं सहज ।। ८९ ।।

कोई मोक्षप्राप्ति की आशा से। रहे कर्मभुजाओं के भरोसे।
वे अन्त में उलझे उलझे से। रहे विधिनिषेधों में ।। ९० ।।

जहाँ वैराग्य की नाव नहीं। विवेक की डोर भी नहीं।
वहाँ कभी-कभार ही। वैराग्य काम आता ।। ९१ ।।

अपने ही बल बूते पर। माया नदी के उस पार।
जाना कैसे असम्भव व दूभर। पार्थ, अब सुनो ।। ९२ ।।

अपथ्य से रोग जाता। साधु, दुर्जन को जानता।
या कामी, ऋद्धि को त्यागता। प्राप्त होते हुए भी ।। ९३ ।।

चोरों का सम्मेलन होगा। मीन, काँटे को लील लेगा।
या कायर धावा बोलेगा। पिशाच पर ।। ९४ ।।

मृगशावक जाल तोड़ेगा। या चींटा मेरू चढ़ जायेगा।
तभी प्राणी जा पायेगा। माया नदी के पार ।। ९५ ।।

इसलिये, सुनो मेरे पार्थ। स्त्री को न जीतता कामासक्त।
वैसे माया-सरिता का पात्र। पार करना असम्भव ।। ९६ ।।

किन्तु जो मेरी शरण में आते। लीलया इसे तर जाते।
उनके माया तड़ाग सूखते। इस पार रहते ही ।। ९७ ।।

सद्गुरु जिनका हो केवट। अनुभव पाथेय हो अक्षत।
आत्मबोध का हो प्राप्त। पोत जिन्हें ।। ९८ ।।

जो अहंता का बोझा फेंकते। विकल्पों की हवा से बचते।
आसक्ति-धारा को टालते। निकलते जाने को ।। ९९ ।।

आते ऐक्य का उतार। जो आत्मबोध का लेते आधार।
पार्थ, वे माया नदी के पार। पहुँच जाते हैं ।। १०० ।।

वे वैराग्य करों से पानी काटते। सोऽहं भाव के बल पर तैरते।
निवृत्ति-तट पर पहुँच जाते। सहज, अर्जुन ।। १०१ ।।

इस उपाय से मुझे भजते। वे ही मेरी माया के पार जाते।
किन्तु ऐसे भक्त जगत में होते। बहुत थोड़े ।। १०२ ।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। १५ ।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। १६ ।।

क्योंकि अन्य सभी पर। अहं का भूत होता सवार ।
इसलिये वे देते बिसार। आत्मबोध को ।। १०३ ।।

नियम-वस्त्रों का भान खो कर। अधः पतन की लाज छोड़ कर ।
करते वेदबाह्य व्यवहार। अर्जुन, वे ।। १०४ ।।

इस देहग्राम में जिसलिये। पार्थ, वे होते आये ।
उस कार्य को देते भुलाये। ये लोग ।। १०५ ।।

और इन्द्रियनगर के राजपथ पर। बड़बड़ाते फिरते दंभ कर ।
विकारों का मेला लगा कर। बतियाते हैं ।। १०६ ।।

दुःख शोक के घाव होते। किन्तु इनके नहीं होश होते ।
इस तरह मायाग्रस्त होते। जीव सभी ।। १०७ ।।

इसलिये वे मुझे खोते। किन्तु जो चतुर्विध भजा करते ।
वे आत्महित को बढ़ाते। अखण्डित ।। १०८ ।।

पहला कहलाता आर्त। दूसरा जिज्ञासु ख्यात ।
तीसरा अर्थार्थी भक्त। चौथा ज्ञानी ।। १०९ ।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।। १७ ।।

आर्त, दुःख हरने के लिये। जिज्ञासु, ज्ञान पाने के लिये ।
अर्थार्थी अर्थसिद्धि के लिये। भजते मुझको ।। ११० ।।

किन्तु वह जो चौथा होता। मुझसे कुछ भी नहीं माँगता ।
वही सच्चा भक्त कहलाता। ज्ञानी, पार्थ ।। १११ ।।

उसे ज्ञान का प्रकाश मिलता। भेदा-भेद का अँधेरा छँटता ।
एकरस हो कर मद्रूपता। पाता भक्त मेरा ।। ११२ ।।

जैसे स्फटिक जलरूप लगता। ज्ञानी, जनदृष्टि में वैसे होता।
पार्थ, उसकी विशिष्टता। बताना असम्भव ।। ११३ ।।

गगन में पवन शान्त होता। नहीं रहती उसकी पवनता।
वैसे इसका भक्तिभाव न जाता। मद्रूप होने पर भी ।। ११४ ।।

कोई पवन को हिलाता। तो वह गगन से निराला लगता।
अन्यथा पवन का गगन में होता। एकरूपत्व ।। ११५ ।।

वैसे देहधर्म करते। ये भक्त मेरे ही लगते।
किन्तु वे मद्रूप हैं होते। भीतरी अनुभव से ।। ११६ ।।

और ज्ञान प्रकाश के कारण। मैं ही आत्मा हूँ यह ज्ञान।
होता उसे, अतः मैं भी अर्जुन। उसे आत्मा कहता हूँ ।। ११७ ।।

अरे जीवात्मा का परा ज्ञान। पा कर जो करता आचरण।
वह क्या देह के कारण। मुझसे भिन्न होता ? ।। ११८ ।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।। १८ ।।

अतः अपना साधने स्वार्थ। मेरी भक्ति करते कई, पार्थ।
किन्तु मेरी प्रीति निःस्वार्थ। केवल ज्ञान पर ।। ११९ ।।

देखो, रख गोरस की आस। जगत डालता धेनु पर पाश।
किन्तु वत्स को वह बिना पाश। पिलाती दूध ।। १२० ।।

क्योंकि तन-मन-प्राण से। वह जुड़ा अन्य किसी से।
जो भी दिखे कहता उसे। अपनी माता ।। १२१ ।।

वह होता अनन्यगति। धेनु को भी वैसी ही प्रीति।
यह जो कह गये लक्ष्मीपति। उसे ही जानो सत्य ।। १२२ ।।

अस्तु रहने दो अन्य बात। ये जो बताये अन्य भक्त।
वे भी प्रिय सर्वथा, पार्थ। होते मुझे ।। १२३ ।।

उन्हें मेरा ज्ञान होते ही। संसार की ओर मुड़ते नहीं ।
जैसे नदी मिलते सागर माहीं। नहीं लौटती वापस ।। १२४ ।।

वैसे अंतरतम से निकली। जिनकी अनुभवगंगा मुझमें मिली ।
वह मै ही हूँ, यह बात भली। कितनी बताऊँ ।। १२५ ।।

अन्यथा, जो ज्ञानी कहलाता। वह मेरा चैतन्य ही होता ।
यह गोपनीय रहस्य सर्वथा। कह दिया तुम्हें ।। १२६ ।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। १९ ।।

घना विषय-वन पार कर। काम-क्रोध के विघ्न टाल कर ।
जो आया पर्वत चढ़ कर। सद्भावना का ।। १२७ ।।

जो सन्तों के संग रहता। सत्कर्म की सीधी राह लेता ।
पगडंडी से बच कर आता। दुराचार की ।। १२८ ।।

जो फलाशारहित नंगे पाँव। शतजन्म चलता भक्ति राह ।
उसकी फलाशा का थाह। पायेगा कौन ? ।। १२९ ।।

देह तन्मयता की रात, भ्राता। जो अकेले ही दौड़ते बिताता ।
ज्ञान की पौ फटते देखता। कर्मक्षय हो कर ।। १३० ।।

तभी गुरुकृपा की उषा आती। ज्ञानसूर्य की किरणें फैलतीं ।
समदृष्टि की दीखती सम्पत्ति। उसे वहाँ ।। १३१ ।।

तब वह जहाँ-जहाँ देखता। वहाँ-वहाँ मैं ही दिखायी देता ।
अथवा वह एकान्त में बैठता। वहाँ भी देखता मुझे ही ।। १३२ ।।

घट दह में डूबता। भीतर बाहर जल में रहता ।
वैसे उसके लिये, भ्राता। सर्वत्र होता मैं ही ।। १३३ ।।

वह रहता मेरे अन्दर। मैं उसके भीतर-बाहर ।
इसे और स्पष्टतर। बताना असम्भव ।। १३४ ।।

कहते योगेश्वर, धनुर्धर। वह सर्वत्र देखता ज्ञानागार ।
जहाँ भी जाता, संसार। देखता स्वरूप में ।। १३५ ।।

यह समस्त विश्व वासुदेव। यही उसने किया अनुभव ।
अतः वही भक्तों में श्रेष्ठ सर्व। सर्वज्ञाता वही ।। १३६ ।।

अपने अनुभव भांडार में, भ्राता। जो चराचर को समा लेता ।
ऐसा महात्मा होता। दुर्लभ विश्व में ।। १३७ ।।

अन्य कई मुझको भजते। किन्तु भोग के लिये भक्ति करते ।
अतः आशा तिमिर में होते। विषयांध वे ।। १३८ ।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।। २० ।।

होते ही फल का लालच। हृदय में काम करता प्रवेश ।
उसके संसर्ग से ज्ञानदीप। बुझ जाता है ।। १३९ ।।

फिर ऐसा फैलता तिमिर। कि मुझसे चले जाते दूर ।
भजते सर्व भाव से धनुर्धर। अन्य देवताओं को ।। १४० ।।

पहले ही प्रकृति के अधीन। और भोग के लिये होते दीन ।
करते सकौतुक लम्पट बन। भक्ति कैसी-कैसी ।। १४१ ।।

नियम सभी समझ लेते। पूजा-सामग्री इकट्ठी करते ।
यथाविधि अर्पण करते। शास्त्रानुसार ।। १४२ ।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। २१ ।।

जो जिस देवता को चाहता। उसे भजने की इच्छा रखता ।
उसकी इस इच्छा को पूरी करता। मैं ही, धनंजय ।। १४३ ।।

वे देवी और देवता मैं ही। यह निश्चय कर पाते नहीं ।
इसलिये अपने-अपने देवता भी। मानते अलग ।। १४४ ।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। २२ ।।

फिर उस श्रद्धा से हो कर युक्त। जिस देवता को जो उचित ।
यथाविधि सिद्धिपर्यन्त। अर्पण करते वे ।। १४५ ।।

यों, जो-जो फल चाहते। प्रयत्लपूर्वक प्राप्त करते ।
वे सब फल उन्हें मिलते। मेरे कारण ही ।। १४६ ।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।। २३ ।।

किन्तु जो भक्त मुझे नहीं जानते। वे आशा मुक्त नहीं होते ।
इसलिये वाँछित फल पाते। नाशवंत ।। १४७ ।।

प्रत्युत पार्थ, ऐसा भजन। होता संसार का ही साधन ।
भंगुर स्वप्नसुख के समान। फलभोग जिसका ।। १४८ ।।

अस्तु जो भी देवता। जिसे अत्यंत भा जाता ।
उसीकी भक्ति से प्राप्त होता। ईश्वरत्व उसे ।। १४९ ।।

जो कर तन-मन अंर्पण। मेरा ही करते हैं भजन ।
वे होते ही देहावसान। मद्रूप होते ।। १५० ।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। २४ ।।

किन्तु प्राणी ऐसा नहीं करते। वृथा स्वहित का नाश करते ।
मानो चुल्लू भर पानी में तैरते। फलाभिलाषी ।। १५१ ।।

अथवा अमृतसागर में पैठते। मुँह को कस कर बंद करते ।
और मन में याद करते। पोखर के पानी को ।। १५२ ।।

आखिर, ऐसा किस लिये करें ?। कि अमृत में डूबकर भी मरें ? ।
अमृत बन कर क्यों न रहें। अमृत में सुख से ? ।। १५३ ।।

फलाशा के पिंजरे को तज कर। अनुभव-पंखों के बल पर ।
क्यों न जीतें, धनुर्धर। चिदम्बर को ? ।। १५४ ।।

जहाँ जितना भी ऊँचा उड़ें। उतना ही वह फैल जायें ।
जहाँ सुख से उड़ान भर पायें। हम सदैव ।। १५५ ।।

मैं अमाप, क्यों मापें मुझे ? अव्यक्त हूँ, क्यों व्यक्त समझें ? ।
स्वयंसिद्ध हूँ, क्यों वारे जायें। मुझ पर साधन ? ।। १५६ ।।

यह मेरा कहना सभी। कितना भी सोचने पर भी ।
बहुधा जँचेगा नहीं। इन प्राणियों को ।। १५७ ।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।। २५ ।।

योगमाया की यवनिका से। जो हो गये हैं अंधे-से ।
प्रकाश में भी वे मुझे। देख सकते नहीं ।। १५८ ।।

अन्यथा मैं नहीं जिसमें। ऐसी कोई वस्तु है जग में ? ।
क्या पानी बिना रस के। होता है कहीं ? ।। १५९ ।।

पवन से कौन है अछूता ? । नभ को किसका सहारा होता ? ।
अस्तु समूचे विश्व में समाता। मैं ही एक ।। १६० ।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।। २६ ।।

जगत में जितने हो गये भूत। मैं ही था उन सबमें, पार्थ ।
और आज जो हैं जीवित। उनमें भी हूँ ।। १६१ ।।

या आगे जो भी आयेंगे। वे भी मुझसे भिन्न नहीं होंगे ।
किन्तु इसका विचार नहीं करेंगे। आने-जाने वाले ।। १६२ ।।

डोरी के साँप को कोई। काला, कौडिया, बताता नहीं ।
वैसे भूतमात्र की कल्पना भी। होती मिथ्या ।। १६३ ।।

इसविध मैं पण्डुसुत। सदा रहता हूँ सर्वगत।
जो संसार उनसे लिप्त। अलग ही है।। १६४।।

इस विषय में बात छोटी-सी। कहता हूँ, सुनो जरा-सी।
काया और अहंकार की आपसी। जब होती प्रीत।। १६५।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।। २८।।

उनके इच्छा नामक कन्या हुई। वह सकाम युवती हुई।
और फिर ब्याही गयी। द्वेष से।। १६६।।

उन दोनों के पुत्र हुआ। द्वंद्वमोह नामकरण हुआ।
अहंकार ने संवर्द्धन किया। उसका नाना बन।। १६७।।

वह धैर्य का शत्रु बना। नियमों की करे अवमानना।
लालसा का दूध पी बना। हृष्टपुष्ट।। १६८।।

वह असन्तोष की मदिरा पी गया। उसके नशे में उन्मत्त हो गया।
विषयोपभोग से उसका जिया। भरता ही नहीं।। १६९।।

इसने शुद्ध भक्ति के मार्ग पर। विकल्प के काँटे फैला कर।
दी पगडंडियाँ बना कर। कुप्रवृत्तियों की।। १७०।।

इस कारण प्राणिमात्र भ्रमित। संसार-वन में हुए प्रविष्ट।
और सहने लगे नाना आघात। संसार के।। १७१।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। २८।।

ये विकल्प के नोकदार। किन्तु व्यर्थ के काँटे देख कर।
जो नहीं करते स्वीकार। मतिभ्रम से लौट जाना।। १७२।।

एकनिष्ठा के पैरों तले। विकल्प-कंटक जिन्होंने कुचले।
महापाप के अरण्य से चले। जाते वे आगे।। १७३।।

फिर पुण्यपथ पर दौड़ते। जो मेरे पास आ जाते।
वे चंगुल से बच जाते। राहजनी के।। १७४।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। २९।।

वैसे भी पार्थ, अन्यथा। जन्ममरण की समाप्त हो कथा।
ऐसे यत्नों को जिनकी आस्था। जन्म देती।। १७५।।

इनके यत्नों को यथाकाल। परब्रह्म का लगता फल।
रस रिसता जिससे केवल। पूर्णता का।। १७६।।

विश्व में फैलती कृतार्थता। अध्यात्म-शौक पूरा होता।
कर्म का काम समाप्त होता। मन होता प्रशान्त।। १७७।।

अर्जुन, पूरा समझ लो मन में। ऐसा अध्यात्मलाभ जगत में।
होता उन्हें जिनके परमार्थ उद्यम में। मैं ही पूँजीनिवेश।। १७८।।

उन्हें ब्याज मिलता सम-वृत्ति का। ऐश्वर्य लाभता ऐक्य का।
भेदरूप दैन्य का। रहता नहीं नाम भी।। १७९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। ३०।।

मुझे जिन्होंने सशरीर। पंचभूतों को साथ ले कर।
अनुभवों के हाथ बढ़ा कर। स्पर्श किया।। १८०।।

जो ज्ञानबल से मुझे। परमात्मारूप में देखें।
वे शरीर वियोग से। होते नहीं दुखी।। १८१।।

आयुसूत्र के खण्डित होते। जो कितना हाहाकार मचाते।
क्या प्रलय आया नहीं मानते। न मरने वाले का ?।। १८२।।

किन्तु न जाने कैसे मद्रूप। वे हो जाते हैं, परंतप।
जो आने पर भी प्रयाण-समय। . छोड़ते नहीं मुझे।। १८३।।

इसलिये जानो, अर्जुन। जो ऐसे हैं मत्परायण ।
वे ही सच्चे योगीजन। अन्तःकरण से ।। १८४ ।।

किन्तु इस शब्द-झारी के तले। पार्थ, कर-सम्पुट नहीं थे खुले ।
पूर्व श्लोक में ही थे घुले। विचार उसके ।। १८५ ।।

जहाँ ब्रह्मज्ञान के शब्दफल। भरे अर्थ-रसों से विपुल ।
जिनका भक्ति परिमल। सर्वत्र फैला था ।। १८६ ।।

तब कृपा का मंद अनिल। कृष्णतरु के वचनफल ।
अर्जुन की श्रवण-झोली में डाल। भर गया उसे ।। १८७ ।।

वे बने थे वेदान्त प्रमेयों के। डुबोये सागर में ब्रह्मरस के ।
घुल गये थे कण-कण जिनके। परमानन्द में ।। १८८ ।।

उन निर्मल फलों को देख कर। उन्मेष आया उफन कर ।
विस्मयामृत की, धनुर्धर। लेता चुसकियाँ ।। १८९ ।।

वह सुखसम्पदा क्या पाया। स्वर्ग को मुँह चिढ़ाता गया ।
अन्तरतम में गुदगुदियाँ। होने लगीं उसे ।। १९० ।।

फलों का ऐसा बाह्य रूप। देखते ही मिला सुख अमाप ।
रसास्वाद की चाह अनूप। जागी मन में ।। १९१ ।।

अनुमान की हथेली पर। तुरन्त शब्दफल ले कर ।
अनुभूति के मुख में कौर। अर्जुन, ठूँसने लगा ।। १९२ ।।

विचार रसना लील सकी नहीं। हेतु के दाँत काट पाये नहीं ।
यह जान कर उन्हें छुआ नहीं। अर्जुन ने ।। १९३ ।।

फिर चकित हो कर लगा कहने। बिम्ब यह तारों का जल में ।
इन शब्दों को ही धोखे में। फल मैंने माना ।। १९४ ।।

ये अक्षर नहीं कतई। गगन की मानों तहें जमायीं ।
इसमें कितनी भी पैठ लगायी। थाह नहीं पा सकता ।। १९५ ।।

कैसे जानूँ इन वचनों को ?। यही चिन्ता पड़ी अर्जुन को ।
उसी भाव से श्रीअनंत को। देखा उसने ।। १९६ ।।

फिर कहता, करते विनय। यह तो बड़ा ही विस्मय ।
सात पदों की महिमा आज तक। ना कही, ना जानी कैसे ? ।। १९७ ।।

अन्यथा कर एकाग्र चित्त। श्रवणमात्र से नाना सिद्धान्त ।
रहते हैं अविवेचित। क्या कभी कहीं ? ।। १९८ ।।

किन्तु यह बात वैसी नहीं। मैंने देखा शब्दसमूह ही ।
और विस्मित हुआ विस्मय ही। यहाँ श्रीपति ।। १९९ ।।

कानों के गवाक्ष से श्रीकृष्ण। भीतर आते शब्दकिरण ।
तभी चमत्कार से अवधान। ढला मेरा ।। २०० ।।

मुझे अर्थ जानने की है आस। यह कहने में भी जो समयनाश ।
वह भी असह्य है, हृषीकेश। कहिये शीघ्रता से ।। २०१ ।।

पूर्वकथन को पड़ताल कर। आगामी का ध्यान रख कर ।
बीच में अपनी आस जता कर। यों पूछा अर्जुन ने ।। २०२ ।।

देखिये प्रश्न की कुशलता। बिना छोड़े शालीनता ।
कैसे श्रीकृष्ण के गले लगता। भक्त अर्जुन ।। २०३ ।।

श्रीगुरु से जब पूछना होता। तो ऐसी ही चाहिये सावधानता ।
यह भली - भाँति जानता। अकेला सव्यसाची ।। २०४ ।।

देखिये अब अर्जुन का प्रश्न करना। सर्वज्ञ हरि का उत्तर देना ।
इसकी प्रेमपूर्वक विज्ञापना। करता कैसे संजय ।। २०५ ।।

ठीक से दीजे अवधान। सरल स्वभाषा में निरूपण ।
जैसे, कान से अधिक नैन। उपयोगी होते ।। २०६ ।।

वैसे, अब बुद्धि की रसना। शब्द की गरी चखेगी ना ।
अक्षरों की देख रचना। स्तब्ध होगी इन्द्रियाँ ।। २०७ ।।

जैसे सुगंध मालती की। नाक को सन्तोष देती।
किन्तु क्या सुन्दरता से उसकी। नैन प्रसन्न नहीं होते ? ।।२०८।।

ऐसा भाषा का सौन्दर्य। इन्द्रियों को देगा सुखसाम्राज्य।
और वे सत्वर सभी प्रमेय। बूझ पायेंगी ।।२०९।।

ऐसा वह सुन्दर कथन। जिसे सुन थमता निरूपण।
कहता उसका करिये श्रवण। ज्ञानदेव निवृत्ति का ।। २१०।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
ज्ञानविज्ञानयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय सातवाँ ।।



।। अध्याय आठवाँ ।।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।। १ ।।

तब कृष्ण से कहता अर्जुन। देव दीजिये अवधान ।
अब मैं जो करूँगा प्रश्न। दीजिये उत्तर उनका ।। १ ।।

कहिये, ब्रह्म क्या होता। कर्म किसे कहा जाता ? ।
अथवा अध्यात्म है देवता। कहते किसे ? ।। २ ।।

अधिभूत होता कैसे ?। क्या अर्थ अधिदेव से ? ।
मेरी समझ में आवे ऐसे। कहिये सारा ।। ३ ।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।। २ ।।

देव अधियज्ञ क्या होता ?। इस देह में कौन है होता ? ।
अनुमान मात्र से हे, देवता। सही बोध होता नहीं ।। ४ ।।

जो मन को करते संयत। उन्हें अन्त समय होते हों ज्ञात ।
वह कैसे, मुझे समस्त। कहिये भगवन ।। ५ ।।

चिन्तामणि के मन्दिर में। भाग्यवंत का सहज में ।
बड़बड़ाना भी नींद में। व्यर्थ नहीं जाता ।। ६ ।।

जैसे कहिये कहता अर्जुन। तब बोले श्री भगवान ।
तुमने किया है जो प्रश्न। सुनो उत्तर उसका ।। ७ ।।

कामधेनु का वत्स पार्थ। ऊपर कल्पतरू विस्तृत ।
उसके हो गये सफल मनोरथ। आश्चर्य नहीं ।। ८ ।।

कृष्ण क्रोध से भी मारे जिसे। ब्रह्मपद प्राप्त होता उसे ।
जिसे मिले उपदेश कृपा से। उसे अप्राप्य क्या ? ।। ९ ।।

श्रीकृष्ण से पाते तद्रूपता। अंतःकरण कृष्ण हो जाता ।
फिर संकल्प की करने पूर्तता। सिद्धियाँ होतीं सिद्ध ।। १० ।।

किन्तु इतना जो प्रगाढ़ प्रेम। अर्जुन में ही था निस्सीम ।
इसलिये उसके सकल काम। सदा सफल होते ।। ११ ।।

ऐसा यह अर्जुन। मन से करेगा प्रश्न ।
यह जान कर श्रीकृष्ण। उत्तर रखते सिद्ध ।। १२ ।।

शिशु स्तनपान पर जीता। उसकी भूख जानती माता ।
वह क्या बोल कर बताता। माँ दूध पिलाओ ? ।। १३ ।।

अतः, सद्गुरु जहाँ कृपावन्त। वहाँ यह प्रेम नहीं अद्भूत ।
अस्तु अब सुनिये बात। श्रीकृष्ण ने जो कही ।। १४ ।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।। ३ ।।

श्रीकृष्ण समझाते बात। इस फूटे देह में, पार्थ ।
भरने पर भी ओतप्रोत। जो चूता नहीं कदापि ।। १५ ।।

वह सूक्ष्म भले दे दिखायी। स्वभाव से शून्य होता नहीं ।
गगन-वस्त्र से उसे भाई। छान लिया हो जैसे ।। १६ ।।

ऐसा जो होता महीन। प्रपंच की झोली से, अर्जुन ।
हिलाने पर भी ढुलता न। वह परब्रह्म ।। १७ ।।

और यद्यपि साकार होता। जो जन्म नहीं लेता।
आकार जब नष्ट होता। जो न नष्टता कदापि ।। १८ ।।

ऐसी सहजावस्था में। ब्रह्मतत्त्व निज स्थान में।
होता, उसे जगत में। कहते अध्यात्म ।। १९ ।।

आँगन में नील गगन के। अचानक नाना रंगों के।
घिर आते पटल मेघों के। वैसे पता नहीं ।। २० ।।

वैसे विशुद्ध और अमूर्त। प्रकृति के भेदों से युक्त।
वहाँ उत्पन्न हैं होवत। आकार ब्रम्हाण्ड के ।। २१ ।।

निर्विकल्प ब्रह्म के पठार पर। फूटता आदिसंकल्प का अंकुर।
फिर लहलहाता सत्वर। ब्रम्हगोलकों से ।। २२ ।।

उन आकारों को देखने पर। लगता ब्रम्हबीजों से भरपूर।
उनसे ही आते-जाते अपार। जीव अगणित ।। २३ ।।

कण-कण से ब्रम्हगोलों के। असंख्य रूप आदिसंकल्प के।
खिलते, बढ़ते संसार के। जीवोद्यान ।। २४ ।।

किन्तु अद्वितीय अकेला ही। परब्रम्ह होता सब माहीं।
अनेकता देती दिखायी। बाढ़ जैसी ।। २५ ।।

समता-विषमता के बोध बिन। चराचर बढ़ता अकारण।
देखते-देखते होती उत्पन्न। लाखों योनियाँ ।। २६ ।।

अन्य भी नाना जीव-विस्तार। जिनकी सीमा बताना दूभर।
इस अपरम्पार की जड़ में, धनुर्धर। होता वही शून्य ।। २७ ।।

मूल में कर्त्ता होता नहीं। अन्त में कारण भी नहीं।
बीच में कार्य अपने आप ही। बढ़ता है, भारत ।। २८ ।।

ऐसा कर्त्तारहित गोचर। निराकार का आकार।
उसका चलता जो व्यापार। उसे कहते कर्म ।। २९ ।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।। ४ ।।

अब अधिभूत जो कहलाता। संक्षेप में हूँ बताता ।
जैसे होता और विलोपता। मेघमंडल ।। ३० ।।

अंस्तित्व जो भी दिखायी देता। पंचभूत जिसके निर्माता ।
वह वैसा तत्वतः नहीं होता। समझ लो, अर्जुन ।। ३१ ।।

यों जो भूताश्रित रहता। भूतसंयोग से दिखायी देता ।
जो विनाशकाल में लोपता। नाममात्र ।। ३२ ।।

उस देह को मानो अधिभूत। उसमें जीव अधिदैवत ।
जो सभी प्रकृतिजनित। भोग है भोगता ।। ३३ ।।

जो नेत्र होता चेतना का। अधिपति इन्द्रियदेश का ।
संकल्प-खगों के लिये वृक्ष बनता। अन्तसमय में ।। ३४ ।।

जो दूजा परमात्मा ही होता। अहंकार नींद सोया होता ।
स्वप्न व्यापार से अतः। थकता, तोषता है ।। ३५ ।।

जीव नाम से जिसे। पहचानते स्वभाव से ।
अधिदैव जानो उसे। इस पंचायतन का ।। ३६ ।।

इसी देह ग्राम में, अर्जुन। देहभाव का करता शमन ।
वह इस देह में सप्रमाण। अधियज्ञ मैं हूँ ।। ३७ ।।

अन्यथा अधिभूत। मैं ही तत्त्वतः समस्त ।
सोने में होते मिलावट। क्या न होता हलका ? ।। ३८ ।।

फिर भी उसकी स्वर्णता नहीं हीन। न होती टाँके से मलिन ।
किन्तु उसमें मिला सुवर्ण। मिलावटी ही कहलाता ।। ३९ ।।

वैसे अधिभूत आदि समस्त। जब तक अज्ञान से आवृत ।
तब तक उन्हें भेदयुक्त। मानो, अर्जुन ।। ४० ।।

किन्तु अज्ञान का परदा उठते। भेदभाव के नष्ट होते।
उन्हें एकत्र रखना चाहते। तब रहते क्या वे अलग ? ।। ४१।।

केशों की गुत्थी पर। स्फटिक मणि रखने पर।
भग्न अनेक स्थानों पर। दिखता वह ।। ४२।।

फिर केशों को हटाते ही। भग्नता दिखती नहीं।
तो क्या टाँके लगा कर कोई। जोड़ गया स्फटिक को ? ।। ४३।।

स्फटिक मूलतः अखण्डित। केशों के संग लगा खण्डित।
वह पूर्ण रूप करता प्राप्त। केशों को हटाते ही ।। ४४।।

वैसे अहंभाव जब लोपता। मूलतत्वों की एकता।
जहाँ पाती है सत्यता। वह अधियज्ञ में ।। ४५।।

जो हेतु धर मानस में। सभी यज्ञों का मूल कर्म में।
बताया था चौथे अध्याय में। वही यह अधियज्ञ ।। ४६।।

यह विश्राम सकल जीवों का। महाधन ब्रह्मसुख का।
पाण्डव, विस्तार से उसका। करता हूँ विवेचन ।। ४७।।

वैराग्य का ईंधन भर कर। इन्द्रियाग्नि को प्रदीप्त कर।।
वासना की आहुति चढ़ा कर। करते हवन ।। ४८।।

वज्रासन की भूमि शुद्ध। उस पर आसन मूलबंध।
उस पर खड़ा करते मंडप। शरीर का ।। ४९।।

वहाँ संयमाग्नि की वेदी में। इन्द्रिय-द्रव्य विपुल मात्रा में।
अखंड यज्ञमन्त्रों के घोष में। करते यज्ञ ।। ५०।।

मन-प्राणों का संयमन। यही हवन का साधन।
उससे सन्तुष्ट करते सम्पूर्ण। निधूम ज्ञानाग्नि ।। ५१।।

इस विध करते ज्ञानार्पण। ब्रह्म में विलीन होता ज्ञान।
अकेला ज्ञेय ब्रह्म, सम्पूर्ण। पीछे रहता ।। ५२।।

इसे ही कहते अधियज्ञ। यों कहता जब सर्वज्ञ।
प्रज्ञावंत अर्जुन सुज्ञ। समझ गया ।। ५३ ।।

यह जान कर बोले श्रीकृष्ण। तुमने उत्तम किया श्रवण।
सुन कर यह कृष्णवचन। सन्तोष पाया पार्थ ने ।। ५४ ।।

पुत्र की तृप्ति से तृप्त। या शिष्य के कृतीत्व से कृतार्थ।
होना जानते हैं, पार्थ। केवल माँ या सद्‌गुरु ।। ५५ ।।

अतः सात्विकता के भाव खिले। कृष्ण-मन में पार्थ से पहले।
मन में समाये न सँभले। कृष्ण हुए संयत ।। ५६ ।।

फिर पके सुख का परिमल। या ठण्डे अमृत का कल्लोल।
वैसे कोमल और सरल। बोल बोलते कृष्ण ।। ५७ ।।

कहने लगे हृषीकेश। सुनो श्रोताओं के नरेश।
माया के जल जाते गुडाकेश। जलाता ज्ञान जल से भी ।। ५८ ।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ।। ५ ।।

अधियज्ञ कहते हैं जिसे। वह अभी कहा मैंने तुमसे।
आदि-अन्त में जो मुझसे। होते एकरूप ।। ५९ ।।

वे देह को मिथ्या मानते। स्वयं ब्रह्म बन कर रहते।
अवकाश व्याप्त घर जैसे। रहता अवकाश में ही ।। ६० ।।

वैसे अनुभव के घर में, भ्राता। उसका निश्चय घन-आयाम पाता।
देहादिक का नहीं रहता। स्मरण तक ।। ६१ ।।

ऐसी अन्तर्बाह्य एकता। पा कर जो मद्रूप होता।
अनजाने ही नष्ट होता। उसका देह-बोध ।। ६२ ।।

देह रहता है या गिरता। उसे नहीं होती चिन्ता।
पानी तक नहीं हिलता। उसकी प्रतीति का ।। ६३ ।।

ढलुवा ऐक्य रस की मूरत। नित्यता के हृदय में स्थापित।
पूर्णानन्द सागर में स्नात। पूत उसकी प्रतीति ।। ६४।।

अथाह सागर में घट को डुबोया। वह अन्तर्बाह्य जलमय हो गया।
दैव से वहीं टूट जाये तो क्या। जल भी टूटता ? ।। ६५।।

या साँप केंचुली तजता। या गर्मी से कोई वस्त्र फेंकता।
तो अंगों का क्या बिगड़ता। उसकी कृति से ? ।। ६६।।

वैसे मिथ्या देह नष्ट होता। किन्तु ब्रह्म सर्वत्र बना रहता।
मति उसीसे पाये तद्रूपता। तो भय किस बात का ? ।। ६७।।

अन्त समय में इसलिये। मेरा स्मरण करते हुए।
देह तजते वे मद्रूप हो गये। जानो, पार्थ ।। ६८।।

अन्यथा क्रम है साधारण। कि प्राप्त होता हो जब मरण।
चित्त करता जिसका स्मरण। वही स्वयं हो जाता ।। ६९।।

जैसे कोई भय का मारा। भागा जाता बिना सहारा।
मार्ग में कुएँ में हो जा गिरा। अकस्मात् ।। ७०।।

गिरने से पहले उसे। बचने के लिये गिरने से।
कोई सहारा न होने से। गिरना पड़ता है ।। ७१।।

वैसे मृत्यु के समय समक्ष। जो भी दिखता प्रत्यक्ष।
तद्रूप उससे विवश। होना ही पड़ता है ।। ७२।।

और मनुष्य जब जागृत रहता। जो-जो विचार मन में लाता।
उन्हें ही नींद में भी देखता। स्वप्नरूप में ।। ७३।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। ६ ।।

वैसे जीवन भर में, पार्थ। जो भी होता प्रिय बहुत।
देहान्त के समय निश्चित। वही याद आता ।। ७४।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। ७ ।।

मरते समय जो याद आता। उसी गति को वह पाता ।
अतः उचित, मेरा ही सर्वदा। सुमिरन करो ।। ७५ ।।

नयनों से जो दिखायी देता। कानों से सुनायी पड़ता ।
मन जिसका मनन करता। वाणी बोलती जिसे ।। ७६ ।।

वह बाहर या भीतर। मैं हूँ, धनुर्धर ।
इसे समझ लेने पर। पाओगे मुझे सर्वत्र ।। ७७ ।।

ऐसी जिसकी होती अवस्था। वह देहान्त पर भी नहीं मरता ।
फिर इस युद्ध में तुम्हें, भ्राता। किसका भय ? ।। ७८ ।।

अपनी बुद्धि और मन। मुझे ही करो समर्पण ।
शपथपूर्वक कहता हूँ, अर्जुन। होंगे मद्रूप ।। ७९ ।।

यह सम्भव कैसे होगा। सन्देह ऐसा हो जागा ।
पहले अभ्यास करना होगा। न हो, तो बताओ ।। ८० ।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।। ८ ।।

अतः योगाभ्यास और चित्त। इनका मेल बिठाओ उचित ।
भैया, पंगु चढ़ जाता पर्वत। अभ्यास करने से ।। ८१ ।।

करते योगाभ्यास नित्य। ब्रह्मध्यान में लगाओ चित्त ।
फिर इस देह का अन्त। हो न हो ।। ८२ ।।

जो नाना गतियों को पाता। वह चित्त आत्मरूप हो पाता ।
तो देह की क्या है चिन्ता। रहा या न रहा ।। ८३ ।।

सरिता जल जोर से बहता। सागर से मिलने जाता ।
वह क्या कभी मुड़ता। पीछे देखने को ? ।। ८४ ।।

वह सागर में सागरमय होता। वैसे चित्त जब चिन्मय होता ।
तो परमानन्द में समाप्त होता। जन्म और मरण ।। ८५ ।।

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।। ९ ।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।। १० ।।

जो होता आकारहीन। जिसे नहीं जन्म-मरण ।
जो समग्र का करता दर्शन। समग्र भाव से ।। ८६ ।।

जो पुराना गगन से भी। सूक्ष्म परमाणु से भी ।
जिसके सान्निध्य से ही। विश्व चलता ।। ८७ ।।

जो सबको प्रसवता। विश्व को जीवन देता ।
तर्क जिससे भय खाता। वह है कल्पनातीत ।। ८८ ।।

अग्नि में दीमक नहीं लगती। तमिस्रा तेज में नहीं घुलती ।
ज्ञान-दिवस में भी नहीं देखतीं। स्थूल आँखें जिसे ।। ८९ ।।

सूर्यकणों की राशि समान। जो ज्ञात के लिये प्रकाशमान ।
जिसमें अस्त का नामोनिशान। रहता नहीं ।। ९० ।।

उस अव्यंग ब्रह्म को ग्रहण। प्रयाण के समय उसका स्मरण ।
करते हुए मन को, हे अर्जुन। सुस्थिर जो करता ।। ९१ ।।

पद्मासन की मुद्रा में। मुख कर उत्तर दिशा में ।
सुख को सँजोए हृदय में। कर्मयोग के ।। ९२ ।।

अन्तर्मुख चित्त से। स्वरूप प्राप्ति के प्रेम से।
निकले जो बहुत त्वरा से। ब्रह्म पाने को ।। ९३ ।।

जो प्राप्त किये योग से। सुषुम्ना के मध्य मार्ग से।
निकले अग्निस्थल से वेग से। ब्रह्मरंध्र की ओर ।। ९४ ।।

वहाँ चित्त और प्राण। बाह्यतः दिखते एक, अर्जुन।
मूर्ध्नाकाश में प्राण। विलीन जहाँ ।। ९५ ।।

मन की स्थिरता से बद्ध। भक्तिभाव से ओतप्रोत।
योगसामर्थ्य से संयत। सहजसिद्ध जो ।। ९६ ।।

वह प्राणवायु को, भ्राता। भ्रुकुटिमध्य में केन्द्रित करता।
जैसे घंटानाद हो जाता। नष्ट घंटी में ।। ९७ ।।

अथवा घट से ढँकी ज्योति। न जाने कब बुझ जाती।
उसी तरह शान्त हो जाती। जिसकी काया ।। ९८ ।।

वही विशुद्ध परब्रह्म। उसका ही परम पुरुष नाम।
वही हो कर मेरा निजधाम। रहता है ।। ९९ ।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। ११ ।।

जो सीमा सकल ज्ञान की। खान सम्पूर्ण बोध की।
ऐसे ज्ञानियों ने जिसकी। संज्ञा रखी 'अक्षर' ।। १०० ।।

जो झंझा से टूटता नहीं। ऐसा है केवल गगन ही।
किन्तु मेघ कैसे झंझा माहीं। टिक पायेंगे ? ।। १०१ ।।

वैसे जो आता ज्ञानियों की समझ में। वह आता ज्ञान की कक्षा में।
जो किसी की न आता समझ में। उसे कहते अक्षर ।। १०२ ।।

इसलिये वेद का ज्ञाता। जिसे अक्षर है कहता।।
वह प्रकृति के भी परे होता। परमात्मास्वरूप ।। १०३।।

विषय-विष को फेंककर। इन्द्रियों का दमन कर।।
देह वृक्ष के तले बैठ कर। रहते जो ।। १०४।।

ऐसे श्रेष्ठ और विरक्त। होते जिसके प्रतीक्षारत।।
निष्काम को अभिप्रेत। सर्वदा जो ।। १०५।।

जिसकी साधना में नित्य। करते ब्रह्मचर्यादि कष्ट।
इन्द्रियों को करते संयत। कठोरता से ।। १०६।।

ऐसा जो ब्रह्मपद। दुर्लभ और अगाध।।
जिसके इसी तट पर वेद। डूबते-उतराते ।। १०७।।

वे उस पद को पाते। जो इस विध देह त्यागते।।
एक बार समझाऊँगा, कहते। इसे श्रीकृष्ण ।। १०८।।

तब अर्जुन कहता, देवता। यही मैं कहने जा रहा था।।
आपने स्वयं बतायी तत्परता। धन्य भाग्य मेरा ।। १०९।।

किन्तु कहिये सरलतम शब्दों में। कहते, त्रिभुवनदीप हँस मन में।
क्या तुम्हारी पहचान नहीं हमें। कहूँगा संक्षिप्त ।। ११०।।

स्वभाव से विवश मन। भटकता जो स्वैर बन।।
हृदय के दह में गहरा, अर्जुन। डुबोये रखो उसे ।। १११।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ।। १२।।

किन्तु यह तभी होता सम्भव। इन्द्रियों के सभी किवाड़ जब।।
बन्द होंगे चहुँ ओर। संयम से ।। ११२।।

फिर यों बंद किया जाता। मन हृदय में स्थिर रहता।।
हाथ-पाँव कटा कोई, भ्राता। तजता नहीं घरबार ।। ११३।।

यों सुस्थिर होते ही मन। प्राणायाम से करो प्रणव स्मरण ।
फिर यथाक्रम प्रणवपवन। ले आओ ब्रह्मरन्ध्र में ।। ११४।।

मूर्ध्नाकाश में लय हो न हो। उसे वहीं धारणाबल से थामो ।
जब तक अर्ध मात्रा में लीन न हो। अकार मकार ।। ११५।।

तब तक प्राण समीर। मूर्ध्नाकाश में करो स्थिर ।
फिर मात्रा त्रय एकत्र हो कर। वह ब्रह्म में बसता ।। ११६।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।। १३।।

वहाँ अशेष ॐकार स्मरण। वहीं लय पाता प्राणपवन ।
फिर ॐकार के परे, अर्जुन। पूर्ण ब्रह्म रहता ।। ११७।।

इसलिये ॐकार नाम। है एकाक्षरी ब्रह्म ।
यह मेरा स्वरूप परम। स्मरते जो देह तजता ।। ११८।।

अन्त समय उसे स्मरता। वह निश्चय ही मुझे पाता ।
वह लाभ लाभों में होता। सबसे उत्तम ।। ११९।।

किन्तु कदाचित, अर्जुन। सोचता हो तुम्हारा मन ।
कि कैसे अन्त समय स्मरण। होगा जनार्दन का ।। १२०।।

इन्द्रियाँ संकट में पड़ी हों। जीवनसुख डूब रहा हो ।
बाहर-भीतर दिखने लगे हों। लक्षण मृत्यु के ।। १२१।।

तब उठ बैठेगा कौन ?। मनोनिग्रह करेगा कौन ? ।
किस मन से करेगा स्मरण। प्रणव का ? ।। १२२।।

किंतु ऐसे न करो संशय। जो मेरी सेवा में नित्य, कौन्तेय ।
अन्त समय में निश्चय। दास उसका होता हूँ ।। १२३।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।। १४।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।। १५ ।।

जो वासना को तिलांजलि देते। प्रवृत्ति को बेड़ी में बाँधते ।
मुझे हृदय में सँजोए रखते। पाते सुख ।। १२४ ।।

अर्जुन, यह सुख ऐसा होता। भूख प्यास को बिसरा देता ।
फिर नेत्र, कान आदि बता। मूली किस खेत की ? ।। १२५ ।।

जो इसविध एकाग्र हो कर। मन को मुझमें लगाकर ।
मेरे रूप में तल्लीन होकर। भजते मुझे ।। १२६ ।।

देहावसान का आते क्षण। तब वे करें मेरा स्मरण ।
फिर मैं दूँ इनको दर्शन। तो उपासना का काम क्या ? ।। १२७ ।।

कोई दीन संकट में पड़ता। आते ही मेरी प्रार्थना करता ।
तो उसकी करने सहायता। क्या मैं जाऊँगा नहीं ? ।। १२८ ।।

भक्तों की भी हो वही अवस्था। तो क्यों हो भक्ति में आस्था ?।
इसलिये यह संशय वृथा। पालो नहीं ।। १२९ ।।

वे जब करते मेरा स्मरण। मैं देता हूँ उनको दर्शन ।
मुझसे इस उपकार का ऋण। सहा न जाता ।। १३० ।।

इस ऋणबोधवश, अर्जुन। होने को उससे उऋण ।
जब भक्त करते देहार्पण। उनकी सेवा करता हूँ ।। १३१ ।।

देहान्त समय की विकलताएँ। इन सुकुमारों को न सतायें ।
इसलिये आत्मबोध के पिंजरे में। रखता हूँ उन्हें ।। १३२ ।।

करता हूँ शीतल सुखकर। अपने स्मरण की छाया उनपर ।
होते आत्मबोध में मति स्थिर। करता हूँ मद्रूप ।। १३३ ।।

इसलिये समस्या अंत समय की। मेरे भक्तों को नहीं सताती ।
वह भक्ति उन्हें ले आती। सहज मेरी ओर ।। १३४ ।।

देह की खोल उतारकर। मिथ्या अहं की धूल झाड़कर ।
उन्हें शुद्ध वासना देकर। निजरूप में मिलाता हूँ ।। १३५ ।।

इन भक्तों को भी देह के प्रति। कोई आसक्ति नहीं होती ।
इसलिये वियोग दुख की प्रतीति। न होती देहान्त में ।। १३६ ।।

अथवा मैं आ कर देहान्त के समय। उनका निजरूप में करूँ विलय।
ऐसा भी मद्रूपतावश, कौन्तेय। उन्हें लगाता नहीं ।। १३७ ।।

शरीर के जल में, भैया। भक्त होते मानो छाया ।
चन्द्रप्रकाश धरती पर फैल गया। तब भी रहता चन्द्र पर ही ।। १३८ ।।

इसे बूझ कर जो नित्ययुक्त। उनके लिये सुलभ मैं सतत ।
इसलिये अन्त समय निश्चित। वे होते मद्रूप ।। १३९ ।।

फिर देह क्लेश तरु की वाटिका। तापत्रय अग्नि की तापिका ।
कवल मृत्यु-काक का। फेंका हो जैसे ।। १४० ।।

शरीर, जो दैन्य को प्रसवता। महा भय को बढ़ाता ।
सकल दुःखों का जो होता। पूँजीनिवेश ।। १४१ ।।

जो दुर्मति का है मूल। कुमार्ग का जो फल ।
जो व्यामोह का केवल। होता स्वरूप ।। १४२ ।।

जो संसार का अधिष्ठान। विकारों का उद्यान ।
जो सभी रोगों का कारण। स्वयंसिद्ध ।। १४३ ।।

जो काल की जूठन। जो आशा का बल महान ।
जन्म-मरण का आवागमन। स्वाभाविक ।। १४४ ।।

जो घट पूर्ण भ्रान्ति का। ढलवाँ कुकल्पनाओं का ।
अथवा हो बिच्छुओं का। फटा बमीठा कोई ।। १४५ ।।

जो व्याघ्रों का क्षेत्र। वारांगनाओं का मित्र ।
जो वासनाज्ञान का यंत्र। सुपूजित ।। १४६ ।।

जो डंकिनि का दयास्थान। जो शीतल विष का पान।
जो विश्वास के समान। चोरों के ।। १४७ ।।

जो कुष्ठ रोगी का आलिंगन। कालसर्प का मुलायमपन।
जो बहेलियों का गायन। सहज मधुर ।। १४८ ।।

जो आतिथ्य शत्रु का। सत्कार दुर्जनों का।
अस्तु, जो अनर्थों का। महासागर ।। १४९ ।।

जो स्वप्न में देखा स्वप्न। जो मृगजल से सिंचित वन।
जो धूलिकणों से परिपूर्ण। आकाश, पार्थ ।। १५० ।।

ऐसा यह जो शरीर। पुनः न पाते वे नर।
जो हो कर रहे अपार। स्वरूप मेरा ।। १५१ ।।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।। १६ ।।

अन्यथा,जिन्हेंमहानब्रह्मपदमिलता।उनकाभीजन्ममरणनहींटलता।
जैसे मृत व्यक्ति को पेट का। दर्द होता नहीं ।। १५२ ।।

अथवा जागने पर कोई। स्वप्न-बाढ़ में डूबता नहीं।
वैसे संसारलिप्त होते नहीं। मद्रूप हुए जो ।। १५३ ।।

जो जगदाकार का मस्तक। चिरस्थायी तत्वों में श्रेष्ठ।
जो त्रैलोक्य पर्वत का शिखर। ब्रह्मभुवन ।। १५४ ।।

जिस गाँव के पहर में, पार्थ। इन्द्र की आयु होती समाप्त।
और चौदह इंद्रों की उठती पंगत। एक दिन में ।। १५५ ।।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।१७।।

युग बीतते चार सहस्र। धाता का होता एक वासर।
वैसे ही उसकी होती रात। उतने ही समय में ।। १५६ ।।

जहाँ इतने प्रदीर्घ दिन रात। वहाँ न मरते भाग्यवंत।
जो देखते वहाँ के दिन रात। चिरंजीव वे ।। १५७ ।।

एक दिन में इन्द्र चौदह। जहाँ इन्द्रों की अवस्था यह।
अन्य देवताओं की दशा वहाँ। क्या बताऊँ ? ।। १५८ ।।

किन्तु ब्रह्म के आठों पहर। देख पाती जिनकी नजर।
उन्हें कहा जाता है, धनुर्धर। त्रिकालवेत्ता ।। १५९ ।।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। १८ ।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। १९ ।।

ब्रह्मलोक में जब दिन उगता। जिसकी कोई गणना न कर पाता।
ऐसे अव्यक्त से जन्म लेता। व्यक्त विश्व ।। १६० ।।

जब दिन चढ़ता चार प्रहर। सूखने लगता आकार सागर।
आगे जब होती भोर। तेजी से भरने लगता ।। १६१ ।।

शरद ऋतु के आते। आकाश से अभ्र छँटते।
ग्रीष्मान्त के पास आते। प्रगटते पुनः ।। १६२ ।।

वैसे, जब ब्रह्मदिन निकलता। भूतसृष्टि में आती एकता।
चार हज़ार युगों तक स्थिरता। रहती उसमें ।। १६३ ।।

आगे ब्रह्मरात्रि का समय आता। विश्व अव्यक्त में लय होता।
चार हजार युगों के बाद होता। उदय पुनः ।। १६४ ।।

कहने की बात यह, कौन्तेय। कि जग की उत्पत्ति और लय।
होते दिन और रात के मध्य। ब्रह्मा को ।। १६५ ।।

देखो ब्रह्म की महत्ता। जो सृष्टिबीज का भंडार सर्वथा।
फिर भी जन्म-मरण की होता। परिसीमा ।। १६६ ।।

अन्यथा यह त्रैलोक्य सारा। सत्यलोक का ही पसारा।
ब्रह्मदिन का होते उजियारा। रचा जाता ।। १६७ ।।

फिर जब रात का समय होता। यह अपने आप लय होता।
मूल रूप में साम्य पाता। स्वाभाविक ।। १६८ ।।

जैसे बीज को आती तरुता। मेघ गगनरूप होता।
वैसे जिसमें समाती विविधता। उसे कहते 'साम्य' ।। १६९ ।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।। २० ।।

वहाँ सम-विषम न देता दिखायी। अतः उसे भूत कहते नहीं।
जैसे दूध का बनते दही। उसका नाम रूप जाता ।। १७० ।।

वैसे आकार का होते नाश। जग का जगत्व भी पाता नाश।
किन्तु उसकी उत्पत्ति का बीजाँश। रहता यथावत् ।। १७१ ।।

तब उसे कहते अव्यक्त। साकार होते ही व्यक्त।
भिन्न नामों से अभिव्यक्त। दो भिन्न नहीं वे ।। १७२ ।।

जैसे औटाये रूप में, भ्राता। सोना शलाका कहलाता।
उसका ही आभूषण बनता। तब नष्टता घनाकार ।। १७३ ।।

आती उसे भिन्नरूपता। किन्तु सोना एक ही होता।
वैसे व्यक्ताव्यक्तता। होती चैतन्य में ।। १७४ ।।

वह न व्यक्त न अव्यक्त। ना नित्य ना नाशवंत।
इन दोनों के भावातीत। अनादिसिद्ध है ।। १७५ ।।

चैतन्य विश्व बन कर रहता। विश्वनाश पर भी न नष्टता।
जैसे अक्षरों को मिटाते, भ्राता। अर्थ मिटता नहीं ।। १७६ ।।

तरंग यदपि उठती मिटती। पानी को अखंड ही रखती।
वैसे नाशवंत भूतसृष्टि। किन्तु वह अविनाशी ।। १७७ ।।

आभूषण गलाया जाता। किन्तु सुवर्ण नहीं गलता ।
वैसे शरीर भले ही मर जाता। वह रहता अमर ।। १७८ ।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। २१ ।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।। २२ ।।

उसे अव्यक्त कहने पर भी। उसकी स्तुति होती नहीं ।
पार उसका पाते नहीं। मन और बुद्धि ।। १७९ ।।

जो आकार धारण करता। फिर भी निराकार रहता ।
बिगड़ती नहीं जिसकी नित्यता। आकार के लोप से ।। १८० ।।

अतः जिसे कहते 'अक्षर'। ज्ञात होता सकल सार ।
दिखता नहीं आगे विस्तार। उसका नाम परमगति। ।। १८१ ।।

हो कर देहनगर में व्याप्त। लगता है जो निद्रित ।
करता न कराता, पार्थ। व्यापार इसीलिये ।। १८२ ।।

देहचेष्टा में अन्यथा। एक में भी वह नहीं थकता ।
दसों इन्द्रियों का रास्ता। बहते रहता है ।। १८३ ।।

अर्जुन, मन के चौपाल पर। लगा विषयों का बाज़ार ।
सुख-दुख का हाट-कर। पाता अन्तरतम में ।। १८४ ।।

राजा सुख से निद्रित होता। देश का व्यवहार नहीं रुकता ।
करती रहती व्यापार भ्राता। प्रजा अभिलाषा से ।। १८५ ।।

वैसे बुद्धि का जानना। या मन का लेना-देना ।
इन्द्रियों का कर्म करना। बहना बयार का ।। १८६ ।।

ये सभी व्यापार देह के। होते बिना किये किसी के ।
जैसे बिना चलाये सूर्य के। चलता विश्व ।। १८७ ।।

इसी भाँति वह, पार्थ। देह में लगता निद्रित ।
इसीलिये शास्त्रार्थ। कहता, पुरुष उसे ।। १८८ ।।

वह प्रकृतिसहित। आचरता एकपत्नी-व्रत ।
इस कारण भी वर्णित। पुरुष नाम से ।। १८९ ।।

कर नाना प्रकार से चिन्तन। वेद न देख पाते जिसका आँगन।
गगन का आवरण। ओढ़ता जो ।। १९० ।।

ऐसा जान योगीश्वर। जिसे कहते परात्पर ।
वह अनन्य भक्तों का घर। ढूँढते आता ।। १९१ ।।

जो काया, वाचा, मन से। आकृष्ट नहीं अन्य किसी से ।
उनकी ही एकनिष्ठा से। फलता खेत यह ।। १९२ ।।

यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम। ऐसा जिनका मनोधर्म ।
उन आस्तिकों का आश्रम। पांडव यही ।। १९३ ।।

निरहंकारियों का वैभव पूर्ण। जो गुणातीतों का ज्ञान ।
और उपभोगों का स्थान। निःस्पृह जनों का ।। १९४ ।।

जो सन्तुष्टों का अन्नथाल, भ्राता। अनाथ जनों के लिये जो माता।
भक्तजनों के लिये रास्ता। सीधे मोक्ष का जो ।। १९५ ।।

कितना बताऊँ, धनंजय ?। व्यर्थ होगा कालापव्यय ।
अरे जहाँ जाते सहज। तद्रूप मानव होता ।। १९६ ।।

जब ठण्डा झोंका लगता। उष्णोदक ठंडा हो जाता ।
अथवा सूर्य सामने आता। तो तम होता आलोकित ।। १९७ ।।

वैसे जाते ही परमात्म-गाँव। संसार सारा, हे पांडव ।
ओतप्रोत हो कर मुक्ति-भाव। मोक्षमय हो जाता ।। १९८ ।।

अग्नि में डाला जाता। तो ईंधन अग्निरूप हो जाता ।
फिर ढूँढे नहीं मिलता। उसका काष्ठपन ।। १९९ ।।

कोई कितना ही हो चतुर। ईख की बनते शक्कर।
उसे वापस ईख सुन्दर। बना नहीं सकता ।।२००।।

पारस ने एक बार छू लिया। लोहे का सोना हो गया।
तो क्या कोई उसे दे पाया। फिर से लोहत्व ? ।।२०१।।

एक बार बन जाते घृत। वापस नहीं आता दूध।
वैसे जहाँ जाने पर, पार्थ। पुनर्जन्म नहीं ।।२०२।।

वही है मेरा परम। यथार्थ में निजधाम।
यह मेरा गुह्यतम। मर्म तुम्हें बताया ।।२०३।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।। २३ ।।

योगी देहत्याग करने पर। जहाँ जाते, धनुर्धर।
उसे जानने का सुलभतर। और एक उपाय है ।।२०४।।

अथवा अचानक कहीं। असमय ही मृत्यु आ गयी।
तो समझ लो, भाई। पुनर्जन्म निश्चित ।।२०५।।

अतः शुद्ध समय देह तजते। वे तत्क्षण ब्रह्मलीन होते।
अन्यथा अकाल मरते। वे पाते पुनर्जन्म ।।२०६।।

पुनर्जन्म और मोक्षप्राप्ति। दोनों कालाधीन होतीं।
वह काल, सुभद्रापति। तुम्हें बताता हूँ ।।२०७।।

तो सुनो वीर, कौन्तेय। समीप आते मरण समय।
पंचभूत अपनी राह। चलने लगते ।।२०८।।

ऐसा मरणकाल आते ही। भ्रान्ति, मति को लीलती नहीं।
स्मृति अँधी होती नहीं। मन नहीं मरता ।।२०९।।

ये चेतनाएँ मरणसमय में। प्रसन्न खिली रहतीं मन में।
और ब्रह्मबोध भी अंतर में। होता प्रतीत ।।२१०।।

ये इन्द्रिय-समूह रहे सचेत। सावधान अंतपर्यन्त ।
यह तभी सम्भव है, पार्थ। यदि अग्नि सहायक हो ।। २११।।

अरे हवा अथवा बारिश। बुझा दे दीप का प्रकाश ।
फिर आँखें क्या पायेंगी देख। यदपि सतेज ? ।। २१२।।

देहान्त में विषमवात बढ़ता। शरीर श्लेष्मव्याप्त होता ।
सारा तेज बुझ जाता। जठराग्नि का ।। २१३।।

तब प्राण भी होता निष्प्राण। ज्ञान हो जाता अज्ञान ।
इसलिये चेतना अग्निबिन। रह न सकती देह में ।। २१४।।

जठराग्नि लुप्त हो जाती। तो देह मानो कीचड़ की लोंदी ।
व्यर्थ शेष काल टटोलती। अँधेरे में ।। २१५।।

तब पूर्वाभ्यास का स्मरण। फिर अपने देह का तजन ।
निजरूप में होना विलीन। सम्भव कैसे ? ।। २१६।।

देह-श्लेष्म के कीचड़ में। चेतना धँस जाती गहरे में ।
तो अतीत या भावी स्मरण में। कुछ भी नहीं रहता ।। २१७।।

अतः पूर्व योगाभ्यास। मरणपूर्व ही पाता नाश ।
वस्तु मिलने से पूर्व प्रकाश। बुझता जैसे दीप का ।। २१८।।

अस्तु, जानो इस सकल। ज्ञान का अग्नि ही मूल ।
उस अग्नि का पूरा बल। मिले प्रयाण में ।। २१९।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।। २४।।

भीतर अग्नि-ज्योति का प्रकाश। बाहर हो उत्तरायण मास ।
शुक्ल पक्ष हो और हो दिवस। प्रयाण के लिये ।। २२०।।

ऐसे अति उत्तम अवसर पर। जो छोड़ते अपना शरीर ।
वे स्वयं ब्रह्म बनते ' अक्षर। ब्रह्मज्ञानी ।। २२१।।

उस अवसर में इतना बल होता। ध्यान में लो बात, भ्राता।
सीधा मार्ग यही है, अतः। पाने मोक्ष ।। २२२।।

यहाँ जठराग्नि पहली पौड़ी। ज्योतिर्मयता दूसरी सीढ़ी।
तीसरी दिवसरूपी डेवढ़ी। चौथा शुक्लपक्ष ।। २२३।।

और छह मास उत्तरायण। वह ऊपर का सोपान।
जिससे मोक्ष के सदन। पहुँचते योगी ।। २२४।।

इसे ही जानो उत्तम काल। जिसे अर्चिरादि मार्ग कहते सकल।
अब सुनो, क्या होता अकाल। प्रसंगोपात ।। २२५।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।। २५।।

आते मरण का अवसर। श्लेष्म-वात का बढ़ता जोर।
हृदय में फैलता अंधकार। पूर्णतया ।। २२६।।

इन्द्रियगति लड़खड़ाती। स्मृति, भ्रम में डूबती।
पागल हो जाते मन, मति। प्राण घुटने लगते ।। २२७।।

जठराग्नि होती लुप्त। उसका धुआँ सर्वत्र व्याप्त।
उससे होती आच्छादित। चेतना भी ।। २२८।।

जैसे अभ्र चन्द्र को ढँकता। धुंध से वातावरण को भरता।
ना अँधेरा ना प्रकाश रहता। उस झुटपुटे में ।। २२९।।

वैसे जीव स्तब्ध हो जाता। ना मरता ना सचेत रहता।
बस प्रतीक्षा करते रहता। मरण की ।। २३०।।

ऐसे मन मति इन्द्रियों में। धुआँ भर जाता चहु ओर में।
योगाभ्यास के लाभ उस पल में। नष्ट हो जाते ।। २३१।।

सारी संचयिका हाथ से जाती। दूसरी कोई आशा न रहती।
तब ऐसी दशा प्रतीत होती। अन्त समय में ।। २३२।।

ऐसी अवस्था देह के अन्दर। कृष्णपक्ष की रात्रि बाहर।
और छह मास उसके ऊपर। दक्षिणायन के ।। २३३।।

ये सब पुनर्जन्म के संकेत। जिसके प्रयाण में एकत्र।
उसे स्वरूपसिद्धि की बात। कैसे सुनायी देगी ? ।। २३४।।

ऐसे समय जिसका देहान्त होता। वह योगी चन्द्र तक जाता।
फिर जन्म-मरण के फेर में पड़ता। बारम्बार ।। २३५।।

हमने अभी जो बतलाया था। वह अकाल यही है, भ्राता।
धूम्रमार्ग वहीं है जाता। पुनर्जन्म के गाँव को ।। २३६।।

दूसरा अर्चिरादि मार्ग। जो चहलपहल भरा सुभग।
सुलभ, उत्तम और अभंग। मोक्ष तक जाता ।। २३७।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।। २६ ।।

ये दोनों मार्ग हैं अनादि। एक सीधा, दूजा वक्रगति।
बुद्धिपूर्वक, सुभद्रापति। बताये तुम्हें ।। २३८।।

कुमार्ग-सुमार्ग स्वयं देखो। सत्य-असत्य को परखो।
हित-अहित क्या है जोखो। स्वहितार्थ ।। २३९।।

उत्तम नाव खड़ी हो जहाँ। कौन दह में कूदेगा वहाँ ?।
अथवा सुमार्ग दिखता जहाँ। कौन चुनेगा पगडंडी ? ।। २४०।।

जो विष और अमृत को पहचानता। अमृत को कैसे तज सकता?
वैसे जो सीधे मार्ग को देखता। पगडंडी पर चलता नहीं ।। २४१।।

इसलिये पार्थ, प्रथमतः। जानो क्या सत्य क्या मिथ्या।
जो इनको पहचानता। पड़ता नहीं संकट में ।। २४२।।

मरण समय जब आ जाता। यह मार्ग नहीं मिल पाता।
जीवनभर का अभ्यास हो जाता। व्यर्थ, अर्जुन ।। २४३।।

अर्चिरादि मार्ग से हट कर। योगी चल पड़े धूम्रमार्ग पर ।
तो वह संसारचक्र में जुत कर। घूमता ही रहेगा ।। २४४ ।।

ये संकट हैं भीषण। कैसे हो उनका निवारण ।
इसका कराने तुम्हें ज्ञान। दोनों मार्ग बताये ।। २४५ ।।

एक ब्रह्मपद को जाता। दूजा पुनर्जन्म को लाता ।
किन्तु भाग्य से अन्त समय जो मिलता। वैसी मिलती गति ।। २४६ ।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।। २७ ।।

अतः कौन गति होगी प्राप्त। यही होता अनिश्चित ।
पता नहीं अंत में अकस्मात। क्या प्राप्त होगा ? ।। २४७ ।।

किन्तु काया रही या न रही। हम स्वयं हैं ब्रह्म ही ।
रज्जु का ज्ञान होने से ही। सर्पभ्रम मिटता है ।। २४८ ।।

मैं तरंग हूं या नहीं। उदक कभी सोचता नहीं ।
वह किसी भी समय उदक ही। होता पूर्ववत् ।। २४९ ।।

तरंग के उठते वह जन्मता नहीं। उसके मिटते लोपता नहीं ।
वैसे योगी देह में रहकर भी। ब्रह्मरूप ही होता ।। २५० ।।

तब तो देहबोध का उनमें, भाई। नामो निशान रहता नहीं ।
तो कैसे, किसका, कभी कतई। नाश होगा बताओ ।। २५१ ।।

यदि देश-काल आदि सम्पूर्ण। साधक स्वयं ही गया हो बन ।
तो क्या करें मार्गशोधन ? कोई कहाँ से कैसे जावें ? ।। २५२ ।।

अर्जुन, घट जब फूट जाता। घटाकाश सही मार्ग पकड़ता ।
क्या तभी आकाश में मिलता। अन्यथा नहीं ? ।। २५३ ।।

बात ऐसी होती तत्त्वतः। केवल घट का आकार ही मिटता। ।
घटाकाश, पार्थ, अन्यथा। होता आकाशरूप ।। २५४ ।।

यह बोध जब पाता पूर्णता। मार्ग-अमार्ग का कूट, भ्राता ।
'सौऽहं' ज्ञाता को न सताता। सिद्धयोगी जो ।। २५५ ।।

इस कारण, पंडुसुत। तुम बनो योगयुक्त ।
फिर सर्वदा ब्रह्मरूपत्व। स्वयं प्राप्त होगा ।। २५६ ।।

फिर जब जहाँ चाहे तब तहाँ। देहबन्धन टूटा या रहा ।
अनिर्बन्ध ब्रह्मभाव को महा। क्षति न पहुँचती ।। २५७ ।।

उसे कल्पारम्भ में जन्म नहीं। कल्पान्त में मरण नहीं ।
स्वर्ग-संसार-सुख में नहीं। फँसता वह बीच में ।। २५८ ।।

इस बोध से जो योगी होता। उसे ही बोधफल प्राप्त होता ।
वह स्वर्ग-संसार सुखों को तौलता। फिर होता ब्रह्मरूप ।। २५९ ।।

स्वर्ग में इन्द्रादि सुरवर। जो भोग भोगते निरन्तर ।
उन्हें त्याज्य मान कर दूर। हटा देता वह ।। २६० ।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।। २८ ।।

अखंड करता वेदाध्ययन। अथवा यज्ञ-खेत का सिंचन ।
या तपोदान का सम्पूर्ण। पुण्य जोड़ता वह ।। २६१ ।।

उस सारे पुण्य का उद्यान। फलों से लदा हो, अर्जुन ।
फिर भी विशुद्ध ब्रह्म के समान। होता नहीं वह ।। २६२ ।।

जो नित्यानंद की तुलना में। क्षुद्र नहीं उपमा के तराजू में ।
वेदयज्ञादि साधन होते। जिस स्वर्गसुख के लिये ।। २६३ ।।

जो फीका न पड़ता, न नष्टता। भोगियों को तृप्त करता ।
ब्रह्मसुख का जो होता। छोटा भाई ।। २६४ ।।

सतही देखते सुखद लगता। मरणोपरान्त जो प्राप्त होता ।
शतयज्ञों से भी न मिलता। स्वर्गसुख जो ।। २६५ ।।

उसे अपनी हथेली पर। योगी देखते तौल कर ।
ब्रह्मसुख से तुलना कर। हलका मानते ।। २६६ ।।

उस स्वर्गसुख की पौड़ी पर। पाँव देकर, हे धनुर्धर ।
योगी परब्रह्मपद पर। आरूढ़ हो जाते ।। २६७ ।।

चराचर सृष्टि का एक भाग्य। ब्रह्मा महेश का आराध्य ।
योगियों का परम योग्य। भोगधन जो ।। २६८ ।।

जो कलाओं की परम कला। जो परमानन्द का पुतला ।
अखिल विश्व के जीवों का भला। मर्मस्थल जो ।। २६९ ।।

सर्वज्ञता का स्नेहल प्रतीक। जो यदुवंश का कुलदीपक ।
वह श्रीकृष्ण मर्म प्रत्येक। यों समझाता अर्जुन को ।। २७० ।।

कुरुक्षेत्र का ऐसा वृत्तांत। संजय धृतराष्ट्र से कहत ।
वह कथा आगे सुनो समस्त। कहता ज्ञानदेव ।। २७१ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
अक्षरब्रह्म नामक समाप्त। उसका अध्याय आठवाँ ।।

।। अध्याय नवाँ ।।

एक बार अवधान दीजिये। और सभी सुखों के पात्र होइये ।
यह प्रतिज्ञावचन सुनिये। सुजनो, मेरा ।। १ ।।

आप सर्वज्ञ हैं श्रोता। मैं कैसे डींग हाँक सकता ।
अवधान की बिनती करता। मित्रतावश ।। २ ।।

लड़ियाते लाड़ की पूर्ति। मनोकामना की तृप्ति ।
सहज में हो जाती। यदि पीहर हो आप जैसा ।। ३ ।।

आपकी कृपादृष्टि से सुजन। प्रसन्नता के खिलते उपवन ।
उनकी छाया में थकान। मिटती मेरी ।। ४ ।।

आप दह सुखामृत के। परिपूरक मनोकामना के ।
आपसे मित्रता करने डर के। तृप्ति कहाँ मिलेगी ? ।। ५ ।।

बालक तुतलाते बोलता। डगमग पैरों से चलता ।
उसके कौतुक से जैसे तोषता। माँ का हृदय ।। ६ ।।

आप सन्तों की प्रीति वैसी। मुझ पर हो चाहे जैसी ।
यही मेरी इच्छा मानसी। अतः जताई मित्रता ।। ७ ।।

आप सर्वज्ञ श्रोतागण। आपका क्या करूँ प्रबोधन ।
पाठ ले कर सरस्वतिनंदन। क्या पाता विद्या ? ।। ८ ।।

जुगनू हो बड़ा कितना ही। सूर्य के सम्मुख चमकेगा नहीं ।
मिष्ठान्न क्या होगा कही। अमृतपात्र में ? ।। ९ ।।

अजी चन्द्रमा को पंखा ढलना। सुस्वर को गायन सिखाना ।
अलंकार को आभूषण चढ़ाना। क्या होता कहीं ? ।। १० ।।

परिमल किस गंध को सूँघे ?। सागर किस जल में नहा ले? ।
या आकाश जिसमें समाये। ऐसा क्या है कहीं ? ।। ११ ।।

वैसे आप प्रसन्न होंगे। भूरि-भूरि प्रशंसा क़रेंगे ।
जिससे आप सन्तुष्ट होंगे। ऐसा वक्तृत्व है कहाँ ? ।। १२ ।।

किन्तु उदित होते गभस्ति। क्या न उतारे आरती ? ।
चुल्लु भर पानी से सागर के प्रति। क्या न करें अर्ध्यदान ? ।। १३ ।।

सुजनो, आप महेशमूर्ति। मुझमें अपार आपकी भक्ति ।
आपको मेरी शब्द निर्गुडी। स्वीकार हो पूजा में ।। १४ ।।

बालक बैठ पिता की गोद में। कौर देता उसके मुँह में ।
वह भी सन्तुष्ट होकर मन में। मुँह फैलाता सम्मुख ।। १५ ।।

वैसा मैं भी बालमति। विनोद करूँ आपके प्रति ।
तब भी आप तोषेंगे अति। ऐसा प्रेम आपका ।। १६ ।।

आपको मानता हूँ अपना। आप भी मानते मुझे अपना ।
अतः इस मैत्री से महामना। खिन्न न होंवे आप ।। १७ ।।

बछड़े के मुख-आघात से। गोमाता पेन्हाती जैसे ।
वैसे प्रियजनों के कोप से। प्रेम दूना होता ।। १८ ।।

अतः आपकी कृपा जो निद्रित। मेरे बालवचन से होगी जागृत ।
ऐसा हुआ मुझे प्रतीत। इसलिये बोलता हूँ ।। १९ ।।

क्या ज्योत्स्ना को पकाता कोई। क्या पवन को गति देता कोई ? ।
क्या आकाश को बाँधता कोई ? बताइयेगा ।। २० ।।

जल को तरल न करना पड़ता। नवनीत को मथा नहीं जाता ।
वैसे गीतार्थ बताते शरमाता। लौट जाता व्याख्यान ।। २१ ।।

शब्दब्रह्म जिसकी खटिया पर। गहरी नींद सोता थककर ।
उस गीतार्थ को समझाकर। बता सकूँगा कैसे ? ।। २२ ।।

किन्तु एक आशा से मन में। इच्छा पैदा हुई सहज में ।
मन की बात ढीठ शब्दों में। कह, प्रिय होऊँ आपका ।। २३ ।।

जो चंद्र से अधिक शांति देता। अमृत से ज्यादा जीवन देता ।
उस अवधान से रखिये बढ़ता। मेरे मनोरथ को ।। २४ ।।

आपकी कृपा की होगी बरखा। तो मति में सकलार्थ फलेगा ।
ज्ञान का अंकुर सूख जायेगा। यदि आप हों उदासीन ।। २५ ।।

आपका सहज अवधान। वक्तृत्व पंछी के लिये अन्न ।
प्रमेयों के कूट प्रश्न। अक्षर सुलझायेंगे ।। २६ ।।

शब्द की प्रतीक्षा करेंगे अर्थ। शब्द के होंगे नाना अर्थ ।
बुद्धि को सूझेंगे अभिमत। नानाविध ।। २७ ।।

चलते सुसंवाद का पवन। हृदय में घिर आता विद्या-घन ।
टूटते श्रोता का अवधान। रसभंग वक्तृत्व का ।। २८ ।।

चन्द्रकान्त मणि पसीजता। वह सामर्थ्य चन्द्र का होता ।
वैसे वक्ता, वक्ता नहीं होता। बिना श्रोता के ।। २९ ।।

हमें मान लेना रुचिर। तंदूल क्या करते स्तवन ? ।
क्या सूत्रधार से कर जोड़ कर। कठपुतली कहती नचाओ ।। ३० ।।

वह कठपुतली को थोड़े ही नचाता ? वह तो अपना कौशल दिखाता ।
अतः झंझट प्रार्थना का। मैं पालूँ किसलिये ? ।। ३१ ।।

तब श्रीगुरु ने कहा बीच में। क्या हुआ आ गया समझ में ।
अब वही बताओ जो समर में। कहा श्रीकृष्ण ने ।। ३२ ।।

तब निवृत्तिदास तोष कर। बोले उल्लसित होकर ।
सुनिये सभी ध्यान देकर। कथन श्रीकृष्ण का ।। ३३ ।।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।। १ ।।

यह ज्ञानबीज है धनुर्धर। पुनः बताऊँगा समझा कर।
जो मेरे मन का श्रेष्ठतर। गुह्य परम ।। ३४ ।।

अन्तरतम का भेद खोल कर। क्यों बता रहा हूँ वीरवर।
यह प्रश्न तुम्हारे भीतर। यदि उठ रहा हो ।। ३५ ।।

तो सुनो मीत, तुम हो प्रज्ञा। परम आस्था तुम्हारी संज्ञा।
बात-बात की अवज्ञा। तुम करते नहीं ।। ३६ ।।

गुह्य खुलता हो तो खुले। अकथ्य भी हम कह डालें।
किन्तु अपना गुह्यतम घुले। तुम्हारे प्राणों में ।। ३७ ।।

स्तनों में दूध भर आता। स्तन न जानते उसकी मधुरता।
वत्स उसे पूरा पी जाता। माता को आता रास ।। ३८ ।।

कोठले से बीज निकाला। उसे जोते खेत में डाला।
तो क्या उसे मानते भला। गया व्यर्थ ? ।। ३९ ।।

जो सहृदय व शुद्धमति। अनिंदक और अनन्यगति।
गूढ़ मन का उसे अति। सुख से बता दें ।। ४० ।।

अब ऐसा गुणी, भ्राता। तुम्हारे बिन अन्य न दिखता।
इसलिये कोई गोपनीयता। नहीं तुम से ।। ४१ ।।

जो गूढ़ शब्द बार-बार। अब जाओगे तुम सुन कर।
बताऊँगा ब्रह्मज्ञान सुगम कर। प्रपंच विज्ञानसहित ।। ४२ ।।

सत्य और असत्य का मिश्रण। अलग करता परीक्षण।
वैसे ज्ञान और विज्ञान। करूँगा पृथक् ।। ४३ ।।

राजहंस चोंच की सँडसी से। अलग करता दूध, पानी से।
वैसे ज्ञान को विज्ञान से। अलग कर बताऊँगा ।। ४४ ।।

भूसामिश्रित अनाज। हवा पर उड़ाते सहज।
अलग हो कर भूसा महज। अनाज ढेर लग जाता ।। ४५ ।।

वैसे उसका बोध भ्राता। जन्म-मरण पाश तोड़ता।
मोक्ष वैभव पर बिठाता। मुमुक्षु को ।। ४६ ।।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ।। २ ।।

नगरी में सकल ज्ञानों की। जिसे पदवी आचार्य की।
सभी गुह्यों में श्रेष्ठता जिसकी। परमपवित्र जो ।। ४७ ।।

जो धर्म का निजधाम। उत्तमों में जो उत्तम।
जो मिलने पर नहीं काम। पुनर्जन्म का ।। ४८ ।।

गुरुमुख से वह ज्ञान। जिस क्षण होता उत्पन्न।
उसी क्षण हृदय में दर्शन। होता स्वयंभू ब्रह्म का ।। ४९ ।।

सुख के सोपान चढ़ते। जिसे मिलने को जाते।
उसके मिलते, समाप्त होते। भोगबोध जैसे ।। ५० ।।

रुकते ही भोग के इस पार। मन को सुख होता अपार।
ऐसा यह ज्ञान सुगम, सुलभतर। मानो परब्रह्म ।। ५१ ।।

इस ज्ञान के हैं और गुण भी। मिला तो लुप्त होता नहीं।
अनुभूति से घटता नहीं। न रंग उतरता इसका ।। ५२ ।।

यहाँ तुम तर्क चला कर। पूछोगे यदि सन्देह कर।
इतनी उत्तम वस्तु क्यों कर। न मिली लोगों को ? ।। ५३ ।।

जो एकोतरा ब्याज के मोह में। कूद पड़ते जलती आग में।
वे सहज प्राप्त आत्मसुख में। कूदते क्यों नहीं ? ।। ५४ ।।

तो जानो यह पवित्र सुरम्य। वैसे ही सुखोपगम्य ।
और सुखद परमधर्म्य। होता अपने भीतर ही ।। ५५ ।।

यों होते हुए अनुकूलता। कैसे न यह हाथ आता ।
सन्देह यदपि किया जा सकता। तुम न करो ।। ५६ ।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।। ३ ।।

देखो दूध शुद्ध, मधुर। होता पास त्वचा के अन्दर ।
किन्तु चिचड़ी करते अस्वीकार। क्या रक्त चूसती नहीं ? ।। ५७ ।।

अथवा कमलकन्द और मेंडक। दोनों का स्थान होता एक ।
किन्तु भ्रमर खाते कमल पराग। मेंढक कीचड़ ही ।। ५८ ।।

अथवा अभागे के घर में। अपार द्रव्य गाड़ा भूमि में ।
वह भूखा बैठे उसमें। भोगते दारिद्य ।। ५९ ।।

वैसे, हृदय में मैं राम। सर्व सुखों का विश्रामधाम ।
फिर विभ्रान्त को क्या काम। विषयसुखों से ? ।। ६० ।।

कोई बहुतेरा मृगजल देखता। अमृत का घूँट थूक देता ।
या गले का पारसमणि फेंकता। सीप के मोह से ।। ६१ ।।

वैसे, जो अहंता ममता के अंकित। वे न होते मुझे प्राप्त ।
जन्म-मरण की नदी में बाढ़ग्रस्त। डूबते उतराते ।। ६२ ।।

अन्यथा मैं होता हूँ कैसा। सामने सूर्य हो जैसा ।
कभी दिखता, कभी नहीं ऐसा। किन्तु होता अवश्य ।। ६३ ।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।। ४ ।।

मेरे निर्गुण रूप का विस्तार। क्या नहीं यह सारा संसार ? ।
जैसे दूध को जमन लगाने पर। वही बनता दही ।। ६४ ।।

अथवा बीज का बनता तरुवर। या सुवर्ण के अलंकार ।
वैसा मेरा ही जो विस्तार। वही यह विश्व ।। ६५ ।।

यह अव्यक्त में जमा होता। विश्वरूप में पिघलता ।
वैसे अमूर्त से मैं मूर्त करता। त्रैलोक्य को ।। ६६ ।।

महातत्वों से देहपर्यन्त। ये सभी भूत मात्र ।
मुझमें भासमान होवत। फेन जल पर जैसे ।। ६७ ।।

उस फेन में हे भ्राता। जल नहीं दिखाई देता ।
अथवा सपनों में देखी अनेकता। जगने पर नष्टती जैसे ।। ६८ ।।

वैसे, भूत मात्र यदपि मुझमें। मैं नहीं होता उनमें ।
यह बात गत अध्याय में। तुम्हें बताई थी ।। ६९ ।।

अतः कही को ही बार-बार। कहता नहीं हूँ धनुर्धर ।
किन्तु मेरे स्वरूप में सुस्थिर। दृष्टि हो तुम्हारी ।। ७० ।।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।। ५ ।।

देखोगे स्वरूप को माया के पार। तो मुझमें भूत मात्र यह विचार ।
प्रतीत होगा असार। कारण, मैं सर्वत्र हूँ ।। ७१ ।।

गोधूलि बेला में संकल्प की। पल भर अँधियाती आँखें मति की ।
मैं अभिन्न, पर वह मान लेती। भूतों से भिन्न मुझे ।। ७२ ।।

किन्तु संकल्प की शाम ढलती। तब मेरी अभिन्नता को समझती ।
जैसे सन्देह लोपते नष्ट होती। माला में साँप की कल्पना ।। ७३ ।।

क्या मटके भूमि से पैदा होते ?। या मटकों के अंकुर निकलते ? ।
कुम्हार के कौशल से ही बनते। उनके विविध आकार ।। ७४ ।।

अथवा क्या थाह में सागर की। खदानें होतीं तरंगों की ? ।
अर्जुन, क्या उत्पत्ति उनकी। नहीं होती पवन से ? ।। ७५ ।।

कपास के उदर में क्या कोई। वस्त्रों की पेटी होती, भाई ? ।
किन्तु उपभोक्ता की दृष्टि। उसे बनाती वस्त्र ।। ७६ ।।

सोने का गहना बनता। उसका स्वर्णपन नहीं जाता ।
यदपि सतही दिखाई देता। वह अलंकार ।। ७७ ।।

शब्द से प्रतिध्वनि उठती। या दर्पण में छवि दिखती ।
वह क्या वहीं होती। यथार्थ में ? ।। ७८ ।।

वैसे, मेरे निर्मल स्वरूप में, भ्राता। जो भूत-भावना रोपता ।
उसे अपने संकल्प में होता। आभास भूतों का ।। ७९ ।।

वह कल्पनाजाल नष्ट होता। तो भूत-भाव नहीं रहता ।
मेरा स्वरूप शेष रहता। केवल विशुद्ध ।। ८० ।।

स्वांग-परिभ्रमण करते। खाई, पर्वत घूमते दिखते ।
वैसे कल्पनावश दिखायी देते। भूत ब्रह्म में ।। ८१ ।।

कल्पना छोड़ कर देखोगे। हमें परस्पर में न पाओगे ।
स्वप्न में भी न जानोगे। इसे कल्पनायोग्य ।। ८२ ।।

भूतमात्र को करता हूँ धारण। या भूत मुझमें विराजमान ।
यह कल्पना भ्रम-वात का अर्जुन। होता बिर्राना ।। ८३ ।।

इसलिये, सुनो हे पुण्यात्मा। मैं इस विश्व का विश्वात्मा ।
इस मिथ्या भूत-आभास का। आधार होता हूँ ।। ८४ ।।

जैसे, रविकिरणों के कारण। असत्य मृगजल का होता दर्शन ।
होते मुझमें भूत भासमान। मैं उनमें वैसे ।। ८५ ।।

यों मैं भूतों का अधिष्ठान। किन्तु उनसे होता हूँ भिन्न ।
जैसे सर्वथा दो होते न। सूर्य और प्रभा ।। ८६ ।।

ऐश्वर्ययोग है यह हमारा। कहो, पूरा मन में उतारा ? ।
भूतों और मुझमें भिन्नता। क्या है यहाँ ? ।। ८७ ।।

मुझसे ही सारे भूतगण। तत्वतः नहीं विभिन्न ।
मुझे भी उनसे अर्जुन। भिन्न मानो नहीं ।। ८८ ।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।। ६ ।।

गगन जितना जैसे होता। उतना ही पवन उसमें होता ।
हिलाने से ही पृथक होता। अन्यथा दोनों एक ।। ८९ ।।

वैसे भूतमात्र मुझमें होते। सोचो, तो दिखायी देते ।
नहीं तो कहीं नहीं होते। सर्वत्र मैं ही होता ।। ९० ।।

होना न होना भूतों का। खेल सारा कल्पना का ।
नाश कल्पनालोप से उनका। जन्म भी कल्पना से ।। ९१ ।।

कल्पनाजात अज्ञान जाता। भूतों का होना न होना लोपता ।
अतः आगे देखो भ्राता। इस ऐश्वर्ययोग को ।। ९२ ।।

ऐसे प्रतीतिसागर में अर्जुन। एक तरंग जाओ बन ।
फिर पाओगे यह जड़ चेतन। स्वयम् तुम ही हो ।। ९३ ।।

यह जो बताया मैंने ज्ञान। कर लिया न उसका आकलन ? ।
द्वैत का यह सारा स्वप्न। हो गया न व्यर्थ ? ।। ९४ ।।

आगे यदा कदाचित। मति हो कल्पना में निद्रित ।
हो कर यह अभेदबोध समाप्त। पड़ोगे फिर स्वप्न में ।। ९५ ।।

अतः कल्पना-निद्रा की राह तज। विशुद्ध बोध हो जिससे सहज ।
वह वर्म अब अनुज। बताता हूँ ।। ९६ ।।

आगे धनुर्धर, धैर्यधर। सुनो पूरा ध्यान देकर ।
माया से ही यह चराचर। बनता मिटता ।। ९७ ।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।। ७ ।।

जिसका नाम है प्रकृति। वह मैंने बताया द्विविध होती।
एक अष्टविद्या कहलाती। दूजी जीवरूप ।। ९८ ।।

यह प्रकृति विषय सम्पूर्ण। तुम्हें सुना चुका हूँ अर्जुन।
अतः अब क्यों पुनः-पुनः। बताऊँ उसे ? ।। ९९ ।।

महाकल्प के अन्त में। मेरी अव्यक्त प्रकृति में।
विलय पाते पूर्ण रूप में। सभी भूत ।। १०० ।।

ग्रीष्म ऋतु का जब होता अन्त। जैसे घास सारा बीजसहित।
भूमि पर ही पाता अस्त। धनंजय ।। १०१ ।।

अथवा वर्षा का मिटते आडम्बर। शरद का फूटता अंकुर।
तब मेघ नभ में ऊपर ही ऊपर। छँट जाते ।। १०२ ।।

अथवा खोल में गगन की। वायु जैसे लुप्त हो जाती।
या तरंगें पूरी मिट जाती। पानी के भीतर ।। १०३ ।।

अथवा जागने के समय। स्वप्न खो जाता मन के अन्दर।
वैसे भूतजात कल्पक्षय पर। मिल जाता प्रकृति में ।। १०४ ।।

फिर कल्प के आरम्भ में। उसका निर्माण करता हूँ मैं।
ऐसी यदपि धारणा जग में। सच्ची उपपत्ति सुनो ।। १०५ ।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। ८ ।।

इस प्रकृति का धनुर्धर। करता जब मैं सहज स्वीकार।
तब वस्त्र में धागा जिस प्रकार। उपादान बनता ।। १०६ ।।

फिर जैसे बुनाई में करघे पर। वस्त्र लेता है आकार।
वैसे पंचभूतों के कार्य में वीर। प्रकृति बनती उपादान ।। १०७ ।।

जैसे जमन के संग ही। दूध बन जाता दही।
वैसे धरती प्रकृति ही। सृष्टि के आकार ।। १०८ ।।

बीज को जल का साथ मिलता। तो पत्तों फलों फूलता।।
वैसे मेरे द्वारा निर्माण होता। भूतजात अनायास।।१०६।।

अरे यदपि यह है सत्य। कि राजा द्वारा नगर निर्मित।।
किन्तु क्या वह स्वयं उसके हित। करता परिश्रम ?।।११०।।

और मैं प्रकृति को कैसे स्वीकारता। जैसे स्वप्न में कोई होता।
फिर वहीं प्रवेश करता। जागृत अवस्था में।।१११।।

तो स्वप्न से जागृति में आते। क्या पाँव किसी के दुखते ?।
या स्वप्न से आता कोई। करते प्रवास ?।।११२।।

इस सबका क्या है अर्थ। कि इस सृष्टि के निर्माणार्थ।
करना पड़ता मुझे, पार्थ। कुछ भी नहीं।।११३।।

जैसे प्रजा राजशासित। करती अपने कार्य समस्त।
वैसे प्रकृति से मेरा सम्बन्ध। कार्य करती प्रकृति।।११४।।

पूर्ण चन्द्र से साक्षात्कार। होते सागर में आता ज्वार।
इसमें चन्द्र क्या, धनुर्धर। करता परिश्रम ?।।११५।।

चुम्बक के समीप आते। अचेत लौहकण हिलने लगते।
उन्हें खींचने के क्या होते। कष्ट चुम्बक को ?।।११६।।

वैसे ही मैं धनुर्धर। सृष्टि का करता हूँ अंगीकार।
तभी यह सारा संसार। उत्पन्न होता।।११७।।

यह भूत समूह सम्पूर्ण। होता प्रकृति के अधीन।
बीज से लता का विकसन। होता अधीन भूमि के।।११८।।

जैसे बाल्य आदि अवस्था। देह के ही कारण भ्राता।
या गगन में मेघ उपजाता। वर्षाकाल।।११९।।

अथवा नींद स्वप्न का कारण। वैसे प्रकृति हे अर्जुन।
इस भूत-समुद्र का कारण। समझो इसे।।१२०।।

स्थावर और जंगम का। स्थूल और सूक्ष्म का।
अस्तु इस सृष्टि का। प्रकृति ही मूल ।। १२१।।

अतः भूतों के निर्माण का। और उनके परिपालन का।
इस सारे क्रियाकलाप का। कर्त्ता मैं नहीं ।। १२२।।

जल में फैलती ज्योत्स्ना-लता। किन्तु चन्द्र नहीं उसे बढ़ाता।
वैसे मेरा हो कर भी दूर जाता। कर्मसमूह मुझसे ।। १२३।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनावदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।। ९।।

समुद्र में ज्वार उमड़ता। उसे लवण-घाट न रोक सकता।
वैसे कर्मों का मुझमें अन्त होता। वे क्या रोकेंगे मुझे ? ।। १२४।।

पवन बहता हो जोर से। तो धुआँ बाधक होगा कैसे ?।
या सूर्यबिम्ब में कैसे। तम करेगा प्रवेश ? ।। १२५।।

गिरिकंदर के भीतर बैठता। उसे वर्षा की न होती बाधा।
वैसे प्रकृति कर्मों की, भ्राता। बाधा मुझे नहीं ।। १२६।।

प्रकृति-कर्मों का वस्तुतः। मैं ही होता हूँ निमित्त।
किन्तु करता करवाता नहीं, पार्थ। स्वयं कुछ भी ।। १२७।।

घर में दीपक रखा होता। न किसे वर्जता न प्रेरणा देता।
कौन किस व्यवहार में होता। यह भी जानता नहीं ।। १२८।।

वह साक्षी सबका होता। गृहव्यापार का कारण बनता।
वैसे संसार-कार्यों में रहता। फिर भी मैं अनासक्त ।। १२९।।

यह एक ही है सबका अर्थ। पुनः कितना बताऊँ पार्थ ?।
बस यही एक मथितार्थ। हृदयंगम करो ।। १३०।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। १०।।

सृष्टि के व्यापार का समस्त। जैसे सूर्य ही होता कारण ।
वैसे मैं ही एकमेव निमित्त। विश्वोत्पत्ति का ।। १३१ ।।

मैं माया का करता अंगीकार। तब उत्पन्न होता चराचर ।
अतः जग निर्माण का आधार। मैं माना जाता ।। १३२ ।।

अब इस ज्ञान के प्रकाश में, मीत। देखो मेरे कार्य अद्भुत ।
मुझमें यदपि सभी भूत। मैं उनमें नहीं ।। १३३ ।।

या ये भूत नहीं है मुझमे। मैं भी नहीं हूँ उनमें ।
सदा रखो स्मरण में। यह मुख्य तत्व ।। १३४ ।।

यह गुह्य हमारा यथार्थ। बता दिया तुम्हें पार्थ ।
बंद कर इन्द्रिय-द्वार समस्त। मन में भोगो इसे ।। १३५ ।।

यह मर्म जब तक अज्ञात। मेरा स्वरूप तब तक पार्थ ।
कदापि न आयेगा हाथ। जैसे कण घी में ।। १३६ ।।

अन्यथा बाँध कर अनुमान। लगेगा हुआ आत्मज्ञान ।
किन्तु क्या कभी खेत का सिंचन। होता मृगजल से ? ।। १३७ ।।

पानी में फेंके जाल में। लगता चन्द्र आ गया पकड़ में ।
निकाल कर झाड़ने पर उसमें। चन्द्र कहाँ होता ? ।। १३८ ।।

वैसे हमें हो गया ब्रह्मज्ञान। बतियाते फिरते कई जन ।
किन्तु व्यर्थ वह शाब्दिक ज्ञान। बोध-परीक्षा में ।। १३९ ।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। ११ ।।

मन में भीति हो संसार की। और इच्छा हो मेरी प्राप्ति की ।
तो मैंने बताई उपपत्ति की। याद रहे नित्य ।। १४० ।।

अन्यथा पीलिया पीड़ित। कहता चाँदनी है पीत ।
वैसे दोष दिखते पार्थ। मेरे निर्मल स्वरूप में ।। १४१ ।।

अन्यथा ज्वर से मुख का स्वाद जाते। दूध को कड़वा ज़हर बताते ।
वैसे मानव न होकर भी मुझे मानते। मानव सारे ।। १४२।।

इसलिये पुनः कहता हूँ धनंजय। न भूलो यह अभिप्राय ।
स्थूल दृष्टि होगी निरुपाय। देखने में मुझे ।। १४३।।

जो स्थूल दृष्टि से मुझे देखते। वे तत्त्वतः मुझे नहीं देखते ।
जो स्वप्न में अमृत पीते। क्या होते अमर ? ।। १४४।।

जो स्थूल दृष्टि वाले मूढ़। कहते मुझे जाना सुदृढ़ ।
वह जानना ही बनता बाड़। उनके लिये ।। १४५।।

जल में देख नक्षत्र-बिम्बों को। मोतियों का भ्रम होता हंस को ।
गोता लगाता पकड़ने को। मर जाता जैसे ।। १४६।।

मृगजल को मान गंगाजल। दौड़ जाने का क्या फल ? ।
कल्पतरु का स्थान बबूल। लेगा कैसे ? ।। १४७।।

नीलमणियों का हार जान कर। उठा लिया यदि विषधर ।
या रत्न मान कर, धनुर्धर। उठाये ओले ।। १४८।।

अथवा गुप्तधन प्रगट हुआ। मान, अंगार पल्ले लिया ।
या परछाई को समझ न पाया। सिंह डूबा पानी में ।। १४९।।

वैसे संसार में मुझे साकार। देखते करते जो व्यवहार ।
वे चंद्र की आशा में उठा कर। देखते जलबिंब को ।। १५०।।

वैसे जो मुझे संसारी मानते। उनके कृतसंकल्प व्यर्थ होते ।
जैसे काँजी पी कर चाहते। परिणाम अमृत का ।। १५१।।

वैसे स्थूलाकार विनाशी। उसे मान कर अविनाशी ।
उसमें मुझे देखने के कांक्षी। कैसे देख पायेंगे ? ।। १५२।।

जो पूर्व दिशा में चलता। क्या पश्चिम सागर देख सकता ? ।
या जो भूसे को निरंतर कूटता। क्या पा सकता अनाज ? ।। १५३।।

वैसे विश्व को जो स्थूल में जानता। क्या मुझे पहचान सकता? ।
अथवा फेन जो पी लेता। क्या करता जलपान ? ।। १५४ ।।

अतः जो माया मोहित मन से। मुझे संसारी मानते ।
और जन्म-मरण हैं थोपते। मुझ पर भी ।। १५५ ।।

मुझ अनाम पर कोई नाम। क्रियारहित पर कर्म ।
और विदेही पर देहधर्म। रोपते हैं ।। १५६ ।।

आकारातीत को आकार। देहातीत को उपचार ।
शास्त्रबंधमुक्त को आचार। चिपकाते हैं ।। १५७ ।।

मुझ वर्णहीन में वर्ण। गुणातीत में गुण ।
कर-पद-रहित में कर चरण। देखते कल्पना में ।। १५८ ।।

अमाप का करते मापन। सर्वगत को स्थानापन्न ।
जैसे, स्वप्न में देखता वन। शैया पर कोई ।। १५९ ।।

वैसे, मुझ अश्रवण को कान। अचक्षु को देते नयन ।
अगोत्र को गोत्र प्रदान। अरूपा को रूप ।। १६० ।।

मुझ अव्यक्त को व्यक्त। निरीच्छ को इच्छायुक्त ।
स्वयंतृप्त को तृप्त। मानते हैं ।। १६१ ।।

मुझ निरावरण को आवरण। भूषणातीत को देते भूषण ।
करना चाहते मेरा निर्माण। जो स्वयं निर्माता ।। १६२ ।।

मैं सहज किन्तु मुझे घड़ते। स्वयंभू की प्रतिष्ठापना करते ।
मुझ निरन्तर का आवाहन करते। फिर करते विसर्जन ।। १६३ ।।

मैं सर्वदा स्वतः सिद्ध। किन्तु मुझे बाल युवा वृद्ध ।
जोड़ते नानाविध सम्बन्ध। मुझ एकरूप को ।। १६४ ।।

मुझ अद्वैत को द्वैत मानते। अकर्त्ता हूँ, कर्त्ता कहते ।
भोक्ता न हूँ, भोक्ता कहते। अर्जुन मुझे ।। १६५ ।।

मुझ अकुल का कुल बखानते। चिरन्तन के मरण से दुखी होते ।
सब मैं हूँ, फिर भी मानते। शत्रु मित्र मुझे ।। १६६ ।।

स्वानंद में रहता हूँ निमग्न। मुझे कामेच्छु मानते जन ।
सर्वत्र होता हूँ विद्यमान। कहते एकदेशीय ।। १६७ ।।

सर्वात्मा हूँ चराचर का। मुझे मानते पक्षधर किसी का ।
क्रोध से वध करता किसीका। यही बात चला देते ।। १६८ ।।

ये सामान्य मनुष्यधर्म। सभी होते मेरे कर्म ।
ऐसा विपरीत होता ज्ञान। पार्थ इनका ।। १६९ ।।

ये कोई आकार देखते। उसीको देव मानकर भजते ।
उसके भंग होते फेंक देते। कहते देव नहीं ।। १७० ।।

इसविध ये सभी मानव। मुझे भी मानते मानव ।
इसलिये उनका ज्ञान, पांडव। आड़े आता सत्य के ।। १७१ ।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। १२ ।।

जीवन ही व्यर्थ है इनका। जैसे बादल बिना जल का ।
या दूर से ही देखने के काम का। जैसे मृगजल ।। १७२ ।।

या माटी के घुड़सवार। या जादू के अलंकार ।
मेघों का गंधर्वनगर। भास मात्र ।। १७३ ।।

थूहड़ बढ़ता ऊँचा सरल। भीतर पोला ऊपर न फल ।
अथवा जैसे स्तन अजागल। वैसे व्यर्थ वे ।। १७४ ।।

जैसे, फूल सेमल का। लेने देने के न काम का ।
वैसे, जीवन इन मूर्खों का। धिःकारणीय ।। १७५ ।।

उनका शास्त्रपठण ऐसा। बन्दर ने तोड़ा नारियल जैसा ।
या अन्धे को मिले मोती-सा। होता, अर्जुन ।। १७६ ।।

इनका सारा शास्त्र। जैसे बालिका कर में शस्त्र।
या अपवित्र को दिया मंत्र। होता व्यर्थ ।।१७७।।

वैसे, उसका सारा ज्ञान। और प्रत्येक आचरण।
सब व्यर्थ ही होता जान। चित्त अस्थिर जिसका ।।१७८।।

ऐसे तमोगुण की राक्षसी नाचती। सद्‌बुद्धि को ग्रस लेती।
और विवेक का नाश करती। निशाचरी जो ।।१७९।।

जो इसके अधीन हो जाते। सदैव चिन्तातुर रहते।
अनायास मुँह में जा गिरते। तामसी प्रकृति के ।।१८०।।

जहाँ लार में आशा की। लपलपाती जीभ हिंसा की।
जो असन्तोष के पिंड की। करती रहती जुगाली ।।१८१।।

जो कानों तक अनर्थ के। निकल आती होंठ चाट के।
होती प्रमाद पर्वत के। प्रचण्ड दर्रे समान ।।१८२।।

द्वेषरूपी दाढ़ें जिसकी। बुकनी बना देती ज्ञान की।
जो मूढ़ों को खोल माया की। जैसे अगस्ति को कुम्भ ।।१८३।।

ऐसी आसुरी प्रकृति के। जो गिरते शिकार हो के।
वे कुण्ड में व्यामोह के। डूब जाते है ।।१८४।।

यों जो अज्ञान-गर्त में गिरते। विवेक का सहारा नहीं पाते।
अस्तु, वे फिर कहाँ जाते। जानता न कोई ।।१८५।।

छोड़ो यह निष्फल निरूपण। करते व्यर्थ मूर्ख-वर्णन।
मेरी वाणी को थकान। होगी पार्थ ।।१८६।।

ऐसा जब कहते श्रीकृष्ण। ठीक-ठीक कहता अर्जुन।
जिससे वाणी को सुख सम्पूर्ण। सुनो वह साधुकथा ।।१८७।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। १३ ।।

तो निर्मल मानस में जिनके। मैं रहता क्षेत्रसंन्यासी बन के।
सोते में भी चरण जिनके। दबाता रहता वैराग्य ।। १८८ ।।

जिनकी आस्था में भ्राता। स्वयं धर्म राज्य करता।
मन जिनका आर्द्रता देता। विवेक को ।। १८६ ।।

जो ज्ञानगंगा में नहाये। पूर्णत्व-भोज से तृप्त हुए।
मानो शान्ति के निकल आये। कोंपल नये ।। १६० ।।

जो परब्रह्म के अंकुर। धैर्य मण्डप के आधार।
आनन्दसागर में भरी गागर। ओतप्रोत ।। १६१ ।।

जिन्हें भक्ति में इतनी प्रीति। जो मोक्ष को भी तुच्छ मानती।
जिनके सहज आचरण में नीति। देखता विश्व ।। १६२ ।।

अपने सभी अंगों पर जिन्होंने। धारण किये शान्ति के गहने।
मुझ सर्वव्यापक के लिये अपने। चित्त की बनाई खोल ।। १६३ ।।

ऐसे जो हैं महानुभाव। वे दैवी प्रकृति के सुदैव।
जो जानते वस्तुमात्र सर्व। स्वरूप मेरा ।। १६४ ।।

फिर भक्तिभाव से बढ़ते। ये महात्मा मुझे भजते।
द्वैत को स्पर्श भी नहीं करते। जिनके मनोधर्म ।। १६५ ।।

ऐसे मद्रूप हो कर पंडुसुत। मेरी सेवा में जो रत।
उनकी भी सुनो एक बात। होती अद्भुत ।। १६६ ।।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। १४।।

कीर्तन में सज कर नाचते। उनके प्रायश्चित्त लोपते।
पापों के नामोनिशान न रहते। उनके जीवन में ।। १६७ ।।

करते यम दम को दुरवस्थित। तीर्थों को विस्थापित।
यमलोक के मार्ग अवरुद्ध। करते सारे ।। १६८ ।।

यम यमन करे किसका ?। दम दमन करे किसका ? ।
तीर्थ क्षालन करे किसका। जब कहीं पाप ही न हो ? ।।१९९।।

ऐसे मेरा नाम-संकीर्तन। विश्व-दुखों का करता निवारण ।
महासुख से गुंजायमान। होता विश्व सारा ।।२००।।

वे उषा के बिना प्रकाश देते। अमृत के बिना जीवन देते ।
बिना योग के ही दिखाते। साक्षात् कैवल्य ।।२०१।।

राजा रंक में अंतर न करते। किसी को छोटा बड़ा न मानते ।
सारे विश्व का बन जाते। आनन्दधाम ।।२०२।।

वैकुण्ठ जाता हो कोई कभी। ये वैकुण्ठ लाते धरा पर ही ।
नामघोष-गौरव से मही। करते पवित्र ।।२०३।।

ये उज्जवल रविसमान। किन्तु अस्त रवि का दूषण ।
चन्द्र भी एक बार ही पूर्ण। ये परिपूर्ण सदैव ।।२०४।।

मेघ उदार किन्तु छँट जाते। उपमान सही नहीं होते ।
ये ही कृपालु खरे होते। नर-केसरी ।।२०५।।

सहस्त्र जन्म सेवा करने पर। जिसका एक बार ही होता उच्चार ।
वह मेरा नाम निरन्तर। लेती इनकी जिह्वा ।।२०६।।

मैं वैकुण्ठ में नहीं रहता। सूर्यबिम्ब में भी नहीं होता ।
योगी मानस को लाँघता। जाता उनके परे ।।२०७।

किन्तु जहाँ मेरा नामघोष। होता रहता अहर्निश ।
वहाँ पाओगे मुझे अवश्य। धनुर्धारी ।।२०८।।

यों मेरे गुणों से तृप्त होते। देशकाल को भुला देते ।
नामसंकीर्तन में मग्न होते। आत्मानन्द में जो ।।२०९।।

कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्द। ये कीर्तन करते अखंड ।
बीच-बीच में करते शुद्ध। आत्मचर्चा ।।२१०।।

इसविध मेरा कीर्तन करते। कोई चराचर में विचरते।
मेरा गुणगायन करते जाते। पंडुसुत ।। २११ ।।

कुछ और ऐसे होते। पंच प्राण व मन को जीतते।
उनसे मानो लिखा लेते। जयपत्र ।। २१२ ।।

बाहर यमनियम की बाड़ लगाते। भीतर वज्रासन का परकोट रचते।
और उस पर तोपें दाग देते। प्राणायाम की ।। २१३ ।।

फिर कुण्डलिनी के तेज से। मन, प्राणों की सहायता से।
कर लेते अपने अधीन-से। चन्द्रामृत सरोवर ।। २१४ ।।

फिर प्रत्याहार से पराक्रम कर। नष्ट करते विकार परिवार।
और इन्द्रियों को रखते बाँध कर। अन्तःकरण में ।। २१५ ।।

तभी धारणा के सवार दौड़ते। महाभूत एकत्र हो जाते।
चतुरंग सेना का नाश करते। संकल्पों की ।। २१६ ।।

फिर जयजयकार उठता। ध्यान का ध्वज लहराता।
तन्मयता का दिखायी देता। एकछत्र ।। २१७ ।।

एकरसता से होता राजतिलक। समाधिदेवी का अभिषेक।
तब आत्मानुभव का राज्यसुख। मिलता उन्हें ।। २१८ ।।

यह मेरा अष्टाँग भजन। होता है अत्यंत गहन।
अब सुनो दूजा भजन। करते कैसे ।। २१९ ।।

दोनों पल्लो तक वस्त्र में, भ्राता। एक ही धागा है होता।
वैसे विश्व में मेरे अतिरिक्त। जानते नहीं किसी को ।। २२० ।।

ब्रह्म से मशक तक अर्जुन। ब्रह्माण्ड में मेरे बिन।
दूजा होता ही न ऐसा चिन्तन। होता इनका ।। २२१ ।।

ज्येष्ठ-कनिष्ठ नहीं मानते। सजीव-निर्जीव नहीं जानते।
देखी वस्तु को नमन करते। मैं हूँ जानकर ।। २२२ ।।

अपनी श्रेष्ठता को भुलाते। योग्य, अयोग्य का भेद न करते ।
व्यक्तिमात्र को नमन करते। एक जैसा मानकर ।। २२३।।

जैसे ऊँचाई पर जो उदक। नीचे आता अपने आप ।
भूतमात्र के आगे नतमस्तक। वैसे होते ये ।। २२४।।

फलों से लदी तरुशाखा जैसे। सहज झुकती नीचे, वैसे ।
ये सम्मुख प्राणिमात्र के। झुक जाते है ।। २२५।।

सदैव निरहंकारी होते। विनय को ही सम्पदा मानते ।
जय-जय मंत्र सहित अर्पण करते। मुझे अपने कर्म ।। २२६।।

नमन से इनके मानापमान गये। इसलिये ये मद्रूप हो गये ।
और मद्रूप यदपि हो गये। भजते रहते मुझे ।। २२७।।

अर्जुन, यह है श्रेष्ठ भक्ति। तुम्हें बतायी सम्प्रति ।
अब सुनो ज्ञानयज्ञ भक्ति। कैसी होती है ।। २२८।।

उनके भजन की रीति। तुम जानते हो किरीटी ।
बता चुके हम भली भाँति। इससे पूर्व ।। २२९।।

अर्जुन हाँ हाँ कहता। तुम्हारी ही कृपा देवता ।
किन्तु अमृत भोज को कौन कहता। हो गया पर्याप्त ।। २३०।।

अर्जुन का कहना सुनकर। उसकी जीवटता देखकर ।
श्रीकृष्ण हो गये विभोर। झूमने लगे ।। २३१।।

कहते धन्य-धन्य भ्राता। पुनरुक्ति अयोग्य सर्वथा ।
किन्तु कहलाती तुम्हारी आस्था। मुझसे पुनः ।। २३२।।

इस पर कहता है अर्जुन। क्या चाँदनी नहीं चकोर बिन? ।
करना जगत का दुःख-शमन। स्वभाव उसका ।। २३३।।

अपनी इच्छावश चकोर। चंचु खोलता चन्द्र की ओर ।
वैसे मेरी विनय गिरिधर। आप कृपासिन्धु ।। २३४।।

मेघ अपनी योग्यतानुसार। विश्व का संकट करता दूर ।
सामने उस वृष्टि के अपार। चातकतृष्णा क्या है! ।। २३५ ।।

किन्तु एक कुल्ला भरने को। जाना पड़ता गंगातट को ।
वैसे छोटी बड़ी इच्छा को। मैंने व्यक्त किया ।। २३६ ।।

तब श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते। बस रहने दो तुम्हारी बातें ।
क्योंकि हम सन्तुष्ट हो चुके। स्तुति न करो ।। २३७ ।।

तुम हो अच्छे श्रोता अर्जुन। यही वक्तृत्व को निमन्त्रण ।
यों कर अर्जुन का सम्मान। श्रीकृष्ण कहने लगे ।। २३८ ।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।। १५ ।।

ज्ञानयज्ञ का ऐसा रूप। पंचमहाभूत हैं मण्डप ।
स्तम्भ है आदिसंकल्प। द्वैत पशु ।। २३९ ।।

इन्द्रियाँ और प्राण। जो महाभूतों के विशेष गुण ।
वे ही हैं यज्ञ के साधन। घृत अज्ञान का ।। २४० ।।

सुखदुखों के प्रति समबुद्धि। यही मित्र यज्ञवेदी ।
हवनकुंड मन-बुद्धि। ज्ञानाग्नि से प्रज्ज्वलित ।। २४१ ।।

विवेकमति की कुशलता। यही यज्ञ की मंत्रविद्या ।
जीव यजमान है होता। यज्ञपात्र शान्ति ।। २४२ ।।

वह अनुभव के पात्र से। विवेक के महामंत्र से ।
ज्ञान के अग्हिोत्र से। जीव-शिव भेद मिटता ।। २४३ ।।

अज्ञान के नष्ट होते। यजमान, यज्ञ दोनों थमते ।
यजमान ऐक्य रस में करते। अवभृत स्नान ।। २४४ ।।

तब भूत, कर्म और विषय। पृथक् नहीं रहते कौन्तेय ।
सबको एक मानते असंशय। वह आत्मबुद्धि ।। २४५ ।।

जैसे, नींद से जाग कर कोई। निद्रावश कहने लगता यही।
स्वप्न की विचित्र सेना क्या मैं ही। नहीं बना था ? ।। २४६ ।।

वह सेना-सेना नहीं थी। सारी मेरी ही माया थी।
ऐसी एकरूपता की प्रतीति। करता वह विश्व में ।। २४७ ।।

तब जीव अपने को न मानता। सबको आत्मा ही समझता।
यों एकत्व-ज्ञानयज्ञ से भ्राता। भजते मुझको कई ।। २४८ ।।

अथवा अनादि विश्व में होते अनेक। एक के समान नहीं एक।
और नाम रूप आदिक। भिन्न ही होते ।। २४९ ।।

अतः विश्व यद्यपि है भिन्न। उसका ज्ञान होता अभिन्न।
जैसे अवयव यद्यपि विभिन्न। देह होता एक ही ।। २५० ।।

छोटी-बड़ी डाली यदपि। तरुवर होता एक तदपि।
होती नाना किरणें फिर भी। दिनकर एक होता ।। २५१ ।।

वैसे नानाविध होते व्यक्ति। भिन्न नाम और कृति।
ऐसे भिन्न भूतों में जिनकी मति। देखती मुझे अभिन्न ।। २५२ ।।

यों भूतों के भिन्नत्व को जान। करते जो श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ।
न होता भिन्नबोध अर्जुन। कारण वे ज्ञानी ।। २५३ ।।

अन्यथा जहाँ जो देता दिखायी। वह मेरे बिना सम्भव नहीं।
यही बोध उनके मन माहीं होता अर्जुन ।। २५४ ।।

देखो बुलबुला जहाँ जाता। वहाँ पानी ही सर्वत्र होता।
रहता अथवा फूट जाता। रहता जल में ही ।। २५५ ।।

वायु धूलि-कणों को उठाता। उनका पृथ्वीत्व नहीं जाता।
फिर उनको गिरा देता। गिरते पृथ्वी पर ही ।। २५६ ।।

फिर जहाँ जिस भाव से भी। चाहे जैसा हो न हो तब भी।
मैं सर्वत्र हूँ बोध यही। होता उनके मन में ।। २५७ ।।

अरे जितनी मेरी व्यापकता। उतना ही उनका अनुभव होता।
वे बरतते बहुलता। बहुल हो कर ।। २५८ ।।

यह भानुबिम्ब सबको भाई। जैसे सम्मुख देता दिखायी।
वैसे जग को सम्मुखता इनकी। दिखती सर्वदा ।। २५९ ।।

अर्जुन उनका ज्ञान। भीतर बाहर न होता भिन्न।
जैसे आकाश में पवन। सर्वत्र होता एक-सा ।। २६० ।।

वैसे मुझमें जितनी सम्पूर्णता। उतनी ही उनकी व्यापकता।
अतः उनके किये बिना ही, भ्राता। भजन हो जाता है ।। २६१ ।।

अन्यथा मैं ही सम्पूर्ण होता। कौन मेरी उपासना न करता ?।
किन्तु जिन्हें मेरा ज्ञान नहीं होता। उनकी उपासना व्यर्थ ।। २६२ ।।

अस्तु करते हुए ज्ञानयज्ञ। मुझे भजते जो भक्तजन।
उनका किया मैंने वर्णन। तुम्हारे लिये ।। २६३ ।।

सर्वदा, सर्वत्र जो कर्म होते। वे मुझे ही प्राप्त होते।
किन्तु मूर्ख मुझे नहीं पाते। अज्ञानवश ।। २६४ ।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।। १६ ।।

वह ज्ञान होगा उदित। तो मैं मुख्य वेद, यह होगा प्रतीत।
और उसमें जो अनुष्ठान वर्णित। वह भी मैं हूँ ।। २६५ ।।

फिर उस कर्म के कारण। यथासांग जो प्रगट यज्ञ।
वह भी मैं ही, यह बात अर्जुन। समझ लो ठीक से ।। २६६ ।।

देवों को आहुति स्वाहा मैं। पितरों को आहुति स्वधा मैं।
सोम, घृत, समिधा मैं। मंत्र भी मैं हूँ ।। २६७ ।।

मैं अग्नि, मैं ही होता। हवन द्रव्य आदि सर्वथा।।
पार्थ, जानो तत्त्वतः। मैं ही होता हूँ ।। २६८ ।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ।। १७ ।।

जिसका पा कर अंग-संग। यह प्रकृति अष्टांग ।
प्रसवती है सारा जग। मैं वह पिता ।। २६९ ।।

अर्धनारी नटेश्वर मैं। जो पुरुष में वही नारी में ।
वैसा मैं इस चराचर में। माता भी हूँ ।। २७० ।।

उत्पन्न जगत जहाँ रहता। जिससे जीवन बढ़ते रहता ।
वह मेरे बिना दूजा न होता। जानो निश्चित ।। २७१ ।।

प्रकृति और पुरुष दोनों ही। जन्मते जिसके मनरहित मनमाहीं ।
वह त्रिभुवन का पितामह भी। मैं ही हूँ ।। २७२ ।।

समस्त मार्ग ज्ञान के। जिस गाँव को ही जाते ।
और जिसे चारों वेदों में। कहते वेद्य ।। २७३ ।।

जहाँ नाना अभिमत एक होते। शास्त्र परस्पर को जानते ।
भूले-भटके ज्ञान जहाँ मिलते। वह पवित्र स्थान मैं ।। २७४ ।।

अर्जुन ब्रह्मबीज के चार। निकले वाणी के अंकुर ।
उनका भवन जो ॐकार। वह भी मैं ही ।। २७५ ।।

उस ॐकार से धनुर्धर। बनते अ उ म अक्षर ।
जिनसे उत्पन्न होते फिर। तीनों वेद ।। २७६ ।।

इसलिये ऋग्, यजु और साम। तीनों वेद मैं, कहे आत्माराम ।
और मैं ही हूँ कुल-क्रम। सभी वेदों का ।। २७७ ।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।। १८ ।।

यह चराचर समस्त। जिस प्रकृति में समाहित ।
वह विश्राम करती जहाँ श्रान्त। वह परम गति मैं ।। २७८ ।।

और जिससे यह प्रकृति जीती। जिसके सहारे विश्व को प्रसवती ।
जो इस प्रकृति माहीं। भोगता त्रिगुणों को ।।२७९।।

वह पति विश्वलक्ष्मी का। और स्वामी त्रैलोक्य का ।
जग में मैं ही हूँ इसे पक्का। पार्थ, करो अनुभव ।।२८०।।

मेरी ही आज्ञा है नभ हो सर्वत्र। वायु कदापि न रहे स्थिर ।
अग्नि जलाये निरन्तर। मेघ बरसे ।। २८१।।

पर्वत न छोड़ें अपना स्थान। सागर न करें सीमोल्लंघन ।
और पृथ्वी करे भूतों को धारण। आज्ञा मेरी ।।२८२।।

मेरे कहने से वेद बोलते। सूर्य-चन्द्र मेरे चलाये चलते ।
जगच्चालक प्राण हिलते। मेरे हिलाये ।।२८३।।

मेरी ही आज्ञा से भ्राता। काल भूतों को ग्रसता ।
यों सारी सृष्टि आज्ञांकिता। है मेरी ।।२८४।।

मैं ऐसा हूँ समर्थ। अतः कहलाता जगन्नाथ ।
और गगन की नाईं पार्थ। हूँ सर्वसाक्षी ।।२८५।।

ऐसे सभी नाम रूपों में। जो भरा चराचर में ।
नाम रूपों के मर्म में। है जो स्वतः ।।२८६।।

जैसे जल में कल्लोल। कल्लोल में होता जल ।
ऐसे बसाता सबको अविकल। वह निवास मैं ।।२८७।।

जो मेरा अनन्यशरण। निवारता उसका जन्म मरण ।
अतः शरणागत का शरण्य। मैं ही हूँ ।।२८८।।

मैं ही एक अनेक रूपों से। भिन्न प्रकृति गुणों से ।
सभी में प्राणरूप से। रहता हूँ अर्जुन ।।२८९।।

जैसे सागर तड़ाग भेद के बिना। कहीं भी प्रतिबिम्बित सविता ।
वैसे ब्रह्मादि भूतों का चहेता। मैं हूँ, मित्र ।।२९०।।

मैं ही हूँ जो, भ्राता। त्रिभुवन को आर्द्रता देता।
उत्पत्ति, स्थिति, लय सम्भव का। फल मैं ही ।। २६१ ।।

शाखा बीज से होती। फिर तरुता बीज में आती।
वैसे सृष्टि संकल्प से होती। मिल जाती उसी में ।। २६२ ।।

ऐसे अव्यक्त व वासनारूप। विश्व का जो बीजसंकल्प।
उसका कल्पान्त में जहाँ लोप। वह स्थान भी मैं ।। २६३ ।।

ये नाम रूप लोप होते। वर्ण व्यक्ति नष्ट होते।
जातिभेद भी नहीं रहते। जब न होता आकार ।। २६४ ।।

तब फिर से रचने चराचर। वासना-संस्कार धारणकर।
जहाँ रहते देवता अमर। वह स्थान भी मैं ।। २६५ ।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।। १९ ।।

मैं सूर्यरूप में तपता। जो जग को सोख लेता।
फिर इन्द्ररूप में बरसता। तो आती समृद्धि ।। २६६ ।।

अग्नि काष्ठ को खाता। तो काष्ठ ही अग्नि बन जाता।
वैसे मरता और मारता। स्वरूप मेरा ।। २६७ ।।

अतः मृत्यु जो-जो लीलता। वह रूप भी मेरा होता।
और वह जो नहीं मरता। मेरा ही सहज रूप ।। २६८ ।।

अधिक कह कर क्या बताये। एक ही बार सब सुना जाये।
तो सत्-असत् को मान लें। मेरे ही रूप ।। २६९ ।।

इसलिये जहाँ मैं नहीं। ऐसा स्थान क्या है कहीं ?।
किन्तु प्राणि दुर्भाग्यवश ही। न देखते मुझे ।। ३०० ।।

तरंग सूखती जलबिन। किरण नहीं दीप बिन।
वैसे मेरे अस्तित्व को अर्जुन। जीव नहीं जानते ।। ३०१ ।।

यहाँ बाहर-भीतर मैं ही होता। मुझसे ही यह विश्व बनता।
किन्तु मति मारी जा कर भ्राता। जीव कहते मैं हूँ नहीं। ।। ३०२।।

अमृतकूप में गिरता। बाहर आने को छटपटाता।
ऐसे अभागे को बता। क्या कहें ? ।। ३०३।।

एक कौर के लिये पार्थ। अंधा दौड़ता यत्र-तत्र।
चिन्तामणि मिला तो मारता लात। अंधता से ।। ३०४।।

ऐसी ही होती अवस्था। जब ज्ञान छोड़ जाता।
अतः अज्ञान से जो कर्म होता। न किया-सा जानो ।। ३०५।।

पंख अंधे गरुड़ के। होते किस कांम के।
वैसे ज्ञानबिन सत्कर्मों के। परिश्रम व्यर्थ ।। ३०६।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ।। २०।।

देखो सोचो किरीटी। आश्रमधर्म की परिपाटी।
विहित मार्ग की कसौटी। जो स्वयम् बनते ।। ३०७।।

वे जब यज्ञ करने लगते। तीनों वेद सन्तोष से झूमते।
यज्ञक्रिया सफल हाथ जोड़े। खड़ी होती सम्मुख ।। ३०८।।

ऐसे दीक्षित सोमप। जो स्वयं हो जाते यज्ञरूप।
वे पुण्य के नाम पर पाप। जोड़ते जानो ।। ३०९।।

ये तीनों वेदों को जानते। ज्ञानयज्ञ से मेरा यजन करते।
किन्तु मुझे पाने की इच्छा तजते। आशा करते स्वर्ग की ।। ३१०।।

जैसे कल्पतरु के तले बैठकर। झोली में गाँठें बाँधकर।
कोई अभागा चलता उसे ले कर। भीख माँगने ।। ३११।।

वैसे शत-शत यज्ञ करते। और स्वर्गसुख चाहते।।
वे, अर्जुन पुण्य न जोड़ते। करते केवल पाप ।। ३१२ ।।

अतः मुझे तज जो स्वर्ग जाते। उसे अज्ञ पुण्यमार्ग कहते ।
किन्तु ज्ञानी उसे बताते। केवल हानि ।। ३१३ ।।

नरक में होता जितना दुःख। स्वर्ग में उससे अधिक सुख।।
किन्तु निर्दोष व नित्य सुख। मेरा स्वरूप ।। ३१४ ।।

मेरी प्राप्ति के लिये जानो। पगडंडियाँ हैं दोनों ।
स्वर्ग-नरक को पहचानो। राहें चोरों की ।। ३१५ ।।

पुण्यात्मक पाप स्वर्ग को जाता। पापात्मक पाप नरक ले जाता ।
जो मेरे प्राप्ति कराता। वही शुद्ध पुण्य ।। ३१६ ।।

मानव मेरा ही अंश होता। तो जिससे मैं दूर जाता ।
उसे पुण्य बताते भ्राता। क्या झड़ेगी न जीभ ? ।। ३१७ ।।

अस्तु, यह जो दीक्षित होते। इसविध यज्ञ करते ।
और मन में इच्छा करते। स्वर्गसुखों की ।। ३१८ ।।

फिर जिससे मुझे नहीं पाते। उस पापात्मक पुण्य को जोड़ते ।
और स्वर्ग सिधारते। हर्ष से अत्यंत ।। ३१९ ।।

जहाँ अमरत्व है सिंहासन। ऐरावत सरीखा वाहन ।
राजधानी का है स्थान। अमरावती ।। ३२० ।।

जहाँ महासिद्धि के भंडार। अमृत के आगार ।
जिसमें झुंड अधिकतर। कामधेनुओं के ।। ३२१ ।।

जहाँ देवता सेवा करते। चिंतामणि जड़े पथ होते ।
सर्वत्र आनन्दोद्यान होते। कल्पतरुओं के ।। ३२२ ।।

जहाँ गंधर्व करते गायन। रम्भा आदि करतीं नर्तन ।
अप्सराओं का विलासदर्शन। जिनमें मुख्य उर्वशी ।। ३२३ ।।

शयनगृह में करे चाकरी मदन। चन्द्र सिंचन-सम्मार्जन ।
पवन करता सन्देश वहन। दौड़-दौड़ कर ।। ३२४ ।।

बृहस्पति जहाँ मुख्य ब्राह्मण। कहते हैं आशीर्वचन ।
स्तुति करते हैं सुरजन। अनगिनत ।। ३२५ ।।

जहाँ आठों दिग्पाल धुरंधर। अश्वारूढ़ चलते सरदार ।
आगे चलता अश्व रौबदार। उच्चैःश्रवा इन्द्र का ।। ३२६ ।।

अस्तु, ये भोग ऐसे। साक्षात् इन्द्रसुखों जैसे ।
तब तक भोगते आनन्द से। जब तक पुण्य शेष ।। ३२७ ।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।। २१ ।।

जब वह पुण्य समाप्त होता। इन्हें इन्द्रपद छोड़ना पड़ता ।
वापस मृत्युलोक आना पड़ता। धनंजय, इनको ।। ३२८ ।।

जैसे वेश्या पर जो धन लुटाता। फिर उसके द्वार भी न जा पाता ।
ऐसा लज्जाजनक होता। जीवन दीक्षितों का ।। ३२९ ।।

यों जिन्होंने मुझ शाश्वत को खोया। पुण्य से स्वर्गसुख चाहा ।
उनका अमरत्व व्यर्थ गया। अंत में आते मृत्युलोक ।। ३३० ।।

माता के गहरे गर्भ में। पकते विष्ठा की परतों में ।
उबाले जाते नौ मासों में। मरते जनम-जनम ।। ३३१ ।।

स्वप्न में जो निधान प्राप्त। जागते सारा हो जाता लुप्त। ।
वैसे जानो स्वर्गसुख पार्थ। वेदज्ञों का ।। ३३२ ।।

कोई वेदज्ञ हो चाहे जितना। व्यर्थ होता मुझे जाने बिना ।
जैसे पछोरा कण के बिना। भूसा केवल ।। ३३३ ।।

इसलिये मुझ अकेले बिन। तीनों वेदधर्म अकारण।
केवल मेरा ही पा कर ज्ञान। तुम सुखी होगे ।। ३३४ ।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। २२ ।।

जिन्होंने सर्वभाव से जिया। थोक भाव मुझे बेच दिया।
जैसे गर्भस्थ को भैया। उद्यम ज्ञान होता नहीं ।। ३३५ ।।

वैसे मेरे बिना जिन्हें कोई। कहीं उत्तम रहा नहीं।
जिन्होंने अपने प्राण भी। सँजोये मेरे लिये ।। ३३६ ।।

ऐसी एकनिष्ठा से अर्जुन। करते नित्य मेरा चिन्तन।
मेरी उपासना करते जो जन। उनकी सेवा करता मैं ।। ३३७ ।।

ऐक्य भाव से भ्राता। जो मेरा भजन करता।
उसी क्षण से उसकी चिन्ता। मैं करता हूँ ।। ३३८ ।।

वह जो भी करना चाहता। मुझे ही वह करना पड़ता।
जैसे पक्षिणी का यत्न होता। चूज़ों के लिये ।। ३३९ ।।

भुला कर अपनी भूख-प्यास। माँ शिशु के लिये करती सायास।
वैसे जो मुझमें ही लगाते आस। उनका सब मैं करता हूँ ।। ३४० ।।

उन्हें सायुज्य की हो लगन। तो मैं पूरी करता अर्जुन।
चाहते हों सेवारत आचरण। प्रेम उपजाता परस्पर मैं ।। ३४१ ।।

उनकी हर कामना पूरी करना। मानता हूँ धर्म अपना।
उनकी हर वस्तु का रक्षण करना। कर्तव्य मेरा ।। ३४२ ।।

मुझमें समर्पित सर्वभाव जिनका। सारा योगक्षेम उनका।
मुझे ही होता चलाने का। धनुर्धर ।। ३४३ ।।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। २३ ।।

और भी समुदाय हैं होते। जो मुझ सर्वव्यापी को नहीं जानते ।
इन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि को भजते। इसीलिये ।। ३४४ ।।

वैसे तो वह मेरा ही यजन। क्योंकि मैं रहता सर्वव्यापी बन ।
किन्तु उचित नहीं ऐसा भजन। धनंजय ।। ३४५ ।।

क्या वृक्ष के शाखा, पर्ण। होते नहीं एक बीज से उत्पन्न ? ।
किन्तु करना चाहिये सिंचन। जड़ों का ही ।। ३४६ ।।

अथवा हों दसों इन्द्रियाँ। एक ही होती काया ।
उनके सेवित विषय भैया। जाते एक ही स्थान में ।। ३४७ ।।

फिर भी उत्तम पकवान से अर्जुन। कैसे भर ले अपने कान ? ।
अथवा फूलों से अपने नयन। कैसे बाँध लें ? ।। ३४८ ।।

रस मुख से ही चखा जाता। सुगंध नाक से लिया जाता ।
वैसे मुझे भजना पड़ता। मेरे ही भाव से ।। ३४९ ।।

मुझे जाने बिना भजन। व्यर्थ ही गया जान !
इसलिये कर्मचक्षु अर्जुन। निर्दोष हों ज्ञान के ।। ३५० ।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। २४ ।।

अन्यथा, देखो मेरे भाई। इन यज्ञोपचारों का सब ही ।
मेरे बिना क्या कोई। भोक्ता है ? ।। ३५१ ।।

मैं आदि सभी यज्ञों का। अन्त भी मैं ही उनका ।
यजन दुर्मति अन्य देवों का। करते मुझे तजकर ।। ३५२ ।।

जैसे देवों, पितरों के वास्ते। गंगाजल गंगार्पण करते ।
वैसे मेरा ही मुझे देते। होता भाव अन्यान्य ।। ३५३ ।।

इसलिये हे भ्राता। वे मुझे न पाते सर्वथा ।
फिर मन में होती जो आस्था। वहीं जाते ।। ३५४ ।।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।। २५ ।।

जिसके काया, वाचा, मन। करते इन्द्रादि देवों का भजन ।
वे शरीर होते विलीन। देवरूप होते ।। ३५५ ।।

अथवा जिनका अंतःकरण। करता पितृव्रत का पालन ।
वे अंत होते ही जीवन। जाते पितृलोक ।। ३५६ ।।

या क्षुद्र देवतादि भूत। होते जिनके परम देवत ।
उनकी उपासना देकर चित्त। करते जारण के लिये ।। ३५७ ।।

उनके देह मृत होते। भूतप्रेत बन जाते ।
ऐसे संकल्पानुसार मिलते। फल कर्मों के ।। ३५८ ।।

जिनके नैन मुझे ही देखते। कान मेरा ही नाम सुनते। ।
मन में मेरा ही ध्यान करते। वाचा मुझे बखानती ।। ३५९ ।।

जिनका अंग-प्रत्यंग सर्वत्र। मुझे ही करता नमस्कार ।
दानादि पुण्य उपकार। करते मेरे लिये ।। ३६० ।।

जिन्होंने मेरा ही अध्ययन किया। मेरे कारण अंतर्बाह्य तोष पाया ।
सारा जीवन जी लिया। मेरे लिये ही ।। ३६१ ।।

जिन्हें मेरे बिना किसीकी। कामना ही नहीं रही ।
कीर्ति बढ़ायेंगे हरि की। यही जिनका अहंकार ।। ३६२ ।।

मेरे काम से जो सकाम। मेरे प्रेम से सप्रेम ।
मेरे भ्रम से जो सभ्रम। लौकिक नहीं जानते ।। ३६३ ।।

जिनके शास्त्र मुझे ही जानते। मन्त्र केवल मुझे ही पाते ।
ऐसे जो मुझे ही भजते। सर्वभाव से ।। ३६४ ।।

वे मरण के पहले अर्जुन। मुझमें हो जाते विलीन ।
मरणोपरान्त अन्य स्थान। जायेंगे कैसे ? ।। ३६५ ।।

अतः जो करते मेरा पूजन। उन्हें मिलती मद्रूपता सम्पूर्ण ।
जिन्होंने अपने को मुझे अर्पण। सेवामिष किया ।। ३६६ ।।

मुझमें ही हे अर्जुन। आत्मभाव को वारे बिन ।
नाना उपचारों से भी न। मैं प्राप्त होता ।। ३६७ ।।

जानता कहने वाला न जानता। कृतार्थ भाव भी न्यून होता ।
अपने को जो मुक्त कहता। वह न होता कुछ भी ।। ३६८ ।।

हमने किया यज्ञ, दान। ऐसा गर्व जो करते जन ।
उनकी पात्रता होती तृणसमान। अधिक नहीं ।। ३६९ ।।

देखो ज्ञान के बल पर। क्या वेदों से कोई श्रेष्ठतर ? ।
या सहस्त्रमुख शेष से मुखर। कौन होता ? ।। ३७० ।।

वह भी बिछौने के नीचे छुपता। वेदों को नेति-नेति कहता ।
यहाँ सनकादिक वर्ग हो जाता। पागल जैसा ।। ३७१ ।।

तपस्वी शंकर-सा कौन ?। वह भी छोड़ कर अभिमान ।
सिर पर गंगा करता धारण। चरणोदक मेरा ।। ३७२ ।।

या ऐश्वर्य में लक्ष्मीसमान। कौन समृद्ध है अर्जुन ? ।
जिसके घर में दासी बन। रहती सिद्धियाँ ।। ३७३ ।।

उन्होंने अमरपुरी का नाम दे। खेल-खेल में रचे घरौंदे ।
तो क्या उसमें गुड्डी-गुड्डे। न होंगे इन्द्रादिक ? ।। ३७४ ।।

रास न आकर उन्हें तोड़तीं। तो इन्द्र को रंक बना देती ।
जिस भी वृक्ष को देखतीं। वे बनते कल्पतरु ।। ३७५ ।।

सामर्थ्य इतना भ्राता। जिसकी दासियों में होता ।
उस लक्ष्मी को भी प्रतिष्ठा। वे देती नहीं ।। ३७६ ।।

फिर मनोयोग से सेवा कर। सारा अभिमान छोड़कर ।
वह पदप्रक्षालन की पात्र। हुई अर्जुन ।। ३७७ ।।

अतः सारा बड़प्पन छोड़ कर। ज्ञान अभिमान को भुला कर ।
जग में चलो विनम्र बन कर। तब पाओगे मुझे ।।३७८।।

सहस्त्ररश्मि के सम्मुख अर्जुन। चन्द्र भी लोपता है न ? ।
फिर तेज का अभिमान। जुगनू क्यों करें ? ।।३७९।।

वैसे लक्ष्मी का प्रयत्न अधूरा। शिव का तप जहाँ पड़ता न पूरा ।
वहाँ अज्ञान का ऐरा-गैरा। कैसे मुझे जानेगा ? ।।३८०।।

अतः तजें देहाभिमान। गुणों का उतारें राई लोण ।
और सम्पत्ति का सारा बोध। वारें मुझ पर ।। ३८१।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। २६ ।।

फिर निःसीम भाव और उल्लास से। मुझे अर्पण करने के मिष से ।
कोई फल अपनी पसंद से। भक्त ले आता ।।३८२।।

भक्त वह फल मुझे देता। मैं दोनों हाथों उसे ले लेता ।
डंठर तोड़े बिना खाने लगता। आदरपूर्वक ।। ३८३।।

कोई भक्तिपूर्वक धनुर्धर। एक फूल देता लाकर ।
उसे सूँघना भूल कर। मैं मुख में डालता ।। ३८४।।

फूल की तो क्या, भ्राता। दिया हो एक ही पत्ता ।
ताजा अथवा सूखा। कैसा भी हो ।। ३८५।।

किन्तु भक्तिभाव से अर्पित। उस पत्ते को सन्तोष से, पार्थ ।
मैं खाता, जैसे अमृत। क्षुधित को तोष देता ।। ३८६।।

किन्तु कभी हो जाय ऐसी बात। कि मिले न कोई घास-पात ।
पानी मिलने में तो दिक्कत। कहीं नहीं न ? ।।३८७।।

वह बिना मूल्य सर्वत्र। श्रम के बिना होता प्राप्त ।
उसे ही मुझे भक्तियुक्त। अर्पण किया जिसने ।।३८८।।

उसने वैकुंठ से विशाल। मेरे लिये बनाये मंदिर महल।
अलंकार कौस्तुभ से तेजस्वल। दिये मुझे ।। ३८९ ।।

उसने मेरे लिये किया निर्माण। धवल दूध के समान।
क्षीर-घी से मनभावन। शयनगृहों का ।। ३९० ।।

कर्पूर, चन्दन, अरगजा, अगर। इनकी आरती प्रज्वलित कर।
उसने रखी मेरे सम्मुख। मालिका सूर्य की ।। ३९१ ।।

गरुड़ जैसे वाहन। कल्पतरुओं के उद्यान।
कामधेनुओं का गोधन। उसने दिया मुझे ।। ३९२ ।।

खाते अमृतमधुर पकवान। जो सन्तोष पाता मन।
भक्त के दो बूँद जल के कारण। पाता मैं ।। ३९३ ।।

मुट्ठीभर चिड़वों की पोटली। सुदामा की मैंने खा ली।
तुमने स्वयं देखा बाहुबली। और क्या बतायें ? ।। ३९४ ।।

मैं केवल भक्ति ही जानता। उसमें छोटा-बड़ा नहीं मानता।
भक्ति का ही अतिथि होता। जैसा भी हो ।। ३९५ ।।

पत्र, पुष्प, तोय, फल। भक्ति के हैं निमित्त केवल।
किन्तु अनन्य भक्ति निश्चल। साधन मेरी प्राप्ति का ।। ३९६ ।।

अतः सुनो वीर अर्जुन। बुद्धि को करो स्वाधीन।
मन-मानस से कदापि न। भुलाओ मुझे ।। ३९७ ।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। २७ ।।

जो भी करते हो व्यवहार। या भोगते हो सुख सम्भार।
अथवा यज्ञादि आचार। करते हो मेरे लिये ।। ३९८ ।।

जो सत्पात्र को दोगे दान। या सेवकों को वेतन।
या तप, व्रत आदि उपासन। जो भी करोगे ।। ३९९ ।।

अन्य जो भी क्रियाकलाप। सहज होंगे परंतप।
उन्हें भी भक्ति से आप। करो मेरे लिये ।।४००।।

किन्तु कर्त्ता होने का बोध। कभी न रहे तुम्हें याद।
ऐसे धो कर कर्म समस्त। सौंपो मुझे ।।४०१।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।। २८ ।।

अग्नि में डाले बीज भ्राता। न पाते अंकुरावस्था।
वैसे शुभाशुभ कर्म न फलता। जो मुझे अर्पित ।।४०२।।

कर्म जो शेष रहेगा। सुख-दुःख रूप में फलेगा।
उसे भोगने लेना पड़ेगा। पुनर्जन्म ।।४०३।।

उस कर्म को करोगे मुझे अर्पण। तब चूकेगा जन्म-मरण।
जन्म के साथ ही सारे श्रम। समाप्त हो जायेंगे ।।४०४।।

इसीलिये हे किरीटी। यह जो सुलभ संन्यासयुक्ति।
उस पर आज ही करो कृति। कल होगी देर ।।४०५।।

इस युक्ति के कारण भ्राता। देहबंधन नहीं मिलता।
मेरे सुख स्वरूप में एकता। होती सुख से ।।४०५।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।। २९ ।।

ऐसा मैं होता हूँ कैसा ?। तो भूतमात्र में एक-सा।
जहाँ अपना पराया जैसा। होता नहीं भेद ।।४०७।।

जो मेरे इस रूप को जान कर। अहंकार को निर्मूल कर।
सभी कर्मों को समर्पित कर। भजते मुझे ।।४०८।।

वे दिखायी देते देहधर। होते मुझसे तदाकार।
मैं भी उनके देह में धनुर्धर। समग्र रहता ।।४०९।।

जैसे विशाल वटवृक्षता। बीज-कणिका में वसती भ्राता ।
और बीजकण भी वसता। वटवृक्ष में ।। ४१० ।।

वैसे हम दोनों में परस्पर। केवल ब्रह्मनाम का अन्तर ।
आंतरिकता का करते विचार। दोनों होते एक ।। ४११ ।।

उधार लाये आभूषण। व्यर्थ करता धारण ।
वैसे इनका देहधारण। उदासीन होता ।। ४१२ ।।

पवन पर उड़ जाता सुगंध। डंठर पर रहता फूल निर्गन्ध ।
वैसे समय पूरा करने पार्थ। देह इनका ।। ४१३ ।।

अन्य जो अभिमान होते। मेरी भक्ति का लाभ होते ।
मेरे ही स्वरूप में लीन होते। समझो अर्जुन ।। ४१४ ।।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। ३० ।।

ऐसे प्रभाव से मुझे भजते। वे फिर देह नहीं पाते ।
चाहे जिस जाति के होते। तब भी नहीं ।। ४१५ ।।

और उनका आचरण। भले ही हो पापपूर्ण। ।
किन्तु जीवन किया हो अर्पण। भक्तिमार्ग में ।। ४१५ ।।

अन्त समय जैसी मति। वैसी प्राप्त होती गति ।
अतः बिताते जीवन की समाप्ति। जो मेरी भक्ति में ।। ४१७ ।।

एक पहले दुराचारी रहा हो। फिर भी सर्वोत्तम ही उसे कहो ।
भीषण बाढ़ से निकल आया हो। बिना मरे जैसा ।। ४१८ ।।

वह पार लग गया जीवित। अतः उसका डूबना व्यर्थ ।
वैसे अन्तिम भक्ति से समाप्त। होते पाप उसके ।। ४१९ ।।

इसलिये हो पापाचारी रहा। अनुताप तीरथ में नहा ।
मेरी शरण को जिसने गहा। अनन्य भाव से ।। ४२० ।।

तो हो गया पवित्र उसका कुल। जाति भी हो गई निर्मल ।
जन्म हो गया सफल। जानो उसका ।। ४२१ ।।

वह बनता सकल शास्त्रवेत्ता। तपश्चर्या का फल पा लेता ।
अष्टांग योग भी सिद्ध होता। पार्थ उसका ।। ४२२ ।।

अस्तु, कहा बहुत भ्राता। वह कर्ममुक्त सर्वथा होता ।
जिसकी मुझमें ही आस्था। होती अखण्डित ।। ४२३ ।।

मंजूषा में एकनिष्ठा की। धड़कनें मन और मति की ।
भर रखाता जो स्वयं की। मेरे पास ।। ४२४ ।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।। ३१ ।।

वह कालान्तर से मेरे जैसा। विचार करेगा यदि ऐसा ।
तो सोचो उसे मरण कैसा। जो रहता अमृत में ? ।। ४२५ ।।

अरे जब तक न होता सूर्योदय। उसे कहते रात का समय ।
वैसे जो मेरी भक्ति के सिवाय। क्या वह पाप नहीं ? ।। ४२५ ।।

अतः उसके चित्त को भ्राता। प्राप्त हो मेरी सान्निध्य ।
तभी वह बनता तत्त्वतः। मद्रूप ।। ४२७ ।।

जैसे दीपक से दीपक जलता। कौन पहले, न पता चलता ।
वैसे जो सर्वथा मुझे भजता। वही होता मद्रूप ।। ४२८ ।।

फिर उसे प्राप्त मेरी शान्ति। पाता मेरी स्थिति, कान्ति ।
यही क्यों, उसकी जीवन ज्योति। जलती मेरे प्राणों से ।। ४२९ ।।

बारम्बार हे भारत। कितनी बताऊँ वही बात ? ।
जो करना चाहे मुझे प्राप्त। भुलाये न मेरी भक्ति को ।। ४३० ।।

श्रेष्ठ वंश की न आवश्यकता। न ही जाति की श्रेष्ठता ।
न हो विद्वत्ता की, भ्राता। लालसा मन में ।। ४३१ ।।

रूप, वय की प्रतिष्ठा न हो। सम्पत्ति का दम्भ भी न हो ।
ये सब आडम्बर व्यर्थ मानो। मेरी भक्ति बिना ।। ४३२ ।।

बालियाँ हो दाने बिन। तो ठूँठों का बढ़ता घना वन ।
बीराने नगर का सुदर्शन। किस काम का ? ।। ४३३ ।।

या महासरोवर सूखता। वन में दुखी को दुखी मिलता ।
बाँझ तरु फलता-फूलता। हो जैसे ।। ४३४ ।।

वैसे व्यर्थ सारा वैभव। या वंश जाति का गौरव ।
जैसे शरीर हो सावयव। प्राणहीन ।। ४३५ ।।

वैसे मेरी भक्ति के बिन। धिःकार है जीव का जीवन ।
अरे धरती पर पाषाण। क्या कम होते हैं ? ।। ४३५ ।।

कंटक तरु की छाया से। जन दूर ही रहते जैसे ।
वैसे सभी पुण्य अभक्तों से। कतराते हैं ।। ४३७ ।।

नीम निबोरियों से लदता। तो कौओं की होती बहुलता ।
वैसे भक्तिहीन बढ़ता। पाप के लिये ही ।। ४३८ ।।

पकवान परोसा खपरैल पर। फिर उसे रखा चौपाल पर ।
तो वह हो गया है धनुर्धर। खाने योग्य श्वान के ।। ४३९ ।।

वैसे भक्तिहीन का जीना। स्वप्न में भी पुण्य जाने ना ।
मानो संसार दुःखों को न्योता। दिया उसने ।। ४४० ।।

अतः भले न हो वंश उच्च। जाति भले हो अंत्यज ।
पशु देह मिला हो सहज। कोई हानि नहीं ।। ४४१ ।।

मगर ने गजेन्द्र को धर लिया। उसने मेरा स्मरण किया ।
उसका पशुत्व आड़े न आया। मेरी प्राप्ति में ।। ४४२ ।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। ३२ ।।

जिसका नामोच्चार अनुचित। जो सबसे है कनिष्ठ।
ऐसी पापयोनि में पार्थ। जो जन्म लेते ।। ४४३ ।।

वे होते ऐसे मूढ़। जैसे अनाड़ी पाषाण।
किन्तु मुझमें आस्था सुदृढ़। होती उनकी ।। ४४४ ।।

जिनकी वाणी पर मेरे आलाप। दृष्टि देखती मेरा ही रूप।
जिनका मन करता संकल्प। नित्य मेरा ।। ४४५ ।।

कान जिनके करते श्रवण। नित्य मेरा यश अर्जुन।
मेरी सेवा ही आभूषण। होते जिनके ।। ४४५ ।।

ज्ञान विषयों को न जानता। चित्त मुझे ही पहचानता।
ऐसा हो तभी जीना चाहता। अन्यथा चाहता मरण ।। ४४७ ।।

ऐसे अपना सारा भार। जिन्होंने डाला मुझ पर।
मुझे ही जीवन का आधार। बनाया जिन्होंने ।। ४४८ ।।

वे भले हों पापयोनिज। अथवा न हो वेदज्ञ।
किन्तु मेरी तुला में अनुज। हीन नहीं कदापि ।। ४४९ ।।

ऐसी भक्ति की श्रेष्ठता। कि देव दैत्य से भी हीन होता।
अर्जुन मेरी नरसिंहता। थी भक्तिवश ही ।। ४५० ।।

उस प्रल्हाद ने मेरे लिये। नाना संकट थे झेल लिये।
जो उसके चरित्र का गुण गाये। उसे प्राप्त कृपा मेरी ।। ४५१ ।।

वह दैत्यवंश में जन्मा था। किन्तु तत्सम गौरव इन्द्र को भी न था।
अतः मेरी प्राप्ति का कारण भ्राता। भक्ति है जाति नहीं ।। ४५२ ।।

राजमुद्रा के अक्षर। उठायें यदि चमड़े पर।
तो उसके ऐवज में धनुर्धर। मिलती सभी चीजें ।। ४५३ ।।

वैसे चाँदी और सुवर्ण। राजाज्ञाबिन अप्रमाण।
किन्तु राजाज्ञांकित चर्म, अर्जुन। बनता मुद्रा ।। ४५४ ।।

वैसे सत्य पाता तभी उत्तमता। तथा सारी सर्वज्ञता। ।
जब मेरा प्रेम भर देता। मन-मति को ।। ४५५ ।।

इसलिये वंश, जाति, वर्ण। ये सभी हैं निष्कारण ।
मुझमें भक्ति रखते अर्जुन। मिलती सार्थकता ।। ४५५ ।।

मेरी भक्ति की चाह जिसे। करे पूरे मनोयोग से ।
जाति की चर्चा हर तरह से। इसमें व्यर्थ ।। ४५७ ।।

जब तक गंगा में नहीं मिलते। तभी तक जलौघ निर्झर रहते ।
गंगा में मिलने पर हो जाते। केवल गंगा ।। ४५८ ।।

कैल, कीकर, चन्दन। तभी तक पृथक अर्जुन ।
जब तक सबका ईंधन। न करता अग्नि ।। ४५९ ।।

वैसे क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ। शूद्र, अंत्यज आदि जातियाँ ।
तभी तक इनकी पृथक गिनतियाँ। जब तक नहीं मद्रूप ।। ४६० ।।

लवण को डालते सागर में। तद्रूप हो जाता क्षण में ।
वैसे जातिभेद मेरी शरण में। हो जाते नष्ट ।। ४६१ ।।

नदी और नद। सागर में न पड़ते कूद ।
पूर्व पश्चिमगामी भेद। तभी तक रहता ।। ४६२ ।।

वैसे किसी भी निमित्त। मुझमें लगाते ही चित्त ।
तद्रूपता होती प्राप्त। सहज उसे ।। ४६३ ।।

फोड़ने को पारस को। लोहा स्पर्श करता उसको ।
स्पर्श होते ही लोहे को। मिलती सुवर्णता ।। ४६४ ।।

केवल विषयसुख पाने। मुझमें उन गोपियों ने ।
जैसे ही चित्त लगाये अपने। क्या न हुईं मद्रूप ? ।। ४६५ ।।

अथवा भय के कारण ही सही। क्या कंस मद्रूप हुआ नहीं ? ।
शिशुपाल वैर करने से ही। क्या न हुआ मद्रूप ? ।। ४६६ ।।

पाण्डवों यादवों को समधीपन से। वसुदेवादिक को ममता से।।
मुझसे ऐक्य पूर्ण रूप से। क्या न मिला अर्जुन ?।।४६७।।

नारद, ध्रुव, अक्रूर ने। शक और सनत्कुमारों ने।
भक्ति से ही इन सभी ने। पाया मुझे।।४६८।।

त्रैसे, गोपियों ने विषयमति से। कंस ने उस भीति से।
शिशुपाल आदि ने वैर से। पाया मुझे।।४६९।।

धरते बैर या विरक्ति। विषयासक्ति या भीति।
सबको मेरी प्राप्ति होती। जो है अन्तिम स्थान।।४७०।।

अतः सोचो मन माहीं। मुझे पाने के लिये भाई।
उपायों की नहीं कतई। कमी यहाँ।।४७१।।

किसी भी जाति, वंश का हो। भजता या विरोध करता हैं।
भक्त या बैरी मेरा ही हो। ध्यान रहे इसका।।४७२।।

किसी भी कारण से भ्राता। जो मेरी शरण में आता।
तो मद्रूपता को पाता। सहजता से।।४७३।।

अतः पापयोनि रहा हो। या वैश्य, शूद्र, अंगना हो।
मुझे भजते मेरे सदन को। प्राप्त हो जाते।।४७४।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर वर्णों में जो छत्रचामर। स्वर्ग जिनका उपहार।
मंत्रविद्या के पीहर। ब्राह्मण जो।।४७५।।

जहाँ वेदों का वास अखंड। जो वेदों के कवच सुदृढ़।
जिनकी दृष्टिमात्र से सिद्ध। मंगल सबका।।४७६।।

जो कहलाते भूदेव। तपावतार सावयव।
जिन्होंने जगाया देव। सकल तीर्थों का।।४७७।।

जिनकी आस्था की ममता। बढ़ाती सत्कर्म की व्यापकता ।
जिनके संकल्प से रहता। सत्य जीवंत ।।४७८।।

आशीर्वाद मिलते जिनका। जीवन बढ़ जाता अग्नि का ।
सागर अग्नि को निजस्थान देता। जिनके लिये ।।४७९।।

मैंने लक्ष्मी को परे किया। कौस्तुभ उतार, कर में लिया ।
जिनकी पद रज के लिये किया। सामने वक्षःस्थल ।।४८०।।

मैंने जिनका चरणचिन्ह। आज तक वक्ष पर किया धारण ।
अपनी शान्ति के यश का रक्षण। करने के लिये ।।४८१।।

अर्जुन, जिनका क्रोध महान। कालाग्निरुद्र का निवासस्थान ।
सिद्धियाँ जिनके होते प्रसन्न। सहजसिद्ध ।।४८२।।

वे पूण्यपूज्य ब्राह्मण। मेरी भक्ति में अति निपुण ।
वे मद्रूप होते इसका समर्थन। करें ही क्यों ? ।।४८३।।

चन्दन-वायु का स्पर्श होते। निकटस्थ नीम भी गंधित होते ।
ईशमस्तक पर पा लेते। अपना स्थान ।।४८४।।

फिर चन्दन वहाँ न जायेगा। ऐसा क्यों सोचियेगा ? ।
या गया इसका समर्थन करियेगा। तभी क्या सत्य ? ।।४८५।।

शिव ने किया विषप्राशन। करने उसके दाह का शमन ।
मस्तक पर किया धारण। अर्धचन्द्र ।।४८५।।

फिर जो शामक और पूर्ण। चन्द्र से अधिक गंधायमान ।
उस चन्दन को सर्वांग पर स्थान। क्यों न मिलेगा ? ।।४८७।।

जलौघ जो मार्ग में गंगा में मिलते। सहज सागर में जा गिरते ।
उस गंगा को अतिरिक्त सागर के। गन्तव्य क्या ? ।।४८८।।

अतः देता हूँ जिन्हें गतिज्ञान। जिनका करता हूँ रक्षण ।
पाते ऐसे राजर्षि ब्राह्मण। निर्वाण मुझमें ही ।।४८९।।

सौ छेदों वाली नाव में। कैसे बैठें शान्ति रख मन में ।
या बिना कवच के शस्त्रवर्षा में। रहें कैसे ? ।।४९०।।

देह पर गिरती हो चट्टान। क्यों न करें ढाल से रक्षण ? ।
या दवा के प्रति उदासीन। क्यों रहे बीमारी में ? ।। ४९१।।

भभका हो चतुर्दिक दावानल। क्यों न आवें बाहर निकल ।
इस लोक में उपद्रव सकल। क्यों न भजें मुझे ।।४९२।।

अरे मेरी न करे भक्ति। ऐसी मानव में कहाँ शक्ति ? ।
क्या उसके घर इतनी समृद्धि। कि रहे निश्चिन्त ? ।। ४९३।।

या विद्या यौवन से अर्जुन। ये हैं इतने असावधान ।
कि भरोसा मेरा भजन किये बिन। करते सुख प्राप्ति का ? ।। ४९४।।

जो भी हैं भोग्यजात। हैं केवल देह सुखार्थ ।
और वह देह तो कालग्रस्त। सदा रहा ।। ४९५।।

जहाँ महादुख का माल अमाप। गिनने को है मरण-माप ।
उस मृत्युलोक के हाट में परंतप। आना हुआ है ।। ४९५।।

इस दुःख हाट में पाण्डव। कैसे सुख खरीदे मानव ? ।
कैसे मिस्सी फूँकने से दीप। जल उठेगा ? ।।४९७।।

विष के प्याजों को पीसकर। रस लेते जो निचोड़कर ।
उसे अमृत का नाम देकर। अमरत्व मिले कैसे ? ।।४९८।।

वैसे प्रत्येक विषयसुख। होता केवल परम दुःख ।
रहते न बिना भोगे मूर्ख। क्या करें ? ।।४९९।।

अथवा अपना मस्तक काटकर। बाँधे पाँव के घाव पर ।
ऐसा मृत्युलोक का व्यवहार। हो रहा सारा ।।५००।।

अतः इस लोक में सुख की गाथा। सुने सुख से जो सुनना चाहता ।
किन्तु अंगारों की शैया पर भ्राता। सुखनिद्रा कैसी ? ।। ५०१।।

जहाँ का चन्द्र पाता क्षय। अस्त के लिये जहाँ उदय ।
जहाँ दुःख ओढ़े वसन सुखमय। सताता जग को ।।५०२।।

जहाँ अंकुरित होते मंगल। उसे ढंक देता अमंगल ।
मृत्यु गर्भस्थ को भी लील। लेती जहाँ ।।५०३।।

जो नहीं उसका चिन्तन होता। जो है उसे यमदूत ले जाता ।
कहाँ ? उस स्थान का पता। होता नहीं किसी को ।।५०४।।

उसकी खोज करते सर्वत्र। मृत वापस न आता पार्थ ।
जहाँ मृतात्माओं के चरित्र। बन जाते पुराण ।।५०५।।

जहाँ की भंगुरता का वर्णन। कल्पान्त तक करो अर्जुन ।
फिर भी वह कदापि न। समाप्त होगा ।।५०५।।

ऐसा जिस लोक का वर्तन। वहाँ जन्मते जो जन ।
उसकी असावधानी पर अर्जुन। बड़ा आश्चर्य है ।।५०७।।

प्रत्यक्ष परोक्ष लाभ जहाँ। कानी कौड़ी न खर्चते वहाँ! ।
जहाँ सर्वस्व की हानि वहाँ। खर्चते करोड़ ।।५०८।।

जो विषयों में लिप्त होते। उन्हें सभी सुखी कहते ।
लोभग्रस्त को निरूपते। महाज्ञानी ।।५०९।।

जिसकी आयु अल्प शेष। प्रज्ञाबल हो गया अशेष ।
बड़े जान कर आशीष। लेते उनका ।।५१०।।

ज्यों ज्यों शिशु बड़ा होता। उसका कौतुक हर कोई करता ।
किन्तु आयु घटने का भ्राता। दुख नहीं किसी को ।। ५११।।

जन्म से दिन प्रतिदिन अर्जुन। मानव होता काल के अधीन ।
किन्तु उत्साह से वर्धापन दिन। मनाते हैं ।। ५१२।।

'मर जा' शब्द को नहीं सहते। और मर जाने पर रोते ।
किन्तु घटती आयु को न गिनते। मूर्खतावश ।। ५१३।।

सर्प मेंडक को लीलने लगता। वह मक्खियाँ खाते रहता।
न जाने किसलिये भ्राता। जीव तृष्णा बढ़ाते ? ।। ५१४ ।।

इस मृत्युलोक का सभी उल्टा। देख देह सिहर उठता।
फिर अर्जुन बुरा लगता। यहाँ जन्मे तुम ।। ५१५ ।।

तो हाथ झाड़ कर हो जाओ अलग। भक्तिमार्ग में लग जाओ सजग।
जिससे मेरे पद को अव्यंग। तुम पाओगे ।। ५१६ ।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।। ३४ ।।

अपने मन को मद्रूप करो। मेरे भजन में प्रेम धरो।
सर्वत्र नमस्कार करो। मुझे ही ।। ५१७ ।।

मेरे अनुसंधान में देख। संकल्प जलाता जो निःशेष।
मुझे ही भजता नेक। मेरा याजक कहलाता ।। ५१८ ।।

जब मन्मय होवे इसविध। तो होगे मद्रूप सर्वविध।
तुम्हें बताया प्रकार से विविध। गुह्य अपने मन का ।। ५१९ ।।

अपना यह सर्वस्व हमने। छिपाये रखा था सबसे।
आत्मसात् करोगे उसे। तो पाओगे सुख ।। ५२० ।।

ऐसा जो साँवला परब्रह्म। भक्तों का कामकल्पद्रुम।
बोला वहाँ आत्माराम। संजय बताता ।। ५२१ ।।

महाबाढ़ में भी भैंसा। बैठा रहता है जैसा।
निश्चिन्त रहा वैसा। बूढ़ा धृतराष्ट्र ।। ५२२ ।।

तब संजय मन में कहता सहर्ष। इसे न अमृत वर्षा का स्पर्श।
यहाँ हो कर भी खोया नरेश। पता नहीं कहाँ ? ।। ५२३ ।।

किन्तु यह हमारा अन्नदाता। निंदा से वाणी को मलिनता।
कोई इसमें क्या कर सकता। यह इसका स्वभाव ।। ५२४ ।।

कोई इस वृत्तान्त का करने वर्णन। मेरा यहाँ कर नियोजन ।
व्यास ने किया मेरा रक्षण। धन्य भाग मेरा ।। ५२५ ।।

इतना बड़े सायास से। कह रहा था सुदृढ़ मति से ।
तभी घुमड़ आये से। सात्विक भाव ।। ५२५ ।।

संवाद में खोया था चित्त। वाणी भी हुई थी स्तंभित ।
रोमाँच आये नखशिखान्त। सारे शरीर में ।। ५२७ ।।

नयन अधमूंदे हो गये। हर्ष से आँसू बहने लग गये ।
सुखोर्मियों से काँपने लग गये। सारे गात्र ।। ५२८ ।।

रोम-रोम से स्वेद कण। हुए प्रगट मोती बन ।
मोतियों का जाल धारण। किया हो जैसे ।। ५२९ ।।

महासुख के प्रेम के कारण। जीवदशा का न रहा भान ।
व्यासकथन का वर्णन। करता नहीं था ।। ५३० ।।

तभी श्रीकृष्ण की वाणी। फिर से संजय ने सुनी ।
सुनते ही वह देववाणी। सिद्ध हुआ कार्यार्थ ।। ५३१ ।।

आँसू और स्वेदकण। पोंछ डाले तत्क्षण ।
धृतराष्ट्र से बोला नम्र वचन। सुनिये स्वामी ।। ५३२ ।।

कृष्णवचन का बीज उत्तम। संजय क्षेत्र श्रेष्ठतम ।
श्रोताओं को मिलेगी विपुल। फ़सल प्रमेयों की ।। ५३३ ।।

अजी ज़रा देंगे अवधान। तो हर्ष पर होंगे विराजमान ।
श्रवणेन्द्रियों का करेगा वरण। परम भाग्य ।। ५३४ ।।

अब सकल सिद्धियों का ठौर। जानेगा कृष्ण से धनुर्धर ।
उसे सुनिये, कहे ज्ञानेश्वर। दास निवृति का ।। ५३५ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
राजविधाराजगुह्य नामक समाप्त। उसका अध्याय नवाँ ।।

।। अध्याय दसवाँ ।।

श्रीगुरु, आप कुशल प्रबोधन में। विद्याकमल के विकास में।
परा वाणी संग विलास में। प्रणाम आपको ।। १ ।।

संसार-तम के हो नाशक। तरुण तूर्या के अभिभावक।
अप्रतिम परम बलधारक। प्रणाम आपको ।। २ ।।

प्रणाम अखिल जगत्पालन। मंगल मणि के निधान।
भक्त-वनों के चन्दन। आराध्य देव ।। ३ ।।

प्रणाम चतुरचित्तचकोर चन्द्र। आत्मानुभव के नरेन्द्र।
श्रुतिसार के समुद्र। मदननाशक ।। ४ ।।

प्रणाम भक्तिभजनभाजन। भवगज गंडस्थल-भेदन।
विश्वोत्पत्ति के स्थान। श्रीगुरुराय ।। ५ ।।

आपका अनुग्रह ही गणेश। जब दे आपका प्रकाश।
तो शास्त्रज्ञान में प्रवेश। बालक भी पाता ।। ६ ।।

आपका उदार वचन। जब दे अभयदान।
नवरसों का आकलन। पूर्ण हो जाता ।। ७ ।।

आपके स्नेह की वागीश्वरी। गूँगे को देती वैखरी।
वह शास्त्रार्थ का अधिकारी। होगा वाचस्पति से ।। ८ ।।

आपकी कृपा हो जिसपर। वरदहस्त जिसके मस्तक पर।
करेगा वह सामान्य देहधर। समता महेश से ।। ९ ।।

ऐसी महिमा जिस कृपा की। कैसे धृष्टता सुर में गाने की ।
सूर्य को उबटन लगाने की। बात करेगा कौन ? ।। १० ।।

कल्पतरु में लायें बहार। क्षीरधि का करें सत्कार ।
कर्पूर को गंध दें बेहतर। यह इच्छा व्यर्थ ।। ११ ।।

चन्दन को लेप लगाना। अमृत को चुढ़ाना-पकाना ।
नभ से किसी को ऊँचा उठाना। कैसे सम्भव ? ।। १२ ।।

श्रीगुरु की महानता। कैसे कोई जान सकता ? ।
उसी भाव से नमन करता। निश्चिन्त हो कर ।। १३ ।।

गुरुसामर्थ्य का प्रज्ञा से। कोई वर्णन करें भी कैसे ? ।
मोती पर अभ्रक चढ़ाने जैसे। होंगे वे प्रयास ।। १४ ।।

सोने पर चाँदी चढ़ाता। वैसी होगी वह स्तवन-गाथा ।
लीन हो चरणों पर माथा। रखना ही उचित ।। १५ ।।

आपकी मुझ पर ममता भारी। अतः पार्थ और गिरिधारी ।
इनके सम्वाद-संगम का प्रहरी। बना हूँ प्रयागवट ।। १६ ।।

कभी दूध दो कहते ही। कटोरी क्षीरसागर की ।
उपमन्यु के आगे रखी। जैसी शंकर ने ।। १७ ।।

रूठते ही ध्रुव बाल। उसे दे ध्रुवपद का फल ।
सन्तुष्ट कर गया घननील। सकौतुक जैसे ।। १८ ।।

वैसे जो स्वामिनि ब्रह्मविद्या की। विश्रान्ति सकल शास्त्रों की ।
उस गीता को ओवी छंद में गाने की। शक्ति दी आपने ।। १९ ।।

जिस भाषण का बीहड़ वन। विफल अक्षरों का दर्शन ।
उसे किया कल्पतरु वन। विवेक का ।। २० ।।

मति को किया देह से मुक्त। उसे बनाया आनन्दनिकेत ।
मन के लिए शैयानिर्मित। की गीतार्थसागर में ।। २१ ।।

यों गुरु का कार्य अगाध। उसका कैसे करूँ अनुवाद ? ।
कहा जो हो कर धृष्ट। क्षमा कीजिए ।। २२ ।।

आपके कृपाप्रसाद से। गीताध्याय पूर्व के इससे ।
ओवी छंद में आनन्द से। किये शब्दबद्ध ।। २३ ।।

पहले अध्याय में अर्जुनविषाद। दूसरे में किया योग विशद ।
उसमें भी ज्ञानकर्मयोग भेद। दिखाये विस्तार से ।। २४ ।।

तीसरे में कर्म प्रतिपादन। चौथे में कर्मयुक्त ज्ञान ।
पाँचवे में किया सूचन। योग तत्त्व का ।। २५ ।।

छठें में यही योगतत्व। बताया आसनादि विधिसहित ।
जीव और आत्मा का एकत्व। होता जिससे ।। २६ ।।

अष्टांग योग की स्थिति। योगभ्रष्टों की क्या होती गति ।
सबकी आमूल उपपत्ति। बतायी छठें में ही ।। २७ ।।

सातवें अध्याय में अनन्तर। प्रकृति का उपक्रम-उपसंहार ।
भगवद्भक्तों के चार प्रकार। बताये विस्तार से ।। २८ ।।

आगे सात प्रश्नों का विवरण। प्रयाणसिद्धि का वर्णम ।
आठवें अध्याय में सुविस्तीर्ण। किया है ।। २९ ।।

वेदग्रन्थों में अनगिनत। अभिप्राय जो हुए प्रगट ।
वह सारा लक्ष श्लोकों में ग्रथित। महाभारत में ।। ३० ।।

जो अभिप्राय महाभारत में। मिलता कृष्णार्जुन सम्वाद में ।
और जो सात सौ श्लोकों में गीता में। बताया अकेले नवें में ।। ३१ ।।

अतः नवें के अभिप्राय का। पूरा आकलन करने का ।
सामर्थ्य नहीं था पार्थ का। मेरा तो गर्व ही व्यर्थ ।। ३२ ।।

डले गुड़ जूसी शक्कर के। यदपि होते एक ही रस के ।
स्वाद उनकी मधुरता के। होते अलग ।। ३३ ।

वैसे कुछ अध्यायों में ब्रह्मवर्णन। कुछ दरशाते ब्रह्मस्थान ।
कुछ मैं जिज्ञासा के जतन। खो गए सबोध ।। ३४ ।।

इसविध गीता के आठ अध्याय। किन्तु नवाँ अवर्णनीय ।
मैं उसका कर पाया भाष्य। प्रभाव सामर्थ्य आपका ।। ३५ ।।

वसिष्ठ ने कफनी चमकायी। विश्वामित्र ने प्रतिसृष्टि रचायी ।
सेतु बाँध सागर पार कर गयी। राम सेना ।। ३६ ।।

हनुमान ने सूर्य धर लिया। अगस्ति चुल्लु में समुद्र पी गया ।
मुझ जैसे गूँगे से कहलवा लिया। आपने अनिर्वच ।। ३७ ।।

अस्तु, यह वर्णन ऐसा। राम-रावण युद्ध कैसा ? ।
तो राम-रावण युद्ध जैसा। हुआ था ।। ३८ ।।

वैसे नवें अध्याय में कृष्णवचन। नवें अध्याय के ही समान ।
मेरे इस कथन का प्रमाण। तत्वज्ञ गीतार्थ के ।। ३९ ।।

यों नवों अध्यायों का सुजन। किया पूर्वार्द्ध में निरूपण ।
अब उत्तरार्द्ध का निवेदन। सुनिएगा ।। ४० ।।

यहाँ विभूति मुख्य और गौण। अर्जुन को बताते श्रीकृष्ण ।
उस उत्तम कथा का श्रवण। आप करें मुझसे ।। ४१ ।।

ऐसी भाषा की सुन्दरता। शान्तरस शृंगार को जीतता ।
साहित्यभूषण बना देता। ओवी छन्द को ।। ४२ ।।

संस्कृत मूलपाठ पढ़ कर। स्वभाषा में टीका देख कर ।
उचित अभिप्राय समझ कर। मूल रहता अनबूझा ।। ४३ ।।

जैसे शरीर-सौन्दर्य के कारण। देह बनता गहनों का भूषण ।
किसने किसका किया अलंकरण। समझ में न आता ।। ४४ ।।

गीता भावार्थ का एकासन। उस पर संस्कृत स्वभाषा विराजमान ।
परस्पर की शोभा को समसमान। बढ़ाती कैसे सुनिए ।। ४५ ।।

अभिप्राय का करने प्रगटन। होता जब रस का वर्षण ।
चतुरता को मिला आभूषण। ऐसे लगता ।। ४६ ।।

वैसे स्वभाषा का लावण्य। जैसे लूठ लाया तारुण्य ।
फिर रचना की अगण्य। गीतातत्व की ।। ४७ ।।

परम गुरु जो चराचर को। सुख देता चतुर चित्त को ।
वह श्रीकृष्ण, अर्जुन को। क्या बताता सुनिए ।। ४८ ।।

कहे निवृत्तिदास ज्ञानेश्वर। कृष्ण कहते धनुर्धर ।
हृदय से तुम हो श्रेष्ठतर। दृढ़मति ।। ४९ ।।

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाम वक्ष्यामि हितकाम्यया ।। १ ।।

अबतक जो किया निरूपण। उसमें देखा तुम्हारा अवधान ।
उसे पाया मैंने पूर्ण। अधूरा नहीं ।। ५० ।।

घट में थोड़ा जल डालें। न चूए, तो अधिक डालें ।
वैसे अल्प सुनाके तुम्हें। लगता सुनाएं अधिक ।। ५१ ।।

आगन्तुक को बना प्रभारी। दक्ष दिखा तो बनाते भंडारी ।
वैसे तुम्हें बनाया भंडारी। मैंने अपने ज्ञान का ।। ५२ ।।

श्रीकृष्ण ने अति आदर से। ऐसे कहा अर्जुन से ।
पर्वत को देखते ही जैसे। बरसता मेघ ।। ५३ ।।

कृपानिधान वहाँ वैसे। बोला धनुर्धारी से ।
सुनाया अभिप्राय फिर से। बताऊँगा ।। ५४ ।।

जो प्रतिवर्ष खेत जोतते। अधिक फसल पा लेते ।
बार-बार किरसानी करते। ऊबते नहीं ।। ५५ ।।

बारम्बार आग में तपता। सोना अधिक शुद्ध होता।
उसका शोधन सुनार को भाता। इसीलिए ।। ५६ ।।

वैसे मैं तुमपर कोई। उपकार कर रहा हूँ नहीं।
अपने स्वार्थ के लिए ही। बताता हूँ आगे ।। ५७ ।।

जैसे शिशु को पहनाये भूषण। उसका क्या उसे ज्ञान !।
किन्तु उसमें कितना सुख महान। माँ ही जानती ।। ५८ ।।

वैसे तुम्हें अपना हित। ज्यों-ज्यों होता है प्राप्त।
त्यों-त्यों होता द्विगुणित। सुख मेरा ।। ५९ ।।

अस्तु यह अलंकार भाषण। तुम पर मेरा प्रेम बहुगुण।
भले ही अखंड करूँ भाषण। तृप्त नहीं होगा ।। ६० ।।

इसी एक कारणवश। बात दोहराता हूँ, गुडाकेश।
दत्तचित्त हो वीर पुरुष। सुनो आगे ।। ६१ ।।

परम मार्मिक मेरा वचन। ध्यान से सुनो, हे अर्जुन।
आया करने तब आलिंगन। शब्दब्रह्म जैसे ।। ६२ ।।

किन्तु अर्जुन, यह भी सही। कि तुम्हें मेरा ज्ञान नहीं।
यहाँ मैं जो देता दिखायी। वही है विश्व ।। ६३ ।।

न मे विदुः सुरगणः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।। २ ।।

मुझमें वेद हो गये मौन। पंगु हो गये मन प्राण।
मेरे सामने रात दिन। अस्त चन्द्र सूर्य का ।। ६४ ।।

अरे गर्भ में जो जीव होता। मां की वय नहीं जानता।
वैसे मत्संभव देवता। मुझे नहीं जानते ।। ६५ ।।

जलचर न जानते सागरमापन। मशक नहीं लांघता गगन।
वैसे महर्षियों का ज्ञान। मेरा पार न पाता ।। ६६ ।।

मैं कौन कितना किसका इसे। कहाँ कब उत्पन्न कैसे ।
इन बातों का निश्चय करते। बीते युग कई ।। ६७ ।।

क्योंकि ये महर्षि और देव। अन्य भूतजात हैं सर्व ।
इन सबका हूँ मैं आदिदेव। मेरा ज्ञान असम्भव ।। ६८ ।।

अधोगामी जल चढ़ेगा पहाड़। हरे तरु की उखड़ेगी जड़ ।
तभी मेरा बनाया चेतन जड़। जानेगा मुझे ।। ६९ ।।

पर्ण हार्द में वट समायेगा। तरंग में सागर सिमटेगा ।
अथवा परमाणु में समाएगा। भू-गोल सारा ।। ७० ।।

तभी मुझसे उत्पन्न जीव। महर्षि और देव ।
इनका मुझे जानना सम्भव। हो पायेगा ।। ७१ ।।

यदपि मैं यों अगम होता। जो प्रवृत्ति का मार्ग तजता ।
इन्द्रियों का दमन करता। विन्मुख हो कर ।। ७२ ।।

जो निवृत्तिपथ पर बढ़ कर। देहवोध को पीछे छोड़ कर ।
महाभूतों पर सवार हो कर। देखता आगे ।। ७३ ।।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ३ ।।

स्थिरमति उसी दशा में। निर्मल आत्मप्रकाश में ।
अजन्मत्व अपनी आँखों से। देखता मेरा ।। ७४ ।।

मैं सकल आरम्भ का प्रारम्भ। अखिल विश्व का हेरम्भ ।
इसी रूप में मुझे अप्रलम्भ। जानता जो ।। ७५ ।।

वह पाषाणों में पारस। सभी रसों में अमृत रस ।
मानवरूप में मेरा अंश। जानो निश्चित ।। ७६ ।।

वह चलता ज्ञान साकार। अवयव उसके सुखांकुर ।
दिखता मानव देहधर। मात्र भ्रम से ।। ७७ ।।

अरे कपूर की टिकिया में। हीरा फँसा हो बीच में।
उसे डालने से पानी में। क्या न होगा अलग ? ।। ७८ ।।

वैसे इस लोक में भ्राता। वह मनुष्यों जैसा दिखता।
किन्तु प्रकृतिदोष का न होता। उस पर प्रभाव ।। ७९ ।।

जलते चन्दन को छोड़ता साँप। वैसे विनाश भय से इसे पाप।
मुझे जानता उसे संकल्प। सभी छोड़ देते ।। ८० ।।

यहाँ सोचोगे अर्जुन। कि कैसे पाओगे मेरा ज्ञान।
तो अपने रूपविकारों का गठन। सुनो सुनाता हूँ ।। ८१ ।।

जो विभिन्न प्राणियों में। प्रकृति की समता में।
फैले हैं त्रैलोक्य में। सभी सर्वत्र ।। ८२ ।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुख दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।। ४ ।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।। ५ ।।

विकारों में प्रथम बुद्धि। फिर ज्ञान जो निरवधि।
निर्मोह, सहजसिद्धि। क्षमा और सत्य ।। ८३ ।।

इन्द्रियदमन, मन का शमन। सुख-दुःख, जन्म-मरण।
सब परमात्मा के स्थान। भावरूप ।। ८४ ।।

भय और निर्भयता। अहिंसा ओर समता।
सन्तोष, तप, भ्राता। और ज्ञान भी ।। ८५ ।।

यश और अपयश। दिखता सर्वत्र गुडाकेश।
उनका मुझसे ही उन्मेष। होता भूतों में ।। ८६ ।।

जैसे भूत होते भिन्न। उनके विकार भी विभिन्न।
होता कुछ को मेरा ज्ञान। कुछ को नहीं ।। ८७ ।।

प्रकाश और अँधेरा गहन। सूर्य से ही होते उत्पन्न।
उदय में प्रकाश का दर्शन। अस्त में अँधेरा ।। ८८ ।।

मेरा ज्ञान हो या हो न। यह कर्मफल की देन।
तभी प्राणी ले विषम गुण। जन्म लेते ।। ८९ ।।

इसविध संसार के भूत मात्र। मुझमें ही हैं समाहित।
ऐसे मानो मन में पार्थ। सदा, सर्वदा ।। ९० ।।

अब इस संसार के पालक। जिनके अधीन सभी लोक।
वे ग्यारह भाव, एक-एक। तुम्हें बताता हूँ ।। ९१ ।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।। ६ ।।

जो सकल गुणों से सिद्ध। महर्षियों में प्रबुद्ध।
कश्यपादि प्रसिद्ध। सात ऋषि ।। ९२ ।।

और चौदह मनु हैं ख्यात। उनमें स्वयंभू चार प्रख्यात।
उनका वर्णन करता हूँ, पार्थ। सुनो ध्यान से ।। ९३ ।।

मेरे मन से हुए उत्पन्न। ये ग्यारह मनु अर्जुन।
सकल सृष्टि का सृजन। करने के लिए ।। ९४ ।।

जब व्यवस्था न थी लोक की। रचना न थी त्रिभुवन की।
निस्तब्ध अवस्था महाभूतों की। थी तब ।। ९५ ।।

तभी ये ग्यारह हुए उत्पन्न। किया आठ लोकपालों का निर्माण।
उन्हें दिया अध्यक्षस्थान। जगत में ।। ९६ ।।

अतः ये ग्यारह बने राजा। अन्य लोक इनकी प्रजा।
विश्व विस्तार मुझसे ऐसा। हुआ अर्जुन ।। ९७ ।।

बीज होता शुरू में नन्हा। फिर उसका ही बनता तना।
शाखा-टहनियों से वृक्ष घना। बनता उसी से ।। ९८ ।।

फिर उसकी शाखाएँ बढ़तीं। कौन करेगा उनकी गिनती ? ।
उन शाखाओं से उत्पत्ति। होती कोंपलों की ।। ९९ ।।

आगे चल कर फल-फूल आते। वृक्षत्व को परिपूर्ण करते ।
किन्तु सोचने पर हम पाते। वे हैं केवल बीज ।। १०० ।।

वैसे प्रारम्भ में मैं ही अकेला। मुझसे मन को जन्म मिला ।
सात ऋषियों चार मनुओं को मिला। जन्म मन से ।। १०१ ।।

उन्होंने बनाये लोकपाल। जिनसे बने लोक विशाल ।
उनसे जन्मे विविध। प्राणी जगत के ।। १०२ ।।

इसविध तत्वतः यह विश्व। मैं ही हो गया हूँ सर्व ।
इसमें रखेगा सद्भाव। बूझेगा वही ।। १०३ ।।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।। ७ ।।

बीस भाव, बुद्धि, ज्ञानादि। ग्यारह विभूतियाँ और सप्तर्षी ।
इनसे जगत की सारी व्याप्ति। हुई जानो ।। १०४ ।।

अतः ब्रह्मा से चींटीपर्यन्त। मैं ही हूँ सबमें व्याप्त ।
मेरे बिना कोई पदार्थ। जगत में नहीं ।। १०५ ।।

ऐसे सत्य स्वरूप को पहचानता। उसी में ज्ञानोदय होता ।
दुःस्वप्न कभी न देखता। उत्तम-अधम भेद के ।। १०६ ।।

मैं और मेरी हर विभूति। विभूतियुक्त सभी व्यक्ति ।
एक ही हैं यह अनुभूति। करो चित्त में ।। १०७ ।।

अतः ऐक्य के महाबोध से। एकरूप होता जो मुझसे ।
वह कृतार्थ हो गया ऐसे। मानो असन्देह ।। १०८ ।।

अभेद दृष्टि से अर्जुन। जो करता मेरा भजन ।
उसके भजन-छंदों में रातदिन। मैं रहता हूँ ।। १०९ ।।

भक्तियोग है ऐसा अभेद। नहीं शंका नहीं खंड।
आचरते रुके तब भी उत्तम। बताया छठें अध्याय में ।। ११० ।।

अभेद-भक्ति कैसे होती ?। जानना चाहो सुभद्रापति।
तुम्हारी जिज्ञासा की पूर्ति। करूँगा अवश्य ।। १११ ।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।। ८ ।।

तो सुनो मेरे भ्राता। सकल जगत का जन्मदाता।
में ही हूँ पालनकर्त्ता। वास्तव में ।। ११२ ।।

हर तरंगमाला और लहर। पैदा होती जल के अन्दर।
उनका जीवन और आधार। केवल जल ही होता ।। ११३ ।।

उनके लिए देखो मित्र। पानी ही पानी सर्वत्र।
वेसे विश्व में मेरे बिन अन्यत्र। कुछ भी नहीं ।। ११४ ।।

मुझे सर्वव्यापी जान कर। उत्कण्ठा प्रेम धर कर।
जो मेरा सभी स्थानों पर। भजन करते ।। ११५ ।।

सारा देश काल वर्तमान। जान कर मुझसे अभिन्न।
जैसे पवन हो कर गगन। गगन में ही विचरता ।। ११६ ।।

वेसे जो आत्मज्ञानी होते। त्रिभुवन में सुख से विचरते।
मुझ विश्वव्यापी को सँजोते। अपने मन में ।। ११७ ।।

जो-जो मिलता भूत। उसे मानता भगवंत।
यही भक्तियोग निश्चित। जानो मेरा ।। ११८ ।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। ९ ।।

जो चित्त से हो गये मद्रूप। मेरे कारण जिनके प्राण तुष्ट।
जीवन-मरण को करते विस्मृत। ज्ञान की मस्ती में ।। ११९ ।।

उस ज्ञान के उन्माद में। सकौतुक नाचते सम्वादसुख में ।
आदान-प्रदान आपस में। करते ज्ञान का ही ।। १२० ।।

पड़ोस के सरोवर जैसे। उछल कर मिलते परस्पर से ।
तब तरंग भी होते अधीन-से। परस्पर के ।। १२१ ।।

वैसे ज्ञानीवृन्द जब एकत्र होता। ब्रह्मानन्द उछाल लेता ।
निजबोध को निजबोध पहचानता। भूषण निजबोध का ।। १२२ ।।

सूर्य, सूर्य की आरती उतारता। चन्द्र, चन्द्र से गले मिलता ।
समान ओघ का हो जाता। मिलन परस्पर में ।। १२३ ।।

वैसे ब्रह्मात्माओं का संगम होते। सात्विक कबाड़ सतह पर आते ।
ज्ञानी गणेश बन जाते। सम्वाद-चौराहे पर ।। १२४ ।।

आवेग में उस ब्रह्मानन्द के। बाहर दौड़ जाते देहगाँव के ।
गरज-गरज कर बताते। आनन्द ब्रह्मप्राप्ति का ।। १२५ ।।

जो गुरुशिष्य एकान्त में। एकाक्षर मन्त्र कहते कान में ।
उसे मेघगर्जन-सा जगत्रय में। बताते गरज कर ।। १२६ ।।

कमल कलि पूरी खिल जाती। मकरंद को छिपा नहीं सकती ।
दिवाली सुगंध की दे जाती। राजा-रंक सभी को ।। १२७ ।।

वैसे मेरा गुणगान करते। बीच ही में ये स्तब्ध हो जाते ।
फिर पूरा भुला देते। भान जीव देह का ।। १२८ ।।

ऐसे प्रेम में मस्त हो जाते। रात-दिन को नहीं जानते ।
आत्मस्थिति में लूटते। मेरा सुख परम ।। १२९ ।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।। १० ।।

फिर उन्हें जब कुछ देने की। इच्छा होती मेरे मन की ।
उसमें से ये अपनी पसन्द की। चीजें स्वयं ले लेते ।। १३० ।।

उन्होंने मुझे पाने को। पसन्द किया जिस मार्ग को ।
वह आगे मिलता पगडंडियों को। स्वर्ग मोक्ष की ।। १३१ ।।

उन्होंने भक्ति की मेरी। अतः दान की इच्छा हमारी ।
किन्तु दानवस्तु को धनुर्धारी। उन्होंने किया स्वाधीन ।। १३२ ।।

अतः हमारा कर्त्तव्य एक। बढ़ायें उनका भक्तिसुख ।
भक्त पर न हो काल वक्र। यही देखें ।। १३३ ।।

लाड़ला जब होता खेलता। पीछे-पीछे दौड़ती माता ।
स्नेह उसका कवच बनता। बालक के लिए ।। १३४ ।।

वह जो-जो खिलौना माँगता। सोने का देती माता ।
भक्तों के भक्ति पंथ भ्राता। मैं भी सजाता वैसे ।। १३५ ।।

जिस सम्प्रदाय के प्रसार से। मेरे भक्त पा लेते मुझे ।
उनको मैं अपनी इच्छा से। बढ़ाना चाहता हूँ ।। १३६ ।।

भक्त को होता प्रेम मुझसे। मुझे उसकी अनन्य निष्ठा से ।
प्रेमी भक्तों के अभाव से। घर मेरा सूना ।। १३७ ।।

मैंने स्वर्ग मोक्ष का निर्माण। भक्तों के हित किया अर्जुन ।
फिर देह को शेष के अधीन। किया लक्ष्मीसहित ।। १३८ ।।

किन्तु देह के अतिरिक्त एक। आत्मसुख जो अतिनाजुक ।
सुरक्षित रखा सात्त्विक। भक्तों के लिए ।। १३९ ।।

क्यों भक्तों को मैं ऐसे। लगाता हूँ अपने हृदय से ।
यह गम्य केवल अनुभव से। अन्यथा नहीं ।। १४० ।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।। ११ ।।

आत्मरूप मेरा भजन। जिनके जीने का कारण ।
जिन्होंने एक मेरे बिन। सबको व्यर्थ माना ।। १४१ ।।

उन तत्वज्ञों के लिए धनुर्धर। कपूर की दिवली जला कर ।
उनका मशालची बन कर। मैं आगे चलाता हूँ ।। १४२ ।।

अज्ञान की रात में। घटाटोप जो बढ़ता पथ में ।
उसे हटा कर उनके मार्ग में। करता हूँ ज्ञानोदय ।। १४३ ।।

ऐसे प्रेमियों का प्रियोत्तम। जब बोला पुरुषोत्तम ।
अर्जुन ने कहा मनोकाम। तृप्त हुआ मेरा ।। १४४ ।।

मुझ पर जमा संसार-कूड़ा। भगवन आपने झाड़ा ।
हटा कर जननी-जठर का गेड़ा। किया मुक्त मुझे ।। १४५ ।।

मैंने अपनी आँखों देखा। अपना सारा जन्म अनोखा ।
लगता जीवन लग गया आखा। अपने हाथ ।। १४६ ।।

आज सार्थक हो गया जीवन। भाग्य का आया उज्जवल क्षण ।
मुझ पर करता कृपा भाषण। प्रभो आपका ।। १४७ ।।

आपके भाषण सूर्य से पुरुषोत्तम। तममुक्त हो गया अंतरतम ।
दिखायी देने लगा अति उत्तम। सत्य स्वरूप तुम्हारा ।। १४८ ।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।। १२ ।।

देव तुम हो परब्रह्म। महाभूतों का विश्रामधाम ।
तुम हो पवित्र परम। जगन्नाथ ।। १४९ ।।

परम दैवत तीनों देवों के। पुराणपुरुष पचीसवें ।
परे हो प्रकृतिभाव के। परम दिव्य ।। १५० ।।

स्वामी तुम अनादि सिद्ध। जो जन्मधर्म से नहीं बद्ध ।
तुम ही हो परम प्रबुद्ध। अब जाना मैंने ।। १५१ ।।

तुम सूत्रधार कालयंत्र के। अधिष्ठाता जीवन के ।
आधार हो ब्रह्माण्ड के। हुआ स्पष्ट ज्ञान ।। १५२ ।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।। १३ ।।

और भी एक प्रतीति। तुम्हारी महानता बताती।
जो ऋषियों द्वारा सबके प्रति। पहले भी निरूपित ।। १५३ ।।

किन्तु उस कथन की सत्यता। आज यह पार्थ समझता।
क्योंकि जतायी बड़ी ममता। आपने देव ।। १५४ ।।

नारद भी गा-गा कर हमें। यही बात सुनाते रहे।
किन्तु बिना समझे अर्थ हमने। लिया गानसुख ।। १५५ ।।

जैसे अन्धों के गाँव में। सूर्योदय हो प्रत्यक्ष में।
उन्हें ताप ही आयेगा समझ में। प्रकाश नहीं ।। १५६ ।।

वैसे नारद का अध्यात्म गायन। रागमाधुर्य का ही कराता ज्ञान।
उसके मर्म का आकलन। नहीं हुआ था ।। १५७ ।।

असित देवल मुनियों ने कृष्ण। किया था तुम्हारा गुणगान।
किन्तु तब विषयविष के कारण। मति मारी गयी थी ।। १५८ ।।

उस विष की ऐसी समर्थता। मधुर परमार्थ कड़वा लगता।
जीव कटु विषय में मधुरता। करता अनुभव ।। १५९ ।।

औरों का क्या करें बखान। हमारे मन्दिर में कर आगमन।
करते थे तब रूप का वर्णन। व्यास भी ।। १६० ।।

अँधेरे में चिन्तामणि देखते। अनजाने उपेक्षित करते।
सूर्योदय पर पहचानते। यही चिन्तामणि ।। १६१ ।।

वैसे व्यासादिक का कथन। मानो ज्ञानरत्नों की खान।
आपके उपदेश सूर्य के बिन। हमने की उपेक्षा ।। १६२ ।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।। १४ ।।

किन्तु आपके कथन की किरणें। उन मार्गों को जो ऋषियों ने ।
बखाने, फिर भी थे अनजाने। कर गयीं सुपरिचित ।। १६३ ।।

ज्ञान-बीज सा उनका कथन। मन के खेत में पड़ा था गहन ।
होते आपका कृपासिंचन। सम्वाद फल आया ।। १६४ ।।

नारदादि की उक्ति-सरिता। मेरी और लौटी देवता ।
मैं महोदधि हो गया अनंता। सम्वादसुखों का ।। १६५ ।।

प्रभो, मैंने जनम-जनम। जो भी जोड़े पुण्य उत्तम ।
उनका रहा न कोई काम। आप प्राप्त होते ही ।। १६६ ।।

बड़े बुजुर्गो से सुनी थी। आपके गुणों की प्रभुताई ।
किन्तु आपकी कृपा बिना कतई। जाना नहीं आपको ।। १६७ ।।

अतः भाग्य हो अनुकूल। तो सभी उद्यम सफल ।
वैसे श्रवण अध्ययन सकल। सत्य गुरुकृपा से ।। १६८ ।।

कड़े परिश्रम को करता। माली पेड़ो को सींचता ।
किन्तु जब तक बसंत नहीं आता। फल नहीं लगते ।। १६९ ।।

विषमज्वर जब उतर जाता। मधुर-मधुर लगने लगता ।
तभी औषध रुचिकर लगता। जब देह होता स्वस्थ ।। १७० ।।

इन्द्रियों, वाचा, प्राणों की। सार्थकता तभी होती ।
जब चेतना संचार करती। सब में ।। १७१ ।।

वैसे वेद, शास्त्र, योग आदि का। अभ्यास करते नित्य का ।
मिलने पर ही प्रसाद श्रीगुरु का। होता सार्थक ।। १७२ ।।

इसको अनुभव करने से। अर्जुन नाचने लगा हर्ष से ।
कहता सन्तोष पूर्वक कृष्ण से। आपका कथन मान्य ।। १७३ ।।

वास्तव में कैवल्यपति। मैंने भी की प्रतीति ।
कि देव दानवों की मति। जानेगी न आपको ।। १७४ ।।

आपके वाक्य की प्रतीति बिन। जो कहता प्राप्त हुआ ज्ञान।
वह कुछ भी न पाया जान। विश्वास मुझे ।। १७५ ।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।। १५ ।।

गगन की विशालता। गगन ही जैसे जानता।
अथवा अपनी गुरुता। जानती पृथ्वी ही ।। १७६ ।।

वैसे अपनी शक्ति को श्रीपति। आप ही जानते भली-भाँति।
अन्य देवतादिक की मति। व्यर्थ करती दम्भ ।। १७७ ।।

कैसे मन को पीछे छोड़े। वायु को कैसे समेटें।
अनादि माया को कैसे। कर जायें पार ।। १७८ ।।

वैसे आपको जान पाना। असम्भव है मैंने माना।
अतः आपका ज्ञान महामना। है आपके समान ।। १७९ ।।

आप ही अपने को जानते। तभी दूसरों को समझा सकते।
मैं हो गया पसीने-पसीने। कृपा करें एक बार ।। १८० ।।

आपसे प्राणीमात्र की उत्पत्ति। आप भव-गज के मृगपति।
देवताओं के अधिपति। सुन रहे हैं न ? ।। १८१ ।।

आपके अभिमुख हो पाता। इतनी भी न मेरी योग्यता।
इस शंका से हूँ घबराता। किन्तु चारा नहीं ।। १८२ ।।

चहुँ ओर भरे सागर सरिता। चातक का काम नहीं बनता।
जब मेघ बूँदें बरसाता। वही पानी उसके लिए ।। १८३ ।।

वैसे श्रीगुरु हैं सर्वत्र। किन्तु आप ही मेरे मित्र।
अस्तु, अब विभूति चरित्र। करिए कथन ।। १८४ ।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।। १६ ।।

आपकी विभूतियाँ तो समस्त। उनमें जो दिव्य शक्तियुत ।
वही मुझे दिखाइए भगवंत। करके कृपा ।। १८५ ।।

जिनके कारण आप सर्वव्याप्त। उनका चरित्र समस्त ।
जो प्रधान और प्रख्यात। स्पष्ट बताइए ।। १८६ ।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।। १७ ।।

कैसे हम आपको जानें ?। क्या जान कर चिन्तन करें ? ।
सबमें हो ऐसा मानें। तो चिन्तन कैसा ? ।। १८७ ।।

अतः अभी पूर्व श्लोकों में। जो कहा आपने संक्षेप में ।
अब जा कर विस्तार में। पुनः बताइएगा ।। १८८ ।।

जिन विभूतियों का मन में। ध्यान करते हुए चिन्तन में ।
कष्ट न हो आचरण में। बताइए योग ऐसा ।। १८९ ।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।। १८ ।।

भले ही होती हो पुनरुक्ति। मैंने जो-जो विभूति ।
जानना चाहा लक्ष्मीपति। बताइए पुनः ।। १९० ।।

कितनी वार बताऊँ यह प्रश्न। उठने न दो जर्नादन ।
चाहता हूँ अमृतपान। ना न करिएगा ।। १९१ ।।

अमृत कालकूट का सहोदर। मरण-भय से पी गये सुरवर ।
किन्तु एक ब्रह्मदिन में श्रीधर। इन्द्र चौदह मरते ।। १९२ ।।

यह क्षीरसागर का एक रस। व्यर्थ कहलाता अमृत ।
किन्तु इसमें इतनी मिठास। कि जी नहीं अघाता ।। १९३ ।।

उस तुच्छ अमृत की मधुरता। रखती इतनी योग्यता ।
तो आपके वचनामृत की महत्ता। क्या बतायें ।। १९४ ।।

मंदार को हिलाये बिना। क्षीरसागर को मथे बिना।
जो अनादि सायास के बिना। मिलता सहज ।।१९५।।

जो न द्रव है न घन। जिसमें न रस है, गंध न।
करने से केवल स्मरण। मिलता चाहे जिसे ।।१९६।।

जिसका सुनते नाम मात्र। सारा संसार लगता असार।
जिसके कारण निरन्तर। आत्मबोध होता ।।१९७।।

जन्म-मरण की वार्ता। आमूल जो नष्ट करता।
परमानन्द को बढ़ाता। अन्तर्बाह्य ।।१९८।।

दैवयोग से करते सेवन। करता आत्मरूप में विलीन।
उसका आप करा रहे पान। पर्याप्त कैसे कहूँ? ।।१९९।।

आपका नाम प्रिय हमारा। फिर सहवास मिलता तुम्हारा।
और प्रबोधन सार भरा। करते हो सहर्ष ।।२००।।

यह सुख है किसके सरीखा ?। कह न सकता, मेरे सखा।
इतना हर्ष है मुझे इसका। पुनरुक्ति न उबाती ।।२०१।।

क्या सूर्य कभी बासी होता ?। अग्नि क्या अपवित्र होता ?।
या गंगाजल जो नित्य बहता। होता तड़ाग ? ।।२०२।।

लगा सुन वचन आपके। नादब्रह्म आया सगुण हो के।
या दुर्लभ चन्दनपुष्पों के। गंध से हूँ सराबोर ।।२०३।।

सुन पार्थ के वचन सुहाये। कृष्ण-मानस लगा झूमने।
मन ही मन लगे कहने। यह भक्तिज्ञान का आगार ।।२०४।।

अर्जुन का हर्ष देख कर। कृष्ण प्रेम आया उमड़ कर।
उसे सायास से संयत कर। कृष्ण ने क्या कहा ? ।।२०५।।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।। १९ ।।

मैं ब्रह्मा का भी पिता। मुझे याद नहीं रहा था ।
याद दिला कर बाबा। भला किया तुमने ।। २०६ ।।

कृष्ण अर्जुन को बाबा कहते। इसमें आश्चर्य की नहीं बात ।
क्या नंद का पितृत्व। नहीं अंगीकारा उसने ? ।।२०७।।

अस्तु, बात है और एक। यह कराता प्रेमातिरेक ।
सुनो धनुर्धर बात नेक। जो अब सुनाता हूँ ।।२०८।।

तुम्हें जिज्ञासा मेरी विभूतियों की। अपारता बखानूँ किनकी ? ।
मेरी मति भी गिनती उनकी। नहीं कर सकती ।।२०९।।

शरीर में बालों की गिनती। स्वयं कों भी नहीं आती ।
वैसे अपनी विभूतियों की गिनती। मुझसे असम्भव ।। २१० ।।

अन्यथा मैं कैसे, कितना। मुझे भी नहीं इसकी कल्पना ।
अतः प्रमुख विभूतियों की गणना। बताता हूँ ।। २११ ।।

जिनका ज्ञान होने पर। शेष सभी का ज्ञान सुकर ।
जैसे मुट्ठी में बीज लेने पर। तरु आता हाथ में ।। २१२ ।।

अथवा उद्यान हाथ में आते। फल-फूल सहज मिल जाते ।
वैसे विभूति-दर्शन से होते। दर्शन विश्व के ।। २१३ ।।

अन्यथा वाकई, धनुर्धर। अनन्त है मेरा विस्तार ।
इतना है गगन अपार। किन्तु समाया मुझमें ।। २१४ ।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। २० ।।

समझ लो गुडाकेश अर्जुन। शिव-से धनुर्वेद प्रवीण ।
इन सभी भूतों का प्राण। मैं ही होता हूँ ।। २१५ ।।

मैं प्राणियों के हृदय में हूँ। बाह्य आवरण भी मैं हूँ ।
आदि, अन्त, मध्य में होता हूँ। मैं ही अर्जुन ।। २१६ ।।

मेघ के नीचे ऊपर आकाश। भीतर बाहर एक ही आकाश ।
जन्मस्थान भी आकाश। निवास भी आकाश में ।। २१७ ।।

आगे चल कर लुप्त होते। तो वे आकाश ही हो जाते ।
आदि, स्थिति, अन्त वैसे। मैं ही सबका ।। २१८ ।।

ऐसे अनेकता, व्यापकता का। विभूतियोग से आकलन इनका ।
कानों में प्राण ले कर इनका। करो श्रवण ध्यान से ।। २१९ ।।

इससे आगे अर्जुन। करूँगा विभूतिवर्णन ।
उनमें जो जो हैं प्रधान। उन सबका ।। २२० ।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ।। २१ ।।

इसके बाद कहे प्रभविष्णु। मैं बारह आदित्यों में विष्णु ।
तेजःपुंजों में मैं भानु। किरणयुक्त ।। २२१ ।।

मरुत्गणों के समुदाय में। कहता अच्युत मरीचि में ।
आकाश के तारागण में। चन्द्रमा मैं ही ।। २२२ ।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनाश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।। २२ ।।

वेदों में जो सामवेद। वह मैं ही कहे गोविन्द ।
देवताओं में महेन्द्र। मरुत्बंधु मैं ।। २२३ ।।

ग्यारहवीं इन्द्रिया जो मन। वह मुझे ही जानो अर्जुन ।
भूतों में सहजं चैतन्य। वह भी मैं ।। २२४ ।।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।। २३ ।।

सभी रुद्रों में भारी। शंकर जो मदनान्तकारी ।
मैं ही हूँ, इसमें धनुर्धारी। शंका न करो ।। २२५ ।।

यक्ष-राक्षस गणों में पार्थ। शिवसखा जो धनवंत ।
वह कुबेर मैं, कहता अनंत। अर्जुन से ।। २२६ ।।

और आठों वसुओं में। सर्वदाहक पावक मैं ।
सर्वोच्च पर्वतों में। मैं मेरू ।। २२७ ।।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।। २४ ।।
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।। २५ ।।

जो देवेन्द्र का मन्त्रिश्रेष्ठ। सर्वज्ञता का आदि-पीठ ।
पुरोहितों में जो वरिष्ठ। वह मैं बृहस्पति ।। २२८ ।।

त्रिभुवन के सेनानियों में। बुद्धिमान स्कन्द हूँ मैं ।
हर वीर्य से कृत्तिका गर्भ में। जो जन्मा अग्निसम्भव ।। २२९ ।।

सभी जलाशयों में। सागर जलनिधि मैं ।
महर्षियों में हूँ मैं। तपोनिधि भृगु ।। २३० ।।

वाणी के सभी व्यवहारों में। ॐकार सत्य मूल मैं ।
जो व्याप्त त्रिभुवन में। वह मैं हूँ ।। २३१ ।।

सभी यज्ञों में इस लोक में। जपयज्ञ हूँ मैं ।
कर्मत्याग द्वारा प्रणवादिक में। जो निर्माण होता ।। २३२ ।।

मैं श्रेष्ठ जपयज्ञ नाम का। उसे बंधन न स्नानादि का ।
परब्रह्म कहे जिसे वाचा। धर्माधर्म को करे पवित्र ।। २३३ ।।

सभी पर्वतों में भारत। पुण्यपुंज जो हिमवंत।
वह मैं हूँ, कहे लक्ष्मीकान्त। अर्जुन से ।। २३४ ।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।। २६ ।।
उच्चैः श्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।। २७ ।।

कल्पतरु और पारिजात। गुणों में चन्दन भी प्रख्यात।
किन्तु इन सबमें हूँ पार्थ। मैं वृक्ष पीपल का ।। २३५ ।।

मैं देवर्षियों में समस्त। नारद नाम से प्रख्यात।
और गन्धर्वो में चित्ररथ। मैं ही हूँ ।। २३६ ।।

मैं कपिलाचार्य सिद्धों में। उच्चैःश्रवा अश्वों में।
ऐसा उस अनंत ने। कहा अर्जुन से ।। २३७ ।।

राजभूषण हाथियों में। ऐरावत होता हूँ मैं।
प्रगट जो समुद्रमंथन में। वह मैं अमृतांश ।। २३८ ।।

नरों में हूँ नरेन्द्र। वही मेरा विभूतिमत्व।
जिसकी लोक प्रजा बन कर। सेवा करते ।। २३९ ।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।। २८ ।।
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।। २९ ।।

और सभी शस्त्रों में। अर्जुन वज्र हूँ मैं।
जो शतक्रतु इन्द्र के करों में। शोभायमान ।। २४० ।।

कामधेनु धेनुओं में। मदन सभी जनकों में।
होता हूँ सर्वत्र मैं। कहे भगवंत ।। २४१ ।।

सर्पवंश का अधिष्ठाता। मैं वासुकी कहलाता।
समस्त नागों में भ्राता। मैं हूँ अनंत।। २४२।।

अरे सभी जलचरों में। साक्षात् वरुण हूँ मैं।
पश्चिमप्रमदाकान्त के रूप में। जाना जाता जो।। २४३।।

और सभी पितृगणों में। अर्यमा पितृदेवता मैं।
श्रीकृष्ण सिद्धान्त रूप में। बता रहे अर्जुन को।। २४४।।

जो शुभाशुभ कर्म लिखते। जीव-मानस की तलाशी लेते।
भोगने को बाध्य करते। फल कर्मानुसार।। २४५।।

उन नियामकों में यमधर्म। जो देखता सभी कर्म।
वह मैं हूँ समझा रहे हैं धर्म। भगवंत अर्जुन को।। २४६।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। ३०।।

अरे वंश में दैत्यों के। मैं जन्मा प्रल्हाद बनके।
तभी लिप्त न कर सके। दैत्यभाव उसे।। २४७।।

विनाशकों में महाकाल। श्वापदों में शार्दूल।
अर्जुन से कहता गोपाल। मैं ही हूँ।। २४८।।

और सभी पक्षीगण में। गरुड़ होता हूँ मैं।
तभी ढो कर वह मुझे। ले जा सकता है।। २४९।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१।।

पृथ्वी के परिसर में। जो भ्रमण करता पल भर में।
सप्त सागरों की एक उड़ान में। जो करता परिक्रमा।। २५०।।

वह पवन वेगवंत। मैं ही हूँ कहता अच्युत।
सभी शस्त्रधरों में पार्थ। श्रीराम हूँ मैं।। २५१।।

जब धर्म पड़ा था संकट में। उसकी रक्षा करने त्रेता में ।
स्वस्वरूप का धनुष बनाके। जिसने पायी विजय ।। २५२ ।।

सुवेल पर्वत पर खड़े हो कर। जिसने लंकेश के सिर उतार कर ।
बलि चढ़ाये नभ पिशाच पर। जो थे पक्षधर उसके ।। २५३ ।।

जिसने देवों को दिया आदर। धर्म का किया जीर्णोद्धार ।
जो सूर्यवंश में भास्कर। मानो उदित ।। २५४ ।।

वह पराक्रमी शस्त्रधरों में। सीतापति रामचन्द्र मैं ।
पूंछ वाले जलचरों में। मैं हूँ घड़ियाल ।। २५५ ।।

समस्त प्रवाहों में गंगा। भागीरथी जो सुभगा ।
जिसे जन्हु मुनि ने लीला। फिर निकाला जाँघ से ।। २५६ ।।

सभी जलप्रवाहों में। जो श्रेष्ठ है त्रिभुवन में ।
वह पवित्र गंगा हूँ मैं। जानो, पांडव ।। २५७ ।।

इसविध सृष्टि के विभिन्न। विभूतियों का करते वर्णन ।
सहस्त्र जन्म बीतेंगे अर्जुन। पूरा न होगा आधा भी ।। २५८ ।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।। ३२ ।।
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।। ३३ ।।

सभी नक्षत्रों को झोली में। भरने की इच्छा हो मन में ।
तो आकाश का पुरवट जैसे। बाँधना पड़ता है ।। २५९ ।।

या परमाणुओं की करने गिनती। बगल में दबानी पड़ती धरती ।
वैसे मेरे विस्तार की परिमिति। होगी मुझे जान कर ही ।। २६० ।।

शाखा, पर्ण, फूल, फल। समेटना चाहो सकल ।
तो वृक्ष को उखाड़ आमूल। लो हाथ में ।। २६१ ।।

वैसे मेरे विभूति विशेष। जानने हों यदि अशेष।
तो मेरा स्वरूप जो निर्दोष। जानो उसे ।। २६२।।

अन्यथा विभूतियाँ भिन्न-भिन्न। कितना करूँ उनका वर्णन ? ।
अतः सबमें हूँ यही चिन्तन। दृढ़ करो मन में ।। २६३।।

अर्जुन, सकल सृष्टि में। आदि, मध्य, अन्त में।
जैसे वस्त्र के तानेबाने में। होता धागा ।। २६४।।

मुझे सर्वव्यापी जानो अर्जुन। व्यर्थ है विभूति-भेद वर्णन।
किन्तु तुम्हारी योग्यता नहीं पूर्ण। अतः वर्णन करता हूँ ।। २६५।।

तुमने पूछा विभूतियाँ कितनी। सुनो बताता हूँ किरीटी।
जो विद्याओं में श्रेष्ठ होती। वह अध्यात्मविद्या में ।। २६६।।

सभी वक्ताओं में अर्जुन। जो वाद होता वह मैं ही जान।
पा कर शास्त्रों का समर्थन। जो समाप्त नहीं होता ।। २६७।।

अधिक विचार करने से बढ़ता। श्रोताओं में तर्क बढ़ाता।
उन्हीं तर्कों पर श्रोता सुनता। और अधिक भाषण ।। २६८।।

ऐसे प्रतिपादनों में जो वाद। वह मैं हूँ कहता गोविन्द।
और अक्षरों में विशद। अकार मैं हूँ ।। २६९।।

व्याकरण के समासों में। द्वंद्व समास हूँ मैं।
सभी को ग्रस लेता हूँ मैं। ब्रह्मा से मशक तक ।। २७०।।

मेरू मंदार आदि सहित। जो पृथ्वी को करता नष्ट।
जो महार्णव को शोषित। करता प्रलय के ।। २७१।।

जो आलिंगन देता प्रलय को। लील लेता है पवन को।
उदरस्थ कर लेता गगन को। देखते-देखते में ।। २७२।।

ऐसे जो अथाह काल सबका। वह मैं हूँ कहे पति लक्ष्मी का।
और आगे निर्माता सृष्टि का। वह भी मैं ही ।। २७३।।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।।३४ ।।

मैं जातक का करता रक्षण। मैं हूँ सभी का जीवन ।
इन सबका जो करता हनन। वह मृत्यु भी मैं ही ।।२७४।।

अब स्त्री-जाति में पार्थ। मेरी विभूतियाँ हैं सात ।
कराता हूँ उनसे परिचित। सुनो दत्तचित्त ।।२७५।।

नित्य नयी जो कीर्ति। वह मेरी ही है मूर्ति ।
औदार्ययुक्त सम्पत्ति। वह भी मैं हूँ ।।२७६।।

वैठ न्याय के सुखासन पर। जो चलती विवेक के पथ पर ।
वह वामा हे धनुर्धर। मैं ही हूँ जानो ।।२७७।।

होते ही पदार्थ का दर्शन। जो कराती मेरा स्मरण ।
वह स्मृति कहे नारायण। निश्चित मैं हूँ ।।२७८।।

अनुगामिनि स्वहित की। मेधा मैं ही होता जन की ।
धारणा मैं त्रिभुवन की। मैं ही क्षमा ।।२७९।।

ऐसी स्त्रीत्जाति में पार्थ। में ही ये शक्तियाँ सात ।
अर्जुन को है बतावत। भवतापहर मुरारि ।।२८०।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहतूनां कुसुमाकरः ।। ३५ ।।

वेदों में जो है साम। उसमें भी जो बृहत् साम ।
वह मैं हूं कहे पुरुषोत्तम। प्रिय भक्त से ।।२८१।।

सभी छन्दों में जिसे। गायत्री छन्द के नाम से ।
जानते वह मेरा ही स्वरूप इसे। जानो निभ्रान्त ।।२८२।।

मासों में मार्गशीर्ष। कहता है हृषिकेश ।
ऋतुओं में वसन्त। वह भी मैं ही ।।२८३।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।। ३६ ।।
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनाममप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।। ३७ ।।

छल-कपट के जो प्रकार। उनमें मैं द्यूत धनुर्धर ।
सरेआम जिसका चौर्य। रोक पाता न कोई ।। २८४ ।।

सभी तेजस्वी पदार्थों में। जो तेज, वह होता मैं ।
सभी कार्यलक्ष्यों में। विजय मैं होता हूँ ।। २८५ ।।

सभी व्यवसायों में पार्थ। जो व्यवसाय न्याययुक्त ।
वह मेरा ही स्वरूप निश्चित। श्रीकृष्ण कहे ।। २८६ ।।

सभी सत्त्वशीलों में। सत्व होता हूँ मैं ।
श्रीमंत यादवों में। मैं वासुदेव ।। २८७ ।।

जो देवकी-वसुदेवसुत। गोकुल गया नंदकन्या के हित ।
जिसने पूतना का प्राणान्त। किया स्तनपान से ।। २८८ ।।

बचपन में ही पार्थ। किया सृष्टि को दैत्यरहित ।
इन्द्र-गर्व को करने परास्त। गोवर्धन गिरि उठाया ।। २८९ ।।

किया यमुना को कालिया मुक्त। जलते गोकुल को सुरक्षित ।
किया ब्रह्मा को मतिभ्रष्ट। बछड़े बना कर ।। २९० ।।

होते बाल्य का प्रभात। जिसने कंस-से दुर्दान्त ।
दैत्य मारे अति विराट। सहज लीलया ।। २९१ ।।

वह मैं ही हूँ यादवों में। क्या-क्या बताऊँ तुम्हें ।
देखी सुनी हैं ये बातें। तुमने स्वयम् ही ।। २९२ ।।

सोमवंशी तुम पाण्डवों में। अर्जुन होता हूँ मैं ।
इसीलिए परस्पर प्रेम में। पड़ती नहीं बाधा ।। २९३ ।।

तुमने संन्यासी बन। चुरा ली मेरी बहन।
विकल्प न आया मेरे मन। हम दोनों एकरूप ।। २९४ ।।

मुनियों में मैं व्यासदेव। कहता वह श्रेष्ठ यादव।
क्रान्तदर्शियों में धैर्यदेव। शुक्राचार्य मैं ।। २९५ ।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।। ३८ ।।

नियामकों में दुर्धर। दण्ड हूँ मैं धनुर्धर।
जो चींटी से ब्रह्मा तक। नियमन करता सबका ।। २९६ ।।

जिनमें सारासार विचार। जो धर्मज्ञान के पक्षधर।
उन सकल शास्त्रों में वीर। नीतिशास्त्र मैं ।। २९७ ।।

सभी गुह्य बातों में। मित्र, मौन हूँ मैं।
अस्तु, कितना भी बताऊँ मैं। इनका पार नहीं ।। २९८ ।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।। ३९ ।।
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।। ४० ।।

वर्षा में जलधाराएं कितनी। कौन कर सका गिनती ?।
धरती के तृणों की गिनती। करेगा कौन ।। २९९ ।।

जैसे, सागर-लहरों को गिनने। कोई न आता सामने।
मेरी विभूतियाँ वैसे। हैं अपरिमित ।। ३०० ।।

फिर भी पौन सौ का वर्णन। तुम्हें किया निवेदन।
यह अल्प प्रबोधन। मुझे नहीं लगता ।। ३०१ ।।

अन्य के विस्तार की कोई। सीमा नहीं है कतई।
सुनने सुनाने से भाई। कैसे होगा सन्तोष ।। ३०२ ।।

अतः तुम्हें एक बार। बताता हूँ निज मर्म-सार।
सभी भूतों का बीजांकुर। मैं ही होता हूँ।। ३०३।।

अतः छोटा-बड़ा कहो नहीं। ऊँच-नीच मानो नहीं।
सभी वस्तु मात्र में मैं ही। होता जानो निश्चित।। ३०४।।

फिर भी एक साधारण। तुम्हें बताता हूँ निशान।
जिससे होगी पहचान। मेरी विभूति की।। ३०५।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्।। ४१।।

जहां दया और सम्पत्ति। दोनों एकत्र रहतीं।
जानो वहीं मेरी होती। विभूति अर्जुन।। ३०६।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। ४२।।

या अकेला सूर्य नभ में। प्रकाश फैलाता त्रिभुवन में।
वैसे जिस एक के शासन में। रहता विश्व।। ३०७।।

उसे अकेला या निर्धन। कहना है निष्कारण।
क्या कामधेनु के संग साधन। चलते सभी ?।। ३०८।।

उससे जो चाहो पार्थ। वह देगी अकस्मात।
मेरी विभूतियों में समाहित। विश्व-वैभव वैसे।। ३०९।।

उनकी होती यही पहचान। विश्व करता जिन्हें नमन।
जिनकी आज्ञा होती प्रमाण। वे अवतार मेरे।। ३१०।।

उनमें सामान्य और विशेष। भेद करना महादोष।
कारण सकल विश्व अशेष। मैं ही हूँ।। ३११।।

तो उत्तम और कमतर। ऐसे भेद की कल्पना कर।
मति को भेद-कलंक वीर। किसलिए लगायें।। ३१२।।

अन्यथा घी को क्यों उबालें ?। अमृत को किसलिए औटायें ।
या वायु का दायाँ-बायाँ। क्या होता अंग ? ।। ३१३ ।।

सूर्य के ढूंढ़ते पेट पीठ। हमारी दृष्टि होगी विनष्ट ।
वैसे नहीं आम या विशिष्ठ। मेरे स्वरूप में ।। ३१४ ।।

विभूतियाँ अनंत, विभिन्न। कितना चाहोगे उनका ज्ञान ।
अस्तु, जिज्ञासा अर्जुन। पर्याप्त तुम्हारी ।। ३१५ ।।

मेरे एक अंश से ही। जगत भरा होता भाई ।
अभेद नीति से इसलिए ही। भजो मुझे ।। ३१६ ।।

ऐसे ज्ञान-वनों का बसंत। विरक्त जनों का एकान्त ।
बोला जब जगन्नाथ। श्रीकृष्ण परमात्मा ।। ३१७ ।।

तो अर्जुन ने कहा नाथ। आपकी बात लगती अनुचित ।
भेद और उसके त्याजक। अलग-अलग कैसे ? ।। ३१८ ।।

पहले हटाओ तिमिर। उदयपूर्व क्या कहता भास्कर ।
किन्तु आपकी बात को अविचार। कहें कैसे ? ।। ३१९ ।।

जो एक बार आपका नाम लेता। अथवा उसका श्रवण करता ।
उसके मन को छोड़ जाता। भेद सारा ।। ३२० ।।

ऐसे हो परब्रह्म आप। भाग्य से मिले मेरे समीप ।
तो कैसे होगा भिन्नत्व। या देखेगा कौन उसे ।। ३२१ ।।

चन्द्र के गर्भगृह में। कैसी गर्मी घुटन मन में ? ।
किन्तु आप पुरुषोत्तम जग में। कहें जो चाहें ।। ३२२ ।।

तब हो कर परम प्रसन्न। अर्जुन का कर प्रेमालिंगन ।
कहे सुन कर मेरा कथन। कोप नहीं करो ।। ३२३ ।।

भेद समझाते सविस्तार। बताये जो विभूति प्रकार ।
वे अभेद रूप में सुस्थिर। हुए न मन में ? ।। ३२४ ।।

यह जानने के लिए पूर्ण। मैंने बाह्यतः किया कथन ।
अब लगता विभूति-आकलन। हो गया तुम्हें सही ।। ३२५ ।।

तब श्रीकृष्ण से कहता पार्थ। आप अपनी जानो बात ।
मुझे तो लगता विश्व व्याप्त। आपसे ही ।। ३२६ ।।

यों धृतराष्ट्र से कहा संजय ने। देखा कैसी योग्यता पायी अर्जुन ने ।
इस पर भी वहाँ धृतराष्ट्र ने। शब्द एक नहीं कहा ।। ३२७ ।।

तब खिन्न हो कहता संजय। कैसा इसने पाया भाग्य ।
बाह्य-चक्षु का यह अन्ध। ज्ञानचक्षु का भी वैसा ।। ३२८ ।।

अस्तु, वहाँ पर अर्जुन। स्वहित का करता पोषण ।
कारण उसके मन में उत्पन्न। एक और जिज्ञासा ।। ३२९ ।।

सोचता, मन जो अनुभव करता। काश ! उसे मैं देख भी पाता ।
इसी इच्छा से है चलता। विचारचक्र ।। ३३० ।।

अब तो इसी देह इन आँखों से। देखूँ विश्वरूप होता कैसे ।
यही इच्छा महद्भाग्य से। जागी मन में ।। ३३१ ।।

पार्थ शाखा कल्पतरु की। उसमें बाँझ बहार न आने की ।
प्रत्येक बात को उसकी। श्रीकृष्ण पूरी करेंगे ।। ३३२ ।।

जो प्रल्हाद की रखने बात। नृसिंह रूप में हुआ प्रगट ।
वह कृष्ण, अर्जुन को प्राप्त। सद्गुरु रूप में ।। ३३३ ।।

विश्वरूप से जुड़े प्रश्न। कैसे पूछेगा अर्जुन ।
आगे करूँगा निवेदन। कहे ज्ञानदेव निवृत्ति का ।। ३३४ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
विभूतियोग नामक समाप्त। उसका अध्याय दसवाँ ।।

।। अध्याय ग्यारहवाँ ।।

अव ग्यारहवें अध्याय में। अद्‌भुत शांत रस कथा में ।
जहाँ अर्जुन की विश्वरूप से। होगी भेंट ।। १ ।।

आया शांत रस के घर। अद्‌भुत रस अतिथि वनकर ।
अन्य रसों को भरपूर। लाभ उनकी पंगत का ।। २ ।।

माला पहनाते वधू-वर। बारातियों का होता सत्कार ।
स्वभाषा के सुखासन पर। शोभते रस वेसे ।। ३ ।।

किन्तु शान्त और अद्‌भुत। प्रेक्षणीय हैं अत्यन्त ।
जेसे हरि हर हुए प्रस्तुत। परस्पर आलिंगन को ।। ४ ।।

अथवा अमावस के दिन। सूर्य-चन्द्र विम्बों का मिलन ।
वैसे दोनों रसों का आलिंगन। होता यहाँ ।। ५ ।।

जैसे गंगा यमुना का संगम। वैसे दोनों रसों का यह प्रयाग ।
स्नान करता सारा जग। इसीलिये यहाँ ।। ६ ।।

उभय रसों के प्रवाह मूर्त। वीच में गीता सरस्वती लुप्त ।
अतः यह त्रिवेणी उचित। सबके लिये ।। ७ ।।

त्रिवेणी संगम में इस। श्रवणेन्द्रिय करें प्रवेश ।
ज्ञानदेव कहे यह सुगम पथ। बनाया मेरे गुरु ने ।। ८ ।।

काट संस्कृत के तीर कठिन। बनाया स्वभाषा-सोपान ।
रचा यह धर्मनिधान। निवृत्तिदेव ने ।। ९ ।।

इस संगम में करें स्नान। प्रयागमाधव का दर्शन ।
और करें संसार का तर्पण। तिलोदक से ।। १० ।।

इस अध्याय में सर्वत्र। सभी रस हैं मूर्तिमंत ।
श्रवणसुख का होता प्राप्त। साम्राज्य जैसे ।। ११ ।।

रस शान्त, अद्भुत विराजमान। अन्य का भी है सम्मान ।
यहाँ मोक्षसुख अक्षुण्ण। प्राप्त होता ।। १२ ।।

यह वही ग्यारहवाँ अध्याय। जो देवों का विश्रामनिलय ।
किन्तु अर्जुन का अहोभाग्य। आया यहाँ भी ।। १३ ।।

अकेला अर्जुन के ही क्यों कहें। यह सबके लिये खुला है ।
कारण गीतार्थ आया है। स्वभाषा में ।। १४ ।।

अतः मेरा नम्र निवेदन। प्रसन्न हो कर करें श्रवण ।
ठीक से दे कर अवधान। सन्त सज्जनो ।। १५ ।।

आप सन्तों की सभामाहीं। मेरी यह मित्रता उचित नहीं ।
किन्तु मुझे सन्तान अपनी ही। मानो प्रेम से ।। १६ ।।

शुक को हम नहीं सिखाते। सीख जाने पर हम झूमते ।
लाड़ले का कौतुक करते। क्या न सुख पाती माँ ? ।। १७ ।।

वैसे जो शब्द मेरे हैं। सब आपके ही सिखाये हैं ।
अतः प्रभो आपको सुनना है। अपनी ही बात ।। १८ ।।

यह सारस्वत का मधुर पौध। आपने ही लगाया निर्बाध ।
अब इसे बढ़ायें खाद। ध्यानामृत सींच कर ।। १९ ।।

फिर यह खिलेगा रस भाव से। लदेगा नाना फलभार से ।
मिलेगा आपकी कृति से। सुख विश्व को ।। २० ।।

सुन कर सन्तुष्ट सन्तगण। कहते, हुए हम प्रसन्न ।
अब कहो जो अर्जुन। बोला वहाँ ।। २१ ।।

तब कहता निवृत्तिदास। कृष्णार्जुन की बातें विशेष ।
कैसे कहूँ मैं प्राकृत और लेश। आप ही कहलवाइये ।। २२ ।।

अजी वन्य वानरों द्वारा। जिसने रावण को हराया ।
अकेला अर्जुन भी जीत पाया। ग्यारह अक्षौहिणी सेना को ।। २३ ।।

अतः समर्थ जो भी चाहता। चराचर मैं असम्भव न होता ।
आप सन्त समर्थ देवता। कहलवाइये मुझसे ।। २४ ।।

अब अर्जुन से श्रीकृष्ण। कह गीता सम्पूर्ण ।
वही करता हूँ निवेदन। अवधान दीजिये ।। २५ ।।

धन्य-धन्य ग्रंथ गीता। वेद प्रतिपाद्य देवता ।
श्रीकृष्ण जिसका वक्ता। बना पार्थ हित ।। २६ ।।

कैसे करें गीता गुणवर्णन। जिसका शिव को भी न आकलन ।
उसे भक्तिभाव से वन्दन। करना ही भला ।। २७ ।।

फिर करते विश्वरूप दर्शन। श्रीकृष्ण से कैसे प्रश्न ।
करता रहा चतुर अर्जुन। सुनियेगा ।। २८ ।।

सकल विश्व है सर्वेश्वर। जो अनुभव करता धनुर्धर ।
वह प्रत्यक्ष में हो गोचर। नयनों को ।। २९ ।।

यह चाहता था पार्थ मन में। किन्तु पड़ा था असमंजस में ।
विश्वरूप दिखाओ प्रत्यक्ष में। कहूँ कैसे ।। ३० ।।

सोचता, पहले कभी। किसी भक्त ने पूछा नहीं ।
वह मुझे दिखा दो जी। कैसे विनती करूँ ? ।। ३१ ।।

मैं हूँ विशेष अभिन्न सखा। किन्तु माँ से नहीं अंतरतम का ।
जो यही प्रश्न करने का। धैर्य न जुटा सकीं ।। ३२ ।।

बहुत सेवा की देव की। किन्तु तुलना कहाँ गरुड़ की ।
उसने भी तो कभी नहीं की। ऐसी पृच्छा ।। ३३ ।।

में क्या निकट सनकादिक से ?। वे भी न पूछ पाये इसे।
क्या में गोप-गोपियों से। अधिक प्रिय हूं ? ।। ३४ ।।

हो बालक उन्हें भी छकाया। अंबरीषहित गर्भदुख ढोया।
किन्तु विश्वरूप नहीं दिखाया। अपना किसीको ।। ३५ ।।

जो कृष्ण ने आजपर्यन्त। सभी से रखा है गुपित।
वह अचानक सुस्पष्ट। पूछ लूं कैसे ? ।। ३६ ।।

और न कर लूं यह प्रश्न। तो विश्वरूप देखे बिन।
चैन नहीं, और यह जीवन। दु:सह होगा ।। ३७ ।।

अत: अब पूछ लूं ज़रा-सा। फिर करूं वह कहे वैसा।
यह सोच कर सहमा-सहमा सा। बोलने लगा पार्थ ।। ३८ ।।

ऐसे बोला अर्जुन। कि एक दो ही सुन प्रश्न।
विश्वरूप दिखाया सम्पूर्ण। श्रीकृष्ण ने ।। ३९ ।।

बछड़ का होते दर्शन। धेनु उठती ममता के कारण।
बछड़ा मुख से छूता थन। तो क्या पन्हा रोक लेती ? ।। ४० ।।

जिन पाडवों का करने रक्षण। श्रीकृष्ण दौड़े वन-वन।
उनसे करेगा प्रश्न अर्जुन। तो क्या उत्तर न देंगे ? ।। ४१ ।।

साक्षात् स्नेह है कृष्ण। नेह का खाद्य है अर्जुन।
वे ऐक्य मे दिखते विभिन्न। आश्चर्य यही ।। ४२ ।।

अतः अर्जुन का सुनकर प्रश्न। देव विश्वरूप करेंगे धारण।
तो अब करिये श्रवण। प्रसंग पहला ।। ४३ ।।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।। १ ।।

श्रीकृष्ण से कहता पार्थ। आपने मेरे प्रीत्यर्थ।
गुह्य बताया यथार्थ। अकथनीय जो ।। ४४ ।।

जब भूत ब्रह्मलीन होते। जीव, माया, आदि मिटते।
तब देवरूप जो हो जाते। वही अंतिम रूप ।। ४५ ।।

जो कंजूस के समान। हृदय में किया था धारण।
वेदों से भी रखा था, कृष्ण। चुरा कर आपने ।। ४६ ।।

वह आज पूरा खोल कर। बताया मुझे कृपा कर।
जिस अध्यात्म के लिये शंकर। तजते ऐश्वर्य सारा ।। ४७ ।।

स्वामी आपने वह ज्ञान। यकायक किया मुझे दान।
ऐसा कह दूँ तो कृपानिधान। ऐक्य रहा कहाँ ? ।। ४८ ।।

मोह-बाढ़ में श्रीहरि। मैं डूब रहा था वाकई।
उस प्राणसंकट से मुझे मुरारि। आपने उबारा ।। ४९ ।।

एक आपके बिन कुछ भी। विश्व में कोई वस्तु नहीं।
किन्तु इस देह को ही। 'हम' बताते दुर्भाग्य से ।। ५० ।।

मैं हूँ जग में एक अर्जुन। ऐसा देह का अभिमान।
कर इन कौरवों को स्वजन। मानता था अपने ।। ५१ ।।

इन्हें मैं मार दूँगा। तो क्या-क्या पाप लगेगा ?
इस दुःस्वप्न में था खोया। तभी जगाया आपने ।। ५२ ।।

गंधर्वनगर को छोड़ कर। कोई निकला कुबेर।
मार्ग में मृगजल पी कर। होता दुखी ।। ५३ ।।

कपड़े का सर्प हो यदपि। दंश भास होता तदपि।
वैसे डूब रहा था मैं श्रीहरि। बचाया आपने ।। ५४ ।।

कूप में छवि को न पहचान कर। सिंह कूदने जा रहा देखकर।
उसे बचाते पकड़कर। वैसा मुझे बचाया ।। ५५ ।।

अन्यथा इस क्षणपर्यन्त। मैंने किया था निश्चित ।
अभी इसी क्षण समुद्र सात। एक हो गये, ।। ५६ ।।

यह विश्व भले ही डूब गया। या आकाश नीचे गिर गया ।
मैंने अपनों से युद्ध किया। ऐसा न होगा कदापि ।। ५७ ।।

ऐसे आग्रह के कारण। अहंकारजल में डूबा था पूर्ण ।
आप न होते तो उद्धार। असम्भव था मेरा ।। ५८ ।।

मैं नहीं हूँ, फिर भी हूँ माना। नहीं हैं उन्हें समझा अपना ।
सवार था ऐसा पागलपना। किन्तु बचाया आपने ।। ५९ ।।

पहले कभी लाक्षागृह में। केवल देहभय ही था हमें ।
किन्तु अब दूजे लाक्षागृह में। नष्ट होता चेतन ।। ६० ।।

मेरे दुराग्रहरूपी हिरण्याक्ष ने। मेरी बुद्धि-धरा को काँख में ।
दबा कर मोहसागर के तह में। चाहा था डुबोना ।। ६१ ।।

वहाँ आपके सामर्थ्य से। मुझे होश आया फिर से ।
यह दूजा वराह अवतार आपने। मेरे लिये किया ।। ६२ ।।

ऐसी आपकी अगाध करनी। क्या बोलेगी मेरी वाणी ! ।
मेरे लिये चक्रपाणि। आपने वारे पंचप्राण ।। ६३ ।।

वह कुछ भी व्यर्थ न गया। आपको यश मिला देवराया ।
जिससे आमूल मेरी माया। हो गयी नष्ट ।। ६४ ।।

आनन्द सरोवर के कमल। आपके हैं ये लोचन ।
बनाते अपने प्रसाद केतन। जिसके लिये ।। ६५ ।।

वह भ्रान्ति से करेगा भेंट। यह कहना तुच्छ अत्यन्त ।
मरीचिका की बरसात। किस काम की दावानल में ।। ६६ ।।

मैं आया हूँ हे दातार। तुम्हारे कृपामन्दिर के द्वार ।
ले रहा हूँ आसर। ब्रह्मानन्द का ।। ६७ ।।

अब मेरा मोह होगा नष्ट। इसमें आश्चर्य की क्या बात ? ।
हो गया चरणों की शपथ। उद्धार मेरा ।। ६८ ।।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।। २ ।।

हे विशाल कमलनयन। कोटि सूर्य-से तेजनिधान ।
आपके मुख से, नारायण। आज सुना मैंने ।। ६९ ।।

भूतमात्र जिससे उत्पन्न। या अन्त में जिसमें विलीन ।
उस प्रकृति का निदान। आपने बताया ।। ७० ।।

प्रकृति का किया वर्णन। परमात्मा का बताया स्थान ।
जिसकी महिमा ओढ़कर। वेद सवस्त्र हुए ।। ७१ ।।

अजी वेद उत्कर्ष करते। या धर्मरत्न प्रसवते ।
क्योंकि आपकी शरण में रहते। अन्यथा असम्भव ।। ७२ ।।

जो सभी पंथों का गन्तव्य। आत्मानुभूति से गम्य ।
वह अपनी महिमा सुरम्य। समझायी ऐसे ।। ७३ ।।

हटते नभ में अभ्रपटल। दिखायी देता सूर्यमंडल ।
अथवा दिखता निर्मल जल। काई हटाने से ।। ७४ ।।

हटाते साँपों की लिपटन। सम्भव चन्दन का आलिंगन ।
या पिशाच का होते पलायन। पूरा घर हाथ आता ।। ७५ ।।

वैसे जो ज्ञान में बाधा थी। हटायी आपने वह प्रकृति ।
तभी हुई मति को प्राप्ति। परब्रह्म की ।। ७६ ।।

इस विषय में भगवन आपका। मुझे हो गया पूरा भरोसा ।
फिर भी एक और जिज्ञासा। जागी मन में ।। ७७ ।।

अब तक संकोच के कारण। उसका न किया प्रगटन ।
किन्तु हमें आपके बिन। दूजा आधार किसका ? ।। ७८ ।।

मीन जल का आभार माने। स्तनपान में शिशु संकोच करे।
तो जीने का उसके लिये। दूजा उपाय क्या ? ।। ७९ ।।

निर्भीक हो कर करूँ प्रश्न। यों कह रहा था अर्जुन।
तभी उससे कहते कृष्ण। इच्छा बताओ अपनी ।। ८० ।।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।। ३ ।।

तब बोलने लगा अर्जुन। आपने किया जो कथन।
उसकी प्रतीति के कारण। दृष्टि शान्त मेरी ।। ८१ ।।

जिस संकल्प के कारण। होता विश्व का जनन-मरण।
निजत्वरूप जो स्थान। बताया आपने ।। ८२ ।।

वह आपका मूल स्वरूप। देव कष्टों का करने लोप।
जहाँ से द्विभुज चतुर्भुज रूप। धरते हो देव ।। ८३ ।।

शेष शयन से ले कर। मत्स्य कूर्मादि रूप धर।
अवतार कार्य समाप्त कर। जाते हो जहाँ ।। ८४ ।।

उपनिषद् जिसको गाते। योगी जिसका ध्यान धरते।
सनकादिक ऋषि करते। आलिंगन जिसका ।। ८५ ।।

ऐसा आपका अमूप। सुना है जो विश्वरूप।
उसे देखने को आतुर। चित्त मेरा ।। ८६ ।।

आपने निःसंकोच होकर। मेरी इच्छा पूछी, श्रीधर।
यही एक इच्छा बरजोर। है मेरी ।। ८७ ।।

आपके विश्वरूप का सम्पूर्ण। इन्हीं नयनों से करूँ दर्शन।
यही आशा मन में महान। है सर्वथा। ।। ८८ ।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।। ४ ।।

किन्तु और एक मेरा मन। शंका करता है, श्रीकृष्ण।
क्या आपका विश्वरूप दर्शन। करने योग्य हूँ ? ।। ८९ ।।

यह मैं नहीं जानता। इसलिये आपसे पूछता।
रोगी को क्या होता पता। क्या रोग है उसे ? ।। ९० ।।

इच्छा की होते प्रबलता। भक्त भुलाता योग्यता।
जैसे, प्यासा नहीं कहता। सागर है पर्याप्त ।। ९१ ।।

प्रबल इच्छा से हूँ भरमाया। उसे संयत न कर पाया।
माता बालक की योग्यता। जानती खूब ।। ९२ ।।

वैसे श्रीजनार्दन। मेरी सत्पात्रता को जान।
फिर विश्वरूप का दर्शन। करायें मुझे ।। ९३ ।।

पात्र समझें तो कृपा करो। अन्यथा साफ़ मना करो।
पंचम सुर का बहरे को। सुख कैसे ? ।। ९४ ।।

मेघ चातक पर करता वृष्टि। क्या वह जग के लिये नहीं होती ? ।
किन्तु जब चट्टान पर गिरती। होती व्यर्थ ।। ९५ ।।

चन्द्रामृत चकोर पर गिरता। औरों को क्या मना होता ? ।
किन्तु वही अन्धे के लिये होता। सारा व्यर्थ ।। ९६ ।।

कराओगे विश्वरूप दर्शन। मुझे भरोसा है सम्पूर्ण।
रूप सुन्दर या क्रौर्यपूर्ण। दिखेगा तव सामर्थ्य से ।। ९७ ।।

आपका औदार्य है स्वतन्त्र। देते न कहोगे पात्र-अपात्र।
आपने कैवल्य परम पवित्र। वैरी को भी दे दिया ।। ९८ ।।

भले मोक्ष हो दुराराध्य। तव चरण उसके आराध्य।
आपकी आज्ञा शिरसावंद्य। उसे सेवक-सी ।। ९९ ।।

कराने विष का स्तनपान। जो आयी थी करने निर्दालन।
उस पूतना को दिया मोक्षस्थान। सनकादिक-सा ।। १०० ।।

राजसूय यज्ञ में समस्त। देवर्षि हुए थे एकत्र ।
जिसने आपको कह अपशब्द। अपमानित किया ।। १०१।।

उस अपराधी शिशुपाल को। पहुँचाया निजधाम को ।
और क्या ध्रुव बालक को। आस थी ध्रुवपद की ? ।। १०२।।

मिले स्थान पिता की गोद में। इसलिये गया था वह वन में ।
उसे चन्द्र सूर्य-सा जग में। बनाया वंदनीय ।। १०३।।

ऐसे सकल दुःखार्त जनों को। उदार दाता केवल आप हो ।
पुत्र व्याकुल अजामिल को। दी मुक्ति आपने ।। १०४।।

जिसने वक्ष पर किया लत्ता-प्रहार। उसका लांछन धारे हृदय पर ।
आप भी शंखासुर का सिर। लिये हो कर में ।। १०५।।

यों अपकारी के हो उपकारकर्त्ता। अपात्र के भी उदार दाता ।
बलि के द्वार पर भगवंता। आप डँटे थे याचक बन ।। १०६।।

गणिका ने न किया सुना भजन। केवल शुक को किया सम्बोधन ।
जिसका आप पर नामकरण। तब भी मोक्ष दिया उसे ।। १०७।।

इतने क्षुद्र कारण से भी। स्वरूप में स्थान देते हो जी ।
तो क्या मुझे कुछ अन्य ही। देंगे आप ? ।। १०८।।

जो कर अतिरिक्त गोरस प्रदान। जग का करती संकट हरण ।
उस कामधेनु का बछड़ा दीन। अन्न के लिये कैसे होगा ? ।। १०९।।

अतः मैंने जो विनय की। वह आप दिखायेंगे नहीं ।
यह असम्भव, किन्तु देखने की। पात्रता दीजिये, प्रभु ।। ११०।।

आपके विश्वरूप का आकलन। कर सकें मेरे लोचन ।
यही मेरी आंतरिक लगन। पूरी कीजिये ।। १११।।

बार-बार ऐसी विनति। करने लगा सुभद्रापति ।
तब षड्गुणों का चक्रवर्ती। सदय हुआ कृष्ण। ।। ११२।।

कृष्णकृपा के मेघ सजल। अर्जुन मानो वर्षाकाल।
अथवा श्रीकृष्ण हैं कोयल। अर्जुन बसंत।। ११३।।

या चन्द्रबिम्ब गोलाकार। क्षीरसागर में लाता ज्वार।
वैसे अर्जुन का प्रेम देख कर। कृष्ण-मानस उमड़ा।। ११४।।

उस प्रसन्नता के आवेग में। कृपावंत बोला उच्च रव में।
पार्थ, अनगिनत संख्या में। देखो मेरे रूप।। ११५।।

विश्वरूप का हो दर्शन। चाहता था अर्जुन।
किन्तु बताता भगवान। विश्वरूप माया।। ११६।।

उसका औदार्य अनगिना। चाहा उससे हज़ार गुना।
दे देता याचक को अपना। सर्वस्व सदैव।। ११७।।

शेष को भी न दिखाया। वेदों को भी छकाया।
लक्ष्मी से भी छुपाया। गुप्त रूप जो।। ११८।।

उसे अनेकधा प्रगट करते। विश्वरूप अपना दिखाते।
कैसे प्रसन्न भाग्य होते। अर्जुन के।। ११९।।

जो जागा स्वप्न देखता। वह स्वप्नरूप ही हो जाता।
वैसा श्रीकृष्ण हो जाता। वहाँ ब्रह्माण्ड।। १२०।।

कृष्ण रूप मुद्रा छोड़ दी। देह की खोल उतार दी।
पूरी समृद्ध खोल दी। योगसाधना।। १२१।।

यह इसे देख पायेगा या नहीं। इसकी चिन्ता किये बिना ही।
अकस्मात् कह गया, भाई। देखो प्रेम से।। १२२।।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।। ५।।

तुमने कहा दिखाओ विश्वरूप। देखो क्या दिखाता अमूप ।
सारा विश्व है मेरा स्वरूप। देखो ध्यान से ।। १२३ ।।

कोई छरहरे कोई स्थूल। कोई छोटे कोई विशाल ।
कोई मोटे कोई दुर्बल। असीम कोई ।। १२४ ।।

कोई असंगत कोई प्रांजल। कोई चंचल कोई निश्चल ।
कोई उदासीन कोई स्नेहल। कोई शीघ्रकोपी ।। १२५ ।।

कोई उनींदे कोई सतर्क। कोई सुंदर कोई अतर्क्य ।
कोई कंजूस कोई क्रुद्ध। कोई उदारमति ।। १२६ ।।

कोई प्रशांत कोई प्रमत्त। कोई स्तब्ध कोई सानंद ।
कोई सशब्द कोई निःशब्द। सौम्य कोई ।। १२७ ।।

कोई आसक्त कोई विरक्त। कोई जागृत कोई निद्रित ।
कोई सन्तुष्ट कोई आर्त्त। प्रसन्न कोई ।। १२८ ।।

कोई निःशस्त्र कोई सशस्त्र। कोई रौद्र कोई मित्र ।
कोई भयानक चित्रविचित्र। समाधिस्थ कोई ।। १२९ ।।

कोई जन लीला में निमग्न। कोई सप्रेम करते पालन ।
कोई संहारक क्रोधपूर्ण। साक्षीभूत कोई ।। १३० ।।

ऐसे नानाविध अनगिनत। दिव्य तेज से हैं युक्त ।
अनेक वर्णों से विभूषित। रूप ईश्वर के ।। १३१ ।।

कोई तप्त सुवर्ण समान। किसी का है भूरा वर्ण ।
कुछ का सिंदूरिया वर्ण। सायं नभ-सा ।। १३२ ।।

कुछ सहज सुंदर अत्यंत। मानो ब्रह्माण्ड रत्नजड़ित ।
कुछ अरुणोदयसमान। रक्तवर्ण के ।। १३३ ।।

कोई शुभ्र स्फटिक से। कोई नीले इंद्रनील से ।
कोई हैं काजल जैसे। कोई लाल कुंकुम ।। १३४ ।।

कुछ पीले सोने जैसे। कुछ साँवले बादल-से।
कोई गोरे स्वर्ण-चम्पे-से। कोई हरित ।। १३५ ।।

कोई ताँबे जैसे लाल। कोई शुभ्र चंद्रसमान।
ऐसे नाना वर्णों के अर्जुन। देखो रूप मेरे ।। १३६ ।।

वर्ण जैसे इनके भिन्न। आकार भी भिन्न-भिन्न।
शरमा कर शरण गहे मदन। इतने सुन्दर कोई ।। १३७ ।।

कोई अत्यन्त लावण्यमय। कोई मनोहर तेजोमय।
जैसे शृंगारलक्ष्मी का आलय। खुल गया हो ।। १३८ ।।

कोई हृष्ट कोई पुष्ट। कोई विकराल कोई शुष्क।
कोई भयंकर कोई दीर्घकंठ। विशाल मस्तकधारी ।। १३९ ।।

ऐसे नानाविध आकार। अर्जुन इनका नहीं पार।
प्रत्येक अंग में धनुर्धर। विश्व समाया इनके ।। १४० ।।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।। ६ ।।

मेरी दृष्टि खुलते ही होती। आदित्य आदि की उत्पत्ति।
सृष्टि देवों की लुप्त होती। नैन मूँदते ।। १४१ ।।

मुख से निकलते भाप। सब ज्वालमय अपने आप।
उससे उत्पन्न समुदाय। अष्ट वसुओं का ।। १४२ ।।

भौहों के दोनों छोर। क्रोध में मिलते परस्पर।
रुद्र गणों का अम्बार। लग जाता ।। १४३ ।।

मेरी सौम्यता के कारण। होते अनेक अश्विनी उत्पन्न।
और होते कान से निर्माण। अनेक वायु ।। १४४ ।।

यों प्रत्येक लीला अर्जुन। करती देवों, सिद्धों को उत्पन्न।
उसके अपार और विस्तीर्ण। रूप देखो ।। १४५ ।।

वेद तुतलाते बताते स्वरूप। देखने काल आयु होती अल्प।
विधाता को भी अप्राप्य। ठोर जिनका ।। १४६ ।।

तीनों वेदों को भी अज्ञात। देखो प्रत्यक्ष वे रूप पार्थ।
महासिद्धियाँ लीलाएँ अद्भुत। अनुभव करो ।। १४७ ।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।। ७ ।।

इस मूर्ति के किरीटी। रोम-रोम में देखो सृष्टि।
कल्पतरू के तल में। तृणांकुर जैसे ।। १४८ ।।

झरोखे आतीं किरणों में। परमाणु उड़ते दिखायी देते।
वैसे इनके अस्थि-जोड़ों में। देखते ब्रह्माण्ड ।। १४९ ।।

इसविध एक-एक अवयव में। सारा विश्व समाया है।
उसके आगे के संसार में। यदि देखना चाहो ।। १५० ।।

तो उसमें भी देखो भाई। कहीं कोई दिक्कत नहीं।
मेरे देह में चाहो जो भी। देख सकते हो ।। १५१ ।।

विश्वमूर्ति कृष्ण ऐसे। बोल रहा था करुणा से।
तो दिखायी पड़ा उसे। अर्जुन बैठा मौन ।। १५२ ।।

यह क्यों है ऐसा विश्रब्ध। सोचने लगे श्रीकृष्ण।
तो पाया उत्सुक पहले समान। विश्वरूप दर्शन का ।। १५३ ।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।। ८ ।।

इसकी उत्कण्ठा गयी नहीं। सुख का मार्ग मिला नहीं।
विश्वरूप सृष्टि इसे दिखायी। किन्तु यह है अबोध ।। १५४ ।।

तब मुस्कराये धीरे से। कहने लगे अर्जुन से।
विश्वरूप देखना चाहा हमसे। दिखाया तो देखते नहीं ।। १५५ ।।

इस पर वह बोला विचक्षण। इसमें अपराधी है कौन ?।
क्या चन्द्र का रसग्रहण। आप चाहते बगुला करे ?।।१५६।।

दर्पण को साफ पोंछ कर। अन्धे को दिखा रहे हो लाकर।
बहरे के आगे गायन सुस्वर। आप गा रहे हो।।१५७।।

मकरंद के कणों को। खिला रहे हो मेंढक को।
व्यर्थ जाय तो दोष किसको। देंगे श्रीधर ?।।१५८।।

अतीन्द्रिय बताया जिसे। ज्ञान ही कृत पाता जिसे।
मैं चर्मचक्षुओं से उसे। कैसे देखूँ ?।।१५९।।

आपके प्रति अनुचित कहूँ। इससे अच्छा है चुप रहूँ।
कृष्ण ने कहा, पार्थ मैं हूँ। सहमत तुमसे।।१६०।।

हम विश्वरूप दिखावें। तो देखने की शक्ति देवें।
किन्तु हम यह भूल गये। बातों-बातों में।।१६१।।

बिना जोत बिना बखरनी। व्यर्थ जानी ही है बोनी।
विश्वरूप देखने की दिव्यदृष्टि। देता हूँ अब।।१६२।।

फिर इस दृष्टि से पांडव। मेरा ऐश्वर्ययोग सर्व।
देखो और करो अनुभव। उसे सम्पूर्ण।।१६३।।

ऐसे वह वेदान्तवेद्य। सकल लोक का आद्य।
अखिल जगत का आराध्य। श्रीकृष्ण बोला।।१६४।।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

धृतराष्ट्र से कहता संजय। मुझे यही लगता विस्मय।
किसका लक्ष्मी से अधिक भाग्य। त्रैलोक्य में।।१६५।।

अथवा सिद्धान्त विवेचन। कहाँ है वेदों बिन।
या सेवकाई में कौन। शेष के अतिरिक्त ? ।। १६६ ।।

या प्राप्त करने ईश्वर। सेवा करे जो आठों पहर।
ऐसा गरुड़ से इतर। क्या है कोई ? ।। १६७ ।।

किन्तु ये सब धरे रह गये। जबसे पांडव जग में आये।
उनमें ही समा गये। सारे कृष्णसुख ।। १६८ ।।

कामातुर को नारी जैसे। स्वाधीन कर लेती वैसे।
अधीन हो गये श्रीहरि तैसे। अर्जुन के ।। १६९ ।।

पढ़ाया पंछी यों न बोलता। क्रीड़ामृग भी यों न चलता।
न जाने कैसे अनुकूल होता। दैव अर्जुन के ।। १७० ।।

आज पा ब्रह्म का दर्शन। करने सशक्त उसके लोचन।
उसके शब्द का पालन। कर रहे श्रीहरि ।। १७१ ।।

वह कोपे, सहे श्रीधर। रूठे, करे मनुहार।
अर्जुन पर गिरिधर। बलि-बलि जाते ।। १७२ ।।

अन्यथा विषय को जीत मुनिगण। शुकादिक के समान।
रासक्रीड़ा का करते वर्णन। भाट बने कृष्ण के ।। १७३ ।।

योगियों का समाधि-धन। हो गया पार्थ के अधीन।
इसलिये विस्मित है मन। राजन मेरा ।। १७४ ।।

फिर आगे कहता संजय। किन्तु इसमें कैसा विस्मय।
होता उसका भाग्योदय। जो प्रिय कृष्ण का ।। १७५ ।।

तब अर्जुन से कहते केशव। दिव्य दृष्टि देता हूँ अब।
जिससे मेरा विश्वरूप सर्व। अखंडित देखोगे ।। १७६ ।।

जब कृष्ण मुख से ऐसे वचन। झर रहे थे, उसी क्षण।
करने लगा पलायन। अज्ञान पार्थ का ।। १७७ ।।

वे अक्षर नहीं, थी तेजशिखा। ब्रह्मसाम्राज्य दीपिका ।
मानो पार्थहित ज्ञान ज्योतिका। जलायी श्रीकृष्ण ने ।।१७८।।

दिव्य दृष्टि हुई प्रकाशित। ज्ञानदृष्टि विस्तारित ।
श्रीकृष्ण ने की प्रदर्शित। ऐश्वर्यविभूति अपनी ।।१७९।।

ये जो अवतार सकल। जिस सागर के कल्लोल ।
दिखता विश्वरूप मृगजल। जिसकी किरणों से ।।१८०।।

जिस अनादि पृष्ठभूमि पर। चित्रित होता चराचर ।
वह मूल रूप परमेश्वर। दिखाता अर्जुन को ।।१८१।।

बचपन में एक बार मिट्टी। कृष्ण ने मुँह में डाली थी ।
क्रोधित यशोदा ने पकड़ी थीं। उसकी दोनों बाँहें ।।१८२।।

फिर श्रीकृष्ण ने डरते-डरते। मानो अपनी तलाशी देते ।
यशोदा को मुँह में दिखाये थे। चौदह भुवन ।।१८३।।

या दर्शन करने जब ध्रुव आया। उसके कान में शंख लगाया ।
फिर जो वेद नहीं कह पाया। ध्रुव लगा बोलने ।।१८४।।

वैसा अनुग्रह अर्जुन पर। कर गया वहाँ शारंङ्गधर ।
फिर माया कब हो गयी कपूर। उसे पता नहीं ।।१८५।।

सारा ऐश्वर्य हो गया आलोकित। अर्जुन हो गया चमत्कृत ।
विस्मय दह में उसका चित्त। गहरा डूब गया ।।१८६।।

जैसे उदक ब्रह्म तक का। तैर गया मार्कण्डेय अकेला ।
वैसे विश्वरूप की वह लीला। पार्थ देखता अकेले ।।१८७।।

कहता यहाँ गगन विस्तार। ले गया कौन किधर ।
वे महाभूत चराचर। कहाँ गये ? ।।१८८।।

दिशाबोध रहा नहीं। नीचे ऊपर का ज्ञान नहीं ।
जैसे जागते स्वप्न नहीं। लोप सभी का ।।१८९।।

सूर्यतेज से जैसे। चन्द्र-तारे होते लुप्त-से।
लील ली विश्वरूप ने वैसे। सृष्टि सारी ।। १९० ।।

मन भूला मानसिकता। मति भूली मतिमानता।
प्रवृत्तियाँ हो निवृत्तियाँ। केन्द्रित हुईं हृदय में ।। १९१ ।।

जैसे स्तब्ध हो गयी स्तब्धता। एकाग्र हुई एकाग्रता।
या बधिर विचारशीलता। मोहनास्त्र से ।। १९२ ।।

चकित देखता चहुँ ओर। पूर्व चतुर्भुज रूप मनोहर।
नाना रूपों में सब दूर। फैल गया है ।। १९३ ।।

जैसे पसरते मेघ वर्षा में। रवि तेज प्रलयकाल में।
वैसे अपने बिन उस समय में। नहीं छोड़ा कुछ भी ।। १९४ ।।

पूर्व कृष्णरूप से सन्तोष। अर्जुन ने पाया था विशेष।
नयन खोलते विश्वरूप। देखा उसने ।। १९५ ।।

इन्हीं नयनों विश्वरूप दर्शन। करना चाहता था अर्जुन।
मनोकामना की पूर्ण। श्रीकृष्ण ने ।। १९६ ।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ।। १० ।।

अर्जुन देखता नाना वदन। मानो विष्णु के हों राजभुवन।
या साकार हुए निधान। लावण्य-लक्ष्मी के ।। १९७ ।।

या आनंदवन में वसंत आया। सौन्दर्य ने राजवैभव पाया।
वैसे अर्जुन देखे न अघाया। रूप श्रीहरि के ।। १९८ ।।

उनमें भी कई वदन। दिखते थे अत्यंत भीषण।
कालरात्रि की सेना सघन। घुमड़ी हो जैसे ।। १९९ ।।

अथवा मृत्यु ने धरे चेहरे। भयदुर्ग बनाये न्यारे।
प्रलयाग्नि के कुंड बहुतेरे। भभके एक साथ ।। २०० ।।

वैसे अद्भुत भयंकर। चेहरे देखता धनुर्धर।
कई असामान्य सालंकार। कई थे सौम्य ।।२०१।।

ज्ञानदृष्टि से पार्थ उनका। अन्त नहीं पा सकता।
अतः सकौतुक ढूँढ़ने लगा। नयन कहाँ देव के ।।२०२।।

जहाँ भी दिखते कमल वर्ण। सूर्य तेज के समान।
वहाँ प्रभु के कमललोचन। देखने लगा ।।२०३।।

घटा में कृष्ण मेघों की। कौंध कल्पान्तक बिजलियों की।
वैसे भवों के नीचे प्रभु की। थीं अग्नि-पिंगल आँखें ।।२०४।।

ऐसे एकेक देखते आश्चर्य। उस एक रूप में ही धनंजय।
अनेकता विश्वरूप की अक्षय। अनुभव करने लगा ।।२०५।।

फिर उसके चरण कहाँ है?। मुकुट भुजाएं किधर हैं ?।
यह देखने की जागी है। इच्छा पार्थ मानस में ।।२०६।।

भाग्यनिधि है पार्थ। उसके मनोरथ कैसे हों व्यर्थ ?।
पिनाकपाणि के तूणीर में तीर। थोथे कैसे होंगे ।।२०७।।

या चतुरानन की वाचा पर। कैसे आयेंगे गलत अक्षर ?।
अतः विश्वरूप साद्यन्त। दिखायी दिया अर्जुन को ।।२०८।।

वेदों को अगम्य जिसका अन्त। उसके अवयव समस्त।
अर्जुन देखता एक साथ। अपनी आँखों ।।२०९।।

नाना अलंकार भूषित। विश्वरूप की महिमा अद्भुत।
चरणों से मुकुटपर्यन्त। देखी अर्जुन ने ।।२१०।।

परब्रह्म हो मूर्तिमान। करता ब्रह्मालंकार धारण।
उपमा और उपमान। वर्णन करूँ किसका ? ।।२११।।

प्रभा से उज्ज्वल। आलोकित सूर्य-चन्द्रमण्डल।
जो महातेज का मर्मस्थल। जिससे विश्व प्रगटता ।।२१२।।

वह दिव्य तेज का शृंगार। किसकी मति को गोचर ।
ब्रह्म पहनता ब्रह्मालंकार। अर्जुन देखता ।। २१३ ।।

स्वयं है अंग और अलंकार। स्वयं है हाथ स्वयं हथियार ।
स्वयं जीव स्वयं शरीर। चराचर में परमात्मा ।। २१४ ।।

फिर विश्वरूप के सीधे हाथ। ज्ञानदृष्टि से देखता पार्थ ।
कल्पान्त ज्वाला को चीरते। नाना शस्त्र देखता ।। २१५ ।।

जिनकी तेज प्रखर किरणें। नक्षत्रों को बनाती भूने चने ।
जिसमें जलता अग्नि भणे। जाता हूँ समुद्र में ।। २१६ ।।

कालकूट के कल्लोल उठते। या महातेज के वन फैलते ।
वैसे अपार कर दिखायी देते। शस्त्रधारी ।। २१७ ।।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ।। ११ ।।

वहाँ से सभय हटाता दृष्टि। तो मुकुट कंठ देखता किरीटी ।
सोचता उनसे ही मानो सृष्टि। कल्पतरुओं की ।। २१८ ।।

जो महासिद्धि के मूलपीठ। जहाँ विरमती लक्ष्मी श्रान्त ।
ऐसे कमल देखता पार्थ। जिन्हें सूँधा भगवान ने ।। २१९ ।।

मुकुट पर लच्छे फूलों के। जहाँ-तहाँ पूजाबंध दिखे ।
गले में पुष्पहार अनोखे। सुहाते आपाद ।। २२० ।।

घिरा हो स्वर्ग सूर्यतेज से। या मढ़ा हो मेरू सोने से ।
कटि पीतांबर लगता ऐसे। विश्वरूप का ।। २२१ ।।

जैसे शिव की कपूर-लिपाई। या मेरू की पारे से पुताई ।
या दूध की चादर उढ़ाई। क्षीरसागर को ।। २२२ ।।

जैसे चन्द्रबिम्ब की तह खोली। उसकी चौतनी नभ को पहनायी ।
वैसे चन्दन की उबटन पायी। देव के सर्वांग पर ।। २२३ ।।

उससे प्रकाश आलोकित। ब्रह्मानन्द हुआ शान्त।
गंधवति को सुगंध प्राप्त। उसकी सुगंध से ।। २२४।।

जिसका निर्लेप आत्मा करता लेपन। अनंग करे सर्वांग में धारण।
उस सुगंध का महिमा-वर्णन। कौन करे ? ।। २२५।।

वह दिव्य श्रृंगार देख कर। इतना सिटपिटाया धनुर्धर।
कि तय नहीं कर पाया सत्वर। कृष्ण बैठे हैं या खड़े ।। २२६।।

आँखें खोली तो यत्र-तत्र। विश्वरूप ही दिखा सर्वत्र।
इच्छा न थी, मूँदे नेत्र। तो भीतर भी दिखा वही ।। २२७।।

सामने दिखे भीषण मुख। अतः फेर लिया उनसे मुख।
तो उधर भी आये सम्मुख। मुख और देह वे ही ।। २२८।।

देखने पर दे दिखायी। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।
पार्थ को तो बिना देखे ही। दिखता यही आश्चर्य ।। २२९।।

देखने पर दिखता कृष्ण। न देखे तो भी दिखे कृष्ण।
सभी कृष्णमय देखता अर्जुन। कितनी कृपा देव की ।। २३०।।

आश्चर्य की एक बाढ़ में। डूबते ही लग गया किनारे।
तभी दूसरे आश्चर्य-सागर में। डूबने लगा अर्जुन ।। २३१।।

ऐसे अर्जुन को कुशलता से। विश्वरूप के प्रदर्शन से।
समेट लिया प्रेमभाव से। कृष्ण ने अपने में ।। २३२।।

देव स्वभावतः विश्वतोमुख। पार्थ ने देखना चाहा प्रत्यक्ष।
तो सारा ब्रह्माण्ड व्याप कर। समक्ष खड़ा हो गया ।। २३३।।

दिखता दीप या सूर्य प्रकाश में। देखना समाप्त उसके अभाव में।
किन्तु कृष्ण ने जो दी दान में। वह दृष्टि न थी वैसी ।। २३४।।

अतः खुले या मूंदे नैनों से। पार्थ देखता तेज या तम में।
यही अन्धे को हस्तिनापुर में। बता रहा था संजय ।। २३५।।

सुना न राजन आपने ?। विश्वरूप देखा पार्थ ने ।
सजाया जिसे नाना भूषणों ने। विश्वतोमुख ।। २३६ ।।

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ।। १२ ।।

उस विश्वरूप की अंगकांति। कितना बताऊँ अद्भुत थी ।
कल्पान्त-जत्रा मानो लगी थी। बारह आदित्यों की ।। २३७ ।।

यदि हजारों दिव्य सूर्य। एक साथ होते उदय ।
फिर भी उनका तेजोवलय। फीका इसके आगे ।। २३८ ।।

बिजुलियों का मेला लगाया। उनमें प्रलयाग्नि को मिलाया ।
उसमें भी पुंज घोल दिया। दसों महा तेजों का ।। २३९ ।।

तब कहीं उस अंगकान्ति से। इस तेज की कुछ तुलना हो सके ।
सम्पूर्णतः दोनों तेजों की। तुलना असम्भव सर्वथा ।। २४० ।।

ऐसी महिमा श्रीहरि की। द्युति फैली सर्वांग की ।
कृपा के कारण व्यास की। मैं देख पाया राजन ।। २४१ ।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। १३ ।।

एक ओर उस विश्वरूप में। सकल ब्रह्मांड दिखायी देते ।
जैसे बुलबुले महासागर में। दिखते अलग ।। २४२ ।।

नभ में मेघों के गंधर्वनगर। चींटियों की बाँबी भू पर ।
या धूलि कण पर्वत पर। दिखते क्षुद्र ।। २४३ ।।

वैसे विश्व को उस अवसर पर। चक्रवर्ती देव ने अपने अंदर ।
समेटा है, देखता धनुर्धर। चकित भाव से ।। २४४ ।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।। १४ ।।

तब एक विश्व, दूजा पार्थ। यह जो द्वैत था लेश मात्र।
वह भी होते समाप्त। मन विश्वरूप हो गया ।। २४५ ।।

परमानन्द उमड़ा भीतर। गात्र-बल का लोप बाहर।
नखशिख पूरा शरीर। रोमांचित हुआ ।। २४६ ।।

वर्षा की होते पहली वृष्टि। पर्वत पर हरी दूब बढ़ती।
वैसे दिखायी देता किरीटी। रोमहर्षित ।। २४७ ।।

चन्द्रकिरणों का स्पर्श होता। तो चन्द्रकान्त रिसने लगता।
वैसे अर्जुन के पसीना छूटता। सारे तन पर ।। २४८ ।।

भीतर बन्द भ्रमर के कारण। कमल-कलि में उठती सिहरन।
वैसे अर्जुन का सारा तन। झूमता अंतःसुख से ।। २४९ ।।

उतारते कपूर-केलिका के छिलके। निकलते कपूर कण भीतर के।
वैसे अश्रु परमानन्द के। वह निकले पार्थ-नैनों से ।। २५० ।।

उदय होते सुधाकर। भरे सागर में आता ज्वार।
वैसे उर्मियाँ बारम्बार। उठने लगीं ।। २५१ ।।

आठों सात्विक भावों में। ऐसी स्पर्द्धा लगी आपस में।
कि अर्जुन ने पाया हृदय में। राज्य ब्रह्मानन्द का ।। २५२ ।।

इस ब्रह्मानन्द की प्रतीति में भी। कुछ द्वैत रहा था फिर भी।
पार्थ आहें भरता हुआ तभी। देख पाया विश्वरूप ।। २५३ ।।

कृष्ण जहाँ थे विराजमान। वहीं माथा टेक कर अर्जुन।
करने लगा उनका स्तवन। हाथ जोड़े ।। २५४ ।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।। १५ ।।

स्वामी त्रिवार जय आपकी। आपने मुझ पर बड़ी कृपा की ।
देख सका छवि विश्वरूप की। मुझसा तुच्छ जीव ।। २५५ ।।

यह बहुत भला किया भगवंत। बहुत सन्तोष पाया चित्त ।
आपके सहारे जगत। देखा आँखों से ।। २५६ ।।

मन्दार गिरि की छाया में। श्वापद रहते घने वनों में ।
वैसे आपके विश्वरूप में। बीसियों भुवन ।। २५७ ।।

आकाश की महाखोल में। ग्रह-नक्षत्रों के पुंज होते ।
या महावृक्ष के कोटर में। पंछियों के नीड़ ।। २५८ ।।

उसी तरह गिरिधारी। तव विश्वात्मक तनमाहीं ।
मैंने देखी स्वर्गसृष्टि सारी। देवगणों सहित। ।। २५९ ।।

देव महाभूतों के पंचक। यहाँ देखता हूँ अनेक ।
और भूतसृष्टि के असंख्य। प्राणिमात्र ।। २६० ।।

एक ओर दिखता सत्यलोक। जिसमें बसते ब्रह्मा प्रत्यक्ष ।
दूसरी ओर कैलासलोक। देख रहा हूँ ।। २६१ ।।

भवानीसहित शंकर। दिखते एक भाग पर ।
और साक्षात् परमेश्वर। आप अपने रूप में ।। २६२ ।।

कश्यपादि ऋषिगण। आपके स्वरूप में दिखते पूर्ण ।
दिखता सर्पोसहित पातालस्थान। आपके देह में ।। २६३ ।।

आपके अवयवों की दीवार पर। चौदहों भुवन आकृतियाँ सुन्दर ।
देख रहा हूँ विविधतर। त्रैलोक्यनाथ ।। २६४ ।।

और यहाँ के जो हैं लोग। इस चित्र में दिखते अनेक ।
गाम्भीर्य देखता हूँ अलौकिक। श्रीकृष्ण आपका ।। २६५ ।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।। १६ ।।

इस दिव्य दृष्टि के बल पर। देखता हूँ चारों ओर ।
तो दिखते जैसे नभांकुर। दीर्घ बाहु आपके ।। २६६ ।।

जो एक साथ सभी व्यवहार। कर रहे हैं निरन्तर ।
ऐसे तुम्हारे असंख्य कर। देखता हूँ ।। २६७ ।।

ब्रह्म के विस्तार से जैसे। ब्रह्मांड के भंडार खुल जाते ।
वैसे आपके देह में दिखते। कई उदर विशाल ।। २६८ ।।

आप सहस्रशीर्ष हैं इसकी। विश्वरूप में मैंने प्रतीति की ।
या बहार वदन-फलों की। आयी परब्रह्म में ।। २६९ ।।

यत्र-तत्र मुख सुहाते। उनमें असंख्य नेत्र दिखते ।
आपके स्वरूप में दिखते। विश्वरूप ।। २७० ।।

अस्तु, स्वर्ग भू पाताल। अथवा दिशा अंतराल ।
यह भेद लोप कर केवल। दिखती विश्वमूर्ति ।। २७१ ।।

आप कण-कण में हो व्याप्त। नहीं कोई स्थान रिक्त ।
ऐसा घना सर्वव्याप्त। रूप आपका ।। २७२ ।।

जो महाभूतों से समस्त। विश्व हो गया था व्याप्त ।
वहाँ सर्वव्यापी अनंत। दिखते आप ही ।। २७३ ।।

आप यहाँ कहाँ से आये ?। बैठे हैं या खड़े हैं ? ।
किस माँ के गर्भ में रहे ?। आकार कितना आपका ? ।। २७४ ।।

रूप कैसा ?। आयु क्या है ?। आपसे परे क्या है ? ।
आपका आसन कहाँ है ?। ढूँढ़ रहा हूँ ।। २७५ ।।

अनुभव किया कर विचार। आप ही हो अपना आधार ।
स्वयंभू हो, अनादि, अपार। माँ बाप नहीं आपके ।। २७६ ।।

न खड़े हो, न बैठे। न औंधे हो, न लेटे।
न बौने हो, न ऊँचे, हेठे। आपके कोई ।।२७७।।

रूप में हो अपने समान। आयु का आपको ही भान।
अपने पीठ-पेट का स्थान। आप ही हो ।।२७८।।

और क्या बताऊँ तात ? अपना सर्वस्व आप अनंत।
बारम्बार सोचते बात। यही आयी ध्यान में ।।२७९।।

किन्तु आपके रूप में भगवंत। एक कमी दिखती निश्चित।
कि उसे आदि-मध्य-अन्त। तीनों नहीं ।।२८०।।

मैंने खोजा प्रत्येक ठाँव। आपका कहीं न लगा थाह।
अतः सत्य आपका यह। आदि-मध्य-अन्त नहीं ।।२८१।।

हे आदि-मध्य-अंत रहित। विश्वेश्वर अपरिमित।
आज देखा मैंने तत्त्वतः। विश्वरूप आपका ।।२८२।।

आपकी महामूर्ति में भगवन। अनेक मूर्तियाँ देखतीं विभिन्न।
मानो आपने किये परिधान। वस्त्र नाना ।।२८३।।

इस विश्वरूप के पर्वत पर। वृक्ष-लताओं से आपके आकार।
आपके ये दिव्य अलंकार। उनके फल-फूल जैसे ।।२८४।।

प्रभो, आप एक महासागर। तरंगों-सी ये मूर्तियाँ अपार।
या आप हो एक तरु सुन्दर। मूर्तियाँ फल जिसके ।।२८५।।

भूतल भरा भूतों से। आकाश नक्षत्रों से।
वैसे इन मूर्तियों से। भरा विश्वरूप ।।२८६।।

जिस एक-एक मूर्ति पर। निर्भर सारा उत्पत्ति-संहार।
वे प्रचंड मूर्तियाँ आपके तन पर। हैं केवल रोमांच ।।२८७।।

रचे ऐसा पसारा विश्व का। वह कौन है और किसका ?।
सोचा तो इस पांडव का। जो सारथी वही आप ।।२८८।।

वास्तव में है मुकुंदा। आप व्यापक ही सर्वदा।
भक्तों के लिये ही बहुधा। धरते सुंदर रूप ।।२८९।।

वह रूप चतुर्भुज सलोना। देखते मन हर्षित, बहते नैना।
आलिंगन चाहो करना। आता दोनों बाँहों में ।।२९०।।

भक्तों के लिये विश्वरूप। आपने लिया कृष्णरूप।
हमारी क्षुद्र दृष्टि को आप। सामान्य लगते थे ।।२९१।।

किन्तु आपने जो दिव्य चक्षु दिया। उससे यह दृष्टिदोष गया।
तभी तो यथार्थ मैं देख पाया। महिमा आपकी ।।२९२।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।। १७ ।।

मेरे रथ के धुरे पर। आप बैठे सारथी बन कर।
उसी से हे विश्वरूप श्रीधर। जाना आपको ।। २९३ ।।

वैसे तो आपके मस्तक पर। वही मुकुट है श्रीधर।
किन्तु अब उसका तेज अपार। अद्भुत लगता ।। २९४ ।।

ऊपरी कर में सुदर्शन। घूमता पहले समान।
बची वही आपकी पहचान। विश्वरूप में ।। २९५ ।।

गदा वहीं दूजे कर में। शस्त्र नहीं निचले करों में।
जो रथ-अश्वों की बागें थामें। दिखायी देते ।। २९६ ।।

मेरी ही इच्छा को पूरी करने। विश्वरूप धरा यह आपने।
अन्य कोई कारण नहीं थे। जानता हूँ विश्वेश ।। २९७ ।।

इतना मेरा लाड़ करना। यह आश्चर्य ही तो है ना ?।
इसी के कारण मन श्रीकृष्णा। बुझा-बुझा सा है ।।२९८।।

यहाँ विश्वरूप है या नहीं। सोचने की गुंजाइश नहीं ।
सर्वत्र अंगप्रभा की यहीं। ऐसी अद्भुतता ।। २९९ ।।

यहाँ अग्नि भी झुलस जाता। जुगनूसमान सूर्य लोपता ।
ऐसी तेज की प्रखरता। प्रतीत होती ।। ३०० ।।

महोतज के महार्णव में। पृथ्वी का लोप होता क्षण में ।
या गगन आ गया साये में। युगान्तक बिजलियाँ के ।। ३०१ ।।

या विनाश की ज्वालाओं ने। मचान बाँधी हो गगन में ।
जो दिव्य ज्ञान के नयनों से। देखी नहीं जाती ।। ३०२ ।।

आपका तेज हो कर प्रखर। जला रहा है मेरा शरीर ।
देखते ये दिव्य नयन। संत्रस्त होते ।। ३०३ ।।

महाप्रलयाग्नि भभक कर। रुद्राग्नि का सुप्त रूप तज कर ।
तीसरी आँख खोलकर। प्रगट हुआ लगता ।। ३०४ ।।

ज्वालाओं में इस तेज की। राख होती महाभूतों की ।
ब्रह्मकटाह को बना देती। कोयले जले हुए ।। ३०५ ।।

ऐसी अद्भुत तेजोनिधि। मैंने न देखी थी कभी ।
आपकी दिव्य कान्ति की नहीं। सीमा या अन्त ।। ३०६ ।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।। १८ ।।

साढ़े तीन मात्राओं का ॐकार। आप उससे भी परे, अक्षर ।
ढूँढ़ते आते आपका घर। वेद चारों ।। ३०७ ।।

या दृश्याकार का मूलस्थान। जहाँ विश्व का भंडारण ।
जो अविनाशी अव्यय गहन। वह परब्रह्म आप ।। ३०८ ।।

आप धर्म के हो जीवन। अनादिसिद्ध नित्यनूतन।
छत्तीस तत्त्वों से भिन्न। पुरुष सैंतीसवें ।। ३०९ ।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।। १९ ।।

आप आदि-मध्य-अन्त रहित। सामर्थ्य आपका अपरिमित।
आपके कर चरण अनगिनत। दिखते सर्वत्र ।। ३१० ।।

चन्द्र-सूर्य आपके लोचन। करते क्रोध, कृपावर्षण।
जलाती आपकी तामसी अगन। कृपा परिपालन करती ।। ३११ ।।

ऐसी दृष्टि से आपका दर्शन। कर रहा हूँ मैं इस क्षण।
दिखता प्रलयाग्नि-सा वदन। भगवन् आपका ।। ३१२ ।।

पर्वत पर भभकते दावानल। सर्वत्र उठती भीषण ज्वाल।
वैसे जीभ चाटती दाढ़ें कराल। मुँह में लपलपाती ।।. ३१३ ।।

इस वदन की उग्र दाह से। विश्वरूप की महाप्रभा से।
संतप्त हो कर अति वेग से। विश्व होता विनष्ट ।। ३१४ ।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।। २० ।।

यह स्वर्गलोक यह पाताल। यह पृथ्वी यह अंतराल।
सभी है सर्वथा व्याकुल। क्षितिज और दिशाएँ ।। ३१५ ।।

इन सभी में आज व्याप्त। मैं देख रहा हूँ चकित।
किन्तु सभी आकाश के समेत। डूबता भीषण रूप में ।। ३१६ ।।

इस अद्‌भुत रस के कल्लोल में। चौदहों भुवन गये रसातल में।
ऐसा अद्‌भुत आपका रूप मैं। जानूँ किसविध ? ।। ३१७ ।।

समझ में न आती व्यापकता। असह्य रूप की प्रखरता।
सुख तो दूर, प्राणों की सुरक्षा। लगती असम्भव ।। ३१८ ।।

देखकर आपका यह रूप। तन में होता भयकम्प।
त्रिभुवन हो गया लोप। दुःख कल्लोल में ।। ३१९ ।।

क्या महापुरुष का दर्शन। होता भय दुःख का कारण ?।
किन्तु लगता यह विश्वरूप दर्शन। सुखकारी न होगा ।। ३२० ।।

जब तक न देखा था रूप आपका। मन इच्छुक विषयसुखों का।
अब दर्शन करते विश्वरूप का। ऊबा विषयों से ।। ३२१ ।।

यह रूप है महा भयंकर। कैसे आलिंगन करूँ सत्वर ?।
और बाँहों में न लूँ तो अपार। शोक में जीऊँ कैसे ? ।। ३२२ ।।

पीछे हटूँ तो भवसागर। दुःख देता दुर्निवार।
आगे बढ़ूँ तो श्रीधर। आपको समेटूँ कैसे ? ।। ३२३ ।।

ऐसी दुविधा के संकट में। त्रैलोक्य पड़ता है कष्ट में।
यही दुःख का कारण जग में। देखता हूँ ।। ३२४ ।।

जैसे झुलसे जीव को। सागर है शमन को।
पर उसमें देख कल्लोल को। होता भयभीत ।। ३२५ ।।

वही हाल विश्व का होता। आपको देख यह मचलता।
इसके पार निकल पाता। ज्ञानशूर केवल ।। ३२६ ।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।। २१ ।।

वे आपके दिव्य तेज से। कर्म-बीजों को जला देते।
फिर आपस में मिल जाते। सद्भाव से सहज ।। ३२७ ।।

कुछ आपसे भयभीत। होते आपमें श्रद्धाविनत।
सम्मुख आ कर जोड़े हाथ। करते प्रार्थना ।। ३२८ ।।

कहते डूबे अज्ञानसागर में। आसक्त हो गये विषयों में।
पड़ गये प्रभो विवर्त में। स्वर्ग और संसार के ।। ३२९ ।।

अब हमें आपके बिन। भगवन, त्राता है कौन ?।
गहते हम आपकी शरण। करते प्रार्थना ।। ३३० ।।

और महर्षि तथा सिद्ध। विद्वानों के समूह विविध।
आपका कर साधुवाद। स्तवन करते ।। ३३१ ।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।। २२ ।।

ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य। आठों वसु, वायु देववैद्य।
उनचास दिव्य मरुत्गण। ऐश्वर्यशाली ।। ३३२ ।।

पितर और गंधर्व। यक्ष, राक्षसगण सर्व।
इन्द्रादिक प्रमुख देव। सकल सिद्ध भी ।। ३३३ ।।

ये सभी अपने अपने स्थान पर। अत्यंत उत्कंठित होकर।
इस महामूर्ति का दर्शन जी भर। करते दिव्य नेत्रों से ।। ३३४ ।।

देखते-देखते प्रति क्षण। विस्मित उनका अन्तःकरण।
आपकी आरती नंदनन्दन। उतारते मुकुटों से ।। ३३५ ।।

आपकी जयजयकार करते। स्वर्गभुवन को गुँजा देते।
बद्ध कर ललाट पर लेते। करते भाव से वन्दन ।। ३३६ ।।

उस विनयवृक्षों के उद्यान में। सात्विकता की बहार में ।
फल आया कर-सम्पुट में। आप स्वयम् ।। ३३७ ।।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।। २३ ।।

आज भाग्य खुला नयनों का। फल मिला मन के सुख का ।
अगाध विश्वरूप आपका। जो देखा उन्होंने ।। ३३८ ।।

त्रैलोक्यव्यापी आपका रूप। देखते देवता भी जाते काँप ।
देखनेवालों को अपने आप। सबके सम्मुख दिखता ।। ३३९ ।।

ऐसे यही एक किन्तु विचित्र। भयानक मुख और नेत्र ।
अनन्त भुजाएँ सशस्त्र। दिखतीं यहाँ ।। ३४० ।।

अनन्त सुन्दर बाहु चरण। अनेक उदर नाना वर्ण ।
प्रत्येक मुख में उन्मादपूर्ण। आवेश कितना ।। ३४१ ।।

अन्त समय में महाकल्प के। मानो यम ने रखी जलाके ।
भीषण होलि स्थान-स्थान पे। प्रलयाग्नि की ।। ३४२ ।।

या त्रिपुरारि के संहारास्त्र। प्रलय भैरव के जत्थे सर्वत्र ।
नाना युगान्तकारी महापात्र। प्रस्तुत विश्वनाश को ।। ३४३ ।।

भगवन आपके यत्र-तत्र। मुँह बाये दिखते सर्वत्र ।
बड़े सिंहों-से लगते दाँत। करकराते ।। ३४४ ।।

घटाटोप में कालरात्रि के। क्रूर पिशाच निकले हों नाचते ।
वैसी दाढ़ें दिखतीं जबड़ों में। प्रलयरक्त में सनीं ।। ३४५ ।।

काल द्वारा ललकारित रण। या संहार से उन्मत्त मरण ।
लगते वैसे अति भीषण। वदन आपके ।। ३४६ ।।

चहुँ ओर दौड़ाते दृष्टि। ऐसी दिखी लोकसृष्टि ।
मानो दुख-कालिंदी तट की। हो गयी कदंब ।। ३४७ ।।

आप महामृत्यु के सागर। जहाँ दुख की आँधियाँ अपार ।
आन्दोलित उनसे निरन्तर। नाव त्रैलोक्य की ।। ३४८ ।।

मेरे कथन से हो क्रोधित। कहोगे जनहित क्यों हो चिन्तित ।
भोगो ध्यानसुख अखंडित। जो प्राप्त तुम्हें ।। ३४९ ।।

जनभय तो है निमित्त। वास्तव में स्वयं हूँ भयार्त ।
मेरे ही प्राण हैं कम्पित। देख रूप आपका ।। ३५० ।।

संहारक रुद्र जिससे डरता। महाकाल भय से छुपता ।
मेरी तो क्या है कथा। थर्रा कर काँपता हूँ ।। ३५१ ।।

कैसी अद्‌भुत यह महामारी। यदि यही विश्वरूप है श्रीहरि ।
भय को भी लगती भयकारी। इसकी भीषणता ।। ३५२ ।।

नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।। २४ ।।

जो महाकाल से प्राणप्रण से। जूझते वदन कई ऐसे ।
आकाश भी बौना है जिनसे। विशालता में ।। ३५३ ।।

जो आकाश में भी न समाते। त्रिभुवन के पवन से नहीं घिरते ।
धाड़धाड़ अग्नि को भी जलाते। जो केवल आह से ।। ३५४ ।।

एक नहीं दूजे जैसा। रंग रूप भी नहीं एक-सा ।
प्रलयाग्नि भी सहायता। माँगता जिनसे ।। ३५५ ।।

अंगकान्ति इतनी दाहक। त्रैलोक्य जल कर होता राख ।
उस मिस्सी के मुँह में अनेक। दाँत दाढ़ें प्रचण्ड ।। ३५६ ।।

क्या धनुर्वात हुआ वायु को। या महाबाढ़ डुबाती सागर को ।
या विषाग्नि वड़वानल को। मारने हुआ प्रवृत्त ? ।। ३५७ ।।

अग्नि पी गया हलाहल। मृत्यु मारता मरण ।
वैसे यह संहारक तेज भीषण। मानो फट पड़ा हो ।। ३५८ ।।

जैसे आकाश टूटे गिर कर। उसमें पड़ जाय दरार ।
वैसे दिखता भयंकर। मुख आपका ।। ३५९ ।।

काँख में दबाये धरती को। हिरण्याक्ष निकला पाताल को ।
तब जैसे पाताल द्वार को। खोला हाटकेश्वर ने ।। ३६० ।।

वैसे आपके ये वदन विशाल। जिनमें जीभें लपलपातीं कराल ।
विश्व एक अधूरा कवल। इसलिये लीलते नहीं ।। ३६१ ।।

पाताल नागों के फुत्कार। गरलज्वाल से भरते अम्बर ।
वैसे वदन-गर्त के भीतर। लगती जिह्वाएँ ।। ३६२ ।।

प्रलय-बिजलियों को एकत्र कर। रचाये आकाशदुर्ग दुर्धर ।
वैसे दाढ़ें प्रज्ज्वलित प्रखर। दोनों और ओठों के ।। ३६३ ।।

ललाट के नीचे गढ़े में। भयावनी लगती आँखें ।
जैसे महामृत्यु के प्रवाहों ने। भँवों में पाया आश्रय ।। ३६४ ।।

ऐसा भयंकर रूप धर कर। क्या करना चाहते श्रीधर ।
यह न जानता किन्तु नरवर। मरणभय से ग्रस्त हूँ ।। ३६५ ।।

देव विश्वरूप देखने की। कामना पूरी हुई मन की ।
देख लिया, लगन लोचन की। हो गयी शान्त ।। ३६६ ।।

पार्थीव देह जाता हो, जाये। उसकी चिन्ता अब न सताये ।
किन्तु चेतना को बचायें। यही है लगन ।। ३६७ ।।

भय से शरीर काँपता। और कुछ मन भी गरमाता ।
बुद्धि भय से अब लोपता। अभिमान देव ।। ३६८ ।।

इन्द्रियादि से जो भिन्न। केवल विशुद्ध परमानन्द ।
वह अन्तरात्मा भी कृष्ण। ऊब गया है ।। ३६९ ।।

साक्षात्कार की थी चाह। किन्तु बोध तज गया थाह ।
गुरु-शिष्य नाता इस तरह। कदाचित् ही मिले ।। ३७० ।।

होते तव दर्शन प्राप्त। व्याकुल हो गया चित्त ।
उसे करने सहज संयत। धैर्य जुटा रहा हूँ ।। ३७१ ।।

किन्तु मूल धैर्य रिस गया। तिस पर विश्वरूप दिख गया ।
आपने भी मुझे उलझाया। इस उपदेश में ।। ३७२ ।।

मेरा बेचारा जीव अभागा। विश्राम के लिये भागा-भागा ।
फिरता, किन्तु उसे सहारा। देंता नहीं दिखायी ।। ३७३ ।।

देख विश्वरूप की महामारी। निर्जीव हो गयी सृष्टि सारी ।
ऐसा न कहूँ तो श्रीहरि। करूँ क्या? रहूँ कैसे ? ।। ३७४ ।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। २५ ।।

मानो फूटा भाँडा महाभय का। यह विकराल फैलाव मुखों का ।
मुझ पर साया डालता भय का। निरन्तर ।। ३७५ ।।

भीड़ उनमें दाँतो-दाढ़ों की। पकड़ में न समाती ओठों की ।
जैसे बाढ़ कटीली प्रलयास्त्रों की। कालसागर तट पर ।। ३७६ ।।

तक्षक को विष पिलाया। कालरात्रि को भूत लग गया ।
या वज्राग्नि में भाँज लिया। मानो अग्नेयास्त्र ।। ३७७ ।।

वैसे आपके ये प्रचण्ड वदन। भीषण आवेश से परिपूर्ण ।
मरणबाढ़ बन तूफ़ान। लगता आयी मुझ पर ।। ३७८ ।।

संहार का प्रचण्ड अनिल। महाकल्पान्त का प्रलयानल ।
दोनों में हो जाये मेल। तो क्या-क्या न जलेगा ? ।।३७९।।

देख आपके संहारक वदन। मेरा धैर्य गया भगवन ।
बढ़ी दिशाहीन उलझन। मैं भूला स्वयं को ।।३८०।।

यह विश्वरूप क्या देखा। सुख का जैसे पड़ गया सूखा ।
अब समेटो यह अपना, सखा। अस्तव्यस्त स्वरूप ।। ३८१।।

पहले होती इसकी कल्पना। तो विश्वरूपदर्शन की कामना ।
कभी न करता मैं नारायणा। प्राणरक्षा कीजिये ।। ३८२।।

यदि स्वामी हो मेरे अनंत। पहले मरण से बचाइये तुरन्त ।
बाद में लीजिये यह समेट। पसारा महामारी का ।। ३८३।।

सुनिये, देवों के परमदेवता। आपसे ही यह विश्व जीता ।
इसे भुला कर संहारकर्त्ता। क्यों बंन गये हो ? ।। ३८४।।

अब प्रसन्न होइये देवराया। समेटो तुरन्त अपनी माया ।
हटा लो महाभय की छाया। भक्त को बचाने ।। ३८५।।

मैं अत्यन्त अकुला कर। करता हूँ विनय बार-बार ।
क्योंकि आपका विश्वरूप देखकर। भयभीत हो गया हूँ ।। ३८६।।

इन्द्रपुरी जब हुई आक्रान्त। मैंने अकेले किया धावा निरस्त ।
कभी न डरा आपका पार्थ। मृत्युमुख से भी ।।३८७।।

किन्तु यह विश्वरूप दुर्दान्त। मृत्यु पर भी कर गया मात ।
हमारे जीवन को विश्वसहित। यह लील लेगा ।।३८८।।

था न कोई प्रलयकाल। किन्तु आप ही बन गये काल ।
तो निश्चय ही यह विश्वगोल। होगा अल्पजीवी ।।३८९।।

कैसे भाग्य ने पलटा खाया। शान्त करते विघ्न आया ।
अब तो विश्व हाय गया। आप ही लीलोगे उसे ।।३९०।।

दिखायी पड़ता है, श्रीधर। मुँह बाये चारों ओर।
खाते जा रहे हो सैन्यसम्भार। आप चाव से ।। ३६१।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।। २६ ।।

ये कौरव वंश के वीर। अंध धृतराष्ट्र के कुमार।
गये-गये सपरिवार। आपके मुख में ।। ३६२ ।।

उनके पक्ष में करने युद्ध। जो नृप हुए सन्नद्ध।
बताने वाला उनका वृत्त। कोई नहीं रहा ।। ३६३ ।।

हाथियों को समहावत। खाया आपने फटाफट।
वहाँ सेना की क्या बिसात। गयी आपके उदर में ।। ३६४ ।।

नाना तोपची तोपों समेत। और पदाती भी समस्त।
आपके मुख में हो रहे लुप्त। बड़े वेग से ।। ३६५ ।।

जो यमराज के जुड़वाँ भाई। जग जलाने पर्याप्त एक ही।
ऐसे कोटि शस्त्रों को पल माहीं। लील रहे हो ।। ३६६ ।।

चतुरंग सेना का सम्भार। अश्वयुक्त रथ सुन्दर।
बिना चबाये डाले डकार। कैसे रास आये ? ।। ३६७ ।।

सत्यवादी शौर्यनिपुण। भीष्म-सा दूजा है कौन ?।
और द्रोण-सा वंद्य ब्राह्मण। दोनों को लीला आपने ।। ३६८ ।।

यह सूर्यदेव का कुमार। गया-गया कर्ण वीर।
नष्ट किया सारा कबाड़। क्षुद्र सेना का ।। ३६९ ।।

हाय-हाय ब्रह्मदेवा। यह कैसा अनुग्रह हुआ।
अपनी प्रार्थना से लाया। मैं विश्वविनाश ।। ४०० ।।

पूर्व में प्रभु ने बतायी बात। अपनी विभूतियाँ समस्त ।
मैंने ही हठ किया त्वरित। विश्वरूप देखने का ।। ४०१ ।।

होता है वह हो कर रहता। भाग्य वैसी ही बुद्धि देता ।
अब दोष चढ़ेगा मेरे मत्था। लोकसंहार का ।। ४०२ ।।

अतीत में अमृत आया हाथ। फिर भी देव न थे सन्तुष्ट ।
फिर हाथ आया कालकूट। समुद्रमंथन में ।। ४०३ ।।

वैसे वह था ज़रा-सा ही। निवारण था असम्भव नहीं ।
और संकट से बचाने वहीं। शंभु थे उपलब्ध ।। ४०४ ।।

अब सुलगे पवन को रोकने। यह विष भरा आकाश लीलने ।
इस महाकाल से जूझने। समर्थ कौन ? ।। ४०५ ।।

ऐसे अर्जुन था दुःखार्त। मन में शोक करता अत्यंत ।
किन्तु समझा नहीं वह अर्थ। देव के अभिप्राय का ।। ४०५ ।।

मैं मारूँगा, मरेंगे कौरव। उसके मन में भरा था भाव ।
देव ने करने मोहभंग। विश्वरूप दिखाया था ।। ४०७ ।।

अरे यहाँ कौन किसे मारता ?। मैं ही हूँ सबको मारता ।
श्रीहरि ने यही सिखाया था। विश्वरूप दिखाकर ।। ४०८ ।।

अर्जुन यह समझ न पाया। व्यर्थ में मन अकुलाया ।
और भय के मारे बढ़ गया। उसका कम्पन ।। ४०९ ।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।। २७ ।।

अर्जुन आगे लगा कहने। जैसे अभ्र छँट जाते नभ में। ।
वैसे खड्ग-कवचसमेत मुँह में। गये दोनों सैन्य ।। ४१० ।।

अन्त में महाकल्प के। इक्कीस स्वर्ग पाताल आदि के ।
ग्रास लेता आलिंगन करके। क्रुद्ध कृतान्त ।। ४११ ।।

अथवा होते प्रतिकूल देव। कृपण का संचित वैभव ।
नष्ट हो जाता सर्व। घर बैठे ।। ४१२ ।।

वैसे सभी सैनिक एकत्र। इस मुँह में हुए प्रविष्ट ।
कर्मगति हो गयी विपरीत। एक भी नहीं बचा ।। ४१३ ।।

अशोक वृक्ष की डाली। जैसे ऊँट ने चबा डाली ।
वैसे यह सभी मंडली। गयी इस मुख में ।। ४१४ ।।

अनगिनत शिर समुकुट। दाढ़ों की सँडसी में टूटते चटचट ।
उनका कितना है गिरत। चूर्ण नीचे ।। ४१५ ।।

वे मस्तक रत्नों जैसे। दिखते दाँतों की दरारों से ।
चिपका जिनका चूर्ण जीभ से। दाढ़ें रक्त से सनीं ।। ४१५ ।।

वह विश्वरूप महाकाल। बलपूर्वक तनों का लेता कवल ।
किन्तु उनके शिरकमल। जीवनयुत रखता ।। ४१७ ।।

वैसे शरीर में मस्तक। कहलाता उत्तमाँग ।
इसीलिये कालमुख। रखता शेष उन्हें ।। ४१८ ।।

आगे कहता है किरीटी। हर जातक की क्या यही है गति ? ।
इस वदन-दह में सारी सृष्टि। डूबती अपने आप ।। ४१९ ।।

अपने आप सारी सृष्टि। इन मुखों की राह चलती ।
अपने स्थान खड़ा जगपति। उसे है लीलता ।। ४२० ।।

ये ब्रम्हादिक जो होते। ऊँचे मुख में प्रविष्ट होते ।
बाकी सामान्य है भराते। पास वाले मुख में ।। ४२१ ।।

अन्य कुछ भूतजात। पैदा होते ही ग्रासित ।
कोई न बचता जीवित। इस मुख से ।। ४२२ ।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।। २८ ।।

महानदियों के ओघ सोते। समुद्र में ही जा गिरते ।
वैसे आपके मुख में हैं जाते। भूतमात्र सभी ।। ४२३ ।।

जीवन मार्ग में प्राणिगण। अहोरात्रि के सोपान ।
चढ़ते होकर गतिमान। आपके मुख में ।। ४२४ ।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।। २९ ।।

जलते पर्वत की खायी में। पतंगे झपटते मरने ।
वैसे आपके मुख में। घुसते ये लोग ।। ४२५ ।।

जो कर गये इसमें प्रवेश। उनका नाम भी रहा न शेष ।
तपे तवे पर जलावशेष। जैसे रहता नहीं ।। ४२५ ।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।। ३० ।।

सबको खा लेने पर भी। आपकी भूख में नहीं कमी ।
उद्दीपन असाधारण ही। जठराग्नि का ।। ४२७ ।।

रोगी जब ज्वर से उठता। अकाल से आया भिखारी लगता ।
लार चाटता फिरता। लालायित ।। ४२८ ।।

अब तो खाने को कुछ भी। सामने शेष रहा ही नहीं ।
कैसी विलक्षण अपूर्वाई। बुभुक्षा की ।। ४२९ ।।

सागर को एक घूँट में पीते। पर्वत को एक कौर में खाते ।
दाढ़ों में कच्चा चबा जाते। सारा ब्रह्मकटाह ।। ४३० ।।

सभी दिशाओं को लीलती। नक्षत्रों को चाट जाती ।
ऐसी लालायितता दिखती। आपकी भूख में ।। ४३१ ।।

वासना बढ़ती भूख से। अग्नि भभकता ईन्धन से ।
खाते हुए भी मुख आपके वैसे। दिखते करते खाव-खाव ।। ४३२ ।।

आपका मुख इतना प्रचंड। कि उसके जिह्वाग्र में ब्रह्मांड ।
जैसे दावानल में कैथा। गिरा पड़ा हो ।। ४३३ ।।

जितने अपार है आपके वदन। उतने नहीं है त्रिभुवन ।
खाने को न हो तो अकारण। क्यों बढ़ायी सेना ? ।। ४३४ ।।

देव ये लोक सकल। वदन-ज्वाल से हैं आकुल ।
जैसे पूरा हिरन-कुल। फँसा वड़वानल में ।। ४३५ ।।

विश्व सोचता यह देव नहीं। भाग्य फूटा हमारा ही ।
या जग-जलचर पर काल ने ही। फेंका जाल ।। ४३५ ।।

इस अंगप्रभा पाश से मुक्ति। कैसे पायेगी यह सृष्टि ? ।
ये मुख नहीं, लाक्षागृह सम्प्रति। लगते जग को ।। ४३७ ।।

जलना क्या है होता। न जाने आग की दाहकता ।
उसका स्पर्श जो भोगता। गँवाता प्राण ।। ४३८ ।।

अपने स्पर्श से जाते प्राण। शस्त्र को न होता भान ।
अपने सेवन से जाते प्राण। विष नहीं जानता ।। ४३९ ।।

वैसे भगवन आपको भी। अपनी उग्रता का बोध नहीं ।
इस ओर के मुख से ही। नष्ट होता विश्व ।। ४४० ।।

अजी आत्मा हो आप एक। सकल विश्व के व्यापक ।
फिर क्यों बने संहारक। हमारे ही ? ।। ४४१।।

मैंने छोड़ दी जीने की आस। आप भी न करें संकोच ।
क्या है मन में साफ़-साफ़। कह डालिये ।। ४४२।।

कितनी बढ़ाओगे उग्रता। स्मरो अपनी विश्वव्यापकता ।
कम से कम मुझ पर अनंता। कृपा करिये ।। ४४३।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।। ३१।।

वेदों से होता आपका ज्ञान। आप त्रिभुवन के आदिकारण ।
विश्व करता आपको वंदन। सुनिये विनय मेरी ।। ४४४।।

इतना कह कर धनुर्धर। चरणों पर नवाता सिर ।
कहता देव आप सर्वेश्वर। विनय सुनो मेरी ।। ४४५।।

करने अपना समाधान। योंही चाहा विश्वदर्शन ।
यहाँ तो आप त्रिभुवन-भक्षण। किये जा रहे हो ।। ४४६।।

तो आप कौन है इतने विलक्षण? इतने मुख क्यों किये धारण ?
हाथों में असंख्य शस्त्र तीक्ष्ण। क्यों लिये हो ? ।। ४४७।।

बढ़ कर बार-बार क्रोध से। ऊँचे होते हो आकाश से ।
आग बरसाते आँखों से। डराते क्यों हो ? ।। ४४८।।

कृतान्त के साथ ईर्ष्या। क्यों करते हो परमेशा ? ।
इस विषय में आपकी मनसा। आखिर क्या है ? ।। ४४९।।

सुन कर अर्जुन का प्रश्न। उत्तर देते हैं नारायण ।
मैं कौन हूँ, यह रूप भीषण। क्यों बढ़ाया ? ।। ४५०।।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।। ३२ ।।

मैं काल ही हूँ धनुर्धर। बढ़ा हूँ करने जनसंहार ।
इस विश्व को लीलने विस्तार। इन मुखों का ।। ४५१ ।।

तब हाय-हाय कहे अर्जुन। पिछले संकट से आयी ऊबन ।
अतः विनय की तो यह भीषण। अधिक हो गये ।। ४५२ ।।

अपना सुनकर कठोर वचन। अर्जुन होगा बहुत खिन्न ।
यह जान कर तत्काल श्रीकृष्ण। कहते उससे ।। ४५३ ।।

अब के संहार में पार्थ। आप पाण्डव रहेंगे सुरक्षित ।
यह सुनते जान में जान। आयी पार्थ की ।। ४५४ ।।

उस महामारी से मरण की। संयत हुई मति अर्जुन की ।
सुनने लगा ध्यान से देव की। आगे की बात ।। ४५५ ।।

देव कहते अर्जुन सुनो। आप मेरे हैं, जानो ।
आपके अतिरिक्त त्रिभुवन को। लीलने आया हूँ ।। ४५५ ।।

प्रलयाग्नि की भभकी हो ज्वाला। उसमें माखन का गोला डाला ।
वैसे विश्वगोल को देखा। तुमने मेरे मुख में ।। ४५७ ।।

अतः इसमें से कुछ भी। शेष रहने वाला नहीं ।
ये सेनायें व्यर्थ में ही। घमण्ड में हैं ।। ४५८ ।।

जिन पर चढ़ा है उन्माद। बकवास कर रहे वे ही व्यर्थ ।
कि यम को भी करेंगे परास्त। चतुरंग सेना से ।। ४५९ ।।

सृष्टि में प्रतिसृष्टि रचायेंगे। मृत्यु को निश्चय ही मारेंगे ।
और विश्व को पी जायेंगे। एक ही घूँट में ।। ४६० ।।

पृथ्वी को आँखा लील लेंगे। आकाश को ऊपर ही जला देंगे ।
पवन को हिलने भी न देंगे। तीरों से कर विद्ध ।। ४६१ ।।

बल पर चतुरंग सेना के। स्पर्द्धा करेंगे महाकाल से ।
ऐसी करते वल्गाना गर्व से। यहाँ एकत्र वीर ।। ४६२ ।।

इनकी बातें शस्त्रों से पैनी। दिखते जैसे दाहक अग्नि ।
कालकूट भी इनका सानी। रखता न मारकता में ।। ४६३ ।।

किन्तु ये सारे ही वीर। नभ में जैसे मेघनगर ।
या चित्र के फल सुन्दर। सारहीन वैसे ।। ४६४ ।।

जैसे बाढ़ मरीचिका में। या कपड़े का साँप घर में ।
या प्रेतश्रृंगार शवयात्रा में। वैसे यह सैन्य ।। ४६५ ।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।। ३३ ।।

इनका देह संचालक बल। मैंने पहले ही खा लिया सकल ।
अब तो ये माटी के वेताल। निर्जीव सारे ।। ४६६ ।।

डोर टूटने पर नचाने वाली। खम्भे पर खड़ी कठपुतली ।
किसी ने भी जरा धकेली। तो गिरती जैसे ।। ४६७ ।।

वैसे यह सेना सम्भार। पल में हो जायेगा ढेर ।
अतः बुद्धिमानी से वीर। उठो उठो वेग से ।। ४६८ ।।

तुमने गोहरण के समय पर। मोहनास्त्र चलाया था शत्रु पर ।
कायर उत्तर से वस्त्रहरण। करवाया था उनका ।। ४६९ ।।

ये गये बीते उनसे भी। इन्हें मारो यहाँ अभी ।
अकेले पार्थ ने शत्रु जीते सभी। यह यश फैलने दो ।। ४७० ।।

केवल यश ही नहीं मिलेगा। साथ राज्य भी प्राप्त होगा।
तू तो केवल निमित्त बनेगा। सव्यसाची ।।४७१।।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।३४।।

द्रोण की चिन्ता ना करो। भीष्म का भय ना धरो।
कर्ण पर भी वार करो। निःसन्देह ।।४७२।।

इस जयद्रथ के लिये उपाय की। चिन्ता न करो क़तई।
जो-जो वीर और भी। हैं यहाँ नामवंत ।।४७३।।

सिंह भित्तिचित्र के जैसे। मिटाये जाते गीले हाथ से।
इन सभी वीरों को वैसे। अपने हाथ से मिटा दो ।।४७४।।

अब इस पर भी है पार्थ। इन वीरों की क्या बिसात ?।
इन्हें तो मैंने पूर्णतः। पहले ही ग्रसा है ।।४७५।।

इन्हें मेरे मुँह में सखा। पड़ा जब तुमने देखा।
तभी इनकी मिटी आयुरेखा। अब ये केवल छिलके ।।४७६।।

इसलिये उठो सत्वर। मैं मार चुका उन्हें मार।
न डूबो इस निस्सार। शोक संकट में ।।४७७।।

हम ही खड़ा करें निशान। फिर गिरा दें निशाना साध।
वैसे इन्हें मारने करो युद्ध। निमित्त मात्र ।।४७८।।

जो तुम्हारे विरोध में गये। उन्हें जन्मतः शेर ले गये।
अब राज्य और यश आये। भोगो अर्जुन ।।४७९।।

जग में जो स्वभावतः उन्मत्त। वे बंधुबांधव समस्त।
मैंने पहले ही मारे बलवंत। लीलया ।।४८०।।

अब युद्ध करके पार्था। अपनी अद्‍भुत विजयगाथा ।
बनने दो हर वाणी की कथा। जब तक सूर्य-चन्द्र ।।४८१।।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्‍गदं भीतभीतः प्रणम्य ।। ३५ ।।

यह कहानी इत्थंभूत। अपूर्णकाम कुरुनाथ ।
संजय से था सुनत। कहे ज्ञानदेव ।।४८२।।

सत्यलोक से भागीरथी। कलकल धाराप्रवाह बहती ।
वैसे गम्भीर वाग्वैजयंती। बहने लगी कृष्ण की ।।४८३।।

अथवा एक साथ घटा घनघोर। आयी उमड़-घुमड़ कर ।
या मन्दार गिरि से मथा जा कर। क्षीरसागर गरजता ।।४८४।।

वैसे स्वर में महागम्भीर। कहने लगा चक्रधर ।
मूलकन्द जो अनादि-अनश्वर। अखिल विश्व का ।।४८५।।

अर्जुन कुछ सुन पाया। सुनते ही काँप गयी काया ।
न जाने क्या अनुभव किया। सुख या भय ।।४८५।।

शरीर हो गया विनत। जोड़ लिये दोनों हाथ ।
बारम्बार टेकता ललाट। कृष्णचरणों पर ।।४८७।।

अर्जुन कुछ बोल न पाता। गला बार-बार रुँध आता ।
यह सुख अथवा भय था। आप ही सोचे ।।४८८।।

सुन कर देव का विवेचन। ऐसी दशा में आया अर्जुन ।
गीता के श्लोकों से ज्ञान। यही हुआ मुझे। ।।४८९।।

फिर कुछ कुछ भयभीत। चरणों को लगाता हाथ ।
कहे महाराज क्या बात। यही कही आपने ? ।।४९०।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ।। ३६ ।।

भगवन आप हैं महाकाल। सबको लीलना आपका खेल ।
यह आपका कहना सकल। मान लेता मैं ।। ४९१ ।।

किन्तु भले हो आप प्रलय। यह है स्थिति का समय ।
विश्व लीलते क्यों अदय। समझ में न आता ।। ४९२ ।।

कैसे यौवन को हटायें। और बुढ़ापे को ओढ़ लें ? ।
अतः आप करना चाहे। वह बहुधा असम्भव ।। ४९३ ।।

चार पहर भी न हो बीते। ऐन मध्याह्न दुपहरी में ।
क्या कभी अस्त होते। सूर्यदेव भगवन ? ।। ४९४ ।।

भले ही आप काल अखंड। आपके भी है तीन खंड ।
प्रत्येक का सामर्थ्य प्रचंड। अपने-अपने समय में ।। ४९५ ।।

जब होती है उत्पत्ति। स्थिति प्रलय न कोई हस्ती ।
स्थिति-काल में नहीं होती। उत्पत्ति और प्रलय ।। ४९५ ।।

आगे जब प्रलयकाल आता। उत्पत्ति स्थिति का अस्त होता ।
यह अनादि व्यवस्था। होती अटल ।। ४९७ ।।

तो आज स्थिति के चलते। विश्व को लीलूँगा कैसे कहते ? ।
आपके ये विचार नहीं जँचते। मुझे क़तई ।। ४९८ ।।

तब देव कहते सांकेतिक। मरेंगे दोनों ओर के सैनिक ।
यह तुमने स्वयं लिया देख। बाकी मरेंगे यथासमय ।। ४९९ ।।

देव का इतना कहना था। कि विश्व हो गया पूर्ववत सर्वथा ।
अर्जुन ने राहत से देखा। सब यथास्थित ।। ५०० ।।

तब कहने लगा धनुर्धर। देव आप विश्व के सूत्रधार ।
तभी आया पूर्वस्थिति पर। विश्व फिर से ।। ५०१ ।।

किन्तु जो दुःखसागर में गिरे। वे आपने ही उबारे ।
यह आपकी ख्याति मेरे। मन में आती ।। ५०२ ।।

उसे याद करते बार-बार। मनाता हूँ महासुख का त्यौहार ।
हर्षामृत के कल्लोलों पर। लोट-पोट होता हूँ ।। ५०३ ।।

जागा पुनः जीवन का भाग। अतः जग का आपसे अनुराग ।
दुष्टविनाश का योग। होता केवल आपसे ।। ५०४ ।।

त्रिभुवन के सभी राक्षस। आपसे डरते हृषिकेश ।
भाग जाते चतुर्दिक्। दूर दिसावर में ।। ५०५ ।।

यहाँ सुर, नर, सिद्ध, किन्नर। यही क्यों, सारा चराचर ।
आपके दर्शन से हर्षविभोर। वंदन करता ।। ५०५ ।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।। ३७ ।।

ये सारे राक्षणगण। बिना किये पगवंदन ।
भाग जाते नारायण। पता नहीं क्यों ? ।। ५०७ ।।

भला यह क्या पूछने की बात। इतना तो हमें भी ज्ञात ।
कि अँधेरा नहीं रहत । सूर्योदय होते ।। ५०८ ।।

आप आत्मप्रकाश के आगर। हमारे लिये हो गोचर ।
अतः सारे निशाचर। नष्ट कूड़े जैसे ।। ५०९ ।।

इससे इतने दिनों हम। अनजान थे आत्माराम ।
अब आपकी महिमा अनुपम। आयी समझ में ।। ५१० ।।

ासजिससे सृष्टियों की पंक्तियाँ। प्राणिमात्र की वल्लरियाँ ।
फैलती वह महामाया। उपजी आपकी इच्छा से ।। ५११।।

आप निस्सीम तत्त्व शाश्वत। आप निस्सीम गुण अनंत ।
निस्सीम साम्यदशा नित्य। और देवाधिदेव ।। ५१२।।

आप त्रैलोक्यजीवन। अविनाशी जगत्कारण ।
व्यक्त-अव्यक्त से अतीत। आप देव सदाशिव ।। ५१३।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।। ३८ ।।

आप प्रकृति पुरुष से आद्य हो। महातत्व के अन्त भी हो ।
फिर भी आप अजन्मा हो। इतने पुरातन ।। ५१४।।

आप सकल विश्व का जीवन। जीवों के परमनिधान ।
भूत-भविष्य का ज्ञान। आपके ही हाथों में ।। ५१५।।

देव आपका पा कर दर्शन। श्रुतियों के भी तृप्त लोचन ।
आप ही हैं आश्रयस्थान। त्रिभुवन के आश्रय का। ।। ५१६।।

अतः आप हैं सबसे परम। आपको ही कहें परमधाम ।
आपमें ही परब्रह्म। विलीन कल्पान्त में ।। ५१७।।

आपने ही देव, सारा। फैलाया यह विश्व-पसारा ।
कौन बखाने हे परमेश्वर। आपका रूप अनन्त ।। ५१८।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।। ३९ ।।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।। ४० ।।

कौन वस्तु है जो आप न हो ? । कौन स्थान है जिसमें न हो ? ।
आप जैसे जहाँ होते हो। नमस्कार लो ।। ५१९ ।।

हो ईश्वर वायु अनंता। आप यम-नियमन के कर्त्ता ।
प्राणिमात्र में वास करता। अग्नि हो आप ही ।। ५२० ।।

आप वरुण, आप सोम। आप निर्माता, आप ब्रह्म ।
पितामह के भी परम—। पिता विश्वजन के ।। ५२१ ।।

और भी जो-जो व्यक्त। अथवा जो है अव्यक्त ।
विश्व में जहाँ भी व्याप्त। उसे प्रणाम मेरा ।। ५२२ ।।

मन को कर यों भक्तिपूर्ण। पांडुसुत ने किया नमन ।
कहता प्रभो दयाघन। नमस्ते नमस्ते ।। ५२३ ।।

बार-बार कर अवलोकन। श्रीकृष्ण की मूर्ति संपूर्ण ।
कहता प्रभो दयाघन। नमस्ते नमस्ते ।। ५२४ ।।

कर अंग प्रत्यंग विलोकन। प्रसन्न हो गया उसका मन ।
कहता प्रभो दयाघन। नमस्ते नमस्ते ।। ५२५ ।।

चर-अचर छोटा महान। सबको रूप में देख अर्जुन ।
कहता प्रभो दयाघन। नमस्ते नमस्ते ।। ५२६ ।।

ऐसे अनंत रूप अद्भुत। देख कर अर्जुन चकित ।
कहे बार-बार जोड़ हाथ। नमस्ते प्रभो नमो नमः ।। ५२७ ।।

और स्तवन न सूझता। शान्त बैठा भी न जाता ।
प्रेम से बस यही दोहराता। नमस्ते प्रभो नमो नमः ।। ५२८ ।।

इसविध वहाँ अर्जुन। अनेक बार करता नमन।
पुनश्च करबद्ध कहता वचन। नमन है सम्मुख ।। ५२९ ।।

न जाने आपका पेट कहाँ। पीठ भी पता नहीं कहाँ ?।
हो न हो रखता मैं ललाट यहाँ। भले हो विन्मुख ।। ५३० ।।

आप मेरे पीछे सदा ही। अतः विन्मुख कहता हरजाई।
तत्त्वतः आप जग माहीं। न सम्मुख न विन्मुख ।। ५३१ ।।

इन अवयवों की आपके। कौन गिनती कर सके ?।
देव सर्वात्मक रूप के। नमो नमस्ते नमो नमः ।। ५३२ ।।

देव आपका बल अनन्त। पराक्रम भी अपरिमित।
कालजयी हो सर्वत्र। नमो नमस्ते नमो नमः ।। ५३३ ।।

होता सभी रिक्त स्थानों में। आकाश अवकाश रूप में।
वैसे आप चराचर में। सर्वात्मकता से हो ।। ५३४ ।।

क्षीरार्णव में कल्लोल। होते क्षीर के ही केवल।
वैसे इस विश्व में अखिल। होते हो आप ही ।। ५३५ ।।

इसलिये हे दयाघन। आप किसी से नहीं भिन्न।
अनुभव करता हूँ अभिन्न। सर्वोपरि सर्व हो ।। ५३६ ।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।। ४१ ।।

आपकी ऐसी महानता। मैं कभी न था जानता।
आपको नाते में मानता। पेश आता रहा ।। ५३७ ।।

यह बहुत ही बुरा हुआ। हाय अमृत से सिंचन किया।
क्षुद्र बछड़ा मोल लिया। कामधेनु के ऐवज में ।। ५३८ ।।

पारस का पहाड़ मिला। हमने तोड़ नींव में डाला।
खेत में बाड़ा लगा डाला। कल्पतरु को काटकर ।। ५३९ ।।

चिन्तामणि की मिली खदान। मारे चंचल पशुओं को पाषाण।
वैसे आपको सामान्य मित्र जान। व्यर्थ नेह गँवाया ।। ५४० ।।

आज ही देखो न श्रीपति। यह युद्ध है छोटा अति।
इसमें आपको बनाया सारथी। यदपि हो परब्रह्म ।। ५४१ ।।

इन कौरवों के पास हमने। भेजा आपको मध्यस्थता करने।
घरेलू काम में अपने। हाय लगाया जगदीश ।। ५४२ ।।

आप योगियों के समाधिसुख। मैंने न जाना, हूँ मूर्ख।
उपरोध भाव से आपके सम्मुख। अनाप बतियाता रहा ।। ५४३ ।।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वाहमहमप्रमेयम् ।। ४२ ।।

आप विश्व के आदिकारण। किन्तु सभा में जब विराजमान।
तो मैंने रिश्तेदार जान। अनादर भी किया ।। ५४४ ।।

कभी आया आपके घर। आतिथ्य में रही कोई कसर।
तो रूठ आपसे श्रीधर। मैं लौटने चला ।। ५४५ ।।

आपने मेरे पाँव पकड़ कर। समझाया बार-बार।
मेरे हाथों ऐसा अनादर। हुआ आपका ।। ५४५ ।।

आपसे मुँह फेरे बैठता। कैसी अहंता ! क्या योग्यता ! ।
इस भूल पर हूँ पछताता। क्षमा करें देव ।। ५४७ ।।

आपसे खेला मैं पटा। कुश्ती भी रहा लड़ता।
और खूब आपसे झगड़ा। चौसर खेलने ।। ५४८ ।।

अच्छा पाने की जिद की। देव को बुद्धि की सीख दी ।
हम आपके कोई नहीं। यह भी कह दिया ।। ५४९ ।।

ऐसे अपराध बहुत किये। जो त्रिभुवन में भी न समायें ।
किन्तु अनजाने में हुए। सौगंध आपके चरणों की ।। ५५० ।।

देव, भोजन के समय पर। मैं कहाँ हूँ पूछने आ कर ।
आप लोभ जताते मुझ पर। मैं गर्व में रूठा रहता ।। ५५१ ।।

मैं आपके रनिवास में आता। निःशंक होकर खेलता ।
आपकी शैया पर था सोता। आपके पास ।। ५५२ ।।

कृष्णा कह कर किया सम्बोधन। माना अन्य यादवों समान ।
जाने को निकलते तो मार्गरोधन। किया अपनी शपथ दे ।। ५५३ ।।

मेरा आपके संग उठना-बैठना। या आपका कहा न मानना ।
अतिपरिचयवश ऐसी घटना। हुई कई बार ।। ५५४ ।।

अतः अधिक क्या बात। बताऊँ आपको अनंत ।
मैं अपराधों का समस्त। हूँ पहाड़ ही ।। ५५५ ।।

आपके समक्ष। जो अपराध हुए लक्षलक्ष ।
क्षमा करें सहस्राक्ष। मातृभाव से ।। ५५५ ।।

नदी होकर मटमैली। समुद्र से मिलने चली ।
उसे समा लेने सिवा बाहुबलि। और नहीं उपाय ।। ५५७ ।।

वैसे प्रीत या प्रमाद से। मैंने जो भी कहा आपसे ।
उसे सह लीजिये ममता से। मुकुंद श्रीहरि ।। ५५८ ।।

आपकी क्षमा से ही श्रीधर। क्षमा भूतों का आधार ।
इसलिये अब कितनी बार। करूँ क्षमायाचना ? ।। ५५९ ।।

आप हो अप्रमेय देव। शरण हूँ, पकड़ता पाँव ।
दिखा कर दया भाव। अपराध क्षमा करें ।। ५६० ।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।। ४३ ।।

महिमा आपकी अगाध। आज मन में जागा बोध।
कि चराचर का जन्मस्थान। आप ही हो ।। ५६१ ।।

हरि हर आदि जो देव सर्व। उनके आप ही परमदेव।
आदिगुरु आप ज्ञान दिव्य। वेदों को भी सिखाते ।। ५६२ ।।

आप हृदय से अति गम्भीर। आपको समान भूत मात्र।
आपके गुणों का नहीं उपमान। अद्वितीय हो ऐसे ।। ५६३ ।।

कुछ भी न आपके समान। क्यों करें यह प्रतिपादन।
आकाश जो किया निर्माण। उसमें ही जग समाया ।। ५६४ ।।

कोई दूजा आप समान। कहते लज्जित होता मन।
फिर कैसे कहें आपसे महान। और है कोई ? ।। ५६५ ।।

अतः त्रिभुवन में अपने समान। आप ही हो एक महान।
आपकी महिमा असाधारण। कही न जाती ।। ५६६ ।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।। ४४ ।।

ऐसा अर्जुन ने कह दिया। तत्काल दंडवत किया।
सात्विक भाव भर आया। भरपूर मन में ।। ५६७ ।।

हो गदगद कहता प्रभो। प्रसन्न हो, प्रसन्न हो।
अपराध सागर से उबारो। मुझे तुरन्त ।। ५६८ ।।

विश्वसखा किन्तु हमारे सम्बन्धी। अतः सम्मान न दिया कभी ।
आपको विश्वेश्वर जनता मानती। इसमें किया आश्चर्य ।।५६९।।

आप वर्णनीय, किन्तु सभा में। मेरा ही वर्णन करते रहे ।
और मैं बकता रहा क्रोध में। अधिकाधिक ।।५७०।।

ऐसे मुझसे ये अपराध। हो गये हैं अमर्याद ।
अतः मेरी रक्षा हे मुकुन्द। अब करो आप ही ।।५७१।।

ऐसी प्रार्थना करने की भी। मुझमें योग्यता है नहीं ।
किन्तु पुत्र तात से नेह की। बात करता ही है न ? ।।५७२।।

अपने पुत्र के अपराध। यदपि हो गये अगाध ।
पिता नहीं करता क्रोध। आप तात बनें मेरे ।।५७३।।

मित्र की सारी उजड्डता। मित्र शान्ति से सह लेता ।
वैसे आप मेरी अशिष्टता। कृपया सह लीजिये ।।५७४।।

प्रियवर से सम्मान की। प्रिय अपेक्षा करता नहीं ।
आपने पत्तलें उठाईं जूठन की। क्षमा करें प्रभो ।।५७५।।

प्राणप्रिय सखा से भेंट होती। तो उससे कहते आपबीती ।
कोई संकोच नहीं मानती। मति मित्र की ।।५७६।।

जिसे समर्पित शरीर मन। उस प्रियतम का होते दर्शन ।
सम्भले नहीं सम्भलता मन। पतिव्रता का ।।५७७।।

वैसे मैंने आपसे श्रीधर। बिनती की है बार बार ।
कुछ कहने को और। निमित्त मिला है ।।५७८।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।। ४५ ।।

देव आपसे आग्रह किया। विश्वरूप दिखाओ कहा।
आपने सप्रेम पूरा किया। मातु पिता ।।५७६।।

कल्पवृक्ष स्वर्ग से लाओ। मेरे आँगन में लगाओ।
खेलने के लिये ले आओ। वत्स कामधेनु का ।।५८०।।

करूँगा नक्षत्रों के पासे। उछालूँगा चन्द्र की गेंद ज़ोर से।
ये इच्छाएँ पूरी की आपने। आप हो माता ।।५८१।।

अमृत मिलता महा प्रयास से। चार मास बरसाया उसे।
पृथ्वी को जोत क्यारी-क्यारी में। बोये चिन्तामणि ।।५८२।।

ऐसा मुझे कृतार्थ किया। बहुत लाड़ प्रेम किया।।
मुझे साक्षात् जो दिखाया। सुना भी नहीं देवों ने ।।५८३।।

देखना तो दूर की बात। उपनिषद भी कर न पाये भेंट।
वह अंतरंग का रूप प्रगट। किया मेरे लिये ।।५८४।।

कल्पारम्भ से लेकर। आज की घड़ी पर्यन्त।
मेरे जितने गये बीत। पूर्वजन्म ।।५८५।।

उन सभी जन्मों में। आज याद करने पर मैंने।
ऐसे अद्‌भुत विश्वरूप में। देखा नहीं आपको ।।५८६।।

प्रांगण में इसके ईश। बुद्धि बोध को नहीं प्रवेश।
इसका स्मरण भी लेश। आज असम्भव ।।५८७।।

उसे आँखों देखने की बात। आज क्यों करें व्यर्थ।
किसी को उसका दर्शन श्रवण। पहले हुआ ही नहीं ।।५८८।।

वह विश्वरूप आपने। मुझे दिखा दिया सामने।
इसलिये हर्ष से मन में। फूला नहीं समाता हूँ ।।५८९।।

किन्तु अब है एक मुराद। कि करूँ आपसे संवाद।
आपका सहवास मिले सुखद। आलिंगन करूँ आपका ।।५९०।।

यह इसी रूप में करना चाहूँ। तो किस मुख से बातें करूँ ? ।
किस रूप को बाहों में भरूँ। अपार रूप आपका ।।५९१।।

पवन के साथ दौड़ना। गगन का आलिंगन करना ।
समुद्र में जलक्रीड़ा करना। अशक्य सर्वथा ।।५९२।।

इस विश्वरूप से श्रीधर। मुझे लग रहा बड़ा डर ।
अब एक हठ पूरा कर। समेटो यह रूप ।।५९३।।

सारी दुनिया में भ्रमण कर। विश्राम के लिये अपना घर ।
वैसे चतुर्भुज रूप गिरिधर। देखना चाहता हूँ पुनः ।।५९४।।

सभी योगों का अभ्यास। यही अनुभव करायेगा विशेष ।
किया गहन शास्त्राभ्यास। सबमें सिद्धान्त यही ।।५९५।।

हमने यज्ञ किये सकल। तब भी मिलेगा यही फल ।
तीर्थयात्राएँ सकल। इसीलिये ।।५९६।।

मैंने जोड़ा जो महापुण्य। या दिया अपार दान ।
सबका फल यही दर्शन। आपके चतुर्भुज रूप का ।।५९७।।

वही एक प्रिय है भगवान। अतः छटपटाते मेरे प्राण ।
करिये तुरन्त संकटमोचन। शरण मैं आपकी ।।५९८।।

आप जानते मनोभाव। बसाते हो अखिल विश्व ।
परमपूज्य देवाधिदेव । मुझ पर प्रसन्न होइये ।।५९९।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।। ४६ ।।

आकाश और नीलकमल। इन्हें मिला जो वर्ण नील ।
या तेजांकुरित इन्द्रनील। ऐसे घननील आप ।।६००।।

यहाँ मरकत सुगंधित। हर्ष के निकल आये हाथ।
मदन होता सुशोभित। इसके घुटनों पर खेलते ।।६०१।।

मस्तक पर रखा मुकुट। मस्तक से होता शोभित।
शृंगार भी होता भूषित। अंगकान्ति से ।।६०२।।

इन्द्रधनु की कमान में। मेघमाला गगन में।
वैसे वैजयंती गले में। सुहाती आपके ।।६०३।।

उदार कौमोदकी गदा। असुरों के लिये मोक्षदा।
कितनी सौम्य तेजस्विता। सुदर्शन-चक्र की ।।६०४।।

वही रूप देखने स्वामी। आतुर हूँ मैं अनुगामी।
अतः धरिये अन्तर्यामी। वही रूप मनोहर ।।६०५।।

देख विश्वरूप का उत्सव। तृप्त हुए नयन देव।
उन्हें हो रहा है चाव। कृष्ण मूर्ति देखने का ।।६०६।।

उस कृष्णरूप के बिन। अन्य इच्छा न करते लोचन।
यह विश्वरूप भी लगता हीन। कृष्णरूप से उन्हें ।।६०७।।

श्रीकृष्ण आपकी मूर्ति। वही हमारी भक्ति मुक्ति।
अतः धरिये वही आकृति। समेटिये विश्वरूप ।।६०८।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

सुनकर अर्जुन की बात। विश्वरूप कहता चकित।
तुम्हारे जैसा अविचारी पार्थ। देखा न था कभी ।।६०९।।

अरे तुमने जो पाया अद्भुत। उससे नहीं हो सन्तुष्ट ।
व्यर्थ हो कर भयभीत। बकवास कर रहे हो ।। ६१० ।।

हम होते जिस पर प्रसन्न। उसे करते देह अर्पण ।
किन्तु हमारा अन्तःकरण। नहीं मिलता किसे ।। ६११ ।।

आज तुमपर अन्तःकरण। हो गया मेरा प्रसन्न ।
तभी किया यह रूप धारण। आत्मबल से ।। ६१२ ।।

न जाने कैसे भर आया। प्रेम से तुम्हारे लिये जिया ।
गौप्य खोल कर रख दिया। केवल तुम्हारे लिये ।। ६१३ ।।

यह अपार से भी अपार। स्वरूप मेरा परात्पर ।
कृष्णादिक अवतार। हुए यहीं से ।। ६१४ ।।

यह ज्ञान का तेज विशुद्ध। विश्वात्मक है प्रबुद्ध ।
यह अविचल है अनंत। आद्य सभी का ।। ६१५ ।।

इसे तुम्हारे पहले। न देखा सुना किसी ने ।
है किसी भी साधना से। यह दुर्लभ सर्वथा ।। ६१६ ।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।। ४८ ।।

इसे जानने जो गये। वे वेद मौन हो गये ।
यज्ञ वापस आ गये। स्वर्ग से लौट कर ।। ६१७ ।।

साधकों ने देखा प्रयास। छोड़ दिया योगाभ्यास ।
शास्त्र पठन को नहीं आस। इसकी प्राप्ति की ।। ६१८ ।।

श्रेष्ठता के गर्वधर। सत्कर्म गये दौड़ कर ।
पहुँचे अत्यंत थक कर। सत्यलोकपर्यन्त ।। ६१९ ।।

देख इसका अद्भुत ऐश्वर्य। तप ने खोया अपना धैर्य।
भगवत्प्राप्ति का कार्य। दूर रह गया ।। ६२० ।।

अनायास यह रूप। तुमने देखा यहाँ अनूप।
इस मनुष्यलोक में यह रूप। किसीने न देखा ।। ६२१ ।।

इसकी सारी सम्पदा के। अधिकारी हो तुम अकेले।
ब्रह्मा ने भी कभी इसके। दर्शन पाये नहीं ।। ६२२ ।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यतेपभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ।। ४९ ।।

इस विश्वरूप से डरो नहीं। धन्यता मानो मन माहीं।
इससे उत्कृष्ट कुछ नहीं। जानो यह सत्य ।। ६२३ ।।

अरे अमृत से समृद्ध। सहसा सामने दिखे समुद्र।
क्या डूबने के भय से प्रबुद्ध। छोड़ जायेगा उसे ? ।। ६२४ ।।

अथवा दिखे स्वर्ण गिरिवर। कैसे ले जायें उठाकर।
इस चिन्ता में उसे टार। क्या चला जाता कोई ? ।। ६२५ ।।

चिन्तामणि धारें गलें में। या बोझ मान फेंके कूड़े में ?।
क्या कामधेनु का दान करें। पोषण दूभर जान कर ।। ६२६ ।।

क्या गर्मी पहुँचाता कह कर। घर आये चंद्र को करें बाहर ?।
या परछाई बनाता कहकर। सूर्य को हकालें ? ।। ६२७ ।।

वैसे, यह ऐश्वर्य महा तेज। तुम्हारे हाथ आया सहज।
फिर मन में यह उथल-पुथल। हो ही क्यों ? ।। ६२८ ।।

अरे गँवार ही हो तुम वैसे। क्या गुस्सा करूँ तुमसे।
काया के बजाय छाया से। करते हो आलिंगन ।। ६२९ ।।

मेरे चतुर्भुज रूप का। तुम्हें आकर्षण गजब का ।
किन्तु वह नहीं है कृष्ण का। रूप वास्तव में ।। ६३० ।।

अब भी तजो मेरे भ्राता। उस चतुर्भुज रूप में आस्था ।
इस विशाल रूप में अनास्था। धरो नहीं ।। ६३१ ।।

यह रूप यदपि भयंकर। उपजाता हो बहुत डर ।
अपनी आस्था अपार। रखो इसी में ।। ६३२ ।।

अर्जुन, जैसे कृपण। सम्पत्ति में लगाये मन ।
करता है आचरण। केवल तन से ।। ६३३ ।।

अथवा जैसे पक्षिणीी। होती गगनविहारिणी ।
किन्तु घरोंदे पर रहती बनी। उसकी दृष्टि पिल्लों पर ।। ६३४ ।।

या गाय चरती पहाड़ पर घास। चित्त घर में वत्स के पास ।
वैसे इस विश्वरूप में पार्थ। चित्त हो तुम्हारा ।। ६३५ ।।

रख कर भाव सतही। भोगो सुरम्य सुख जग माहीं ।
चतुर्भुज श्रीमूर्ति का यही। उपयोग पार्थ ।। ६३६ ।।

किन्तु बार-बार कहूँगा यही। मेरे सन्देश को भुलाओ नहीं ।
कि सद्भाव को दूर करो नहीं। विश्वरूप से ।। ६३७ ।।

इसे पहले कभी न देखा था। तभी मन में भय उपजा था ।
उसे छोड़ो, रखो भ्राता। प्रेम निरन्तर ।। ६३८ ।।

फिर कहता विश्वतोमुख। तुम्हारी बात स्वीकार सहर्ष ।
अब देखो फिर से स-सुख। चतुर्भुज रूप मेरा ।। ६३९ ।।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।। ५० ।।

ही उसी क्षण। मानव बना श्रीकृष्ण।
चमत्कार का कराया दर्शन। भक्त प्रेम के लिये ।। ६४० ।।

परब्रह्म विशुद्ध श्रीकृष्ण। दिखाता विश्वरूप निधान।
किन्तु उससे न हुआ प्रसन्न। अर्जुन भक्त ।। ६४१ ।।

वस्तु ले कर त्याग दें। या रत्न को दोष दें।
कन्या देख कर कह दें। पसंद नहीं ।। ६४२ ।।

दुर्लभ विश्वरूप दिखाया। यों महाप्रेम जताया।
और तत्वज्ञान भी समझाया। सार संक्षेप में ।। ६४३ ।।

सोने की सिल्ली काट कर। आभूषण दिया बनाकर।
नापसंद कह दिया जाने पर। वापस बनायी सिल्ली ।। ६४४ ।।

वैसे कृष्णरूप को छोड़ कर। विश्वरूप लिया था धर।
फिर स्वरूप में आया गिरिधर। शिष्यप्रेम के लिये ।। ६४५ ।।

शिष्य के लिये उठायें क्लेष। ऐसे गुरू होते किस देश ?।
न जाने कैसा प्रेम हृषिकेश। करता, कहे संजय ।। ६४६ ।।

फिर सकल विश्व में अपना। जो दिव्य तेज था फैला।
उसे वापस समेट लिया। कृष्णरूप में ।। ६४७ ।।

जैसे जीवरूप समस्त। परमात्मतत्त्व में समाहित।
या वृक्षरूप बीजकण में प्रविष्ट। रहता है ।। ६४८ ।।

जैसे स्वप्न का पसारा। जागृति में लोपता सारा।
विश्वरूप का विस्तार सारा। वैसे खींचा कृष्णरूप में ।। ६४९ ।।

या जैसे प्रभा सूर्यबिम्ब में। मेघमाला आकाश में।
या ज्वार समुद्र में। होते विलीन ।। ६५० ।।

रम्य आकृति कृष्णरूप की। तह उसमें विश्वरूप की।
वांछा पूरी करने पार्थ की। खोल कर दिखा दी ।। ६५१ ।।

किन्तु जिस ग्राहक को दिखाया। उसे रंग, आकार नहीं भाया ।
अतः वापस रख दिया। फिर से तह जमा कर ।। ६५२ ।।

वह महारूप इतना फैल गया। उसने सारा विश्व व्याप लिया ।
इसलिये वापस धारण किया। सौम्य रूप सुंदर ।। ६५३ ।।

भक्त अर्जुन था भयग्रस्त। उसे फिर से करने आश्वस्त ।
लेता विश्वरूप अनंत। रूप लघु ।। ६५४ ।।

जो स्वप्न में स्वर्ग गया। वह अचानक जाग गया ।
वैसे अत्यंत विस्मय किया। अर्जुन ने ।। ६५५ ।।

या सद्गुरु प्रसन्न होता। तो प्रपंचबोध लोपता ।
परमात्मज्ञान प्रस्फुटित होता। वैसी दशा अर्जुन की ।। ६५६ ।।

विश्वरूप की उठी यवनिका। मेरा कृष्ण मुझे दिखा ।
ऐसे अर्जुन ने सोचा। यह ठीक ही हुआ है ।। ६५७ ।।

काल को जीत आवे। आँधी के पार निकल आवे ।
या सागर तैर पार कर जावे। अपने हाथों से ।। ६५८ ।।

गगन में सूर्यास्त होते। तारे नक्षत्र दिखायी देते ।
वैसे अर्जुन को दिखते। पृथ्वीसमेत लोक ।। ६५९ ।।

फिर वही था कुरुक्षेत्र। वे ही गोत्रज थे सर्वत्र ।
एक दूसरे पर शस्त्रास्त्र। चलाने को सिद्ध ।। ६६० ।।

तीर-वर्षा के मँडवे में। रथ वैसा ही खड़ा एकान्त में ।
बैठा लक्ष्मीकान्त धुरे पे। स्वयं नीचे खड़ा ।। ६६१ ।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। ५१ ।।

रूप देखना चाहा जैसा। देखा अर्जुन ने फिर वैसा।
जान बची लगा ऐसा। उसे उस समय ।। ६६२ ।।

मति मारी गयी थी भय से। वन में ज्ञान भटका था पथ से।
मन भारी अहंकार से। गया था दिसावर को ।। ६६३ ।।

इन्द्रिय-व्यापार थम गये थे। वाणी के तोते उड़ गये थे।
ऐसे अराजक मच गये थे। मेरे शरीर ग्राम में ।। ६६४ ।।

अब अराजक हुआ निरस्त। जीवन सुस्थिर आश्वस्त।
कृष्ण का पाया वरदहस्त। जान बची मेरी ।। ६६५ ।।

भूले शिशु को शान्त कर। माता कराती स्तनपान।
वैसे मनुष्य रूप दिखाकर। शान्त किया चित्त मेरा ।। ६६६ ।।

यों मन ही मन प्रसन्न। होकर कृष्ण से कहे अर्जुन।
मनुष्य रूप धारण कर। मुझे बचाया आपने ।। ६६७ ।।

उस विश्वरूप के सागर में। था डूबता-उतराता लहरों में।
अब लग गया तैर कर किनारे। चतुर्भुज मूर्ति के ।। ६६८ ।।

वृक्ष सूखता चला था। उस पर मेघ ने की बरखा।
वैसे यह दर्शन आपका। लगा द्वारकाधीश ।। ६६९ ।।

प्राण प्यास से व्याकुल हो। और अमृत सागर से भेंट हो।
वैसे आपका दर्शन महाबाहो। विश्वास जगा गया ।। ६७० ।।

मेरे हृदय आँगन माहीं। हर्ष लता की हुई रोपाई।
सुख की छाँव लौट आयी। मेरी मेरे पास ।। ६७१ ।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।। ५२ ।।

सुन कर अर्जुन के वचन। कृष्ण कहे 'यह कैसा भाषण'।
तुम्हारे प्रेम का मुख्य स्थान। विश्वरूप ही हो ।।६७२।।

और मेरी इस मूर्ति पर। प्रेम हो केवल ऊपरी-ऊपर।
क्या भूल गये धनुर्धर। मेरी सीख को ? ।।६७३।।

सोने का मेरू पर्वत। आये अन्धे के हाथ।
उसे लगता शिलापर्वत। अज्ञानवश ही ।।६७४।।

यह विश्वरूप मैंने। प्रगट किया तुम्हारे सामने।
जो दिखता नहीं तप से। प्रत्यक्ष शंभु को भी ।।६७५।।

अष्टांग योग की साधना। करते योगी महामना।
किन्तु उन्हें भी दर्शन अर्जुना। होता न विश्वरूप का ।।६७६।।

उस विश्वरूप का अल्प ही। दर्शन मिले कभी न कभी।
ऐसी चिन्ता करने में ही। आयु समाप्त देवों की ।।६७७।।

अर्जुन आशा की अंजलि। हृदयसम्पुट में रख सम्भाली।
मेघों की प्रतीक्षा चातक मंडली। करती आतुर हो जैसे ।।६७८।।

वैसे उत्कण्ठा-निर्भर होकर। सारे मुनि और सुरवर।
इच्छा करते आठों पहर। जिसके दर्शन की ।।६७९।।

वह विश्वरूप अर्जुन। स्वप्न में भी न देता दर्शन।
वह आज तुम्हारे लोचन। अनायास कर गये ।।६८०।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।। ५३।।

करने इस विश्वरूप का दर्शन। सर्वथा कोई उपाय न।
तभी समेत छहों दर्शन। वेद लौटते हार कर ।।६८१।।

उस विश्वरूपपर्यन्त। पहुँचने में अति अशक्त।
तप सारे परावृत। होते इसीलिये ।।६८२।।

नाना प्रकार के दान देकर। अथवा बड़े यज्ञयोग कर ।
न होता विश्वरूप दर्शन। जो तुमने किया सुख से ।। ६८३ ।।

किन्तु इहलोक में इसका उपाय। एक भक्ति ही, धनंजय ।
वह चित्त के गले में चिन्मय। डाले वरमाला ।। ६८४ ।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। ५४ ।।

मेघ से निकलती पर्जन्यधारा। भूमि के बिन उसे न चारा ।
वैसे भक्ति हो अपरा। ईश्वर में ।। ६८५ ।।

सारी जलसम्पदा लेकर। गंगा जाती सागर की ओर ।
और उसमें ही विलीन हो कर। रहती जैसे ।। ६८६ ।।

वैसे सभी प्रेमभाव लेकर। जो लाता भक्ति भर-भरकर ।
वह मुझमें विलीन हो कर। मद्रूप हो जाता ।। ६८७ ।।

जैसे क्षीरसागर तट पर। अरि मध्य में भी होता मधुर ।
सर्वत्र एक-सा स्थान-स्थान पर। मैं हूँ वैसे ।। ६८८ ।।

मुझसे ले कर चींटी पर्यन्त। चराचर में व्यक्त ।
जो न पाते कोई द्वैत। भजन के लिये ।। ६८९ ।।

ऐसी मति होती जिस क्षण। मेरा ज्ञान होता तत्क्षण ।
ज्ञान होते ही यह दर्शन। होगा अपने आप ।। ६९० ।।

अग्नि ईन्धन से होता प्रदीप्त। फिर ईधन शब्द होता लुप्त ।
वह सकल अर्थ में है होवत। ईन्धनस्वरूप ।। ६९१ ।।

सूर्य-चन्द्र का उदय नहीं। तब तक जो तम में ही ।
वह आकाश उदय होते ही। होता प्रकाशमान ।। ६९२ ।।

वैसे करते मेरा साक्षात्कार। नष्ट होता अहंकार ।
अहंकार का होते संहार। द्वैत लोप हो जाता ।। ६९३ ।।

फिर मैं, तू, यह विश्व, सकल। भेद नष्ट होते अमंगल।
मेरे स्वरूप में तत्काल। भक्त एकरस होता ।।६९४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।। ५५।।

जो केवल मेरे लिये ही। सभी कर्म करता भाई।
मेरे सिवा चीज़ कोई। भाती नहीं जिसे ।।६९५।।

इह पर लोक में सकल। जिसके सुख-दुख में ही केवल।
मुझे ही अपने जीवन का फल। माना जिसने ।।६९६।।

पशु-पक्षी, ये शब्द भुलाता। सबमें मुझे ही देखता।
इसीलिये जो निर्वैर होता। और भजता मुझे ।।६९७।।

ऐसा जो मेरा भक्त होता। वह जब अपनी देह छोड़ता।
तो मुझमें ही समा जाता। जानो धनंजय ।।६९८।।

जिसके उदर में त्रिभुवन। वाणी करुणा रसपूर्ण।
वह श्रीकृष्ण बोला ऐसे वचन। संजय कहे धृतराष्ट्र से ।।६९९।।

इस पर वह सुभद्राकान्त। हुआ आनन्द-धन से श्रीमंत।
जो अद्वितीय कृष्णभक्त। अखिल जगत में ।।७००।।

उसने देव के दोनों रूप। ध्यानपूर्वक निहारे अनूप।
फिर विश्वरूप से कृष्णरूप। प्रशस्त लगा उसे ।।७०१।।

किन्तु उसका यह अभिमत। नहीं था देव को सम्मत।
निस्सीम व्यापक से सीमित। प्रशस्त कैसे ? ।।७०२।।

अपने मत के समर्थन में। अर्जुन को श्रीकृष्ण ने।
उपपत्तियाँ बतायीं सहज में। दो-एक ।।७०३।।

उन्हें सुन कर अर्जुन। सोचने लगा मन ही मन।
दोनों रूपों में श्रेष्ठ कौन। यही अब पूछ लूँ ।।७०४।।

मन में कर ऐसा विचार। श्रीकृष्ण से धनुर्धर ।
क्या प्रश्न करेगा वहाँ पर। सुनिये आगे ।।७०५।।

रच कर ओवियाँ सुगम सुरीली। सुनाऊँगा मैं रसीली ।
सुनिये यही विनयांजलि। ज्ञानदेव की ।।७०६।।

सद्भाव अंजलि में भर कर। ओवियों के फूल सुन्दर ।
रखे विश्वरूप के चरणों पर। भक्तिभाव से ।।७०७।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
विश्वरूपदर्शनयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय ग्यारहवाँ ।।

।। अध्याय बारहवाँ ।।

हे गुरु कृपादृष्टि देवता। तू शुद्ध उदार माता।
आनन्दपर्व प्रख्याता। जय जय जय ।। १ ।।

यह विषयसर्प की जकड़न। जिनको लाती मूर्च्छन।
उनके विष का निवारण। करती हो कटाक्ष मात्र से ।। २ ।।

आपकी कृपा का महापूर। आता जिस किसी पर।
उसे शोकताप जर्जर। करेंगे कैसे ? ।। ३ ।।

मनोरथ अष्टांगयोग सुख के। पूरे करती हो भक्तों के।
हठ 'सोऽहं' प्रतीति के। निभाती हो सभी ।। ४ ।।

आधारशक्ति के अंक पर। चिदाकाश के झूले पर।
झूला-झुलाती कौतुक कर। सुलाने भक्तों को ।। ५ ।।

आत्मज्योति से आरती उतारती। मन-प्राणों के खिलौने देती।
और आत्मसुख के पहनाती। गहने भक्तों को ।। ६ ।।

अमृतानुभव का दूध पिलाती। अनाहत की लोरी गाती।
समाधिबोध से हो सुलाती। भक्त शिशु को ।। ७ ।।

अतः हो साधकों की माता। सारस्वत तव चरणों में फलता।
इसीलिये छाया न छोड़ता। माँ तुम्हारी ।। ८ ।।

हे गुरुकृपादृष्टि माता। जो तेरी करुणा पाता।
वह सकल विद्यानिर्माता। हो जाता है ।। ९ ।।

अतः हे श्रीमते माता। भक्तजनों की कल्पलता।
गीता निरूपण की आज्ञा। दो मुझे ।। १० ।।

माँ, नवरसों के सागर। उचित रत्नों के आगर।
और भावार्थ के गिरिवर। यहाँ निर्माण करो ।। ११ ।।

साहित्य सुवर्ण की खानें। खोलो स्वभाषा के आँचल में।
विवेक वल्लरियों के घने। उपवन लगाओ यही ।। १२ ।।

प्रमेयों के उद्यान सुन्दर। जिनमें सम्वाद के फल मधुर।।
भरपूर और निरन्तर। लगाओ यहाँ ।। १३ ।।

कगार पाखंडी मतों के। चोरमार्ग वितंडावादों के।
और हिंस्र पशु कुतर्कों के। यहाँ से नष्ट करो ।। १४ ।।

श्रीकृष्ण का करते गान। मुझे सदैव करो प्रवण।
और श्रोताओं को मिले। श्रवण– सुख का साम्राज्य ।। १५ ।।

इस स्वभाषानगर में सदा ही। समृद्धि रहे ब्रह्मविद्या की।
लेन-देन जिसमें सुख की। हो ऐसा ही व्यापार ।। १६ ।।

आँचल अपनी कृपा का। ओढ़ा दो मुझे नेह का।
तो अभी मधुर निरूपण का। करूँगा प्रारम्भ ।। १७ ।।

सुन कर यह प्रार्थना। सद्गुरु कहते ज्ञाना।
पर्याप्त है प्रस्तावना। करो गीतार्थ निरूपण ।। १८ ।।

अहाहा! मिला प्रसाद। यों व्यक्त हुआ आह्लाद।
फिर ज्ञानेश दे कर दाद। करता गीता-निरूपण ।। १९ ।।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। १ ।।

तब सकल वीरों का अधिराज। जो सोमवंश का विजयध्वज।
कहने लगा आत्मज। पंडु नृप का ।। २० ।।

अपने विश्वरूप का कृष्ण। कराया जो आपने दर्शन।
उससे भयभीत था भीपण। चित्त मेरा ।। २१ ।।

मुझे आदत इस कृष्ण रूप की। इसलिये मन में प्रतीति उसकी।
किन्तु आपने ही मनाही की। उस समय देव ।। २२ ।।

व्यक्त अथवा अव्यक्त। दोनों आपके ही रूप निश्चित।
भक्तियोग से मिलता व्यक्त। अव्यक्त ज्ञानयोग से ।। २३ ।।

आपकी प्राप्ति के भगवंत। भक्ति, ज्ञान दोनों पथ।
दो द्वार चलते मिलत। साकार निराकार के ।। २४ ।।

जो कसौटी सौ रंच की। वही एक रत्ति सोने की।
अतः व्यापक और अव्यापक की। एक-सी महत्ता ।। २५ ।।

अमृत के सागर में भगवंत। जो सामर्थ्य है अत्यंत।
वही चुल्लूभर भी अमृत। रखता है जैसे ।। २६ ।।

मेरे चित्त में वाकई। अनुभूति थी यही।
हे योगेश, फिर भी। एक बात पूछता हूँ ।। २७ ।।

मेरी जिज्ञासा है अपार। आपने अभी जो विश्वाकार।
धारण किया था पल भर। सत्य था या मिथ्या ? ।। २८ ।।

जो कर्म करता आपके निमित्त। आपही जिसके परम वित्त।
आपकी भक्ति पर जिसने चित्त। वार दिया अपना ।। २९ ।।

इस प्रकार, हे श्रीहरि। जिन भक्तों ने सर्वोपरि।
आपकी मूर्ति मन में धरी। और की उपासना ।। ३० ।।

और जो ॐकार के पार। वाचा के लिये अगोचर।
जिसकी तुलना है दुष्कर।. अन्य किसी से ।। ३१ ।।

जो अविनाशी अव्यक्त। अनाम और स्थानरहित।
जिसकी उपासना में रत। सोऽहं भाव से ज्ञानयोगी ।। ३२ ।।

ऐसे भक्त ऐसे ज्ञानी। इन दोनों साधकों माहीं।
योग किसने जाना साईं। बताइयेगा ।। ३३ ।।

सुन कर अर्जुन की बात। श्रीकृष्ण मन में सन्तुष्ट।
कहते प्रश्नकला तुम्हें ज्ञात। उत्कृष्ट अर्जुन ।। ३४ ।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये माँ नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। २ ।।

सूर्यास्त में किरणें सूर्य की। उसके पीछे-पीछे जातीं।
वैसे मन-मति जिसकी। दौड़ती मेरी ओर ।। ३५ ।।

अथवा वर्षा ऋतु में सरिता। बाढ़ से फूलती भ्राता।
वैसे जिसकी बढ़ती श्रद्धा। नित्य भक्ति करते ।। ३६ ।।

या समुद्र संगम होने पर भी। जिसमें ऊँची लहरें उठतीं।
प्रेमभाव उस गंगासम ही। उमड़ता जिसका ।। ३७ ।।

यों सभी इन्द्रियों समेत। मुझमें ही लगा कर चित्त।
मेरी उपासना अखंडित। करता जो ।। ३८ ।।

ऐसे करते आत्मसमर्पण। मुझमें ही जो भक्तगण।
परमश्रेष्ठ योगीजन। मानता हूँ उन्हें ।। ३९ ।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।। ३ ।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।। ४ ।।

मेरे जो भक्त इनसे भिन्न। सोऽहं भाव पर कर आरोहण।
उपासना निराकार निर्गुण। ब्रह्म की करते हैं ।। ४० ।।

जहाँ मन प्रवेश न पाता। बुद्धि को दर्शन भी न मिलता।
वहाँ इन्द्रियों को भ्राता। प्रवेश मिले कैसे ? ।। ४१।।

जिसका निश्चित आकार नहीं। कोई निश्चित स्थान नहीं।
अतः जो ध्यानयोग से भी। अगम्य है धनुर्धर ।। ४२।।

जिसका अस्तित्व सभी स्थानों में। नित्य है सभी रूपों में।
जिसकी प्राप्ति होते ही पल में। चिन्तन होता कुंठित ।। ४३।।

जो होते हुए भी नहीं है। न होते हुए होता है।
अतः कोई उपाय नहीं है। जिसकी प्राप्ति का ।। ४४।।

जो न चर है न अचर। जो न मलिन न ही भंगुर।
ऐसे ब्रह्म को स्वबल पर। किया स्वाधीन जिसने ।। ४५।।

विषयरूप सेना सारी। वैराग्य अग्नि में जला डारी।
फिर जिसने धैर्य से धारी। झुलसी इन्द्रियाँ ।। ४६।।

संयम पाश से बाँधकर। विषयों से खींचकर।
हृदय-पेटी में बंद कर। इन्द्रिया रखीं जिसने ।। ४७।।

अपान द्वार से सटा कर। दृढ़ आसन मुद्रा लगा कर।
मूलबंध का दुर्ग, वीर। बाँधा सुदृढ़ जिन्होंनें ।। ४८।।

बंधन तोड़े आशा के। तट गिराये अधीरता के।
अंध पटल निद्रा के। हटाये दूर सर्वथा ।। ४९।।

ज्वालाओं से योगाग्नि की। होली की अपान धातु की।
व्याधि मस्तकों से दागीं। प्राणायाम की तोपें ।। ५०।।

फिर मशाल कुंडलिनी की। आधार-चक्र पर खड़ी की।।
आलोकित ब्रह्मरंध्र तक की। राह उसकी प्रभा से ।। ५१।।

द्वारों के कपाट पर। संयम की कुंडी चढ़ाकर।
केवल सुषुम्ना ड्योढ़ीद्वार। खोल दिया जिन्होंने ।। ५२।।

संकल्प बकरे को मारकर। मन-महिष का मस्तक काटकर ।
प्राणशक्ति की चामुंडा पर। जिन्होंने चढ़ायी बलि ।। ५३ ।।

इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना मिलाकर। करते अनाहत का गजर ।
सत्रहवीं कला का पानी उतार। जो आगे बढ़ता ।। ५४ ।।

फिर सुषुम्ना के मध्य विवर। आते जो सोपान चढ़ कर ।
पहुँच जाते शिखर पर। ब्रह्मरंध्र के ।। ५५ ।।

मकार सोपान चढ़ते। गहन अंत तक पहुँचते ।
मूर्ध्नि-आकाश को बगल देते। ऐक्य पाते ब्रह्म से ।। ५६ ।।

ऐसे जो समबुद्धि। पाते को सोऽहं सिद्धि ।
दुर्घट योग की संसिद्धि। प्राप्त कर लेते ।। ५७ ।।

एवज में देते अपने आपको। सायास पाते शून्य ब्रह्म को ।
वे भी प्राप्त होते मुझको। जानो किरीटी ।। ५८ ।।

इस मार्ग से ब्रह्म तो मिलता। किन्तु उसमें कष्ट बहुत होता ।
इससे अधिक योग से, भ्राता। कुछ मिलता नहीं ।। ५९ ।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। ५ ।।

जो सकल भूतों का परमहित। निरालम्ब और अव्यक्त ।
उसे बिना भक्ति के प्राप्त। करना चाहते जो ।। ६० ।।

उनके पथ में महेन्द्रादि पद। ऋद्धि-सिद्धियों के द्वंद्व ।
बाधाएं खड़ीं करते अनंत। संकटों की ।। ६१ ।।

काम-क्रोध के आवेग, पार्थ। मन माहीं है बढ़ जावत ।
शून्य आकाश को भी परास्त। करना पड़ता है ।। ६२ ।।

प्यास लगे पियें प्यास को। भूख लगे खायें भूख को ।
दिन-रात गिनें वायु को। हाथ-पाँव के नाप से ।। ६३ ।।

दिन में धूप में ही सोयें। निग्रह को ही भोगें।
और वृक्षों के संग खेलें। प्रीतम जान कर ।। ६४ ।।

परिधान करें शीत का। दुशाला ओढ़ें ग्रीष्म का।
और घर बरसात का। ढूँढ़ें आश्रयार्थ ।। ६५ ।।

अथवा पति के बिन। नित्य का अग्निगमन।
ऐसा है यह, अर्जुन। मार्ग योग का ।। ६६ ।।

यहाँ कार्य नहीं स्वामी का। ऋण नहीं पितरों का।
हमेशा पाला युद्ध का। पड़ता मरण से ।। ६७ ।।

ऐसे मृत्यु-से तीक्ष्ण ऊष्ण। विष क्या कर सकते प्राशन ?।
क्या लीलने से पाषाण। मुंह नहीं फटेगा ? ।। ६८ ।।

अतः इस मार्ग के लिये, पार्थ। जो-जो होते प्रवृत्त।
उनके भाग्य में अत्यंत। दुख ही होता है ।। ६९ ।।

लोहे के चने दंतहीन। चबाये तो क्या भूख शमन।
होगा, या जायेंगे प्राण। सोच कर देखो ।। ७० ।।

क्या जग में किसी ने धनुर्धर। हाथों से किया सागर पार ?।
या आकाश में किया संचार। पैरों चलकर ? ।। ७१ ।।

उतरते ही रणाँगण में। बिना घाव लगे तन में।
क्या कोई सूर्यलोक में। जा पायेगा ? ।। ७२ ।।

आँधी के संग दौड़ने की। शक्ति नहीं है पंगु की।
वैसे अव्यक्त में देहधारी की। नहीं होती गति ।। ७३ ।।

फिर भी जो धैर्यवंत। अव्यक्त को करने प्राप्त।
कष्ट करते अत्यन्त। पाते क्लेश ही ।। ७४ ।।

किन्तु सुनो, मेरे मीत। जो चुनते भक्ति पंथ।
उन्हें ऐसी व्यथा, कष्ट। उठाने नहीं पड़ते ।। ७५ ।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।। ६ ।।

वर्णाश्रम धर्मानुसार। प्राप्त कर्मों का आचार ।
सुखेनैव हो तत्पर। करते जो ।। ७६ ।।

विहित कर्मों को करते। निषिद्ध कर्मों को त्यागते ।
कर्मफल भी जला देते। मुझे अर्पण कर ।। ७७ ।।

इस विध सभी कर्मों को। अर्पण करने पर मुझको ।
लेशमात्र भी करने को। कर्म रहता नहीं जिनका ।। ७८ ।।

काया-वाचा-मन से अर्जुन। जो भी करना हो आचरण ।
उसमें जिन्हें मेरे बिन। आधार नहीं होता ।। ७९ ।।

ऐसे मुझमें लीन हो कर। उपासना करते निरन्तर ।
वे वास्तव में मेरा घर। हो जाते हैं ।। ८० ।।

जिन्होंने प्रेम से हृदयस्थ। मुझसे नाता जोड़ा स्वस्थ ।
स्वर्ग-मोक्ष का ऋणानुबंध। तोड़ डाला ।। ८१ ।।

किया देह, जीव और मन। अनन्य भाव से मुझे अर्पण ।
उनके मनोरथ छोटे, महान। पूर्ण करता हूँ ।। ८२ ।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। ७ ।।

जिसकी कोख से जन्म होता। अपने उर में वह माता ।
सन्तान के लिये कितनी ममता। रखती अर्जुन ? ।। ८३ ।।

वैसे, मेरे सभी भक्तजन। गुणी हों या गुणहीन ।
मैं ही करता उनका रक्षण। दंडित कर काल को ।। ८४ ।।

वैसे भी मेरे भक्त। संसार चिन्ता से रहते मुक्त ।
जिसका पति हो श्रीमंत। क्या धान माँगती फिरती ? ।। ८५ ।।

मेरा परिवार, मेरे भक्त। उन पर मुझे प्रीति नितान्त ।
उन पर आये कोई संकट। निवारण कर्तव्य मेरा ।। ८६ ।।

जन्म-मरण की लहरों पर। डगमग करता यह संसार ।
जिसे देख कर विचार। यों आया मन में ।। ८७ ।।

कि भवसागर में प्रक्षुब्ध। यदपि कुछ न इनके विपरीत ।
फिर भी मेरे प्रिय भक्त। डरते यहाँ ।। ८८ ।।

अतः मैं इनके रक्षणार्थ। नाना रूप धरकर पार्थ ।
उनके गाँव आता हूँ दौड़ कर। समय-समय पर ।। ८९ ।।

यह संसार-सागर अपार। इसको करने के लिये पार ।
सहस्त्रनामों की नावें सुन्दर। बनायी उनके लिये ।। ९० ।।

जो भक्त प्रपंच विरत। उनका बनता मैं केवट ।
अन्य को, जो प्रपंचरत। नाम-नौका में बिठाता हूँ ।। ९१ ।।

कुछ भक्तों को, किरीटी। तैरने देता हूँ प्रेम-पेटी ।
पाने को सायुज्ज मुक्ति। ले आता हूँ तट पर ।। ९२ ।।

जो हो गये मेरे भक्त। वे भले हो चतुष्पाद ।
वैकुंठ का राज्यपद। पाने पात्र बनाता उन्हें ।। ९३ ।।

अतः मेरे भक्तों को, भ्राता। सताती नहीं कोई चिन्ता ।
सदैव उनका उद्धारकर्त्ता। मैं होता हूँ ।। ९४ ।।

और जब मेरे भक्त। मुझे अर्पण करते चित्त ।
वे मुझे बनाते अनुरक्त। अपने पर ।। ९५ ।।

यह भक्तिमार्ग, भक्तराय। तुम्हें भाता हो, धनंजय ।
तो चित्त समर्पण का उपाय। करो अभ्यास से ।। ९६ ।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्व न संशयः ।। ८ ।।

तुम अपना चंचल चित्त। और बुद्धि श्रद्धायुत ।
अर्जुन, मुझे ही निश्चित। अर्पण करो ।। ९७ ।।

तुम्हारी बुद्धि और मन। प्रेम से रहेंगे मेरे बन ।
तो तुम भी विलीन। होगे मुझमें ।। ९८ ।।

मन और बुद्धि, वीर। मुझमें करेगी अपना घर ।
आप पर भाव फिर। रहेगा कैसे ? ।। ९९ ।।

जैसे बुझते ही दीप। उसका प्रकाश होता लोप ।
या सूर्यबिम्ब का प्रताप। लोपता सूर्यास्त में ।। १०० ।।

होते ही प्राणोत्क्रमण। इन्द्रियाँ भी करतीं निष्क्रमण ।
वैसे मन, बुद्धि समेत अर्जुन। अहंकार लोपता ।। १०१ ।।

अतः मन बुद्धि दोनों, मीत। रखोगे मुझमें निहित ।
तो सर्वव्यापकता कर प्राप्त। होंगे मेरे समान ।। १०२ ।।

मेरे इस कथन में कोई। अक्षर भी मिथ्या नहीं ।
अपनी शपथ से, भाई। कहता हूँ तुमसे ।। १०३ ।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।। ९ ।।

इस विध अपना चित्त। मन, बुद्धि समेत ।
मुझे सौपने में असमर्थ। पाते हो अपने को ।। १०४ ।।

तो एक करो धनुर्धर। दिन के आठों पहर ।
अपने चित्त को पल भर। लगाओ मुझमें ।। १०५ ।।

जिस क्षण तुम्हारा चित्त। मेरा सुख पायेगा, निश्चित ।
उसी क्षण विषयनिवृत्त। होगे भैया ।। १०६ ।।

जैसे आते शरद काल। नदी में घटने लगता जल ।
वैसे प्रपंच से तत्काल। हटेगा चित्त तुम्हारा ।। १०७ ।।

अथवा पूनम के बाद प्रतिदिन। चन्द्र बिम्ब होता क्षीण-क्षीण ।
अमावस की रात में विलीन। होता सर्वथा ।। १०८ ।।

वैसे विषय वासनाओं से। निकल कर धीरे-धीरे से ।
विलीन होते मुझमें पूर्णरूप से। चित्त होगा मद्रूप ।। १०९ ।।

अभ्यासयोग प्रख्यात। यही है अर्जुन निश्चित ।
इससे न होता हस्तगत। ऐसा कुछ भी नहीं ।। ११० ।।

अभ्यास से समर्थ होते। कोई अवकाश में विचरते ।
कोई वैर भाव निकाल देते। सर्प, व्याघ्र आदि का ।। १११ ।।

कोई विष भी पचा जाते। कोई समुद्र सतह पर चलते ।
कोई कंठस्थ कर लेते। वेदरूप वाग्ब्रह्म ।। ११२ ।।

अतः अभ्यास से कुछ भी। दुष्कर सर्वथा नहीं ।
इसके लिये मुझमें भाई। समा जाओ अभ्यास से ।। ११३ ।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।। १० ।।

अभ्यास योग करने पर्याप्त। तुममें नहीं हो सामर्थ्य ।
फिर भी आचरण यथास्थित। सम्भालो अपना ।। ११४ ।।

इन्द्रिय-दमन करो नहीं। उपभोग को छोड़ो नहीं ।
अभिमान भी तजो नहीं। स्वजाति का ।। ११५ ।।

कुलाचार बराबर करो। विधिनिषेध का पालन करो। ।
सर्वथा सुख से बरतो। निःसंकोच ।। ११६ ।।

किन्तु काया-वाचा-मन से। जो भी करना पड़े उसे ।
मैंने किया है, ऐसे। श्रेय न लो कदापि ।। ११७ ।।

सकल कर्मो का कौन कर्त्ता ?। या तत्त्वतः कौन अकर्त्ता ? ।
यह केवल वही जानता। जो नियंता विश्व का ।। ११८ ।।

कर्म होता अधिक-न्यून। इसका हर्ष-खेद न मान।
प्राक्तन संसारानुसार जीवन। चलने दो ।। ११९ ।।

माली मोड़ देता जिधर। जलप्रवाह जाता उधर।
वैसे कर्तृत्व, हे धनुर्धर। न मानो अपना ।। १२० ।।

फिर प्रवृत्ति-निवृत्ति का। मन-मति पर बोझ न आता।
और हृदय में मेरे चिन्तन का। भाव रहता अखंडित ।। १२१ ।।

सीधा है या टेढ़ा पथ। चिन्ता किये बिना रथ।
दौड़ता जाता सरपट। सारथी की इच्छा से ।। १२२ ।।

वैसे कर्त्ताबोध के बिन। कर्म को न मान लघु-महान।
सबको करो मुझे अर्पण। प्रेमभाव से ।। १२३ ।।

ऐसे सभी क़र्म करते हुए। भाव मुझमें लगाते हुए।
जब देहत्याग करोगे। मोक्ष पाओगे निश्चित ।। १२४ ।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। ११ ।।

यों सभी कर्म-समर्पण। लगता हो अति कठिन।
तो उससे भी आसान। साधन बताता हूँ ।। १२५ ।।

आगे पीछे कर्मबुद्धि के। आरम्भ या अंत में कर्मों के।
मुझे बाँध नहीं सके। यदि तुम अर्जुन ।। १२६ ।।

तो न सही, बला से। उसका भी न आग्रह तुमसे।
किन्तु कुछ तो निग्रह-से। हो बुद्धि में तुम्हारी ।। १२७ ।।

जब-जब भी हे अर्जुन। कर्म करोगे लघु-महान।
तो सबके फलों का समर्पण। करो मुझे ।। १२८ ।।

वृक्ष-लताएँ पके फल। छोड़ देतीं है तत्काल।
वैसे सिद्ध कर्म सकल। छोड़ो अर्जुन ।। १२९ ।।

मन में मेरा सुमिरन करो। मेरे लिये ही कर्म करो।
यह भी न कर सको, तो होने दो। कर्म शून्यवत ।। १३० ।।

चट्टान पर गिरा पर्जन्य। या अग्नि में बोया धान।
निष्फल जैसे स्वप्नदर्शन। वैसे मानो कर्म को ।। १३१ ।।

अपनी कन्या के प्रति। जैसे वासना नहीं होती।
वैसे सभी कर्मों के प्रति। तुम बनो निष्काम ।। १३२ ।।

अग्नि की ज्वाला जैसे। व्यर्थ होती आकाश में।
अपनी क्रियाओं को वैसे। शून्य में सुखाओ ।। १३३ ।।

अर्जुन, यह फलत्याग । यदपि लगे आम मार्ग।
सभी योगों में यह योग। परमश्रेष्ठ है ।। १३४ ।।

एक ही बार बाँस फलता। फिर बाँझ है हो जाता।
वैसे फलत्याग से, भ्राता। कर्म होता बाँझ ।। १३५ ।।

फिर तो इसी देह के साथ। देहप्राप्ति होती समाप्त।
जन्म-मरण का यातायात। फिर नहीं होता ।। १३६ ।।

अर्जुन, ईश्वर का ज्ञान। अभ्यासयोग से खिलता जान।
ज्ञान के बाद ध्यान। सिद्ध हो जाता ।। १३७ ।।

उस ध्यानयोग में सम्पूर्ण। मनोधर्म होते विलीन।
तो कर जाते पलायन। कर्म सभी ।। १३८ ।।

कर्म का यों लोप होता। तो कर्मफलत्याग सिद्ध होता।
फलत्याग से लाभ होता। सम्पूर्ण शान्ति का ।। १३९ ।।

अतः पाने सम्पूर्ण शान्ति। यही क्रम योग्य, किरीटी।
अभ्यास की परिपाटी। चलाओ इसलिये ।। १४० ।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। १२ ।।

अभ्यास से श्रेयस्कर। ज्ञान होता है, धनुर्धर ।
ज्ञान से भी बढ़कर। विशिष्ट ध्यान ।। १४१ ।।

हितकारी ध्यान से भी। कर्मफल का त्याग ही ।
त्याग से श्रेष्ठ जग माहीं। अनुभव शान्तिसुख का ।। १४२ ।।

ब्रह्मप्राप्ति के ये मार्ग चार। इन पर चल कर क्रमानुसार ।
जो पहुँचे शान्ति के मन्दिर। उनके लक्षण सुनो ।। १४३ ।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।। १३ ।।

जिसे सभी भूतों के प्रति। द्वेषभावना नहीं होती ।
नहीं होती चैतन्य की भान्ति। सोच अपने-पराये की ।। १४४ ।।

उत्तम को अवधारें। अधम का त्याग करें ।
ऐसा जो न कभी विचारे। धरती समान ।। १४५ ।।

राजा के तन में रहूँगा। रंक का देह छोड़ दूँगा ।
ऐसा क्या कभी कहेगा। कृपालु प्राण ।। १४६ ।।

गो के लिये होऊँ तृषाहर। व्याघ्र के लिये बनूँ जहर ।
ऐसा भेदभाव नीर। करता न जैसे ।। १४७ ।।

वैसे प्राणिमात्र के प्रति। जिसके मन में एकसी मैत्री ।
ऐसी कृपा की मूर्ति। स्वयं बना जो ।। १४८ ।।

'हम' 'तुम' की बोली न बोलता। ममत्व की आसक्ति न रखता ।
सुख दुख की कल्पना न करता। जिसका मन ।। १४९ ।।

पृथ्वी समान अपार। क्षमा को लेता धार ।
जिसने अपनी गोद का आधार। दिया सन्तोष को ।। १५० ।।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १४ ।।

जैसे वर्षा ऋतु के बिन। सागर जल से परिपूर्ण।
वैसे जो निमित्त के बिन। परिपूर्ण आनन्द से।। १५१।।

अपनी शपथ ले भ्राता। जो मन को संयत करता।
जिसके संकल्प से सत्यता। आती संकल्प को।। १५२।।

हृदयभवन में जिसके। बैठ आसन पर ऐक्य के।
एकरूप विराजते नीके। जीव-परमात्मा दोनों।। १५३।।

ऐसे जो परिपूर्ण। हो कर योगसम्पन्न।
मन-मति को समर्पण। करता मुझमें।। १५४।।

बाहर बहिरंग-योग से। भीतर अंतरंग-योग से।
सिद्ध होकर भी जो प्रेम से। भक्ति मेरी करता।। १५५।।

अर्जुन, वही है सच्चा भक्त। वही योगी, वही मुक्त।
वह प्रेयसी मैं प्रेमी कान्त। इतना प्रिय होता।। १५६।।

यह रूपक भी है अपूर्ण। इतना मेरा प्रेम गहन।
कि वह मुझे होता अर्जुन। प्रिय प्राणों से भी।। १५७।।

प्रियतम की यह बात। मोह लेगी मुझे पार्थ।
बोलता हूँ प्रेम के निमित्त। बोलना न चाहिये जो।। १५८।।

वह प्रेयसी की उपमा। सहज आयी मेरे मनमां।
अन्यथा क्या कोई उपमा। विशुद्ध प्रेम को ?।। १५९।।

अस्तु, अव हे धनुर्धर। प्रियजनों की बात चलाने पर।
उल्लास में आता ज्वार। दूना चौगुना।। १६०।।

उस पर जब श्रोता। प्रेमी ही मिल जाता।
फिर उल्लास का, भ्राता। सानी कौन ?।। १६१।।

तो आगे सुनो, पार्था। तुम प्रेमी तुम ही श्रोता।
आई यह भक्तों की वार्ता। बातों-बातों में।। १६२।।

इसलिये हूँ बोलता। सुख में हूँ मगन होता।
यों कहते-कहते झूमता। वहाँ वासुदेव ।। १६३ ।।

कहता, समझ लो अर्जुन। उन भक्तों के लक्षण।
जिनके लिये अन्तःकरण। पावड़े-सा बिछाता हूँ ।। १६४ ।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। १५ ।।

प्रक्षुब्ध होते सागर। नहीं घबराते जलचर।
या त्रस्त न होता सागर। जलचर उन्माद से ।। १६५ ।।

वैसे जन के उन्मत्त होते। जो खिन्न मानस नहीं होते।
और जन भी त्रस्त न होते। जिसके आचरण से ।। १६६ ।।

यही नहीं, हे अर्जुन। अवयवों से जैसे तन।
ऊबता न, वैसे मन। जिसका न ऊबता जन से ।। १६७ ।।

तन ही हो जाता जन। प्रिय-अप्रिय कोई न।
द्वैत के अभाव से विलोपन। जिसके हर्ष क्रोध का ।। १६८ ।।

ऐसे द्वैत भाव से मुक्त। भय उद्वेग से रहित।
इस पर जो है भक्तियुक्त। नित्य मुझमें ।। १६९ ।।

उसका मोह मुझे अपार। उसके प्रति प्रेम प्रगाढ़।
क्या बताऊँ धनुर्धर। वह जीता मेरे प्राणों से ।। १७० ।।

वह आत्मानन्द में तृप्त। मानो ब्रह्म हो मूर्तिमन्त।
पूर्णावस्था का कान्त। प्राणवल्लभ ।। १७१ ।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १६ ।।

उसके मन में गुडाकेश। अपेक्षा को नहीं प्रवेश।
जिसके अस्तित्व मात्र से उत्कर्ष। होता सुख का ।। १७२ ।।

मोक्ष देने में अति उदार। प्रख्यात जो काशी क्षेत्र।
किन्तु देहत्याग हो वहीं जाकर। मोक्ष तब मिलता।। १७३।।

हिमालय करता दोषहरण। किन्तु चढ़ने में ही जाते प्राण।
प्राणलेवा पवित्रता, अर्जुन। ऐसी न सज्जनों की।। १७४।।

गंगाजल परम पावन। पाप ताप का करता हरण।
किन्तु उसमें करते स्नान। संकट होता डूबने का।। १७५।।

भवसरिता अथाह, भाई। किन्तु उसमें न डूबता कोई।
मोक्ष मिलता वहाँ सीधा ही। मरे बिना।। १७६।।

सन्तों का अंगस्पर्श होते। गंगा के पाप धुल जाते।
कितनी उन सन्तों का संग होते। मिलेगी पवित्रता।। १७७।।

ऐसा जिसका पावित्र्य गुण। कि तीर्थों को भी करे पावन।
मन के मल को कर योजन। खदेड़ दिया जिसने।। १७८।।

अन्तर्बाह्य सूर्यसमान। जो है सर्वथा मलविहीन।
उसे पैरां-पायला जैसे दर्शन। होते ब्रह्मधन के।। १७९।।

जैसे पार्थ, यह आकाश। व्यापक और उदास।
वैसे ही जिसका मानस। होता सर्वत्र।। १८०।।

बहेलियों के चुंगल से छूटा। पंछी जैसे भयमुक्त होता।
वैसे भवदुःखों से हटा। मुक्त होता विरक्त।। १८१।।

जैसे शव को नग्नता की। कोई लज्जा नहीं होती।
वैसे तुच्छता किसी की। सुखी सन्त न देखता।। १८२।।

जैसे, अग्नि ईंधनरहित। अपने आप है बुझ जात।
वैसे, कर्तृत्व का गर्व पार्थ। बुझ गया जिसके मन से।। १८३।।

शम दम आदि विख्यात। जो मोक्ष साधन है ज्ञात।
उनमें शान्ति ही जिसे प्राप्त। हुई भाग्य से।। १८४।।

सोऽहं धारणा जिसकी। अर्जुन, हो गयी पक्की।
वह संकल्पना द्वैत की। तैर कर पार हो जाता ।। १८५ ।।

चखने भक्तिरसायन। अपना दो भागों में विभाजन।
कर एक भाग को अभिधान। देता भक्त का ।। १८६ ।।

दूजे भाग को भ्राता। मेरा सुरस नाम देता।
अपने आचरण से सिखाता। अभक्तों को भक्तियोग ।। १८७ ।।

हमें उसका ही लगा व्यसन। उसका ही हमें नित्य ध्यान।
उसकी भेंट से सन्तोष निधान। प्राप्त हुआ लगता ।। १८८ ।।

मैं उसके लिये साकार होता। उसके कारण यहाँ आता।
उस पवित्र पर उतार देता। राई लोन प्राणों का ।। १८९ ।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रिय ।। १७ ।।

जिसे आत्मलाभ से कुछ भी। उत्तम प्रतीत होता नहीं।
अतः विषय सुखों से भी। हर्ष नहीं पाता जो ।। १९० ।।

वह स्वयं विश्व हो जाता। उसका भेदभाव सहज जाता।
उसके पास द्वेष को अतः। स्थान न होता कोई ।। १९१ ।।

जो है अपना वास्तव में। नष्ट न होगा कल्पान्त में।
इस बोध से व्याकुल मन में। होता नहीं बीती पर ।। १९२ ।।

जिससे उत्कृष्ट कुछ भी। इस ब्रह्माण्ड में है नहीं।
वह स्वयं बन जाते ही। शेष न जिसमें आकांक्षा ।। १९३ ।।

सूर्य नहीं जानता। दिन-रात में क्या भेद होता।
वैसे यह भी न जानता। क्या भला क्या बुरा ।। १९४ ।।

जो ऐसे आत्मरूप केवल। हो कर रहे अविचल।
उनमें भी जो सर्वकाल। भजन करता मेरा ही ।। १९५ ।।

उसके समान और कोई। हमें जग में प्रिय नहीं।
तुम्हारी सौगंध भाई। सत्य कहता हूँ।। १९६।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।। १८।।

जिसके बोध में पार्थ। विषमता की नहीं बात।
शत्रु-मित्र दोनों सर्वथा। मानता समान।। १९७।।

घर के लोगों को प्रकाश दें। परायों पर अन्धेरा करें।
ऐसा पक्षपात न जाने। दीप जैसे।। १९८।।

जिसने काटने कुल्हाड़ा चलाया। या जिसने खेत बोया।
दोनों को भी समान छाया। वृक्ष देते जैसे।। १९९।।

पानी दें, उसके लिये मधुर। खराद में डालें, उसके लिये जहर।
भेदभाव का ऐसा विचार। करता न ऊख जैसे।। २००।।

वैसे शत्रु-मित्र में, भ्राता। जो भेद नहीं मानता।
मान-अपमान में भी रखता। चित्त को सन्तुलित।। २०१।।

तीनों ऋतुओं में समान। जैसे रहता है गगन।
वैसे शीत और ऊष्ण। जो समान मानता।। २०२।।

उत्तर-दक्षिण का पवन। मेरू के लिये समान।
वैसे सुख-दुख का आवर्तन। सहता जो तटस्थता से।। २०३।।

शीतलता चाँदनी की। राव रंक के लिये एक-सी।
वैसे जिसका सबके प्रति। व्यवहार समान।। २०४।।

जैसे सकल जगत को एक। प्रिय होता है उदक।
वैसे जिसकी कामना त्रिलोक। करते मन से।। २०५।।

बाहर की और भीतर की। जिसने आसक्ति सबकी।
छोड़ कर स्वरूप में एकाकी। मन को बाँधा सानन्द।। २०६।।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। १६ ।।

जो निन्दा करना न चाहता। प्रशंसा पसंद नहीं करता ।
निर्लिप्त वृत्ति से रहता। आकाश के समान ।।२०७।।

निन्दा और स्तुति को। एक-सी मानता दोनों को ।
जन वन में विचरता जो। समभाव से ।।२०८।।

सत्य असत्य सुन कर भी। जिसका मौन टूटता नहीं ।
ऐसी उन्मन अवस्था में भी। जो न अघाता ।।२०६।।

लाभ से न होता सन्तुष्ट। हानि से न असन्तुष्ट ।
अनावृष्टि से जैसा नष्ट। सागर नहीं होता ।। २१० ।।

जैसे एक ही स्थान में, भाई। पवन का घर होता नहीं ।
वैसे जो आश्रय कहीं। नहीं लेता ।। २११ ।।

जैसे यह आकाश सकल। वायु का निवास-स्थल ।
वैसे जिसका यह भूमण्डल। निवास-स्थान है ।। २१२ ।।

यह विश्व ही मेरा घर। ऐसी जिसकी मति स्थिर ।
जो स्वयं ही चराचर। विश्व हो गया ।। २१३ ।।

पाने पर भी यह अवस्था। जिसे मेरे भजन में आस्था ।
उसे मैं करता हूँ सर्वथा। अपना मुकुट ।। २१४ ।।

उत्तम के चरणों पर मस्तक। रखें इसमें क्या कौतुक ।
मस्तक पर लेते त्रिलोक। चरणामृत को ।। २१५ ।।

जिनके लिये श्रद्धेय हूँ। उनका आदर कैसे करता हूँ ।
इसे जानने करो सद्गुरु। सदाशिव को ।। २१६ ।।

अस्तु, ये विषय अर्जुन। महेश का करते स्तवन ।
अपने मुँह अपना बखान। होगा मुझसे ।। २१७ ।।

अतः ऐसा करना अनुचित। यों कहता रमानाथ।
मैं उन भक्तों को, पार्थ। शिरोधार्य मानता हूँ।। २१८।।

मोक्ष जो चौथा पुरुषार्थ। उसे करके हस्तगत।
भक्तिपथ पर चलता अविरत। जो उसे बाँटते।। २१९।।

वह मोक्ष का अधिकारी। बनता मोक्ष का व्यापारी।
फिर भी तह में धनुर्धारी। विनम्र जल जैसा।। २२०।।

अतः उसका वन्दन करेंगे। उसे मुकुट बना कर धारेंगे।
उसकी लात को भी धरेंगे। वक्ष पर प्रेम से।। २२१।।

उसके गुणालंकारों से, धनुर्धारी। हम सजायेंगे अपनी बैखरी।
बनेंगे दिव्य कुंडलधारी। उसके पावन यश के।। २२२।।

मुझ अचक्षु ने ये नैन। उसे देखने ही किये धारण।
लीलाकमल से पूजन। करूँगा उसका।। २२३।।

दो पर और दो हाथ। ले आया हूँ इसी हेत।
कि उसका आलिंगन, पार्थ। कर सकूँ पूरा।। २२४।।

थी उसके सहवास की चाह। तभी धारण किया यह देह।
उससे मुझे प्रेम अथाह। और निरुपम है।। २२५।।

वह हमारा परम मित्र। यह कथन नहीं विचित्र।
उसका मधुर चरित्र। जो श्रवण करते।। २२६।।

भक्त चरित का कर श्रवण। जो करते उसका स्तवन।
वे भी प्राणों से अधिक अर्जुन। मुझे प्रिय होते हैं।। २२७।।

तुम्हें यह भक्तियोग। बताया सांगोपांग।
जीव शिव का संयोग। होता जिससे।। २२८।।

भक्तियोग के साधक पर। मैं प्रेम करता हूँ अपार।
धारण करता उसे सिर पर। यह योग श्रेष्ठ ऐसा।। २२९।।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।। २० ।।

यह भक्तियोग की दिव्य कथा। धर्मामृत धारा सर्वथा ।
इसका जो श्रवण करता। या करता अनुभव ।। २३० ।।

जिनके हृदय श्रद्धा आदर। वहीं इस कथा का विस्तार ।
और सुस्थिर आचार। होत तदनुरूप ।। २३१ ।।

बोनी करते सुक्षेत्र में। उत्तम फसल आती हाथ में ।
वैसे भक्तियोग की साधना में। वही फल मिलता ।। २३२ ।।

मुझे परम श्रेष्ठ मान कर। इस योग में प्रीति रख कर ।
इसे ही सर्वस्व समझ कर। रहते हैं जो ।। २३३ ।।

इस जग में जानो, पार्थ। वे ही योगी, वे ही भक्त ।
उनके प्रति मुझे अत्यंत। होती उत्कंठा ।। २३४ ।।

वे ही तीर्थ, वे ही क्षेत्र। वे ही जग में परम पवित्र ।
इस भक्ति कथा के मित्र। पुरुष जो ।। २३५ ।।

हम उनका धरेंगे ध्यान। वे ही हमारा देवतार्चन ।
हमें जगत में उनके बिन। कुछ नहीं भाता ।। २३६ ।।

हमारे लिये वे व्यसन। वे ही हमारे निधि निधान ।
सन्तोष पाता हमारा मन। उनके मिलन से ही ।। २३७ ।।

अपने प्रिय भक्तों की वार्ता। जो हमें सुनाते, भ्राता ।
हम अपना परम देवता। उन्हें ही मानते ।। २३८ ।।

ऐसे भक्तों का परमानन्द। जगत का है आदि कन्द ।
बोला नदनन्दन मुकुद सजय कहता ।। २३९ ।।

राजन जो निर्मल अत्यन्त। लोगों का है कृपावंत ।
रक्षता जो शरणागत। सर्वोत्तम शरण्य ।। २४० ।।

देवों की सहायता, रक्षण। सभी लोगों का लालन।
और भक्तों का पालन। खेल जिसका ।। २४१ ।।

धर्मकीर्ति जिसकी धवल। दातृत्व अगाध सरल।
बल में अतुल प्रबल। बलि-बन्धन में बँधता ।। २४२ ।।

भक्तों के प्रति जो वत्सल। प्रेमीजनों के लिये प्राँजल।
सत्य की पताका विशाल। जो सकल कलानिधि ।। २४३ ।।

जो चक्रवर्ती वैकुंठ का। श्रीकृष्ण आधार भक्तों का।
सुनता कथन अर्जुन का। पार्थ भाग्य महान ।। २४४ ।।

अब इसके अनन्तर। निरूपण का भिन्न प्रकार।
संजय कहे, हो तत्पर। सुनो राजन् धृतराष्ट्र ।। २४५ ।।

वही कथा रसयुक्त। स्वभाषा में सरल शुद्ध।
कहूँगा, सुनें हो दत्तचित्त। सन्त सज्जनो ।। २४६ ।।

कहता ज्ञानदेव कर वंदन। सन्तों की हम गहे शरण।
यही हमें दिया शिक्षण। निवृत्तिदेव ने ।। २४७ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
भक्तियोग नामक समाप्त। उसका अध्याय बारहवाँ ।।

।। अध्याय तेरहवाँ ।।

कर निजरूप गणेश-स्मरण। सद्‌गुरु का श्रीचरणवन्दन ।
जो सकल विद्या अधिष्ठान। परम पवित्र ।। १ ।।

जिसका करते ही स्मरण। शब्दसंसार होता स्वाधीन ।
सारस्वत का प्रस्फुरण। होता जिव्हाग्र पर ।। २ ।।

ऐसा माधुर्य पाता वक्तृत्व। बेस्वाद लगता अमृत ।
अक्षर अक्षर ओत-प्रोत। होने रसों से ।। ३ ।।

सारे भाव होते प्रगट। रहस्य दिखते सुस्पष्ट ।
नाना तत्त्वों के भेद विभेद। ज्ञात हो जाते ।। ४ ।।

प्रतिभा का अहोभाग्य। इस तरह होता उदय ।
जब बन जाता हृदय। निलय गुरुपदों का ।। ५ ।।

उन गुरुचरणों को नमस्कार। अब सुनें ध्यान दे कर ।
पितामहों का पिता श्रीधर। क्या कहता अर्जुन से ।। ६ ।।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज इति तद्विदः ।। १ ।।

अब पार्थ दत्तचित्त सुनो। इस शरीर को क्षेत्र जानो ।
क्षेत्रज्ञ उसे मानो। जिसे ज्ञान इसका ।। ७ ।।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।। २ ।।

जो कहलाता क्षेत्रज्ञ। वह मैं ही परमात्मा जान ।
जो सभी क्षेत्रों का सम्वर्द्धन। निरन्तर करता ।। ८।।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का पार्थ। जानने को पूरा अर्थ ।
ज्ञान की संज्ञा हमने यथार्थ। दे रखी है ।। ९।।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।। ३ ।।

शरीर को क्षेत्र कहने में। क्या भाव हमारे मन में ।
वह सभी विस्तार मे तुम्हें। अब बताते हैं ।। १०।।

यह क्षेत्र क्यों कहलाता ? कैसे कहाँ उत्पन्न होता ?
किन विकारों से होता। विकास इसका ।। ११।।

यह साढ़े तीन हाथ का। कितना और किस तोल का ।
ऊसर या उर्वर श्रेणी का। इसका स्वामी कौन ? ।। १२।।

इत्यादिक इसके सर्व। वैशिष्ट्यपूर्ण जो-जो भाव ।
वे बताता हूँ यथासांग। सुनो ध्यान से ।। १३।।

इसी क्षेत्र के वास्ते। चारों वेद वितंडा करते ।
तर्क सदा गाल बजाते। इसके निर्णयार्थ ।। १४।।

इसकी चर्चा करते-करते। छहों दर्शन थक जाते ।
आज भी अशेष नहीं होते। द्वंद्व उनके ।। १५।।

शास्त्रों-शास्त्रों में नाता। इसी के कारण नहीं जुड़ता ।
जग में विवाद रहा मचता। इस पर एकमत करने ।। १६।।

बात से बात बेमेल। कहीं किसी में नहीं मेल ।
इसके लिये युक्तिवाद केवल। बकवास होते ।। १७।।

कोई न जानता यह किसका। किन्तु सबको ममत्व इसका ।
घर-घर में कई झगड़ों का। मूल यही क्षेत्र ।। १८।।

नास्तिकों का करने खण्डन। वेदों का प्रबल प्रतिपादन।
अतः वेदों का करने खण्डन। वाचाल नास्तिक भी ।। १९ ।।

कहते वेद हैं निर्मूल। असत्य उनका शब्दजाल।
हमारा करोगे विरोध। सिद्ध करेंगे शर्त्त से ।। २० ।।

कुछ नास्तिक नग्न रहते। सिर के बाल नोंचते।
उनके पाखण्ड समाप्त होते। समझाने पर ।। २१ ।।

मृत्यु होता महाबलि। यह क्षेत्र होगा व्यर्थ बलि।
इस भय से योगी मंडली। होती समाधिस्थ ।। २२ ।।

जो मृत्यु से डर जाते। एकान्त में चले जाते।
यमनियमों की करते। साधना पूरी ।। २३ ।।

इस क्षेत्र के अभिमान से। राज्य त्यागा शंकर ने।
वचने उपाधि के संत्रास से। किया श्मशान-वास ।। २४ ।।

क्षेत्रज्ञान की प्रतिज्ञा कर। शंकर ने हो कर दिगम्बर।
कर दिया भस्म जला कर। उपद्रवी मदन को ।। २५ ।।

इस क्षेत्र का चिन्तन करने। चार मस्तक पाये ब्रह्मा ने।
फिर भी नहीं जाना उसने। रहस्य इसका ।। २६ ।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदेश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।। ४ ।।

कर्मवादी मतानुसार। इस पर जीव का अधिकार।
प्राण इसका काश्तकार। रक्षणकर्त्ता ।। २७ ।।

अपानादिक भाई चार। श्रम करते प्राण के घर।
मन चलाता हल बख्खर। देखभाल करते ।। २८ ।।

बैल दसों इन्द्रियों के। दिन-रात मेहनत करके।
इस क्षेत्र में है उगाते। फसल विषयों की ।। २९ ।।

नियत कर्मों को छोड़ कर। अन्याय के बीज बो कर।
जीव डालता खाद ला कर। कुकर्मों का ।। ३० ।।

उन्हीं कुकर्मों के कारण। पाप-फसल आती भीषण।
बनती जीव के दुख का कारण। कोटि जन्मों तक ।। ३१ ।।

विहित कर्मानुसार जो भी। करे सत्कर्मों की बिजाई।
वह पाता शत जन्मों माहीं। सुख ही सुख ।। ३२ ।।

सांख्य कहते यह सच नहीं। क्षेत्र जीव का कतई नहीं।
हम बताते वृत्तान्त सही। इस क्षेत्र का ।। ३३ ।।

जीव इस क्षेत्र में दिसावरा। राह चलते ढूँढता बसेरा।
वन सालदार रखवारा। प्राण करता रक्षण ।। ३४ ।।

जो प्रकृति अनादिसिद्ध। कपिल मुनि द्वारा वर्णित।
उसकी सम्पत्ति है क्षेत्र। सदा सर्वथा ।। ३५ ।।

सारा समुदाय इस क्षेत्र का। होता केवल प्रकृति का।
अतः अधिकार इसका। वह किसीको न देती ।। ३६ ।।

इस क्षेत्र के खेतीहर। जिन्हें सृष्टि का अधिकार।
वे त्रिगुण इसी के आत्मज। होते हैं ।। ३७ ।।

बोनी करता सत्व गुण। रखवाली रजो गुण।
फ़सल काटता तमोगुण। अन्त में ।। ३८ ।।

रचा महत्तत्त्व का खलिहान। काल-बैल करते दावन।
फिर लग जाता ढेर अर्जुन। अव्यक्त तत्वों का ।। ३९ ।।

किन्तु इस सांख्यमत से पार्थ। संकल्पवादी नहीं सहमत।
कहते ये सभी सिद्धान्त। अर्वाचीन है ।। ४० ।।

अजी उस परब्रम्ह रूप में। प्रकृति की हस्ती ही क्या है ?।
इस क्षेत्र का वृत्तान्त तुम्हें। हम बताते पूरा ।। ४१ ।।

भव्य शून्य का शयनागारं। उसमें विलय की शय्या सुन्दर ।
गहरी नींद सोता उस पर। संकल्प बलवंत ।। ४२ ।।

वह अकस्मात् जग गया। भाग्य से उद्यम में लग गया ।
तभी इच्छावश पा गया। इतनी धरोहर ।। ४३ ।।

यह त्रिभुवन का उद्यान। अव्यक्त में था विलीन ।
उसका हुआ प्रकटन। संकल्प से ही ।। ४४ ।।

महाभूतों की भूमि बंजर। उसका समवाय बनाकर ।
स्वेदज आदि घाट चार। रचे संकल्प ने ।। ४५ ।।

पंचभूतों का भिन्न-भिन्न। प्रकारों में कर वर्गीकरण ।
किया बाँधों का निर्माण। पंचभौतिक देहों के ।। ४६ ।।

बाँधों की दोनों ओर। कर्म-अकर्म की बनाई प्राचीर ।
जिससे सारा क्षेत्र ऊसर। हो गया उपजाऊ ।। ४७ ।।

आना-जाना हो आसान। इसलिये जन्म-मरण की अर्जुन ।
बनाई सुरंगें गहन। अमिट संकल्प ने ।। ४८ ।।

फिर अहंकार से ऐक्य कर। जीवन भर कष्ट कर ।
चराचर का दस्तूर। बनाया बुद्धि से ।। ४९ ।।

यों प्रकृति से सर्वथा भिन्न। बढ़ती संकल्प की डगान ।
अतः वही है मूल चूल। इस प्रपंच की ।। ५० ।।

संकल्पवाद का यह प्रलाप सुन। स्वभाववादी गये जल भुन ।
कहने लगे दिखा ऐंठन। बड़े विचारक बनते हो ।। ५१ ।।

परब्रह्म की शैया पर आसीन। मानें संकल्प को निद्रालीन ।
तो प्रकृति को ब्रह्मलीन। सांख्यानुसार क्यों मानें ? ।। ५२ ।।

अस्तु, विचित्र आपकी बात। आपने कह दिया बहुत ।
अब हमारा सुनो मत। क्षेत्र निर्णय का ।। ५३ ।।

बताइये, किसने गगन में। जल भर दिया मेघों में ? ।
या नक्षत्रों को अन्तरिक्ष में। बना गया कौन ? ।। ५४ ।।

गगन का यह महावितान। इसका किसने किया निर्माण ? ।
पवन सदैव करता भ्रमण। किसकी आज्ञा से ? ।। ५५ ।।

तन में बोये किसने रोएँ ? सागर में जल कौन भर गये ? ।
किसने बनाईं पर्जन्यधाराएँ। बताइये तो ? ।। ५६ ।।

यह सब हुआ स्वभावतः। अतः क्षेत्र का भी न कोई निर्माता ।
श्रम करे वह लाभ पाता। अन्यथा सभी निष्फल ।। ५७ ।।

इस पर कालवादी वर्ग कहता। यदि यह तर्क सत्य होता ।
तो इस क्षेत्र का उपभोक्ता। एक काल ही कैसे ? ।। ५८ ।।

मृत्यु-सिंह की भयंकर। गुफा होता है यह क्षेत्र ।
किन्तु जो बकवास करे बेकार। उनका मुँह धरेगा कौन ? ।। ५९ ।।

इसे काल का वज्रप्रहार। जानकर भी दुर्निवार ।
जो कहते अपना विचार। अभिमानी वे ।।। ६० ।।

अरे महाकल्प को अकस्मात। काल काँख में दबा लेवत ।
और बाँहों में कसता समेट। सत्यलोक को ।। ६१ ।।

स्वर्ग के वनों में घुसकर। लोकपालों को देता खदेड़ ।
दिग्गजों का दम्भ चूर। करता काल यही ।। ६२ ।।

ऐसी इसकी मार प्रखर। कि जन्म-मरण की गर्त्त में गिर कर ।
विचरते निर्जीव हो कर। जीव भ्रान्त मृग-से ।। ६३ ।।

इसका पंजा कितना बड़ा। फैला है टेढ़ा-मेढ़ा ।
विश्वाकार गज को धरा। इस काल सिंह ने ।। ६४ ।।

अतः सत्ता है केवल काल की। नहीं है और किसी की ।
क्षेत्र के बारे में सव्यसाची। यों वाद बहुतेरे ।। ६५ ।।

ऋषियों ने इसकी चिकल्लस में। समय लगाया नैमिषारण्य में ।
इसके प्रमाण पुराणों में। हैं पर्याप्त ।। ६६ ।।

अनुष्टुभ आदि छन्द। रच कर किया यही विवाद ।
आज भी ऋषियों के वे ग्रंथ। प्रमाण माने जाते ।। ६७ ।।

बृहत् साम का वैदिक सूत्र। ज्ञानदृष्टि में अति पवित्र ।
किन्तु उसे भी यह क्षेत्र। आया नहीं समझ में ।। ६८ ।।

और भी महाकवि हो गये। उन्होंने नाना सिद्धान्त बताये ।
किन्तु वे भी हार गये। इसके प्रतिपादन में ।। ६९ ।।

न जाने यह क्षेत्र है कैसा ?। इसका स्वामी कौन कैसा ? ।
यह किसी के अधीन सहसा। न होता कदापि ।। ७० ।।

तो वही बात अब पार्थ। बताता हूँ तुम्हें सार्थ ।
यह ज्ञान साद्यन्त। दे रहा हूँ, सुनो ।। ७१ ।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।। ५ ।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। ६ ।।

महाभूतों का पंचक। द्विविध इन्द्रियों का दशक ।
बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति युग्मक। और एक अहंकार ।। ७२ ।।

और मन भी है एक। विषयों का है दशक ।
सुख-दुःखों का युग्मक। इच्छा-द्वेष का समवाय भी ।। ७३ ।।

उसमें चेतना और धृति। यह है इस क्षेत्र की व्याप्ति ।
बताता हूँ, सुभद्रापति। तुम्हें विस्तार से ।। ७४ ।।

अब महाभूत है कौन ?। विषय इन्द्रियों की पहिचान ।
एक-एक का ज्ञान। कराता हूँ पृथक् ।। ७५ ।।

पृथ्वी और जल। अनल और अनिल।
आकाश अति विशाल। ये पंच महाभूत ।। ७६ ।।

जागृति की अवस्था में। स्वप्न होता लुप्त स्थिति में।
या अमावस की रात में। गूढ़ होता चन्द्रमा ।। ७७ ।।

या दुधमुँहे शिशु में। यौवन होता सुप्त रूप में।
अथवा सुगंध कलि में। गूढ़ होती जैसे ।। ७८ ।।

या जैसी होती लकड़ी में। अग्नि गुप्त स्थिति में।
वैसे जो प्रकृति के पेट में। रहता गूढ़ ।। ७९ ।।

जैसे, हड्डियों में बसा ज्वर। कुपथ्य होते निमित्त मात्र।
घेर लेता सारा शरीर। नखशिख ।। ८० ।।

वैसे, पंचभूतों से होते भेंट। यह देह होता प्रगट।
उसे नचाता घाट-घाट। उसे जानो अहंकार ।। ८१ ।।

यह अहंकार अद्भुत होता। अज्ञानी को नहीं छूता।
नाना संकटों में उलझाता। ज्ञानीजन को ।। ८२ ।।

अब सुनो, बुद्धि क्या होती। उसके लक्षण सुभद्रापति।
सुनाता हूँ तुम्हें सम्प्रति। कहता यदुनाथ ।। ८३ ।।

वासना का लेकर बल। इन्द्रियाँ होती हैं प्रबल।
खींच कर ले आतीं सकल। विषयों को ।। ८४ ।।

तब सुख दुखों को जीव। करता है अनुभव।
फिर उचित-अनुचित का चयन। कराती जो ।। ८५ ।।

यह सुख है, वह दुख। यह पुण्य, वह पातक।
यह कुरूप, वह सुस्वरूप। जो बताती ।। ८६ ।।

वह अधम-उत्तम जानती। लघु-महान बतलाती।
विषयों का मर्म समझाती। जो जीव को ।। ८७ ।।

जो ज्ञान को उपजाती। सत्वगुण को बढ़ाती।
जीव-शिव संगम में रहती। निवास बना कर ।। ८८ ।।

ऐसे जिसके होते लक्षण। उसे जानो बुद्धि अर्जुन।
अब अव्यक्त की पहचान। कराता हूँ ।। ८९ ।।

सांख्यदर्शन में, सुभद्रापते। जिसे प्रकृति हैं कहते।
उसे ही यहाँ हैं देते। संज्ञा अव्यक्त की ।। ९० ।।

सांख्ययोग के अनुसार। प्रकृति के हैं दो प्रकार।
जो बताये हैं सविस्तार। सातवें अध्याय में ।। ९१ ।।

जीवदशा दूसरा उनमें। उसी को सांख्ययोग में।
पर्यायी शब्द के रूप में। कहा अव्यक्त ।। ९२ ।।

गत बीते उषाकाल में। तारे छिप जाते गगन में।
या थम जातीं सूर्यास्त में। गतिविधियाँ जीवों की ।। ९३ ।।

या देह नष्ट होने पर। उसके सारे ही विचार।
लोपते हो सूक्ष्माकार। कृतकर्मो में ।। ९४ ।।

बीज के अन्तर्गत। वृक्ष होता समाहित।
अथवा तंतु रूप में पार्थ। वस्त्र जैसे ।। ९५ ।।

वैसे स्थूल स्वभाव तज कर। महाभूत व प्राणिमात्र।
जिसमें रहते विलीन होकर। सूक्ष्म रूप में ।। ९६ ।।

ऐसी जो अवस्था गूढ़। उसका अव्यक्त नाम रूढ़।
अब इन्द्रियों के सभी भेद। सुनाता हूँ ।। ९७ ।।

नयन और कान। त्वचा और घ्राण।
जिह्वा में जो रसन। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ।। ९८ ।।

सकल तत्त्वों का होते ऐक्य। ज्ञानेन्द्रियों का ले सहाय।
बुद्धि सुख-दुख का निर्णय। करती पार्थ ।। ९९ ।।

वाचा, हस्त और चरण। गुदद्वार और शिश्न ।
ये पाँच और जान। होते देह में ।। १००।।

जो कर्मेन्द्रियाँ कहलातीं। वे ये ही पाँच होतीं ।
बताते हैं कैवल्यपति। अर्जुन को ।। १०१।।

क्रियाशक्ति इस प्राण की। होती सहधर्मचारिणी ।
कर्मेन्द्रियों के द्वार से गृहिणी। आती-जाती है सदा ।। १०२।।

ऐसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ।
मिल कर होतीं दशेन्द्रियाँ। ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ।। १०३।।

बुद्धि और दस इन्द्रिय। इनके जोड़ में धनंजय ।
लिये रजोगुण का आश्रय। मन है तैरता ।। १०४।।

आकाश में नीला रंग। या मरीचिका में तरंग ।
अर्जुन से कहता श्रीरंग। ऐसा जो होता भास मात्र ।। १०५।।

शुक्र शोणित एक होते। पंचभौतिक देह बनते ।
एक वायुतत्त्व के होते। दसों आकार ।। १०६।।

वे पांच प्राण पांच उपप्राण। स्वभावधर्म के अनुसार ।
देह में अपना स्थान। ग्रहण करते ।। १०७।।

उस वायु का चांचल्य सकल। अकेला रह जाता केवल ।
इसीलिये रजोगुण का बल। वह ले लेता ।। १०८।।

वह बुद्धि से बाहर। अहंकार के उर पर ।
कहीं बीच मझार। मंजोर होता ।। १०९।।

उसे मन का नाम व्यर्थ। वह तो कल्पना मूर्तिमन्त ।
जिसके संग ब्रह्म को प्राप्त। होती जीवदशा ।। ११०।।

जो प्रवृत्ति का मूल कारण। जिससे विकार बलवान ।
अहंकार को करता हैरान। निरन्तर जो ।। १११।।

जो इच्छा को है बढ़ाता। आशा को चढ़ाते रहता।
प्राणिमात्र में जगाता। भय को जो ।। ११२ ।।

द्वैत जिससे जन्म लेता। अविद्या को बढ़ावा मिलता।
इंद्रियों को जो धकेलता। विषयों में ।। ११३ ।।

जो सृष्टि बनाता संकल्प से। तोड़ देता विकल्प से।
चढ़ती गिरतीं जिससे। भंडोलियाँ मनोरथ की ।। ११४ ।।

जो भ्रम का है भाण्डार। वायुतत्त्व का है सार।
और बुद्धि का द्वार। पाट देता जो ।। ११५ ।।

ऐसे होते जिसके लक्षण। उसे ही जानो मन अर्जुन।
अब सुनाता हूँ भिन्न-भिन्न। विषय इन्द्रियों के ।। ११६ ।।

स्पर्श और शब्द। रूप, रस, तथा गंध।
ये विषय हैं पंचविध। ज्ञानेन्द्रियों के ।। ११७ ।।

इन विषयों को लक्ष्य कर। ज्ञानेन्द्रियाँ दौड़तीं बाहर।
जैसे हरी घास को देख कर। दौड़ते पशु ।। ११८ ।।

स्वरवर्णो का उच्चारण। वस्तुत्याग अथवा ग्रहण।
चलना और विसर्जन। मलमूत्र का ।। ११९ ।।

कर्मेन्द्रियों के ये पाँच। विषय भी हैं पाँच।
इनके आधार से ही साँच। होती सभी क्रियाएँ ।। १२० ।

यों देह को है दश विषय हे गुडाकेश
अब सुनो वह आस। होती क्या है ? १२१।

बीतीं बातें याद करती। शब्द सुनते उछाह लेती।
हृदय में नित्य वास करती। जो वृत्ति पार्थ ।। १२२ ।।

इन्द्रियों को मिलते विषय। ले कर 'काम' का आश्रय।
तत्क्षण जो पूरा हृदय। ग्रस लेती ।। १२३ ।।

जिसका होते ही उत्थान। भगदड़ सा दौड़ता मन।
इन्द्रियाँ दौड़ जातीं उस स्थान। जहाँ न जाते ।। १२४ ।।

जिस वृत्ति का आकर्षण। मन में लाता पागलपन।
जिसे विषय का प्रलोभन। वही आस या इच्छा ।। १२५ ।।

इस इच्छा के बलवती होते। इन्द्रियों को यदि विषय न मिलते।
तब मन में जो विकार उठते। उन्हें जानो द्वेष ।। १२६ ।।

जिसकी प्राप्ति होते। मन भुलाता शेष बातें।
उसे ही सुख कहते। जानो अर्जुन ।। १२७ ।।

काया-वाचा-मन को। अपनी शपथ दिला सबको।
भुला देता स्मृति को। शरीर की भी ।। १२८ ।।

जिसकी होते ही प्राप्ति। पंगु होती प्राणशक्ति।
और सत्वगुण की वृत्ति। बढ़ती दूनी ।। १२९ ।।

हृदय के एकान्त में पार्थ। इन्द्रियवृत्तियों को कर केन्द्रित।
लोरी गाकर करता निद्रित। उसे ही जानो सुख ।। १३० ।।

कितना बताऊँ अर्जुन। जीव-आत्मा का मिलन।
जिससे मिलता सम्पूर्ण। वही सुख की अवस्था ।। १३१ ।।

यह जीव आत्मा की एकता। जिसमें न मिलती सर्वथा।
उस अवस्था को भ्राता। दुःख कहते हैं ।। १३२ ।।

कामना हो तो सुख नहीं। वह न हो तो सर्वत्र सुख ही।
सुख दुःख का निमित्त, भाई। होती कामना ।। १३३ ।।

जो आकाश सा अलिप्त। सूर्य सा साक्षी सर्वत्र।
जानो उस ब्रह्म का अस्तित्व। चेतना तन की ।। १३४ ।।

जो नख से शिखपर्यन्त। देह में आनन्द जागृत।
रखती देह में यथावत। तीनों अवस्थाओं में ।। १३५ ।।

जिसके कारण अन्तःकरण। सदैव रहता प्रसन्न।
बसंत-सा रखती मायावन। जो खिला-खिला ।। १३६ ।।

जड़-चेतन पदार्थों में। जो रहती अंश रूप में।
उसे अर्जुन इस जग में। कहते चेतना ।। १३७ ।।

राजा न जानता सैनिकों को। आज्ञा से वे जीतते शत्रु को।
या देखकर पूर्ण चन्द्र को। समुद्र में आता ज्वार ।। १३८ ।।

लोहचुम्वक की समीपता। लोहे में लाती चेतनता।
अथवा सूर्यप्रकाश में जनता। करती व्यवहार जैसे ।। १३९ ।।

मुखस्पर्श के बिना ही। केवल निरीक्षण से ही।
पिल्लों का करती कछुई। पोषण जैसे ।। १४० ।।

वैसे आत्मा के सहवास में। इस अत्यंत जड़ शरीर में।
जिसके कारण रग-रग में। आती सजीवता ।। १४१ ।।

उसे ही कहते चेतना। अब धृति के भेद नाना।
तुम्हें है मैंने बतलाना। सुनो अर्जुन ।। १४२ ।।

पाँचों तत्त्व परस्पर। स्वभाव से करते बैर।
इस पृथ्वी का संहार। करते जल - तत्व ।। १४३ ।।

जल तेज को सोखता। वायु तेज से है जूझता।
और वायु को सहज लीलता। आकाश तत्व ।। १४४ ।।

आकाश तो कभी कहीं। किसी से मिलता नहीं।
रहते हुए सबके माहीं। अलग ही रहता ।। १४५ ।।

ऐसे ये पाँचों महाभूत। परस्पर रखते अदावत।
फिर भी इस देह में एकत्र। रहते सभी ।। १४६ ।।

यहाँ विरोध भाव तज कर। सहज सहवास में रहकर।
अपने-अपने गुणानुसार। करते पोषण परस्पर का ।। १४७ ।।

ऐसे अमित्रों का मैत्री करना। विचलितों को सम्भालना।
सम्भव जिसके कारण अर्जुना। उसे जानो धृति ।। १४८ ।।

इन छत्तीस तत्त्वों का धनंजय। जीवसहित जो समवाय।
उसे ही जानो यहाँ अक्षय। नाम संघात का ।। १४९ ।।

हमने ये छत्तीसों भेद। तुम्हारे लिये किये विशद।
इन सबका नाम प्रख्यात। क्षेत्र कहलाता ।। १५० ।।

रथ के सभी अवयव। मिलकर पाते रथ का नाम।
या आपादमस्तक अंगप्रत्यंग। देह कहलाता ।। १५१ ।।

चतुरंग दलों का समुदाय। उसे कहते हैं सैन्य।
अथवा अक्षर-समुदाय। वाक्य कहलाता ।। १५२ ।।

जलधरों का समुच्चय। अभ्र नाम से होता ज्ञेय।
नाना लोगों के समुदाय। जग कहलाते ।। १५३ ।।

नेह, वाती, और अगन। इन्हें ला कर एक स्थान।
नाम देते उसे जन। दीप का जैसे ।। १५४ ।।

ये छत्तीस तत्व एकत्रित। होकर जब मिलते पार्थ।
उस समुदाय को प्रख्यात। नाम क्षेत्र का ।। १५५ ।।

यहाँ परिश्रम जब करते। पाप-पुण्य की फ़सल काटते।
अतः हमने दिया कौतुक से। इसे नाम क्षेत्र का ।। १५६ ।।

जिसे हमने कहा क्षेत्र। उसे कहते देह या शरीर।
और भी कई हैं अपार। जग में नाम इसके ।। १५७ ।।

ब्रह्म से ले कर तृणपर्यन्त। हर जात का होता अन्त।
इसको जानो समस्त। तुम क्षेत्र ही ।। १५८ ।।

क्षेत्र की होती योनियाँ नाना। देव, मानव, आदि अर्जुना।
उनके निर्माण का कारण बना। गुणकर्मों का भिन्नत्व ।। १५९ ।।

इन गुणों का पूर्ण वर्णन। करूँगा चौदहवें में निवेदन ।
अब सुनो निरूपण। ज्ञान के स्वरूप का ।। १६० ।।

कितना क्षेत्र का विस्तार। क्या-क्या हैं उसके विकार ।
बताये, अब सुनो उदार। ज्ञान कैवल्य का ।। १६१ ।।

स्वर्ग की पगडंडी त्याग कर। आकाशतत्त्व को बाँधकर ।
जिसे प्राप्त करने निरन्तर। यत्न करते साधक ।। १६२ ।।

उन्हें न समृद्धि से लगाव। न सिद्धि का उन पर प्रभाव ।
योगमार्ग को औघड़। स्वीकारते जो ।। १६३ ।।

तप के पहाड़ नख जाते। असंख्य यज्ञों को वारते ।
कर्मवेलि को उखाड़ फेंकते। इस ज्ञान के लिये ।। १६४ ।।

कोई सारी उपाधि छोड़ कर। भजन का करते अंगीकार ।
कोई चुनते सुषुम्ना-विवर। इस ज्ञान के लिये ।। १६५ ।।

जिस ज्ञान लालसा के कारण। महामुनि भी हे अर्जुन ।
वेदों का एक-एक पृष्ठ। छानते शोध में ।। १६६ ।।

वह ज्ञान गुरुसेवा से ही। मिलेगा इस निष्ठा से ही ।
शतजन्मों की बलिहारी। देते गुरुसेवा में ।। १६७ ।।

प्राप्त होते ज्ञान। सर्वथा लोपता अज्ञान ।
और जीवात्मा होता विलीन। परमात्मा में ।। १६८ ।।

इन्द्रियों के द्वार पाटता। प्रवृत्ति की टाँग तोड़ता ।
दैन्य मन का भगा देता। ऐसा ज्ञान जो ।। १६९ ।।

द्वैत का अकाल नष्ट करता। समता की समृद्धि लाता ।
ऐसा अत्यंत निर्मल भ्राता। होता ज्ञान जो ।। १७० ।।

उन्माद की जड़ें खोदता। महामोह को खा जाता ।
आप-पर भाव सोखता। ऐसा ज्ञान जो ।। १७१ ।।

संसार को उन्मूल करता। संकल्प-पंक को धो डालता।
सर्वव्यापक से मिलाता। ऐसा ज्ञान जो ।। १७२ ।।

उज्ज्वल प्रकाश में जिसके। खुलतीं मति की आँखें।
आनन्द में लोटपोट होते। जीव जिससे ।। १७३ ।।

विषयों में मन मलिन। उसे देता पवित्रता पुनः।
ऐसे पावित्र्य का परमनिधान। ज्ञान जो ।। १७४ ।।

मैं जीव ऐसी बुद्धि। होती आत्मा की क्षय-व्याधि।
वह जिसकी होते प्राप्ति। होती नष्ट ।। १७५ ।।

उसका असम्भव निवेदन। फिर भी करता हूँ प्रतिपादन।
सम्भव नहीं उसका दर्शन। अतः जानो बुद्धि से ।। १७६ ।।

उसके प्रभाव से अर्जुन। जब प्रभावित होता कन।
तब होता उसका दर्शन। इन्द्रिय-व्यापार में ।। १७७ ।।

वृक्ष-वाटिकाएँ खिलतीं। तो बहार का संकेत देतीं।
वैसे इन्द्रिय-व्यापार में होती। ज्ञानोदय की सूचना ।। १७८ ।।

वृक्ष की जड़ें भूमि से। अघातीं जल सोखने से।
तो उसके शाखा-विस्तार से। मालूम पड़ती बात ।। १७९ ।।

अथवा भूमि का मार्दव। कहती अकुरों की लहलह।
या बताता बर्ताव। कुलीनता जैसे ।। १८० ।।

अतिथि सत्कार बताता। मन में कितनी स्नेहलता।
दर्शनमात्र से प्रसन्नता। सत्पुरुष का लक्षण ।। १८१ ।।

पेड़ की ख़ाल में हो कपूर। सुगंध फैलती बाहर।
दीप रखा काँच के भीतर। प्रकाश बाहर फैलता ।। १८२ ।।

वैसे, हृदय में आता ज्ञान। तो देह में क्या-क्या लक्षण।
प्रगट होते हैं अर्जुन। सुनो ध्यान से ।। १८३ ।।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।। ७ ।।

बराबरी करें किसी से। इसमें नहीं रुचि जिसे ।
मान-सम्मान लगते बोझ से। ऐसी वृत्ति जिसकी ।। १८४ ।।

अपने गुणों का हो बखान। कोई देने लगे सम्मान ।
या होता हो आविष्करण। योग्यता का ।। १८५ ।।

तब तो होता बेचैन भावुक। ज्यों व्याधों से घिरा मृगशावक ।
या विवर्त में फँसा तैराक। तैरते-तैरते ।। १८६ ।।

इसविध जो है भ्राता। मान-सम्मान से दुखी होता ।
महानता को आने ही न देता। जो अपने पास ।। १८७ ।।

न देखे अपनी पूज्यता। सुने नहीं यशस्विता ।
यही जो मन से चाहता। करे न कोई याद ।। १८८ ।।

फिर सत्कार तो रहा दूर। स्वीकारेगा कौन आदर ? ।
कोई करे उसे नमस्कार। तो मरण लगता भला ।। १८९ ।।

बृहस्पति के समान। यदपि होता है सर्वज्ञ ।
ओढ़ता है पागलपन। महत्ता न फैले इसलिये ।। १९० ।।

अपने चातुर्य को छिपाता। महत्ता को भुला देता ।
पागलपन को ही दरशाता। हार्दिकता से ।। १९१ ।।

नाम लौकिक की चाह नहीं। शास्त्रचर्चा से है चिढ़ ही ।
होता अबोल रहना ही। प्रिय अत्यन्त ।। १९२ ।।

दुनिया अवज्ञा करे। स्वजन साथ छोड़ दें ।
यही मन ही मन करे। कामना जो ।। १९३ ।।

जिससे बढ़ेगी नम्रता। प्राप्त होगी हीनता ।
ऐसा आचरण करता। जो अधिकतर ।। १९४ ।।

यह जीवित है या मृत। इस विचार से जन हो शंकित ।
ऐसी दशा में जीने की चाहत। होती जिसे ।। १९५ ।।

यह अपने पाँव चलता। या हवा से धकेला जाता ।
ऐसी शंका जो चाहता। अपने लिये बढ़े ।। १९६ ।।

अपना अस्तित्व लोप हो। नाम रूप भी नष्ट हो ।
किन्तु प्राणिमात्र को न हो। भय मुझसे ।। १९७ ।।

यही मनौती मानता। सदा एकान्त में रहता ।
देख कर निर्जनता। जो होता हर्षित ।। १९८ ।।

वायु से ही मैत्री करता। आकाश से बतियाता ।
वृक्षों पर प्रेम है करता। मनोभाव से ।। १९९ ।।

अधिक क्या बताऊँ, पार्थ। ऐसे लक्षण जिसमें होत ।
उसे ज्ञानपीठ पर निश्चित। आरूढ़ जानो ।। २०० ।।

अमानी के लक्षण भ्राता। तुम्हें बताये सर्वथा ।
अदम्भी की हूँ बताता। पहचान अब ।। २०१ ।।

अदम्भी के उदाहरण। जैसे, लोभी का होता मन ।
गड़े धन का न बताता स्थान। भले प्राण जाते हों ।। २०२ ।।

वैसे, ही हे अर्जुन। प्राणसंकट में ही क्यों न ।
अपने सत्कर्मों का बखाम। न सुनता न सुझाता ।। २०३ ।।

जैसे अड़ियल गौ अर्जुना। रोक लेती अपना पेन्हा ।
या वेश्या अपना प्रौढ़ होना। छिपाती है ।। २०४ ।।

चोरों के हाथ लगा धनवंत। अमीरी को रखता गुप्त ।
कमनीय यौवन को आवृत। रखती कुलीना ।। २०५ ।।

या किसान बोया अनाज। माटी से ढाँकता सहज ।
वैसे अपना दान और सत्कार्य। जो ढाँके रखता ।। २०६ ।।

शोभा न बढ़ाता देह की। न करता मनुहार लोगों की।
तुरही अपनी धार्मिकता की। न बजाता न बजवाता ।।२०७।।

परोपकार को बताता नहीं। पांडित्य बघारता नहीं।
सत्कर्मों का बाज़ार नहीं। लगाता प्रतिष्ठा में ।।२०८।।

शरीर भोग में भ्राता। प्रगटती जिसकी कृपणता।
उफान लेती उदारता। धर्म कार्यों में ।।२०९।।

घर में हमेशा गीला आटा। शरीर जैसे सूखा काँटा।
किन्तु जब दान देने लगता। जीतता कल्पतरु को ।। २१०।।

स्वधर्माचरण में महान। यथावसर उदार मन।
अध्यात्मचर्चा में प्रवीण। अन्यथा पागल लगता ।। २११।।

केले का पेड़ हलका। और तना भी पोला।
किन्तु केला ठोस रसीला। होता जैसे ।। २१२।।

बादल हलके ही लगते। हवा ले जाये उधर जाते।
किन्तु जब हैं बरसते। बताते अपनी घनता ।। २१३।।

वैसे देख जिसकी पूर्णता। बुद्धि को सन्तोष होता।
गुणगान के लिये होता। वही आधार वाणी को ।। २१४।।

अस्तु ये लक्षण पार्थ। जिसमें होते है विकसित।
उसके हाथ में ज्ञान समस्त। होता जानो ।। २१५।।

इसे ही कहते अदम्भिता। ये लक्षण उसी के भ्राता।
अब तुम्हें हूँ बताता। पहचान अहिंसा की ।। २१६।।

अहिंसा का धनुर्धर। प्रतिपादन स्वमतानुसार।
किया है नाना प्रकार। अनेकों ने ।। २१७।।

काट-काट कर पेड़। तने को लगाते बाड़।
ऐसी है विलक्षण। अहिंसा शास्त्रज्ञों की ।। २१८।।

बाहु काट कर पकायें। और भूख को मिटायें ।
या मन्दिर गिरा कर बनायें। परकोटा जैसे ।। २१९ ।।

यज्ञों में करते हिंसा। उसी को बताते अहिंसा ।
निर्णय किया है ऐसा। पूर्वमीमांसकों ने ।। २२० ।।

अवर्षण से त्राहि-त्राहि। जब मचती विश्व माहीं ।
तब वृष्टि के लिये ये लोग ही। करते यज्ञयाग ।। २२१ ।।

उस यज्ञयाग में विहित। पशुहिंसा है निश्चित ।
फिर अहिंसा का दर्शन पार्थ। होगा कैसे ? ।। २२२ ।।

बोयी हो केवल हिंसा। कैसे उग आयेगी अहिंसा ? ।
याज्ञिकों का साहस ऐसा। आश्चर्य ही है ।। २२३ ।।

और आयुर्वेद भी सारा। रखता यही विचारधारा ।
कि एक जीव के लिये दूसरा। मारें जीव ।। २२४ ।।

नाना रोगों से पीड़ित। जीव चलते मृत्युपंथ ।
उस हिंसा को टालने हित। खोजो चिंकित्सा ।। २२५ ।।

तो पहले उपचार के लिये। एक के कन्द खुदवाये ।
और दूजे उखाड़ लिये। जड़ों-पत्तों समेत ।। २२६ ।।

किसीने वृक्ष की कटाई की। किसीने खाल उतारी पेड़ों की ।
उबाली वनस्पति अधपकी। पुट चढ़ा कर ।। २२७ ।।

अजातशत्रु है तरुवर। कुल्हाड़ा चलाया उन पर ।
सत्व निचोड़ किया निस्सार। धनुर्धर उन्हें ।। २२८ ।।

कोई पकड़ते प्राणी जीवन्त। उसके उदर का निकाल पित्त ।
लगा कर बचाते रोगग्रस्त। जीव दूसरे ।। २२९ ।।

खड़े घरों को तोड़ कर। मन्दिर देते बना कर ।
या व्यापारियों को ठग कर। अन्नछत्र लगाते ।। २३० ।।

सिर पर बाँधा साफा नीका। धड़ नंगा रखा नीचे का।
घर गिरा उसकी बल्लियों का। मँडवा रचा आँगन में।। २३१।।

शीत में आग तापने। जलाये ओढ़ने-बिछौने।
या मदोन्मत हाथी को नहलाने। किये सायास।। २३२।।

बैल बेच कर बनाया बाड़ा। तोता बेच ख़रीदा पिंजड़ा।
वैसे यज्ञ-अहिंसा का रगड़ा। हँसे या रोये उस पर ?।। २३३।।

कोई धर्म का हवाला दे कर। पानी पीते हैं छान कर।
छानते-छानते रखते मार कर। कई जीवों को।। २३४।।

इस हिंसा भय के कारण। कोई न पकाते अन्न।
व्याकुल हो जाते प्राण। वह भी होती हिंसा ही।। २३५।।

ऐसे जो वास्तव में हिंसा। उसे ही मानते अहिंसा।
सिद्धान्त विपरीत-सा। कर्मकाण्डी याज्ञिकों का।। २३६।।

बताना चाहता था अर्जुन। अहिंसा के यथार्थ लक्षण।
किन्तु बुद्धि ने किया प्रेरण। नाना मत बताने का।। २३७।।

इन मतों को कैसे छोड़ दें ?। और फिर भी तुम्हें ज्ञान दें ?।
इसी सोच में किया हमने। थोड़ा विषयांतर।। २३८।।

केवल इसी हेतु अर्जुन। अन्य मतों का किया वर्णन।
अन्यथा बाबा कौन। जायें टेढ़े मार्ग से ?।। २३९।।

अपना अभिप्रेत सिद्धान्त। बताने को सुनिश्चित।
बतायें दूसरों का भी मत। अवश्यमेव।। २४०।।

यही है मान्य रीत। तभी बताये अन्य मत।
अब सुनो मेरा मुख्य मत। क्या है बताता हूँ।। २४१।।

पहले अपना सिद्धान्त-दर्शन। फिर बताऊँ अहिंसा-लक्षण।
आचार होता जिसका दर्पण। बात भीतरी दर्शाता।। २४२।।

मन में हो अहिंसा पूर्ण। तभी आचार में उसका प्रकटन ।
जैसे, सान पर घिसें सुवर्ण। तो कसौटी ज्ञात होती ।। २४३ ।।

वैसे ज्ञान और अन्तःकरण। दोनों का होते मिलन ।
कैसे अहिंसा उसी क्षण। सजीव होती, सुनो ।। २४४ ।।

तरंगों को रौंदे बिन। या पैरों से तोड़े बिन ।
स्थिरता को बिगाड़े बिन। जलाशय की ।। २४५ ।।

दृष्टि रखकर आमिष पर। बगुला जैसे पानी पर ।
वेग से किन्तु आहिस्ता पैर। उठाता है ।। २४६ ।।

अथवा कमल पर भ्रमर। हौले से रखता पैर ।
दुख न पावे कहीं केसर। इसी आशंका से ।। २४७ ।।

वैसे परमाणुओं में भी होते। जीव छोटे-छोटे ।
जानकर पाँव करुणा से। रखता जो सँभलकर ।। २४८ ।।

राह चलते कृपा ही करता। उस दिशा में नेह भरता ।
दीन जीवों के लिये बिछाता। पावड़े प्राणों के ।। २४९ ।।

ऐसे जो अत्यंत सदय बन। करता है मार्गक्रमण ।
उसकी अहिंसा का वर्णन। करें किन शब्दों में ?? २५० ।।

बिल्ली अत्यंत प्रेम से। पिल्ले को पकड़ती मुँह से ।
किन्तु पिल्ले को उसके दाँतों से। खरोंच तक न आती ।। २५१ ।।

माता हो कर नेहातुर। थकती नन्हें की प्रतीक्षा कर ।
उसकी दृष्टि में जो अपार। होती कोमलता ।। २५२ ।।

कमलदल का पंखा कर। हवा करते अपने पर ।
आँखों को फिर भी सुखकर। होता जैसे ।। २५३ ।।

वैसे, मृदुता से धनुर्धर। जो पाँव रखता भूमि पर ।
उसका चरणस्पर्श पाकर। जीव सुखी होते ।। २५४ ।।

ऐसे हौले हौले चलते। कृमि कीटक दिखायी पड़ते।
तो जिसके पैर लौट जाते। आहिस्ता से, पाँडव ।। २५५ ।।

कहता मेरा पाँव लगा। तो स्वामी नींद से जागेगा।
सहसा भंग हो जायेगा। उसका प्रशान्त रूप ।। २५६ ।।

ऐसी असीम अनुकम्पा से। जो लौट जाता मार्ग से।
किसी को अपने पाँवों से। लाँघता तक नहीं ।। २५७ ।।

कहीं कोई जीव मरेगा। यह सोच जो तृण पर भी न चलेगा।
वह जीव की उपेक्षा करेगा। सम्भव कैसे ? ।। २५८ ।।

चींटी न लाँघती मेरू को। मशक न पार करता सागर को।
वैसे प्राणियों के अतिक्रम जो। कर नहीं सकता ।। २५९ ।।

ऐसे चालचलन जिसकी। बहार लाती कृपा-फल की।
संजीवनी जिसकी दया की। मिलती वाणी को ।। २६० ।।

जिसका स्पन्दन सुकुमार। मुख प्रेम का पीहर।
दाँत दिखते जैसे अंकुर। मधुरिमा लिये ।। २६१ ।।

पहले बहता नेह निर्झर। फिर बहते आते अक्षर।
पहले कृपा की बहार। शब्द आते बाद में ।। २६२ ।।

अपनी बात से किसीका। मन शायद दुखी होगा।
अतः जो भाषण का। कष्ट ही करता नहीं ।। २६३ ।।

मुख से निकले अधिक शब्द। तो न हो किसी का मर्मच्छेद।
वैसे कोई भी शंकाग्रस्त। न हो पाये ।। २६४ ।।

किसीका खेल बिगड़ेगा। कोई भय से चौंकेगा।
कोई तिरस्कार करेगा। अपनी बातों का ।। २६५ ।।

किसीको न पहुँचे पीड़ा। किसीका तेवर न हो चढ़ा।
इसी चिन्ता में पड़ा। जो रहता मौन ही ।। २६६ ।।

फिर कोई करे प्रार्थना। और खनके वाणी वीणा।
श्रोता को हो आनन्द घना। माँ-बाप से मिलने का ।।२६७।।

नादब्रम्ह साकार होता। शब्दगंगाजल थिरकता।
या पतिव्रता को आता। बुढ़ापा जैसे ।।२६८।।

वैसे सौम्य और सत्य। रसीले और संयत।
शब्द जिसके मानो अमृत। कल्लोल ले उठते ।।२६९।।

व्याजस्तुति, वितंडावाद। परपीड़ा, त्रास, खेद।
अकारण निन्दा, छल, कपट। मर्मप्रहार वैसे ।।२७०।।

हकलाना, शीघ्रता, आवेश। शंका, प्रतारणा, आस।
इन सारे अवगुणों का नाश। किया जिसकी वाणी ने ।।२७१।।

उसी भान्ति हे किरीटी। सुस्थिर हो जिसकी दृष्टि।
और खुली हो भ्रुकुटी। कुटिलता रहित ।।२७२।।

सबमें जो परमात्मा, उसे। कष्ट न हो दृष्टिपात से।
जो दृष्टि इसी विचार से। डालता न किसी पर ।।२७३।।

तथापि कभी कभार। कृपा से भर आता उर।
तो नयन खोलकर। देखता किसी को ।।२७४।।

चन्द्रकिरण की धाराएँ। मानव को नज़र न आयें।
किन्तु उन्हीं से होते अघाये। चकोरगण ।।२७५।।

वैसे, वह जिसे देखता। उसे अत्यंत हर्ष होता।
कछुई को भी न होता पता। उस प्रेमदृष्टि का ।।२७६।।

ऐसी जिसकी कृपादृष्टि। सभी भूतों के प्रति होती।
दृष्टिसमान ही होती। गुणसम्पदा हाथों में ।।२७७।।

रहते हो कर कृतार्थ। सिद्ध पुरुषों के मनोरथ।
वैसे जिसके हाथ। व्यापाररहित होते ।।२७८।।

जैसे अन्ध का दृष्टित्याग। या ईन्धन को तजे आग ।
या कोई गूँगा महाभाग। मौन धरे ।।२७९।।

वैसे, जिसके हाथों को। शेष नहीं कुछ करने को ।
कर्मसंन्यास तो उसको। प्राप्त जन्मसिद्ध ।।२८०।।

धक्का न लगे पवन को। नख न खरके गगन को ।
ऐसे भाव से जो हाथों को। चलाता ही नहीं । ।।२८१।।

तन से मक्खी को उड़ायें। सामने से मच्छड़ हटायें ।
पशु-पक्षियों को मुद्रा दिखायें। पीड़ादायक ।।२८२।।

ये बातें कैसे करें। कर में डंडा लाठी न धरे ।
फिर शस्त्र की बात ही, अरे। नहीं होती ।।२८३।।

कमल के साथ खेलना। या पुष्पमाला झेलना ।
कहे गुलेल-सा होगा। असहनीय ।।२८४।।

रोमांचों को होगी पीड़ा। अतः तन को न सहलाता ।
और उंगलियों पर बढ़ाता। नाखूनों की गुंडियाँ ।।२८५।।

हाथों को यही काम। कि जोड़ कर करें प्रणाम ।
इसका ही मानो नियम। बनाया जिसने ।।२८६।।

भयभीतों को अभय दें। गिरतों का सहारा दें ।
दुखियों को सान्त्वना दें। यही आदत हाथों को ।।२८७।।

यह भी दूसरों के लिये करता। आर्तों के दुःख हरता ।
ऐसी तो कृपालुता। चन्द्रकिरणों में नहीं ।।२८८।।

पशुओं को भी सहलाता। तो स्पर्श में इतनी मृदुलता ।
कि मलयानिल भी लगता। खरखरासा ।।२८९।।

चन्दन है सर्वांगशीतल। फलहीन किन्तु नहीं विफल ।
वैसे निष्क्रिय किन्तु निष्फल। नहीं कर उसके ।।२९०।।

अस्तु, यह सारा वर्णन। जैसे सुशील सज्जन।
वैसे करतल होते अर्जुन। ज्ञानवंत के।। २९१।।

अब उसका होता जो मन। उसका करूँ निवेदन।
तो अबतक हमने वर्णन। किया किसका ?।। २९२।।

क्या वृक्ष शाखाओं से। अथवा समुद्र जल से।
या प्रकाश सूरज से। भिन्न होता कहीं ?।। २९३।।

या अवयव से शरीर। रसास्वाद से नीर।
क्या होता, धनुर्धर। बहुत निराला ?।। २९४।।

अतः ये जो सविस्तार। बताये बाह्य व्यापार।
वे नहीं अधिकतर। भिन्न मन से।। २९५।।

जो बीज बोया जाता। वही वृक्षरूप लेता।
वैसे मन से जो अंकुरता। वही इन्द्रिय-व्यापार।। २९६।।

अहिंसा यदि मन में ही। अंकुरित हुई नहीं।
तो इन्द्रियकर्मों में भी। व्यक्त होगी कैसे ?।। २९७।।

अर्जुन, प्रत्येक प्रवृत्ति। पहले मन में उत्पन्न होती।
फिर उसकी अभिव्यक्ति। होती काया, वाचा में।। २९८।।

जो मन में ही न हो। कैसे वाचा में प्रगट हो ?।
भूमि में बीज ही न हो। अंकुर फूटेगा कैसे ?।। २९९।।

नदी उद्गम में सूख जाये। पात्र में पानी कैसे आये ?।
जीव देह त्यज कर जाये। तो निष्क्रिय इन्द्रियाँ सभी।। ३००।।

सूत्रधार के बिन। कठपुतली न करे नर्तन।
वैसे निष्क्रिय हो मन। तो निष्क्रिय इन्द्रियाँ भी।। ३०१।।

वैसे अर्जुन, यह मन। इन्द्रियव्यापार का कारण।
वही करवाता आचरण। इन्द्रियों से।। ३०२।।

भीतर मन में जो भावना। या जो भी होती वासना।
वैसे ही बाहर व्यापार नाना। होते इन्द्रियों के ।। ३०३ ।।

पके फलों की सुगंध। चहुँ ओर फैलती अत्यंत।
वैसे मन में अहिंसा हो ओतप्रोत। क्रियाओं में प्रगटती ।। ३०४ ।।

अहिंसा अन्तःकरण की। है सम्पदा इन्द्रियों की।
जिसमें निर्देश से अहिंसा की। वढ़ती समृद्धता ।। ३०५ ।।

ज्वार आते सागर में। पानी भर जाता खाड़ियों में।
वैसे मन में भरते ही इन्द्रियों में। आती अहिंसा ।। ३०६ ।।

जैसे, पिता सुशिक्षित। बालक का पकड़कर हाथ।
अक्षर मोटे और ठोस। स्वयं ही लिखता ।। ३०७ ।।

वैसे, अपनी दयालुता। मन इन्द्रियों में उतारता।
वहाँ भी उत्पन्न करता। अहिंसा भाव ।। ३०८ ।।

इसी कारण भ्राता। इन्द्रियों की अहिंसकता।
मन की ही तत्वतः। होती कृति ।। ३०९ ।।

अर्जुन, इस रीति से। काया, वाचा, मन से।
जो मुक्त हो गया हिंसा से। प्रत्यक्ष या परोक्ष ।। ३१० ।।

वह हो गया ज्ञानमन्दिर। विशाल और सुन्दर।
यही नहीं, प्रत्यक्ष साकार। ज्ञान हो गया ।। ३११ ।।

जो अहिंसा प्रवचनों में। हम सुनते, पढ़ते ग्रंथों में।
उसका साक्षात्कार प्रत्यक्ष में। उसके दर्शन में होता ।। ३१२ ।।

ऐसा कहा श्रीकृष्ण ने। बताया था एक शब्द में।
किन्तु विस्तार से बताया मेंने। क्षमा करें ज्ञानेश्वर को ।। ३१३ ।।

आप कहेंगे हरी दूब चरते। पशु छूटे स्थान को बिसराते।
या पखेरू उड़ते-उड़ते। आगे ही जाते आँधी में ।। ३१४ ।।

वैसे प्रेम से आप्लावित। रस हो गये उत्स्फूर्त ।
मति हो गई असंयत। रोके न रुकी ।। ३१५ ।।

किन्तु ऐसा न सोचिये। इस विस्तार का भी कारण है ।
यद्यपि अहिंसा शब्द है। तीन अक्षरों का ।। ३१६ ।।

छोटा-सा शब्द है अहिंसा। तभी सम्भव विवरण इसका ।
जब होगा खंडन पूरा-सा। नाना मतों का ।। ३१७ ।।

अन्यथा जो है नाना मत। उन्हें न करते खंडित ।
मै बताता अपना मत। तो रास न आता ।। ३१८ ।।

क्या गाँव में जौहरियों के। रत्न कहकर शिला विके ? ।
या सम्मुख शारदा के। क्या न वाचालता व्यर्थ ? ।। ३१९ ।।

कपूर की मंद सुगंध। जिसकी नाक को हो ज्ञात ।
वह कैसे करेगा पसंद। आटा ऐवज में ? ।। ३२० ।।

अतः मैं सभा में आपकी। शेखी बघारता था वक्तृत्व की ।
किन्तु यह बात मेरे मन की। जंचेगी न आपको ।। ३२१ ।।

आम और विशेष विचार। दोनों को रखा एकाकार ।
तब भी उन्हें स्वीकार। आप करेंगे नहीं ।। ३२२ ।।

शंका की गंदगी के कारण। शुद्ध प्रमेय होगा मलिन ।
भाग जायेगा आपका अवधान। उल्टे पाँव ।। ३२३ ।।

जलाशय हो सुन्दर। किन्तु काई जमी हो जल पर ।
राजहंस उसके तट पर। क्यों जायेंगे ? ।। ३२४ ।।

मेघमंडल के पार। चाँदनी फैली हो सुन्दर ।
फिर भी अपनी चंचु चकोर। खोलते नहीं ।। ३२५ ।।

वैसे मेरा निरूपण। यदि न हो दोषविहीन ।
तो क्रुद्ध हो आप सज्जन। छुयेंगे न ग्रंथ को ।। ३२६ ।।

मत-विमत का विवेचन। बिना किये आक्षेप का खंडन ।
आपको मेरा व्याख्यान। दूर करेगा मुझसे ।। ३२७ ।।

करते समय ग्रंथ रचना। मेरे मन में यही भावना ।
कि रखूँ सदा प्रसन्नमना। आप संत सज्जनों को ।। ३२८ ।।

इस गीतार्थ के महान। आप ही सच्चे प्रियजन ।
व्याख्यान के लिये यही जान। सादर धरी गीता ।। ३२९ ।।

आप अपना सर्वस्व देकर। इसे छुड़ा लेंगे सत्वर ।
आपकी अमोल कृपा का मुखर। धरण है यह ग्रंथ ।। ३३० ।।

सर्वस्व का लोभ करेंगे। इस धरण का अवहेल करेंगे ।
तो मेरी भी दुर्गति करेंगे। आप गीता जैसी ।। ३३१ ।।

आपकी कृपा का प्रसाद। मुझे मिलता रहे सतत ।
इसलिये किया निमित्त। इस ग्रंथ का ।। ३३२ ।।

आप महान रसिकों के हित। व्याख्यान खोजता था उचित ।
यही सोच कर निरूपित। मत मतान्तर अहिंसा के ।। ३३३ ।।

किन्तु कथा का हुआ विस्तार। श्लोक का अर्थ गया दूर ।
अतः आपसे क्षमा त्रिवार। माँगता बालक आपका ।। ३३४ ।।

कौर में कंकड़ आ गया। निकालने में समय लग गया ।
न मानें दोष आ गया। कंकड़ निकालना आवश्यक ।। ३३५ ।।

चोर मिल गया राह चलते। समय गया उससे बचते ।
तो बालक पर गुस्सा करते। या उतारते राई लोन ? ।। ३३६ ।।

अस्तु आपने अच्छा किया। इस बालक को क्षमा किया ।
अब सुनिये, चक्रधर ने क्या। बताया अर्जुन को ।। ३३७ ।।

देव कहता, हे ज्ञानलोचन ! हो जाओ सावधान ।
ज्ञान के समस्त लक्षण। सुनो ध्यान से ।। ३३८ ।।

जहाँ आक्रोश के बिन। क्षमापूर्ण है अन्तःकरण।
वहाँ विशुद्ध ज्ञान। प्रगट जानो ।। ३३९ ।।

जैसे सरोवर में अव्याहत। कमलिनि होती विकसित।
या बढ़ती सम्पत्ति नित। भाग्यवंत के घर में ।। ३४० ।।

वैसे जिनके कारण भ्राता। क्षमा बढ़ती सर्वथा।
वे सभी लक्षण हूँ सुनाता सुनो चित्त दे ।। ३४१ ।।

प्रिय पुत्र जिस भाव-से। गहने लगाता देह से।
जो स्वीकारता वैसे। सकल भोग ।। ३४२ ।।

त्रिविध दुःखों के आघात। टूट पड़े एकत्रित।
फिर भी उनके भार से, पार्थ। जो झुकता नहीं ।। ३४३ ।।

वांछित का लाभ होता। तो चित्त जितना तोष नहीं पाता।
उतना ही सन्तोष होता। आकस्मिक संकट में ।। ३४४ ।।

मानापमान जो सहता। सुख-दुःख समान मानता।
निन्दा-स्तुति से होता। विचलित नहीं ।। ३४५ ।।

जो न गरमाता ग्रीष्म में। ठिठुरता न शिशिर में।
कितनी ही भीषण विपदा में। जो न होता भीत ।। ३४६ ।।

अपने शिखर की गुरुता। जैसे मेरू नहीं जानता।
वराह अवतार नहीं कहता। पृथ्वी का भार असह्य ।। ३४७ ।।

असंख्य भूत चराचर। पृथ्वी को न होते भार।
वैसे द्वंद्वों की पड़ते मार। पसीना न छूटता जिसे ।। ३४८ ।।

नदियों के महापूर। हो गये अपरम्पार।
सबको समा लेता सागर। उदर में जैसे ।। ३४९ ।।

वैसे, जिसके आचरण माहीं। असहनीय कुछ नहीं।
सहने का बोध भी नहीं। होता लेशमात्र ।। ३५० ।।

जो-जो उसे प्राप्त होता। सब अपना ही मानता ।
फिर अमुक सहने का नहीं रहता। अभिमान मन में ।। ३५१।।

ऐसी क्षमा विषादरहित। जिसमें होती, पंडुसुत ।
उसके कारण जग में प्रसृत। महिमा ज्ञान की ।। ३५२।।

अर्जुन, ऐसा पुरुष। तत्वतः ज्ञान का निकष ।
अब आर्जव गुण के खास। लक्षण बताता हूँ ।। ३५३।।

यह आर्जव होता ऐसे। कर्म उद्देश्य हो चाहे जैसे ।
प्राण का सौजन्य सबसे। होता एक-सा ।। ३५४।।

भला बुरा भेद न करता। सबको प्रकाश देता सविता ।
या आकाश विश्व को देता। एक-सा अवकाश ।। ३५५।।

वैसे ही जिसका मन। किसी के प्रति नहीं भिन्न ।
कैसे रहता उसका आचरण। अब सुनो ठीक से ।। ३५६।।

सब उसके जाने-पहचाने। सबके साथ सम्बन्ध पुराने ।
अपना पराया न माने। वह आचरण में ।। ३५७।।

सबसे रखता मेलजोल। वृत्ति में उदार, जैसे जल ।
किसी भी विषय में दखल। देता नहीं ।। ३५८।।

जैसे पवन का दौड़ना। वैसे उसकी सरल भावना ।
सन्देह और चाहना। नहीं होती मन में ।। ३५९।।

माँ के आगे चलता बालक। जैसे हो पूरा निःशंक ।
वैसे जो न होता सशंक। मन की बात बताते ।। ३६०।।

खिले कमल की सुगंध। रह न पाती उसमें बन्द ।
वैसे विचारों पर निर्बन्ध। रख न पाता अपने ।। ३६१।।

पहले दिखतीं किरणें रत्न की। फिर दिखती सुन्दरता उसकी ।
वैसे क्रिया बाद में दिखती उसकी। मन पहले प्रगटता ।। ३६२।।

व्यर्थ चिन्तन नहीं जानता। नित्य तृप्ति अनुभव करता।
काम में अनिर्णयता। नहीं होती ।। ३६३।।

वृत्ति में दब्बूपन नहीं। बात में संदिग्धता नहीं।
ओछे मन से आचरण नहीं। करता जो किसीसे ।। ३६४।।

दसों इन्दियाँ होती प्रांजल। निष्कपट और निर्मल।
पाँचों प्राण मुक्त सरल। आठों पहर होते ।। ३६५।।

जिसका मानस सरल मधुर। मानो अमृत की सतत धार।
या जो होता पीहर। इन लक्षणों का ।। ३६६।।

ऐसा पुरुष, धनुर्धर। होता आर्जव साकार।
उसे ही अपना घर। आत्मज्ञान बनाता ।। ३६७।।

अब इसके अनन्तर। गुरुभक्ति के नाना प्रकार।
सुनाता हूँ, हो तत्पर। सुनो ध्यान से ।। ३६८।।

यह सेवा सद्गुरु की। जन्मभूमि सभी दैवों की।
कराती प्राप्ति परब्रह्म की। शोकग्रस्त को भी ।। ३६९।।

वह उपासना आश्चर्य की। बताता हूँ तुम्हें सम्प्रति।
एकाग्र हो सुभद्रापति। सुनो ध्यान से ।। ३७०।।

अपनी सारी जलसम्पति। लिये गंगा सागर में मिलती।
या वेदविद्या विरमती। ब्रह्मपद में समस्त ।। ३७१।।

या अपने गुणदोष व जीवन। पति को करना अर्पण।
यही उचित है ऐसा मान। चलती पतिव्रता ।। ३७२।।

वैसे अपना मन और काया। जिसने गुरुकुल को थमाया।
सारे देह को बनाया। गुरुभक्ति का घर ।। ३७३।।

गुरुग्राम हो जिस देस में। वही देस नित मानस में।
जैसे विरहिणि के मन में। स्मरण सतत प्रिय का ।। ३७४।।

उधर से आती पुरवाई। तो करे दौड़कर अगुवाई।
कहता धारे नवाई। बसो मेरे घर में ।।३७५।।

गुरुग्राम जिस ओर होता। प्रेम से उस ओर बतियाता।
अपने को जागीरदार मानता। श्रीगुरु के घर का ।।३७६।।

दूर देस में गुरु आज्ञा से। निवास करना पड़े उसे।
तब पघे से बँधे बछड़े जैसे। छटपटाता जो ।।३७७।।

सोचता कब पघा टूटेगा। कब स्वामी से मिलूँगा।
निमिष युग से बड़ा। लगता उसे ।।३७८।।

कोई गुरुग्राम से आता। या गुरु का भेजा होता।
तो आयु-अन्त में लगता। मिला नवजीवन ।।३७९।।

अथवा सूखे अंकुर पर। बरसती हो अमृत धार।
या तड़ाग-मछली को सागर। मिला हो जैसे ।।३८०।।

अथवा रंक को मिल जाय धन। अन्धे को मिले लोचन।
फटीचर को इंद्रासन। मिला हो जैसे ।। ३८१।।

वैसे गुरुकुल के नाम से। मन को सुख होता ऐसे।
कि गगन को दोनों हाथों से। समेट ले बाँहों में ।। ३८२।।

गुरुकुल में ऐसी प्रीत। जहाँ देखोगे, पार्थ।
वहीं जानो ज्ञान समस्त। सेवारत होता है ।। ३८३।।

और अपना अन्तःकरण। करते अत्यंत भक्तिपूर्ण।
नित्य करता जो ध्यान। श्रीगुरु-रूप का ।। ३८४।।

शुद्ध हृदय के प्राँगण में। गुरु को आराध्य के रूप में।
स्थापित कर भक्तिभाव से। बनता पूजा-सामग्री ।। ३८५।।

अथवा ज्ञानमन्दिर में। आनन्द के गर्भगृह में।
करता ध्यानामृत धार में। अभिषेक गुरु का ।। ३८६।।

बोध सूर्य के उदय पर। बुद्धि की डलिया भर कर।
गुरुरूप त्र्यंबक पर। चढ़ाता लखौरी ।।३८७।।

त्रिकाल शुद्ध प्रहर। जीवन-धूप जला कर।
ज्ञानदीप से निरन्तर। उतारता आरती ।।३८८।।

समरसता का भोग चढ़ाता। परम सन्तोष मन में पाता।
स्वयं पुजारी बनता। श्रीगुरु शिवलिंग ।।३८९।।

अथवा जीव शैया पर। गुरु को प्रीतम जान कर।
करता उनसे शृंगार। अत्यंत प्रेम से ।।३९०।।

उभरता किसी अवसर पर। गुरुप्रेम मन में अपार।
तो उसी को क्षीरसागर। मान लेता ।। ३९१।।

गुरुध्यान का परम सुख। उसे ही मानता महाशेष।
उस पर देखता विष्णुसदृश। शयन करते श्रीगुरु ।। ३९२।।

फिर स्वयं लक्ष्मी बन। गुरु के दबाता चरण।
खड़ा रहता गरुड़ बन। सम्मुख हाथ जोड़े ।। ३९३।।

कभी नाभिजन्मा विधाता। स्वयं ही है बन जाता।
यों ध्यानसुख अनुभव करता। गुरुमूर्ति का प्रेम से ।। ३९४।।

कभी गुरु को, अर्जुन। मन में लेता माता मान।
अनुभव करता स्तनपान। सुख से गोद में ।। ३९५।।

कभी चैतन्य तरु छाया में। गुरु को देखता धेनु रूप में।
पीछे-पीछे बछड़े के रूप में। देखता अपने को ।। ३९६।।

गुरुकृपा के जलाशय में। स्वयं को मछली-रूप में।
कभी किसी क्षण में। यही करता अनुभव ।। ३९७।।

गुरुकृपा की अमृतवृष्टि। पौध अपनी सेवावृत्ति।
ऐसी नाना संकल्पनाएँ किरीटी। करता मन उसका ।। ३९८।।

कभी नेत्र पंख विहीन। ऐसा पिल्ला जाता बन।
कभी कल्पना की उड़ान। अपार उसकी ।।३९९।।

गुरु को बनाता पक्षिणि। चुगता चोंच से दाना-पानी।
गुरु को मान कर तरणी। लेता सहारा उसका ।।४००।।

ज्वार आते ही सागर में। लहरों पर लहरें उठतीं उसमें।
वैसे, ध्यान पर ध्यान मन में। उठते प्रेमबल से ।।४०१।।

पार्थ, ऐसे नाना भान्ति। भोगता मन में गुरुमूर्ति।
अब सुनो बाह्य सेवा रीति। होती कैसे ।।४०२।।

मन में सदा यही सोचता। गुरु की करूँगा दासता।
प्रसन्न हो कहेंगे बेटा। कुछ तो माँग लो ।।४०३।।

जब मेरी सेवा देख कर। प्रसन्न होंगे गुरुवर।
तब जोड़ कर दोनों कर। विनय यही करूँगा ।।४०४।।

कहूँगा, आपके परिवार में। जो विविध रूप देखता हूँ मैं।
उन सभी रूपों में। देख सकूँ अपने को ।।४०५।।

जो-जो हैं आपके उपकरण। नाना उपयोग के साधन।
उनके रूप में भगवन। केवल मैं ही रहूँगा ।।४०५।।

माँगूँगा ऐसा वर। तथास्तु कहेंगे गुरुवर।
तब वह सारा परिवार। बन जाऊँगा ।।४०७।।

उपयोग का प्रत्येक साधन। मैं अकेला जाऊँगा बन।
तब देखना चकित बन। उपासना मेरी ।।४०८।।

गुरु यद्यपि माँ बहुतों की। किन्तु रहे मुझ अकेले की।
इसके लिये दूँगा स्वयं की। सौगंध उनकी कृपा को ।।४०९।।

गुरु-अनुराग प्राप्त कर। एकपत्नीव्रत रखकर।
गुरुप्रेम को बाँध कर। रखूँगा अपने में ।।४१०।।

कितनी ही बहे बयार। न जाती दिशाओं के पार।
वैसे गुरुकृपा के लिये पंजर। बनूँगा मैं ।। ४११।।

स्वामिनी बना गुरुसेवा को। गुण-आभूषण पहनाऊँगा उसको।
बनाऊँगा अपने आपको। खोल गुरुभक्ति की ।। ४१२।।

गुरुप्रेम की होते वृष्टि। मैं बनूँगा तराई-धरती।
ऐसे मनोरथों की सृष्टि। रचता अनंत ।। ४१३।।

कहता श्रीगुरु का मन्दिर। मैं ही बनूँगा सुन्दर।
और दास बन निरन्तर। सेवा करूँगा उसमें ।। ४१४।।

सद्‌गुरु जिन्हें लाँघेगे। वे देहलियाँ हम बनेंगे।
और द्वारपाल बनेंगे। हम ही उनके ।। ४१५।।

में ही पादुकाएं बनूँगा। स्वयं ही उन्हें पहनूँगा।
छत्र बन कर करूँगा। गुरुमस्तक पर छाया ।। ४१५।।

में ही बनूँगा चोपदार। मैं ही दूँगा चँवर ढार।
हाथ दूँगा, अगवानीदार। में ही बनूँगा ।। ४१७।।

में ही बनूँगा झारी। कुल्ला करने दूँगा वारि।
सेवक पीकदानधारी। में ही बनूँगा ।। ४१८।।

मैं ही नहाने पानी दूँगा। उटी मैं ही लगाऊँगा।
मैं ही सिद्धता करूँगा। स्नान की ।। ४१६।।

बनूँगा गुरु का आसन। अलंकार और परिधान।
चन्दन आदि लेपन। बनूँगा अकेला ।। ४२०।।

मैं ही बनूँगा रसोइया। और मैं ही परोसैया।
उतारूँगा आरतियाँ। मैं ही श्रीगुरु की ।। ४२१।।

सद्‌गुरु करेंगे भोजन। मैं ही हूँगा पंगत-पावन।
ताम्बूल करूँगा समर्पण। मैं अकेला ही ।। ४२२।।

मैं ही उठाऊँगा जूठन। शैया का मैं ही झाड़न ।
और चरणों का संवाहन। करूँगा मैं ही ।। ४२३ ।।

मैं ही बनूँगा सिंहासन। सद्गुरु उस पर विराजमान ।
करूँगा सर्वांगपरिपूर्ण। सेवा ऐसी ।। ४२४ ।।

श्री गुरु का मन। जिस पर देगा अवधान ।
मैं वह चमत्कार बन। जाऊँगा पहले ही ।। ४२५ ।।

उनके श्रवणांगन में। शब्दों की अक्षौहिणी मैं ।
स्पर्श का हर स्थान में। विषय मैं ही बनूँगा ।। ४२५ ।।

श्रीगुरु के शान्त लोचन। जिसका करें स्नेहावलोकन ।
वे सारे रूप करूँगा धारण। मैं अकेला ।। ४२७ ।।

श्रीगुरु की रसना को। रस भाता हो जो ।
या गंध भाये जो नाक को। वह बनूँगा मैं ही ।। ४२८ ।।

ऐसे बाहर और भीतर। गुरुसेवा करूँगा निरन्तर ।
गुरुदेव का वस्तुसम्भार। बनूँगा उसके लिये ।। ४२९ ।।

कहता जब तक तन में साँस। रखूँगा सेवा की आस ।
जब शान्त हो जायें साँस। इच्छा करता ऐसी – ।। ४३० ।।

इस देह की भस्म के कण। उस मोटी में हों विलीन ।
जहाँ खड़े हो चरण। मेरे सद्गुरु के ।। ४३१ ।।

देह जल की बूँद प्रत्येक। हो उस पानी से एक ।
जिसे करते हों स्पर्श। मेरे स्वामी ।। ४३२ ।।

जिनसे श्रीगुरु की आरती। गुरुगृह में जिनसे श्रुति ।
उन दीपों की ज्योति में ज्योति। मिले देह की ।। ४३३ ।।

चँवर-पंखे का पवन। जो छूता गुरु का तन ।
उसमें मिला दूँ निज प्राण। देहत्याग के बाद ।। ४३४ ।।

अवकाश में जहाँ-जहाँ पर। वास करते हों गुरुवर।
कर दूँ अपना देहाम्बर। विलीन उसमें ।। ४३५ ।।

जीते जी यां मरणोपरान्त। गुरुसेवा करूँ नितान्त।
अन्य किसीको, हो कल्पान्त। करने नहीं दूँगा ।। ४३५ ।।

जिसके मन में इच्छा ऐसी। बसती हों निरन्तर-सी।
और तदनुसार सेवा गुरु की। करता जो सदैव ।। ४३७ ।।

थोड़ा, बहुत, दिन, रात। नहीं सोचता जिसका चित्त।
गुरु आज्ञा से असीमित। उल्लास होता जिसे ।। ४३८ ।।

ऐसी गुरुसेवाहित। जो गगन से भी ऊँचा होत।
सभी सेवायें एक साथ। करता जो अकेला ।। ४३९ ।।

गुरुसेवा का पाने अवसर। मन से भी आगे दौड़ता शरीर।
गुरु कार्य की इच्छा प्रखर। शर्त लगाती मन से ।। ४४० ।।

गुरु की सहज लीला देख कर। जो प्रेम से कभी कभार।
जीवन का राई नोन उन पर। उतार देता है ।। ४४१ ।।

जो गुरुसेवा में कृश होता। गुरुप्रेम से पुष्ट होता।
गुरु आज्ञा में रहता। स्वयं ही सत्पात्र ।। ४४२ ।।

गुरुकुल के कारण सुकुलीन। गुरुबंधु-सौजन्य से जो सुजन।
गुरुसेवा व्यसन से व्यसनाधीन। रहता जो निरन्तर ।। ४४३ ।।

गुरुसम्प्रदाय के धर्म। जिसके लिये वर्णाश्रम।
और जिसका नित्यकर्म। श्रीगुरु की परिचर्या ।। ४४४ ।।

गुरु क्षेत्र, गुरु देवता। गुरु माता, गुरु पिता।
गुरु सेवा के अन्यथा। मार्ग जो न जानता ।। ४४५ ।।

गुरु के मठ का द्वार। जिसके लिये सर्वस्व सार।
प्रेम से मानता सहोदर। गुरुसेवकों को ।। ४४६ ।।

नित्य जिसकी जिह्वा पर। गुरुनाम का मंत्रोच्चार।
न मानता गुरुवाक्य से इतर। शास्त्र कोई ।।४४७।।

पानी हो अस्वच्छ मलिन। किन्तु लगते श्रीगुरु चरण।
उसे ही मानता तीर्थ पावन। एकमेव त्रैलोक्य में ।।४४८।।

श्रीगुरु का खाया जूठन। आनन्द से करता भक्षण।
उस सुख से मानता हीन। समाधिसुख को ।।४४९।।

श्रीगुरु करते मार्गक्रमण। तब उठते जो धूलिकण।
उन्हें ही करता सिर पर धारण। मोक्षसुख के लिये ।।४५०।।

अस्तु, कितना बताऊँ धनुर्धर। गुरुभक्ति का न कोई पार।
तभी कर गया इतना विस्तार। उफान आया मति में ।।४५१।।

इस गुरुभक्ति की पर्वाह जिसे। इस विषय में रस जिसे।
नहीं मानता इस सेवा से। मधुर कुछ भी ।।४५२।।

वह दर्शन का जन्मस्थान। ज्ञान सुन्दर उसके कारण।
वही साक्षात् है भगवान। ज्ञान भक्त उसका ।।४५३।।

अपार है गुरुभक्ति जहाँ। शुद्ध ज्ञान का भण्डार वहाँ।
जो पूरी कर सके महा-। जिज्ञासा विश्व की ।।४५४।।

मेरे मन में गुरुसेवा की। उत्कंठा है पराकोटि की।
अतः विस्तार से उसकी। महिमा बता गया ।।४५५।।

अन्यथा मैं लूला भजन के लिये। अन्धा दर्शन के लिये।
पंगु जो परिचर्या के लिये। उससे भी मंद मैं ।।४५५।।

मूक हूँ गुरुवचन में। आलसी गुरुआज्ञा पालन में।
किन्तु प्रबल इच्छा मन में। गुरुभक्ति बढ़े सर्वत्र ।।४५७।।

ज्ञानदेव कहता विनय से। बस इसी एक कारण से।
प्रदीर्घ वर्णन करने ऐसे। हुआ मैं उद्यत ।।४५८।।

मेरे बोलों को कीजै सहन। सेवा का दीजै अवसर पूर्ण ।
तब गीतार्थ का विवेचन। यथोचित करूँगा ।। ४५९ ।।

सुनिये सकल सज्जनगण। विष्णु का अवतार श्रीकृष्ण ।
जो भूतों का भार करता सहन। कहता अर्जुन से ।। ४६० ।।

जैसे अन्तर्बाह्य कर्पूर। सर्वथा अत्यंत पवित्र ।
वैसे मन और शरीर। पवित्र जिसके ।। ४६१ ।।

अथवा रत्नमणि जैसे। निर्मल बाहर भीतर से ।
या दिनमणि जैसे। अन्तर्बाह्य तेजोमय ।। ४६२ ।।

कर्म से शुद्ध शरीर। ज्ञान से आलोकित अंतर ।
ऐसे उभयतः जो पवित्र। हो गया अर्जुन ।। ४६३ ।।

गीली माटी लगा कर। फिर जल से नहा कर ।
निर्मल होता शरीर। वेद कहते ।। ४६४ ।।

चतुरता से माटी घिस कर। दर्पण होता निर्मलतर ।
धोबी की भट्ठी में वस्त्र। साफ धुलते जैसे ।। ४६५ ।।

वैसे जिसकी बाह्य मलिनता। नष्ट हो गई है सर्वथा ।
मन में ज्ञानदीप प्रकाशता। वह शुद्ध अन्तर्बाह्य ।। ४६६ ।।

अन्यथा हे भ्राता। अंतरंग शुद्ध न होता ।
तो बाहरी कर्मनिष्ठता। मात्र विडम्बना ही ।। ४६७ ।।

मृत देह को सजाना। गधे को तीर्थ में नहलाना ।
या कड़वी तोरी को लेपना। गुड़ से जैसे ।। ४६८ ।।

वीरान घर में वंदनवार। अन्नलेपन भूखे पर ।
विधवा ने माँग ली भर। सिंदूर से जैसे ।। ४६९ ।।

कलश नक़ली खोखला हो। आग लगे उसकी चमक को ।
फल का चित्र सुन्दर हो। किन्तु भीतर होता भूसा ।। ४७० ।।

किन्तु वैसे कर्म सतही होता। ऊँचे मोल न हीन बिकता ।
गंगा में डुबोने से न होता। मदिरा-घट पवित्र ।।४७१।।

अतः ज्ञान प्राप्त होते मन में। कर्म शुद्ध होता जन में ।
किन्तु ज्ञानकर्मयुत शुचिता जग में। दिखती कहाँ ? ।।४७२।।

भला कर्म करते हुए। बाह्य अंग जिसने धोये ।
अन्तरंग भी निर्मल किये। ज्ञान की अग्नि से ।।४७३।।

उसमें भीतरी बाहरी भेद गया। निर्मलत्व एक हो गया ।
और पीछे शेष रह गया। केवल शुचित्व ।।४७४।।

सद्भाव उठते जो मन में। वे ही प्रगटते कृति में ।
जैसे दीपक स्फटिक-घर में। डोलते लगते ।।४७५।।

मन में विकल्प उठते। विकृति को जन्म देते ।
कुकर्म की ओर बढ़ते। चित्त के भाव ।।४७६।।

दर्शन श्रवण ऐसे विषयों का। सन्तुलन न बिगाड़ते मन का ।
जैसे मेघों के रंगों का। रंग न चढ़ता नभ पर ।।४७७।।

अन्यथा इंद्रिय-भोगों में समस्त। यद्यपि होता है रत ।
मन नहीं जिसका लिप्त। होता विकार से ।।४७८।।

पथ में नारी पवित्र-अपवित्र। देख कर सज्जन निर्विकार ।
वैसे संसार में व्यवहार। करता जो ।।४७९।।

पति और पुत्र का समान। युवती करती आलिंगन ।
किन्तु पुत्रालिंगन से कामाधीन। होता न चित्त उसका ।।४८०।।

वैसे विशुद्ध जिसका हृदय। संकल्प-विकल्प से न परिचय ।
कार्य-अकार्य का निर्णय। जो जानता उचित ।।४८१।।

हीरा न भीगता पानी में। बालू न गलती उबाल में ।
वैसे वृत्ति जिसकी विकल्प में। होती नहीं विकृत ।।४८२।।

ऐसा जीवन जो होता। उसी का नाम है शुचिता।
उसमें ही परिपूर्ण होता। आत्मज्ञान ।। ४८३ ।।

जिसके हृदय में वह स्थिरता। स्वयमेव पाती पूर्णता।
उसके जीवन से दीर्घायु होता। आत्मज्ञान पार्थ ।। ४८४ ।।

यदपि यह जड़ शरीर। सर्वत्र विचरता बाहर।
किन्तु होता सुस्थिर। अधिष्ठान मन का ।। ४८५ ।।

गाय जाती वन में। किन्तु प्रेम होता वत्स में।
या सहगमन में आभूषणों में। चित्त न होता सती का ।। ४८५ ।।

लोभी घर त्याग जाता। किन्तु ध्यान धन पर होता।
वैसे वह देहधर्म आचरता। स्थिर होता मन ।। ४८७ ।।

दौड़ता है अभ्रमंडल। किन्तु नभ होता अविचल।
तारे घूमते किन्तु निश्चल। ध्रुव होता जैसे ।। ४८८ ।।

पथिक आते-जाते रहता। किन्तु पथ वहीं रहता।
या जैसे तरु का नहीं होता। आना-जाना कहीं ।। ४८९ ।।

पंचभूतों का शरीर, भ्राता। बड़ा ही चुलबुला होता।
किन्तु विचलित नहीं करता। विकार जिसे ।। ४९० ।।

आवें आँधी, चक्रवात। पृथ्वी रहती अविचलित।
वैसे विकार हो बलवंत। मन निश्चल जिसका ।। ४९१ ।।

दैन्य-दुःख से पीड़ित नहीं। भय-शोक से कम्पित नहीं।
देहान्त के समय पर भी। होता न जो भयभीत ।। ४९२ ।।

आशा इच्छा का आवे पूर। वार्धक्य-व्याधियाँ आवें उभर।
फिर भी न लेता मुँह फेर। आत्मसुख से जो ।। ४९३ ।।

हों निन्दा अपमान के आघात। काम लोभ के उत्पात।
किन्तु जिसके मन का न होत। बाल बाँका ।। ४९४ ।।

क्यों न आकाश टूट जाये। पृथ्वी सारी गल जाये।
किन्तु धैर्य से नहीं ढल पाये। चित्तवृत्ति जिसकी ।।४९५।।

फूल की मार से हाथी। पीछे नहीं हटता, साथी।
वैसे अपशब्दों से मति। ढलती नहीं जिसकी ।।४९५।।

क्षीरसागर की थपेड़ों से। मंदार रहा कँपने से।
वड़वानल की लपटों से। जलता नहीं गगन ।।४९७।।

वेसे विपय वासना की लहरें। खलबली न मचातीं उसमें।
कल्पान्त आ भी गया नियरे। धैर्य रखता जो ।।४९८।।

जिसका नाम धेर्य, भ्राता। यह वही हे मन की अवस्था।
इसे समझ लो तत्वतः। सही रूप मे ।।४९९।।

पार्थ, यह स्थेर्य गुण। जिसमें अन्तर्बाह्य परिपूर्ण।
वही खुला ज्ञाननिधान। पहचान लो ।।५००।।

आलसी घर से नहीं निकलता। योद्धा शस्त्र नहीं डालता।
धनभंडार को नहीं भुलाता। कजूस जेसे ।।५०१।।

पुत्र हो जब इकलोता। प्राणप्रिय माँ का होता।
मधुमक्खी मधुसचय में जागरूकता। रखती जेसे ।।५०२।।

अर्जुन जो इसविध। मन को रखता निर्बाध।
इन्द्रियोन्मुख किसीविध। होने न देता उसे ।।५०३।।

काम पिशाच होगा हावी। आशा-डायन देख लेगी।
प्राणों को पीडा पहुँचेगी। यही भय जिसे ।।५०४।।

स्वैराचारी पत्नी को जसे। पति बंद कर रखता वेसे।
निगरानी बड़ी चुस्ती से। करता जो मन की ।।५०५।।

प्राणों की चिन्ता न करता। देह को घिसता छीजता।
इन्द्रियां सोंप देता। संयम को जो ।।५०५।।

मन के महाद्वार में। इंद्रियनिग्रह के थाने में।
यम नियम को पहरे में। लगा रखता जो ।।५०७।।

मूलाधार, नाभि, कंठ में। तीनों योगासनों में।
इड़ा, पिंगला के संधिस्थान में। मन को एकाग्र करे जो ।।५०८।।

जो समाधि की शैया पर। ध्यान को रखता बाँध कर।
चित्त चेतना की धनुर्धर। पाता समरसता ।।५०९।।

चित्त की यही अवस्था। आत्मनिग्रह कहलाती भ्राता।
यह होता वहाँ सर्वथा। विजय आत्मज्ञान की ।। ५१०।।

जिसकी आज्ञा अन्तःकरण। मानता शिरोधार्य प्रमाण।
उसे जानो अर्जुन। ज्ञान मनुष्यरूपी ।। ५११।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।८।।

जो-जो विषय इन्द्रियभोग्य। उनके प्रति प्रखर वैराग्य।
जिसकी करता सहाय। जागृत मन में ।। ५१२।।

वमन किया अन्न देख कर। मुँह में न आती लार।
या शव-आलिंगन की कभार। इच्छा नहीं होती ।। ५१३।।

विष का प्राशन करना। जलते घर में प्रवेश करना।
शेर की गुफा में रहना। कोई न चाहता जैसे ।। ५१४।।

उबले लोह रस में। कूदा न जाता जैसे।
अजगर का सिरहाना कैसे। करे कोई ? ।। ५१५।।

वैसे, विषय की वार्ता। जिसे न भाती सर्वथा।
विषयों का इन्द्रियों से, भ्राता। होने न देता सम्पर्क ।। ५१६।।

विषयभोग के प्रति आलस्य। व्रत-पालन से देह कृश।
शम दमादि साधनों में रस। होता जिसे ।। ५१७।।

तप और नाना व्रत। जो सदैव करता पंडुसुत।
नगर प्रवेश जिसे लगत। युगप्रलय-सा ।।५१८।।

चाह योगाभ्यास की। प्रीत विजनवास की।
और बात भीड़भाड़ की। रास न आती जिसे ।।५१९।।

इहलोक के विषय भोगना। यानी शरशय्या पर सोना।
या पीप-पंक में लौटना। लगता जिसे ।।५२०।।

और स्वर्ग भोग की वार्ता। सुन कर जिसे लगता।
श्वान माँस गला-सड़ा। आया मार्ग में ।।५२१।।

यह विषय का वैराग्य। आत्मलाभ का सौभाग्य।
इससे ब्रह्मानन्द के योग्य। होते जीव ।।५२२।।

इह-पर भोगों में अनास्था। जहाँ पाओगे, भ्राता।
वहीं ज्ञान का निवास होता। समझ लो इसे ।।५२३।।

सकाम पुरुष के सदृश। करता इष्ट कर्म अहर्निश।
किन्तु कृतीत्व का अभिनिवेश। रखता नहीं जो ।।५२४।।

कर्म वर्णाश्रम पोषक। नित्य और नैमित्तिक।
पालन उनका अचूक। करता जो ।।५२५।।

किन्तु यह मैंने किया। मेरे कारण सफल हो गया।
ऐसा विचार मन में लाया। नहीं जिसने ।।५२६।।

पवन सर्वत्र विचरता। उसमें होती स्वाभाविकता।
अथवा जैसे सूर्योदय होता। निरभिमान ।।५२७।।

श्रुति सहज हित बताती। गंगा निसर्गतः बहती।
वैसे जिसकी प्रत्येक कृति। होती स्वाभाविक ।।५२८।।

ऋतुकाल में फलते-फूलते। किन्तु अपना फलना न जानते।
ऐसे वृक्ष - से कर्म में होते। भाव जिसके ।।५२९।।

जिसने काया-वाचा-मन से। अहंकार निकाला पूर्णरूप से ।
एकावली का धागा जैसे। खींच लिया जाता ।। ५३० ।।

जैसे मेघ सम्बन्धरहित। विचरते नभ में अविरत ।
वैसे जिसके कर्म समस्त। सम्बन्धहीन होते ।। ५३१ ।।

शराबी के तन पर वस्त्र। चित्र के हाथ में शस्त्र ।
या बैल पर लदा शास्त्र। निरुपयोगी जैसे ।। ५३२ ।।

वैसे जिसे तन माहीं। अपने होने का बोध नहीं ।
अर्जुन पहचानो वही। निरहंकारिता ।। ५३३ ।।

ऐसी निरहंकारिता जहाँ। आत्मज्ञान होता वहाँ ।
नाम न लो पार्थ, यहाँ। आशंका का ।। ५३४ ।।

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, दुःख। व्याधियों और नाना पातक ।
प्राप्त होने से पहले। देख लेता है जो ।। ५३५ ।।

जैसे ओझा पिशाच का। अथवा योगी उपद्रव का ।
राज दीवार-दोष का। पहले करता विचार ।। ५३५ ।।

जनम-जनम का वैर। सर्प नहीं देता बिसार ।
वैसे न भुलाता निरन्तर। दुःख पूर्वजन्म का ।। ५३७ ।।

कंकरी जाये आँखों में। या शूल घुसे घाव में ।
वैसे दुःख स्मरण में। रखता जो जनन का ।। ५३८ ।।

कहता, पूयगर्त में पला। मूत्रमार्ग से निकला ।
दूध के लिये चाटता रहा। स्वेद भी स्तन का ।। ५३९ ।।

यों वार-वार सोचता। पुनर्जन्म से उकताता ।
अब वह न करूँगा कहता। जिससे मिलता जन्म ।। ५४० ।।

जुआरी खेल में हारता। सतर्क हो दुबारा खेलता ।
पिता के वैरियों को न भुलाता। पितृनिष्ठ पुत्र ।। ५४१ ।।

प्रतिशोध बंधुहत्या का। त्वेष से लेता भाई उसका।
उसी आवेश से पुनर्जन्म का। तोड़ता सम्बन्ध जो ।। ५४२ ।।

सम्भ्रान्त को अपमान। कभी नहीं होता सहन।
वैसे जन्मलज्जा को मन। असह्य मानता जिसका ।। ५४३ ।।

मरण होता हे निश्चित। आवे कल्पान्त के पश्चात।
किन्तु आज ही हो दत्तचित्त। उसका विचार करता जो ।। ५४४ ।।

नदी में दह है कहते। इस पार ही काछ कसते।
तैराक सिद्ध रहते। अर्जुन, जैसे ।। ५४५ ।।

जैसे रण में जाने से पहले। वीर आवेश को सम्भाले।
या शस्त्र आघात से पहले। आगे करता ढाल ।। ५४५ ।।

मार्ग में वध के भय से। यात्री सतर्क होता पहले से।
या रोगी औषध लेता जैसे। मरने से पूर्व ही ।। ५४७ ।।

यदि ऐसा न किया तो, भ्रात। आग लगने के पश्चात्।
कुँआ खोदने जैसी बात। हो जायेगी ।। ५४८ ।।

दह में फेंके पत्थर-सा। जो संसार में डूब गया।
उसे क्यों न कहें डूब गया। अपनी चीख समेत ? ।। ५४९ ।।

बलवान से जिसका। वैर हो पीढ़ियों का।
वह आठों पहर जैसा। भाँजता शस्त्र ।। ५५० ।।

उपवर कन्या का छूटे पीहर। संन्यास पूर्व ही छूटे संसार।
वैसे मरने से पहले ही अंतर। सिद्ध जिसका मरने ।। ५५१ ।।

यों जीवन में ही, भ्राता। जो पुनर्जन्म को निवारता।
वह मार कर मृत्यु को मारता। हो जाता ब्रह्मरूप ।। ५५२ ।।

इसविध जन्म-मरण का। शल्य नष्ट हुआ जिसका।
उसमें परिपूर्ण ज्ञान का। निवास जानो ।। ५५३ ।।

जरा ने न छुआ शरीर। तन में यौवन भरपूर।
तभी जो धनुर्धर। सोचता ऐसे ।। ५५४ ।।

कहता आज तन हृष्टपुष्ट। कल होंगे अपार कष्ट।
काया सूख कर होगी काष्ठ। शीघ्र ही ।। ५५५ ।।

जैसे भाग्यहीन के व्यवहार। वैसे होंगे हाथ-पैर।
जैसे मंत्रीविहीन सरकार। होगा सामर्थ्य मेरा ।। ५५५ ।।

सूँघने का फूलों को। शौक बहुत जिस नाक को।
वह प्राप्त होगा दशा को। ऊँट के घुटने की ।। ५५७ ।।

आवारा पशुओं के खुरों से। बाड़ा हो जाता जैसे।
मेरे मस्तक की वैसे। होगी दशा ।। ५५८ ।।

सुन्दर पद्मदल समान। आज जो हैं मेरे नयन।
कल होंगे तेजविहीन। जैसे पके चिण्डे ।। ५५९ ।।

भवें लटकेंगी पा ढील। जैसे पेड़ की जीर्ण खाल।
और छाती में गलेगा जल। आँखों का ।। ५६० ।।

जैसे बबूल का तना। गिरगिट बनाता चिकना।
वैसे मुख होगा चिकना। लार के कारण ।। ५६१ ।।

चूल्हे के पास वाले गर्त में। पानी भरते बुलबुले उठते।
वैसे आयेंगे नाक में। बुलबुले रेंट के ।। ५६२ ।।

ताम्बूल खाकर ओंठ रँगते। हँसने पर दाँत सुंदर दिखते।
मधुर शब्द निकलते। जिस मुख से ।। ५६३ ।।

उसी से आगे चलकर। निकलेंगे गंदे खखार।
दाढ़ें भी उखड़ कर। दाँतों समेत गिरेंगी ।। ५६४ ।।

ऋण में डूबे काश्तकार। पानी में भीगे जानवर।
उठते नहीं उठाने पर। जीभ न उठेगी वैसे ।। ५६५ ।।

बंजर में परेग खाखर। उड़ते डोलते हवा पर।
वही होगा शीघ्रतर। हाल मेरी दाढ़ी का ।।५६६।।

आषाढ़ की वर्षा होते। शिखरों से निकलते सोते।
वैसे दाँतों की दरारों से। पसीजेगी लार ।।५६७।।

वाचा मौन हो जायेगी। श्रवण की शक्ति जायेगी।
और काया दिखने लगेगी। जैसे बूढ़ा बंदर ।।५६८।।

घास का बना बिजूखा। आते हवा का झोका।
थर्राता, वैसे सारे देह का। कम्पन होने लगेगा ।।५६९।।

पाँव, पाँव में अटकेंगे। हाथ निःस्त्राण लटकेंगे।
बच्चे मजाक उड़ायेंगे। घेर कर चहुँ ओर ।।५७०।।

निकास-द्वार मल-मूत्र के। होंगे जैसे फूटे मटके।
मन्नतें करेंगे स्वजन घर के। मेरी मृत्यु की ।।५७१।।

जग मुझ पर थूकेगा। मृत्यु भी मुझसे कतरायेगा।
सारा कुनबा ऊब जायेगा। सर्वथा मुझसे ।।५७२।।

स्त्रियाँ मुझे मानेंगी प्रेत। बच्चे देखते ही होंगे मूर्च्छित।
मुझसे होगी घिन बहुत। परिसर में सभी को ।।५७३।।

लगते ढाँस खाँसी की। नींद टूटेगी पड़ोसियों की।
कहेंगे, है इस बूढ़े की। पीड़ा सभी को ।।५७४।।

बुढ़ापे में ऐसी अवस्था। होगी यह जान कर, भ्राता।
यौवन में ही दूर रहता। विषयोपभोगों से ।।५७५।।

कहता, बुढ़ापा अवश्य आयेगा। यौवन भोगों में बीतेगा।
तो अवसर कहाँ मिलेगा। आत्महित का ? ।।५७६।।

जब तक न आया बहरापन। कर लेता अध्यात्मश्रवण।
आया नहीं पंगुपन। तब तक यात्रा कर लेता ।।५७७।।

दृष्टि स्वच्छ है तब तक। दर्शनीय सब लेता देख।
गूँगा न होता तब तक। सुवचन बोलता रहता ।।५७८।।

हाथ होंगे लूले विकल। भविष्य जान लेता अविकल।
इसलिये यौवन में सकल। दानधर्म कर लेता ।।५७९।।

आगे बुढ़ापा आयेगा। तब मतिभ्रम हो जायेगा।
अध्यात्म-चिन्तन करेगा। इसलिये यौवन में ।।५८०।।

घर में चोरी होने से पहले। अपनी सम्पदा सम्भालें।
दियाबत्ती के समय से पहले। रखें ढक्कन आदि ।।५८१।।

वैसे बुढ़ापा आने पर। व्यर्थ होगा यह शरीर।
अतः करें आत्मोद्धार। युवा रहते मे ।।५८२।।

मकान न हो मार्ग में। पंछी लौट आये नीड़ में।
यात्रा पर जो निकले ऐसे में। लूटा जायेगा अवश्य ।।५८३।।

अतः बुढ़ापा आने से पहले। जो आत्मज्ञान प्राप्त कर ले।
उसे ही वरिष्ठ मान लें। यथार्थ में ।।५८४।।

झाड़े टोंटों को झाड़ने से। तिल नहीं मिलते फिर से।
क्या राख में आग लगाने से। निकलेगी ज्वाला ? ।।५८५।।

अतः बुढ़ापे का रखता स्मरण। उसका सर्वस्व न जाता छिन।
उसे प्राप्त हुआ आत्मज्ञान। जानो निश्चित ।।५८६।।

जब तक न नाना रोग। जर्जर करते अंग-अंग।
जो स्वास्थ्य का उपयोग। कर लेता हित में ।।५८७।।

जिसे साँप ने सूँघ लिया। वह मिष्ठान्न भले हो बढ़िया।
फेंक देता उसे, भैया। समझदार जैसे ।।५८८।।

वैसे जिस के कारण वियोग। बढ़े विपदा, दुःख, शोक।
उस स्नेह-सुख को त्याग। होता उदासीन जो ।।५८९।।

जिन कर्मेन्द्रियों से दोष। शरीर में करते प्रवेश।
उन्हें यमनियम विशेष। द्वारा पाटता जो ।।५६०।।

इसविध हे धनुर्धर। जिसका आचरण निरन्तर।
उसे स्वामी जानो साधिकार। ज्ञानसम्पदा का ।।५६१।।

और भी यहाँ एक। है ज्ञानलक्षण अलौकिक।
सुनाता हूँ तुम्हें सार्थक। सुनो धनंजय ।।५६२।।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।। ९ ।।

धर्मशाला के प्रति। यात्री की जो मनोवृत्ति।
वैसे इस देह के प्रति। उदासीन जो ।।५६३।।

अथवा जैसे वृक्ष की छाया। राह चलते पाती काया।
घर के प्रति उतनी ही माया। होती जिसके मन में ।।५६४।।

छाया देह के संग होती। किन्तु नहीं होती अनुभूति।
वैसे लोलुपता पत्नी के प्रति। नहीं जिसके मन में ।।५६५।।

और अपनी ही संतति। जिसे लगती अतिथि।
अथवा तरु तले बस्ती। करते पशु जैसे ।।५६६।।

जो हो कर भी धनवंत। धन के प्रति अनासक्त।
राहगीर साक्षीभूत। होता जैसे ।।५६७।।

तोता जैसे पिंजड़े में। रहता पालक की धाक में।
वैसे जो वेद की आज्ञा में। रहता डर कर ।।५६८।।

घर परिवार के प्रति। जिसे न बहुत आसक्ति।
उसे जानो, सुभद्रापति। सच्चा ज्ञानी ।।५६९।।

ग्रीष्म में समुद्र न सूखता। या वर्षा में नहीं फूलता।
वैसे जो समभाव रखता। इष्टानिष्ट के प्रति ।।६००।।

अथवा तीनों कालों में पार्थ। सूर्य नहीं होता त्रिविध।
वैसे दुविधा में जिसका चित्त। पड़ता न सुखदुख से ।। ६०१।।

जहाँ आकाश के समान। समत्वं न पड़ता न्यून।
वहीं निश्चय होता ज्ञान। अर्जुन, जानो ।। ६०२।।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। १०।।

और मेरे बिना कुछ भी। जग में अच्छा है नहीं।
यह संकल्प मन माहीं। किया जिसने ।। ६०३।।

जिसके काया वाचा मन। चलते यही संकल्प ठान।
कि मेरे बिना कोई अन्य। देखेंगे ही नहीं ।। ६०४।।

क्या बतायें और अधिक। जिसने मुझे दिया सर्वस्व।
शैया-साथी उसने नेक। बनाया मुझे ।। ६०५।।

पति से समागम करते। कान्ता के मन सन्देह न होते।
वैसे, निःसन्देह जो मुझसे। एकरस होता है ।। ६०६।।

सागर से होते मिलन। गंगा उसमें होती विलीन।
वैसे मुझसे एकरस बन। भजते जो सर्वभाव से ।। ६०७।।

उदय हो सूर्य के साथ। अस्त भी हो उसी के साथ।
ऐसी अनन्यता सोहत। प्रभा में जैसे ।। ६०८।।

पानी पर पानी उछलता। वही लहर कहलाता।
किन्तु देखने पर तत्त्वतः। सारा होता पानी ही ।। ६०९।।

ऐसी अनन्यता से जो मेरी। सेवा करे, धनुर्धारी।
आत्मज्ञान नरदेहधारी। जानो उसे ।। ६१०।।

अतिपावन तीर्थस्थान। परमपवित्र तपोवन।
पर्वतारण्य अति गहन। भाते जिसे निवासार्थ ।। ६११।।

पर्वतों के गूढ़ गह्वर। जलाशयों के एकान्त तीर।
वहीं रहता जो सादर। आता नहीं नगर में ।। ६१२ ।।

जिसे प्रिय है एकान्त। भीड़ कतई नहीं पसंद।
उसे जानो ज्ञान मूर्तिमन्त। मनुष्याकार में ।। ६१३ ।।

आत्मज्ञान का निरूपण। करने के लिये सम्पूर्ण।
और कुछ लक्षण अर्जुन। बताता हूँ ।। ६१४ ।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।। ११ ।।

जो परमात्मा कहलाता। वह जिससे प्राप्त होता।
वह इस जगत में भ्राता। आत्मज्ञान केवल ।। ६१५ ।।

उस एक ज्ञान के बिन। संसार-स्वर्गादि का ज्ञान।
है केवल अज्ञान। मानता जो ।। ६१६ ।।

स्वर्ग की इच्छा तजता। संसार के प्रति ऊब जाता।
सद्भाव से गहरे पैठता। आत्मज्ञान में जो ।। ६१७ ।।

अनेक मार्ग जहाँ मिलते। वहाँ पगडंडियाँ तजते।
राजमार्ग पर चलते। प्रवासी जैसे ।। ६१८ ।।

वैसे, सभी ज्ञानों को छान कर। निस्सार को छोड़ कर।
लगाता एकाग्र हो कर। मन अध्यात्म में ।। ६१९ ।।

कहता, यही है सत्य ज्ञान। अन्य ज्ञान है भ्रांतिपूर्ण।
ऐसे सुस्थिर मेरुसमान। निश्चय जिसका ।। ६२० ।।

ध्रुव जैसे नभ में, भ्राता। अटल सुस्थिर रहता।
वैसे निश्चय अध्यात्म का। जिसके मन में ।। ६२१ ।।

उसमें ही होता आत्मज्ञान। निःसन्देह जानो अर्जुन।
ज्ञानरूप जो अन्तःकरण। वही रूप ईश्वर का ।। ६२२ ।।

भोजन के लिये जा बैठना। नहीं होता भोजन करना।
वैसे ज्ञान की इच्छा करना। नहीं होता ज्ञानीपन ।। ६२३।।

तत्वज्ञान का निर्मल। एकमेव अन्तिम फल।
परब्रह्म ही है केवल। देखता जो सर्वत्र ।। ६२४।।

ज्ञानबोध होने पर भी। ज्ञेय यदि मिलता नहीं।
तो वह ज्ञान निष्फल ही। रहा सर्वथा ।। ६२५।।

अन्धे ने हाथ में दिया लिया। उसे उसका उपयोग क्या ?।
वैसे साक्षात्कार बिन हो गया। व्यर्थ ज्ञानलाभ ।। ६२६।।

बुद्धि में जागा ज्ञानबोध। और न हुआ परातत्व दर्शन।
तो जानो मति को निश्चित। अन्धता आयी ।। ६२७।।

अतः ज्ञान से जो दे दिखायी। वह परब्रह्म है सभी।
ऐसी निर्दोषता भाई। आवे बुद्धि में ।। ६२८।।

उस निर्दोष ज्ञान का दिखाया। ज्ञेय ब्रह्म जो देख पाया।
सर्वत्र अनुभव भी किया। वही सच्चा ज्ञानी ।। ६२९।।

ज्ञान की वृद्धि जितनी। विशाल बुद्धि जिसकी उतनी।
वही होता यथार्थ में ज्ञानी। कहना अनावश्यक ।। ६३०।।

ज्ञानप्रभा के सहित। जिसे होता ज्ञान प्राप्त।
उसने कर लिया हस्तगत। ब्रह्मतत्त्व को ।। ६३१।।

उसे ज्ञान मूर्तिमन्त। कहने में क्या अद्भुत ?।
क्या करें प्रतिपादित। सूर्य को सूर्य ? ।। ६३२।।

श्रोता कहते, 'ज्ञानदेव सुनिये। इस विवेचन को रोकिये।
मूल ग्रंथ में आने न दीजिये। व्यवधान कोई ।। ६३३।।

ज्ञानविषय की गहराई। बहुत विस्तार से बतायी।
हमें मिली बहुत पहुनाई। वक्तृत्व की आपके ।। ६३४।।

रस का करे अतिरेक। यही होता कवि विवेक।
तो हमें न्यौत कर। बनाते शत्रु ।। ६३५ ।।

जो भोजन के समय पर। भाग जाये अन्न उठा कर।
उसका आतिथ्य इतर। किस काम का ? ।। ६३६ ।।

सुलक्षणी हो दिखने में। लातें झाड़ें दोहन में।
ऐसी गाय को व्यर्थ में। क्यों पाले कोई ? ।। ६३७ ।।

बिना बताये आत्मज्ञान। करते गौण प्रतिपादन।
किन्तु आपने उचित प्रवचन। किया ज्ञान का ।। ६३८ ।।

जिसका पाने एक अंश। करते योगादि सायास।
उस ज्ञान का अमृतरस। बरसाया आपने ।। ६३९ ।।

अमृत की झड़ी लग जाये। भला कौन ऊब जाये ?।
नित्य सुख को गिन पाये। बताइये कौन ? ।। ६४० ।।

पूर्णमासी की रात। खिंचती हो युगपर्यन्त।
क्या चकोर बाट जोहत। भोर होने की ? ।। ६४१ ।।

वैसे, ज्ञान का निरूपण। करे आपकी वाणी रसपूर्ण।
तो पर्याप्त हो गया श्रवण। कौन कहे ? ।। ६४२ ।।

अतिथि हो भाग्यवान। उसे जिमाये सुहागन।
तो समाप्त ही न हो पकवान। यों लगता जैसे ।। ६४३ ।।

वैसे यह प्रसग अति मधुर। ज्ञान सुनने हम आतुर।
आपमें भी अनुराग मुखर। प्रवचन का ।। ६४४ ।।

अतः करते हुए प्रवचन। सामर्थ्य आपका चौगुन।
फिर हमें कहें क्यों न। आप हो ज्ञानद्रष्टा ।। ६४५ ।।

अब आगे ज्ञानेश्वर। अपनी प्रज्ञा के बल पर।
गीतार्थ का कृपा कर। निरूपण कीजिये' ।। ६४६ ।।

सुनते ही ऐसा सन्तवचन। कहे निवृत्तिदास तत्क्षण।
मेरा अपना भी मन। यही कहता है ।। ६४७ ।।

आप सन्तों ने ऐसे में। आदेश दिया है मुझे।
अतः शब्दों को व्यर्थ में। बढ़ाऊँगा नहीं ।। ६४८ ।।

तो इसविध श्रीकृष्ण ने। अठारह लक्षण ज्ञान के।
अर्जुन को बताये प्रेम से। सन्तजनो ।। ६४९ ।।

कहा, जहाँ ये लक्षण। वहीं जानो आत्मज्ञान।
यह स्वमत, अर्जुन। ज्ञानियों का भी ।। ६५० ।।

हथेली पर आँवला, भाता। सब ओर से देखा जाता।
वैसे, ज्ञान प्रत्यक्षतः। बताया साकार ।। ६५१ ।।

अब अज्ञान के लक्षण। स्पष्ट बताता हूँ अर्जुन।
सुनो दे कर अवधान। ज्ञानवान हो ।। ६५२ ।।

जिसने जाना सही ज्ञान। वह सहज जानता अज्ञान।
धनंजय, विपरीत ज्ञान। अज्ञान कहलाता ।। ६५३ ।।

दिन ढलने के पश्चात। रात आवेगी निश्चित।
बात इसके अतिरिक्त। कभी सम्भव नहीं ।। ६५४ ।।

वैसे, जहाँ नहीं ज्ञान। वहीं होता अज्ञान।
फिर भी कुछ लक्षण। अज्ञान के, सुनो ।। ६५५ ।।

प्रतिष्ठा के लिये जीता। सम्मान की बाट जोहता।
सत्कार से तुष्ट होता। मन ही मन जो ।। ६५६ ।।

पर्वत शिखर के समान। जो ऐंठता पा सम्मान।
उसमें होता अज्ञान। भरपूर जानो ।। ६५७ ।।

जो स्वधर्म का मूँज डोर। वाचा के पीपल पर।
या मन्दिर में रखा खड़ा कर। मोर-छत्र जैसे ।। ६५८ ।।

पसारे विद्या का पसारा। पीटे सुकृत का ढिंढोरा ।
प्रसिद्धि के लिये सारा। उद्योग जिसका ।। ६५९ ।।

सँवारता अपना शरीर। टालता दूसरों का सत्कार ।
ऐसा पुरुष, धनुर्धर। खान अज्ञान की ।। ६६० ।।

वन में लगते दावानल घोर। जलता जंगम और स्थावर ।
वैसे जिसका दुराचार। दुखदायी जगत को ।। ६६१ ।।

जिसका सहज भाषण। सब्बल से भी अति तीक्ष्ण ।
संकल्प विष से भी भीषण। घातक जिसके ।। ६६२ ।।

उसमें होता घोर अज्ञान। वह अज्ञान का है निधान ।
हिंसा का निवासस्थान। जीवन उसका ।। ६६३ ।।

हवा भरते धौंकनी फूलती। दबाते ही खोई बन जाती ।
वैसे लाभ-हानि से जिसकी मति। फूलती चिपड़ती है ।। ६६४ ।।

जैसे, धूल आँधी में। चढ़ जाती है गगन में ।
वैसे, जो स्तुति प्रसंग में। गर्वीला होता ।। ६६५ ।।

कीचड़ बूँद में घुलता। हवा लगते सूख जाता ।
वैसे जो सिर धुनता। अल्प निन्दा सुनते ।। ६६६ ।।

जो मान या अपमान। दोनों न कर पाता सहन ।
उसमें अज्ञान, अर्जुन। परिपूर्ण जानो ।। ६६७ ।।

मन में गाँठ रखता। शुद्ध मन का दिखावा करता ।
एक को अभिवचन देता। सहायता करता दूजे की ।। ६६८ ।।

बहेलिया घास डालता। वैसी इसकी प्रांजलता ।
किन्तु सज्जनों से रखता। मन में बैर ।। ६६९ ।।

चकमाक पर चढ़ी सिवार। या निमौरी हुई मधुर ।
वैसे, जिसका भला धनुर्धर। बाह्य क्रिया-कलाप ।। ६७० ।।

उसमें होता अति गहन। अध्यात्म के प्रति अज्ञान।
अर्जुन यह प्रतिपादन। सत्य सर्वथा ।।६७१।।

जो गुरुकुल की शरम करता। गुरुभक्ति से ऊब जाता।
विद्या पा कर उलटता। गुरु पर ही ।।६७२।।

ऐसे दुर्जन का नाम लेना। अभक्ष्य का भक्षण करना।
किन्तु आवश्यक था बताना। लक्षण अज्ञानं के ।।६७३।।

अब नाम ले गुरुभक्तों का। प्रायश्चित्त करेगी वाचा।
दिव्य नाम है उनका। सूर्य के समान ।।६७४।।

नाम ले गुरुद्रोहियों का। वाणी पर चढ़े पाप का।
बोझ उतरेगा गुरुभक्तों का। नाम लेने से ।।६७५।।

उनके नाम में, पांडुसुत। ऐसी शक्ति है अद्भुत।
सुनो सुनाता हूँ समस्त। लक्षण अज्ञान के ।।६७६।।

कर्मों में आलस्य भरा। मन विकल्पों का डेरा।
वह बीहड़ का गहरा। खण्डहर कुएँ का ।।६७७।।

जिस पर झंखाड़ कँटीले। भीतर कंकाल सड़े-गले।
भीतर बाहर जिसके तले। फैली अपवित्रता ।।६७८।।

जैसे पेट के लिये श्वान। खाता ढँका-अनढँका अन्न।
वैसे निज पर का भान। द्रव्यहित नहीं जिसे ।।६७९।।

चौराहा हो या एकान्त स्थान। चिन्ता नहीं करता श्वान।
वैसे नारी के प्रति आचरण। होता जिसका ।।६८०।।

धर्म-कर्म टल गये। नित्य कार्य रह गये।
इससे लेश भी दुख न पाये। चित्त जिसका ।।६८१।।

निर्लज्ज पापाचरण में। कंजूस पुण्य करने में।
विकल्पों का जिसके मन में। आवेग बहुत ।।६८२।।

जो मन में दिन रात। देखता केवल वित्त।
उसे जानो पार्थ। अज्ञान मूर्तिमन्त ।। ६८३ ।।

थोड़े से स्वार्थ वश भ्राता। जो धैर्य से ढल जाता।
जैसे तृण-बीज हिलता। चींटी के स्पर्श से ।। ६८४ ।।

डबरे में पाँव पड़ता। तो मैला पानी उछलता।
वैसे जिसका चित्त मचलता। भय के नाम से ।। ६८५ ।।

हवा की पा सहायता। धुआँ दिगन्त में जाता।
वैसे, सुन दुख की वार्ता। होता विचलित ।। ६८६ ।।

जिसका मनोरथों की धार में। मन बहता बहाव में।
जैसे, गिरा बाढ़ में। कद्दू कोई ।। ६८७ ।।

बवंडर के समान भ्राता। दौड़धूप करता रहता।
नगर या तीर्थ में टिकता। नहीं जो कदापि ।। ६८८ ।।

उन्मत्त गिरगिट जैसे। आता-जाता सिरे तक तने से।
व्यर्थ दौड़ता रहता वैसे। यहाँ-वहाँ जो ।। ६८९ ।।

जैसे वड़ा कमोरा। स्थिर न रहे बिना सहारा।
वैसे नींद में ही जो आवारा। रहता स्थिर ।। ६९० ।।

जिसमें इसविध भीषण। प्रचंड होता अज्ञान।
चंचलता में भाई-बहन। वह बन्दर का ।। ६९१ ।।

और सुनो, धनुर्धर। जिसका चंचल अंतर।
अछूता रहा निरन्तर। संयम की बयार से ।। ६९२ ।।

जैसे आवेग को बाढ़ के। रोक न पाते बाँध बालू के।
वैसे शास्त्रादेश निषेध के। माने न जो निडर हो ।। ६९३ ।।

व्रत अनुष्ठान तोड़ता। स्वधर्म को लताड़ता।
सभी मर्यादाएँ लाँघता। आचरण जिसका ।। ६९४ ।।

पाप से जो ऊबता नहीं। पुण्य की लगन रखता नहीं।
लज्जा के बंध सभी। उखाड़ता जो ।।६९५।।

कुलधर्म नहीं करता। वेदाज्ञा नहीं मानता।
विवेक को न पहचानता। कृत्य-अकृत्य के ।।६९६।।

जैसे आवारा साँड़। वायु जैसे प्रचण्ड।
अथवा टूटा बाँध। वीराने में ।।६९७।।

अंधा हाथी मस्ताया। पहाड़ में दावानल आया।
वैसे वासना में हो गया। निरंकुश जो ।।६९८।।

घूरे में क्या-क्या न पड़ता ? साँड को कौन बाँधता ?।
ग्रामसीमा को लाँघता। नहीं कौन ? ।।६९९।।

अन्नसत्र में कोई भी खाते। नीच ऐंठता सत्ता पाते।
या वेश्या के घर जाते। जैसे कोई भी ।।७००।।

ऐसे जिसका अन्तःकरण। उसमें होती सम्पूर्ण।
अज्ञान की हे अर्जुन। अभिवृद्धि ।।७०१।।

उसे विषयों में ऐसी आसक्ति। जीते-मरते नहीं छूटती।
स्वर्ग-भोग की भी जुगति। जोड़ता यहाँ ।।७०२।।

विषयों के लिये कष्ट करता। जिसे काम्यकर्म का व्यसन होता।
जो सचेल स्नान करता। विरक्त को देखते ही ।।७०३।।

विषयभोग उससे थकते। यह न अघाता घिन भोगते।
सड़े कर से अन्न खाते। कुष्ठरोगी जैसे ।।७०४।।

गधी छूने नहीं देती। लातें झाड़ नाक फोड़ती।
पर गधे की लत न छूटती। हटता न पीछे ।।७०५।।

वैसे वासना के लिये भ्राता। जो आग में कूद जाता।
व्यसनाधीनता को मानता। भूषणावह ।।७०६।।

दम उखड़ते तक दौड़ता। तृष्णा को सतत बढ़ाता।
मूढ़ हिरन नहीं जानता। माया मरीचिका की ।।७०७।।

वैसे आजन्म आमरण। विषय की भोगता थकान।
बिना झुँझलाये मन। लगाता विषयों में ।।७०८।।

प्रथम बाल अवस्था में। सारा प्रेम होता माँ में।
अनन्तर नारी देह में। आसक्त होता ।।७०९।।

नारी भोग समाप्त होता। तो आ जाती वृद्धता।
तब वही आसक्ति रखता। नाती-पोतों में ।।७१०।।

जन्माँध घर में ही रहता। वैसे, जो परिवार में डूबा रहता।
विषयों से कभी न ऊबता। मरणपर्यन्त ।।७११।।

ऐसे व्यक्ति के भाई। अज्ञान का पार नहीं।
और सुनो उसके कई। लक्षण होते हैं ।।७१२।।

देह ही है आत्मा सत्य। यही मान कर निश्चिंत।
नैमित्तिक और नित्य। कर्म करता है ।।७१३।।

और जो भी न्यूनाधिक। कर्म आचरता प्रत्येक।
उसकी शेखी अत्यधिक। बघारता है ।।७१४।।

सिर पर रखते ही दहेरा। ओझा झूमने लगता पूरा।
वैसा विद्या यौवन मद से भरा। चलता सीना ताने ।।७१५।।

कहता, मैं ही हूं महामति। मेरे ही घर वड़ी सम्पत्ति।
मेरे आचार की रीति। किसमें है ? ।।७१६।।

मुझसा न है कोई श्रेष्ठ। मैं सर्वज्ञ और वरिष्ठ।
ऐसी वृत्ति से गर्विष्ठ। रहता सदा ।।७१७।।

रोगी व्यक्ति को जैसे। भोग होते असह्य से।
पर-सुख असह्य वैसे। जिसे होता ।।७१८।।

जो बाती को खा जाता। नेह सारा जला देता।
रखा वहाँ फैलाता। केवल कालिख।।७१६।।

पानी पड़ते तड़तड़ाता। हवा से बुझ जाता।
स्पर्श होते कर देता। राख सबकी।।७२०।।

सीमित प्रकाश देता। किन्तु चरका अवश्य देता।
ऐसे दीप के समान होता। सुविद्य जो।।७२१।।

दवा रूप मे पिलाते दूध। नवज्वर होता प्रक्षुब्ध।
सर्प को पिलाया दूध। विष बनता जैसे।।७२२।।

वैसे सद्गुण से मत्सर। विद्वता से अहंकार।
तपज्ञान से अपार। गर्व बढ़ता जिसमें।।७२३।।

नीच को राजपद दिया। अजगर ने खम्भा खा लिया।
वैसे गर्व से हिया। नित्य फूलता जिसका।।७२४।।

जो बेलन-सा अविनत। पाषाण-सा अद्रवित।
केंचुवा नहीं उतरत। ओझा से जैसे।।७२५।।

ऐसा जिसका व्यक्तित्व। उसमें अज्ञान को महत्व।
धनुर्धर, यह तत्व। बताता हूँ तुम्हें।।७२६।।

गृह, देह और धन। इनका सदैव करता चिन्तन।
किन्तु गत जन्म का स्मरण। नहीं करता कभी।।७२७।।

कृतघ्न पर उपकार। चोरों को सौंपा कारोबार।
निर्लज्ज का स्तवन धनुर्धर। होता व्यर्थ।।७२८।।

भगाया पिछलगा श्वान। काटे उसके दुम, कान।
फिर भी वह लहूलुहान। वापस आता जैसे।।७२९।।

साँप के मुँह में फँसा मेंढक। मरते भी पकड़ता कीटक।
भूल जाता है मूर्ख। प्राण संकट को।।७३०।।

देह में लूत भर जाते। नवद्वार रिसने लगते।
किन्तु जिसके मन में न होते। दुःख या विषाद ।।७३१।।

माता के गर्भकुंड में। नौ मास विष्ठा के पुटों में।
चुढ़ता रहा दिन-रात में। उसे याद नहीं ।।७३२।।

गर्भवास की वह व्यथा। अथवा जो होती जन्मतः।
कुछ न स्मरता सर्वथा। जिस मनुष्य को ।।७३३।।

मल-मूत्र के कीचड़ में। शिशु पड़ा रहता गोद में।
देखकर भी जिसके मन में। घिन नहीं उपजती ।।७३४।।

आज पर्यन्त ऐसे कई। जन्म बीते दुखदायी।
अनेक होंगे आगे भी। इसे नहीं सोचता ।।७३५।।

वैसे जीवन में उत्कर्ष। देख जिसके मन में हर्ष।
करता नहीं विमर्श। मृत्यु का भी ।।७३६।।

जीवन में रखता आस्था। मृत्यु निश्चित है, भ्राता।
इसकी चिन्ता जो न करता। मन में कभी ।।७३७।।

डबरे वाली मछली जैसे। यह न सूखेगा इस आशा से।
अथाह दह में जाने से। बचती रहती, अर्जुन ।।७३८।।

मधुर गायन से लुभाता। मृग न व्याध को देखता।
मीन आमिष को ललचाता। काँटे को देखे बिन ।।७३९।।

दीपक की चकाचौंध। जला देगी अंग-अंग।
यह न जानता पतंग। अर्जुन, जैसे ।।७४०।।

घर सुलगा चारों ओर। फिर भी सोया रहता गँवार।
अन्न में मिला हो ज़हर। खाबू खाता जैसे ।।७४१।।

वास्तव में यह जीवन। है मृत्यु का आमन्त्रण।
राजसी सुख-लोभ के कारण। जानता न जो ।।७४२।।

जो शरीर का पोषण। दिन-रात का भ्रमण।
विषयसुख का संवेदन। सत्य मानता ।।७४३।।

किन्तु अभागे ने न जाना। कि वेश्या का सर्वस्व देना।
होता अपना ही नंगियाना। वास्तव में ।।७४४।।

चोर का साव से मैत्री करना। निश्चित है प्राण जाना।
माटी के चित्र में नहलाना। विनाश उसका जैसे ।।७४५।।

पंडु रोग से पुष्ट होना। यानी आयु का है छिनना।
वैसे आहार निद्रा में रमना। है नाश निश्चित ।।७४६।।

शूल की नोक की ओर। दौड़ते जाना सत्वर।
है पहुँचना समीपतर। अपनी मृत्यु के ।।७४७।।

वैसे, देह ज्यों बढ़ेगा। समय ज्यों-ज्यों बीतेगा।
और मन निमग्न होगा। विषयसुखों में ।।७४८।।

तब अधिकाधिक, भ्राता। मरण जीवन को जीतता।
नमक का डला घुल जाता। पानी में जैसे ।।७४९।।

वैसे, ज्यों-ज्यों आयु बीतती। त्यों-त्यों मृत्यु समीप आती।
हाथों हाथ काया जाती। यह जानता नहीं जो ।।७५०।।

यही होता है नित्यनूतन। देह का मरण, अर्जुन।
जिसे विषयमोह के कारण। इसका ज्ञान नहीं ।।७५१।।

उसे जानो मूढ़मति। अज्ञानदेश का भूपति।
समझ लो यह मेरी उक्ति। निःसन्देह ।।७५२।।

जीवन सुख के कारण। भुलाता मरण का स्मरण।
वैसे चिन्ता न करता यौवन। बुढ़ापे की ।।७५३।।

गाड़ी धकेली कगार से। पत्थर लुढ़काया शिखर से।
बुढ़ापे के भविष्य से। अनभिज्ञ वैसा ।।७५४।।

बीहड़ नाले में बाढ़ आये। या भैंसों में ठन जाये।
वैसे उन्माद चढ़ आये। यौवन का जहाँ ।।७५५।।

निर्बल हो गया तन। मुख तेजोविहीन।
मस्तक में छूटा कम्पन। गर्दनसहित ।।७५६।।

दाढ़ी पक गयी पूर्ण। 'ना-ना' करे गर्दन।
फिर भी जो रात-दिन। बढ़ाता प्रिय पसारा ।।७५७।।

जब तक न कोई टकराता। अन्धे को न पता होता।
आलसी तब सुखाता। जब चढ़ता खुमार ।।७५८।।

वैसे यौवन भोगते आज का। बुढ़ापा न देखता कल का।
वही आध्यात्मिक अज्ञान का। प्रतीक जानो ।।७५९।।

दुर्बल, कुबड़े को देखता। उन्मत्त हो मुँह चिढ़ाता।
अपनी होगी यही अवस्था। सोचता नहीं ।।७६०।।

मृत्यु ध्वज को लहराता। बुढ़ापा आ पहुँचता।
तब भी यौवन की उन्मत्तता। छूटती नहीं जिसकी ।।७६१।।

वह अज्ञान का है घर। यह निश्चित मेरा उत्तर।
और अधिक बड़े आसार। बतलाता हूँ ।।७६२।।

चर कर शेर का जंगल। भाग्य से लौटा सकुशल।
अतः साँड़ वहीं तत्काल। दौड़ जाता जैसे ।।७६३।।

अथवा साँप वाले घर से। धरोहर ले आया आराम से।
तो सर्प की नास्तिकता से। भर जाता जो ।।७६४।।

करने पर भी कुपथ्य। तन रहा कुछ समय स्वस्थ।
तो जग में रोगों का अस्तित्व। नकारता जो ।।७६५।।

वैरी को देख कर निद्रित। कहता वैर अब समाप्त।
उसे सपरिवार निश्चित। मरणाधीन जानो ।।७६६।।

वैसे आहार निद्रा नियमन से। रोग जब तक रहते दूर से ।
नहीं अकुलाता चिन्ता से। आधि-व्याधि की ।।७६७।।

स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति से। सुख ही सुख पाने से ।
उन्मत्त होती उन्माद से। आँखें जिसकी ।।७६८।।

वियोग होगा स्त्री-पुत्र का। पहाड़ टूटेगा विपदा का ।
यह दुःख आगे का। देखता नहीं जो ।।७६९।।

वह अज्ञान मूर्तिमन्त। अर्जुन जानो निश्चित ।
वह भी जिसने इन्द्रियाँ उन्मुक्त। छोड़ दी विषयों में ।।७७०।।

जवानी के जोश में। सम्पत्ति के उन्माद में ।
रहता न जिसके मन में। विवेक सेव्य-असेव्य का ।।७७१।।

अकरणीय को करता। असम्भव को मन में धरता ।
अचिन्त्य का चिन्तन करता। मानस जिसका ।।७७२।।

अप्रवेश्य में प्रवेश करता। अग्राह्य की माँग करता ।
अमंगल को स्पर्शता। काया वाचा मन से ।।७७३।।

अगमनीय स्थान में जाता। अदर्शनीय को देखता ।
अभक्ष्य भक्षण करता। सन्तोष से ।।७७४।।

असंग से संग करता। अवाँछनीय से सम्बन्ध रखता ।
उसी मार्ग पर चलता। जो होता निषिद्ध ।।७७५।।

अश्रवणीय को सुनता। अकथनीय को बकता ।
और दोष न मानता। ऐसे आचरण में ।।७७६।।

जो-जो तन-मन को सुखद। उसमें न मानता विधिनिषेध ।
और अकारण जो निर्बाध। ऊटपटाँग करता ।।७७७।।

इसका पाप मत्थे चढ़ेगा। नरक यातना दिलवायेगा ।
यह कुछ भी आगे का। देखता न जो ।।७७८।।

उसके आश्रय से भ्राता। ऐसा अज्ञान फैलता।
ज्ञानियों पर भी भारी पड़ता। जो विवाद में ।।७७९।।

अस्तु, अब करो श्रवण। अज्ञान के और लक्षण।
जिससे सम्यक् आकलन। होगा अज्ञान का ।।७८०।।

पार्थ, उसे सम्पूर्ण प्रीति। अपने ही घर से होती।
जैसे भ्रमर की पराग में होती। सुगंधी कमल के ।।७८१।।

शर्करा ढेर पर से। मक्खी न उठती जैसे।
मन रमता जिसका ऐसे। स्त्री सुख में ।।७८२।।

जैसे मेंढ़क डबरे से। या मक्षिका रेंट से।
अथवा पशु कीचड़ से। निकलते न बाहर ।।७८३।।

वैसे जिसका तन-मन। निकलता न तज निकेतन।
जैसे साँप बाँबी से गमन। करता नहीं प्रायः ।।७८४।।

जैसे प्रमदा आलिंगन। करती प्रिय का मनभावन।
वैसे अपनी मड़ई से अर्जुन। लिपटे रहता जो ।।७८५।।

मधु पाने के उद्देश्य से। मधुप श्रम करता जैसे।
घर के सम्वर्द्धन में वैसे। परिश्रम करता जो ।।७८६।।

बुढ़ापे में सन्तान हुई हो। और वह इकलौती हो।
तो उससे माता-पिता दोनों। प्रेम करते जैसे ।।७८७।।

वैसे ही यहाँ भ्राता। जिसे घर में अत्यन्त आस्था।
स्त्री के बिना सर्वथा। पहचाने न किसी को ।।७८८।।

ऐसे स्त्री-देह में, पार्थ। जो रहता पूरा आसक्त।
अपने होने या कर्तव्य का अर्थ। जानता नहीं कतई ।।७८९।।

महापुरुष का चित्त। ब्रह्मपद में होते केन्द्रित।
उसके व्यवहार समस्त। सहज रुक जाते ।।७९०।।

वैसे जिसका चित्त। स्त्री-देह में आसक्त।
वह चिन्ता नहीं करता। लोकनिन्दा की ।।७९१।।

नित्य स्त्री की मनुहार करता। उसके ताल पर नाचता।
बंदर जैसे नाचता रहता। मदारी के इशारे पर ।।७९२।।

स्वयं अपने को थकाता। मित्रों को दुखी करता।
अपना ही धन बढ़ाता। लोभी जैसे ।।७९३।।

वैसे दानधर्म से कतराता। प्रियजनों को टरकाता।
पर शिरोधार्य मानता। बात पत्नी की ।।७९४।।

देव पर अक्षता पानी चढ़ाता। गुरु को भी धोखा देता।
माँ-बाप को खतौनी दिखाता। निर्धनता की ।।७९५।।

किन्तु पत्नी का शौक निभाने। खर्च की सीमा न माने।
वस्त्र, वस्तु, आभूषण लुभाने। भरता रहता घर में ।।७९६।।

प्रेमी भक्त जिस प्रकार। कुलदेवता को भजता अपार।
एकाग्रता से उसी प्रकार। करता पत्नी की उपासना ।।७९७।।

जो-जो दिखता बढ़िया सुन्दर। पत्नी को देता सादर।
करता फ़ाकाकशी पर। विवश अन्यजनों को ।।७९८।।

कोई पत्नी की उपेक्षा करता। उसके मनविरुद्ध चलता।
तो प्रलय आया लगता। मन ही मन जिसे ।।७९९।।

भीति से जुडपित्ती की। मन्नत उतारते नाग की।
वैसे अटपटी आस पत्नी की। पूरी करता जो ।।८००।।

स्त्री ही सार संसार का। मानना होता है जिसका।
प्रेम होता पराकोटि का। उसकी सन्तान से ।।८०१।।

और भी जो समस्त। होता उसका गोत।
प्राणों से अधिक प्रीत। करता उससे जो ।।८०२।।

वह अज्ञान का है मूल। उसी से अज्ञान प्रबल।
वह तो वास्तव में केवल। अज्ञानमूर्ति ।।८०३।।

प्रक्षुब्ध सागर की सतह पर। लहरों की थपेड़ों पर।
मुक्त नौका नीचे ऊपर। होती जैसे ।।८०४।।

वैसे प्रिय वस्तु का लाभ होते। जो सुख के शिखर छूते।
और धड़ाम से नीचे आते। प्राप्त होते अप्रिय ।।८०५।।

इसविध जिसका चित्त। सुखदुखों से चिन्तित।
उसे जानो निश्चित। अज्ञानी अर्जुन ।।८०६।।

रख कर फल की आसक्ति। जो करते मेरी भक्ति।
वे धन के लिये विरक्ति। ओढ़ते हैं ।।८०७।।

अथवा जैसे स्वैरिणी। पति से कर बातें लुभावनी।
सिद्ध रहती जारिणी। मिलने जार से ।।८०८।।

वैसे दृष्टि रखते विषयों पर। उन्हें पाने धनुर्धर।
मेरी भक्ति का सोपान। करते जो ।।८०९।।

और करते अल्पसी भक्ति। यदि न हो विषयप्राप्ति।
तो भक्तिमार्ग को झूठा बताती। मति खिल्लीबाज़ों की ।।८१०।।

कुरमी नये खेत जोतता। वैसे जो भिन्न देवता पूजता।
और सबको अन्ततः। मानता तुच्छ ।।८११।।

जो गुरु ठाट से रहता। उसका जो पिछलगा बनता।
उसके मन्त्र को रट लेता। हेय मानता अन्यों को ।।८१२।।

प्राणिमात्र से निष्ठुर। पाषाणमूर्ति में भक्ति अपार।
जिसकी किसी एक पर। निष्ठा नहीं होती ।।८१३।।

मेरी सुन्दर मूर्ति बनवाता। उसे घर के आले में रखवाता।
और देवदर्शन के लिये जाता। तीर्थयात्रा पर ।।८१४।।

नित्य आराधना मेरी करता। कार्यहित कुलदेवता को भजता।
पर्वविशेष पर पूजा करता। तीसरे ही देवता की ।। ८१५ ।।

घर में अधिष्ठान मेरा करता। मन्नत किसी और की मानता।
श्राद्धपक्ष के अवसर पर करता। प्रार्थना पितरों की ।। ८१६ ।।

जितनी एकादशी पर। भक्ति जताता मुझ पर।
उतनी ही श्रद्धा नाग पर। बताता पंचमी को ।। ८१७ ।।

चतुर्थी का दिन आता। गणेश की शरण में जाता।
चतुर्दशी पर दुर्गा से कहता। देवी मैं दास तुम्हारा ही ।। ८१८ ।।

नित्य नैमित्तिक कर्म तजता। नवचंडी की साधना करता।
आदित्यवार को दान देता। भैरव के नाम से ।। ८१९ ।।

आगे सोमवार आता। बेल से शंकर को पूजता।
यों भक्ति निरन्तर करता। सभी देवों की ।। ८२० ।।

ऐसे अखंड भजन करता। पल भर न चुप बैठता।
जैसे वेश्या गाँव में आता। करती सबको सन्तुष्ट ।। ८२१ ।।

इस विधि जो भक्त। दिखे दौड़ता सर्वत्र।
उसे अज्ञान का मूर्त। अवतार मानो ।। ८२२ ।।

और उत्तम एकान्तस्थान। तीर्थस्थान तपोवन।
करना न चाहे इनका दर्शन। वह अज्ञानी ।। ८२३ ।।

महानगर में सुख पाता। भीड़भाड़ को पसंद करता।
लौकिक बातों में रमता। वह अज्ञानी ।। ८२४ ।।

जिस विद्या का श्रवण मनन। करने से मिलता आत्मज्ञान।
उसका होते हुए प्रवीण। करता उपहास ।। ८२५ ।।

उपनिषदों में न झाँकता। योगशास्त्र नहीं भाता।
अध्यात्म में नहीं होता। मन जिसका ।। ८२६ ।।

जहाँ आत्मज्ञान केन्द्रित होता। उस बुद्धि की दीवार तोड़ता।
चंचल मन को दौड़ाता। जो अन्यत्र कहीं ।।८२७।।

जिसे कर्मकाण्ड सभी ज्ञात। अठारह पुराण कंठस्थ।
भविष्य होता पूरा सत्य। ऐसा ज्ञान ज्योतिष का ।।८२८।।

शिल्पशास्त्र में जो निपुण। पाक-कला में भी प्रवीण।
जारण-मारण का ज्ञान। हस्तगत जिसे ।।८२९।।

कोकशास्त्र जिसे अवगत। महाभारत मुखोद्गत।
मन्त्रशास्त्र मूर्तिमन्त। जिसके रूप में ।।८३०।।

नीतिशास्त्र में पारंगत। आयुर्वेद में जो निष्णात।
काव्यशास्त्रकला में अत्यंत। निपुण होता जो ।।८३१।।

जो स्मृतियों का ज्ञाता। मदारी का भेद जानता।
जिसकी प्रज्ञा का सेवक होता। शब्दकोश वेदों का ।।८३२।।

जो वैयाकरण असाधारण। तर्क शास्त्र में प्रवीण।
किन्तु जिसमें जन्म से अंधापन। आत्मज्ञान का ।।८३३।।

एक आत्मज्ञान के बिन। शास्त्रों का मौलिक ज्ञान।
मूल नक्षत्र के शिशु समान। मुख देखने अयोग्य ।।८३४।।

मोरपंखें में मनोहर। आँखें होतीं है सुन्दर।
किन्तु उनमें न होती नज़र। यह पांडित्य वैसे ।।८३५।।

यदि परमाणु की जितनी। मिल जाये संजीवनी।
अन्य बूटियों की दामनी। बनायें किसलिये ? ।।८३६।।

दीर्घायुबिन सुलक्षण। मस्तक बिन आभूषण।
बारात वधुवर के बिन। मात्र विडम्बना ।।८३७।।

वैसे अध्यात्म के बिन। अन्य शास्त्रों का गहन ज्ञान।
होता है सारा अप्रमाण। समझो धनंजय ।।८३८।।

अतः जिस शास्त्र में भ्राता। अध्यात्मज्ञान नहीं होता।
उसका सारा ज्ञान वृथा। जानो निश्चित ।। ८३९ ।।

उसने जो पाया शरीर। वह अज्ञान-बीज का अंकुर।
उसका पांडित्य प्रचुर। अज्ञानलता जैसा ।। ८४० ।।

उसके मुख से भ्राता। अज्ञान ही है झरता।
उसका पुण्य जो फलता। होता अज्ञान ही ।। ८४१ ।।

अध्यात्मविद्या में कतई। जिसकी आस्था ही नहीं।
उसे दर्शन का ज्ञान नहीं। कहना अनावश्यक ।। ८४२ ।।

जो इस पार तटपर्यन्त। उल्टे पाँघ हैं दौड़त।
वह क्या उस पार पार्थ। जा सकेगा कभी ? ।। ८४३ ।।

जिसका मस्तक देहरी पर। गढ़े में गिरा हो कट कर।
उसे कैसे सेहन पर। रखी चीज़ दिखेगी ? ।। ८४४ ।।

वैसे आत्मज्ञान से धनंजय। जिसका नहीं परिचय।
उसे उस ज्ञान का विषय। आत्मतत्त्व कैसे दिखेगा ? ।। ८४५ ।।

अतः वह आत्मतत्त्व न देखता। यह बात तुम्हें विशेषतः।
आलेख बना कर भ्राता। कहना अनावश्यक ।। ८४६ ।।

गर्भवती का भोजन होता। उससे गर्भ भी तृप्त होता।
वैसे ज्ञानलक्षण में होता। विवेचन अज्ञान का भी ।। ८४७ ।।

बताने पर ज्ञानलक्षण। अनावश्यक अज्ञानवर्णन।
जैसे अन्धे को देते निमन्त्रण। वह दूजे के साथ आता ।। ८४८ ।।

जब अमानित्व अदम्भित्व। ये बताये ज्ञानतत्त्व।
उन्हीं में आया विरुद्धत्व। अज्ञान का ।। ८४९ ।।

ज्ञान के जो अठारह लक्षण। उलटे देखो तो अर्जुन।
अज्ञान के सभी लक्षण। स्पष्ट होते स्वयं ही ।। ८५० ।।

गीता के ग्यारहवें श्लोक में। बताया चौथे चरण में ।
कि ज्ञान के विपरीत लक्षणों में। अज्ञान समाया ।। ८५१ ।।

अतः यह अज्ञानवर्णन। हुआ तो वाक़ई विस्तीर्ण ।
दूध में जल मिला अर्जुन। बढ़ाया जैसे ।। ८५२ ।।

किन्तु यह बकवास नहीं व्यर्थ। मूल पद के अनुसार अर्थ ।
बताया मैंने सूचितार्थ। कुछ विस्तार से ।। ८५३ ।।

तब श्रोता कहते, "ज्ञानेश्वर। क्यों यह आक्षेप परिहार ।
क्यों रखते मन में डर। हे कवि पोषक ? ।। ८५४ ।।

श्रीकृष्ण ने कहा आपसे। अभिप्राय जो रखे गर्भितार्थ से ।
उन्हें बताओ विस्तार से। सुस्पष्ट ।। ८५५ ।।

वह भगवान का मनोरथ। आप कर रहे हैं मूर्त ।
ऐसा हम कहें तो आपका चित्त। भर आयेगा ।। ८५६ ।।

आपके व्याख्यान से अत्यन्त। हम हुए हैं सन्तुष्ट ।
श्रवण सुख सागर में प्राप्त। आप ज्ञान नौका ।। ८५७ ।।

अब इसके अनन्तर। जो बोला था श्रीधर ।
वही हमें सत्वर। बताइयेगा" ।। ८५८ ।।

सन्तों का यह आदेश सुन कर। निवृत्तिदास कहे कर जोड़ कर ।
सुनिये सारे सन्तवर। देव ने जो कहा ।। ८५९ ।।

पार्थ से कहते भगवंत। अब तक तो सुना समस्त ।
उसे जानो निश्चित। स्वरूप अज्ञान का ।। ८६० ।।

सुनो पार्थ महावीर। अज्ञान से मुख फेर ।
ज्ञानप्राप्ति के लिये दृढ़तर। करो सच्चा प्रयास ।। ८६१ ।।

उस विशुद्ध आत्मज्ञान से। ज्ञेय दिखेगा हृदय से ।
तब पार्थ ने जानने की उसे। व्यक्त की कामना ।। ८६२ ।।

जान कर भाव अर्जुन का। बोला राजा सर्वज्ञों का।
सुनाता हूँ ज्ञेय तत्त्वों का। क्या अभिप्राय ।। ८६३ ।।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।। १२ ।।

ज्ञेय कहने का यही कारण। तत्वतः समझ लो अर्जुन ।
कि यह ज्ञान के बिन। समझ में न आता ।। ८६४ ।।

और उसका ज्ञान जब होता। कर्त्तव्य कुछ भी नहीं रहता ।
जिसके ज्ञान से तद्रूपता। प्राप्त होती ज्ञेय को ।। ८६५ ।।

जिसका होते ही ज्ञान। संसारमुक्त होता जीवन ।
नित्यानन्द में निमग्न। साधक होता ।। ८६६ ।।

यह ज्ञेय है ही ऐसे। कि मूलारम्भ नहीं जिसे ।
परब्रह्म के नाम से। जाना जाता यही ।। ८६७ ।।

इसे नकारो तो दिखता। विश्वाकार हे भ्राता ।
उसे विश्व मानो तो तत्त्वतः। है यह माया सारी ।। ८६८ ।।

रूप, वर्ण, आकार नहीं। दृश्य नहीं, द्रष्टा भी नहीं ।
बाह्य अस्तित्व का नहीं। अतः कोई प्रमाण ।। ८६९ ।।

और उसका नहीं अस्तित्व। तो किससे बने महत्तत्त्व ? ।
उसके बिना यहाँ सम्भव। होना किसका ? ।। ८७० ।।

अतः है-नहीं की बात। हो जाती सारी व्यर्थ ।
विचार हो कर विभ्रान्त। बढ़ते न आगे ।। ८७१ ।।

पात्र, मटका, गागर। सभी माटी के आकार ।
वैसे हो कर सर्वाकार। जो सबमें रहता ।। ८७२ ।।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। १३ ।।

सर्वत्र सभी समय। देशकाल से नहीं अलग।
स्थूल, सूक्ष्म, क्रिया धनंजय। हाथ जिसके ।।८७३।।

इसी कारण इसे अर्जुन। 'विश्वबाहु' नामाभिधान।
जो सर्वदा सर्वात्म बन। सर्व क्रिया करवाता ।।८७४।।

एक ही समय सर्वत्र। वह पाया जाता पर्याप्त।
अतः जिसे नाम प्राप्त। 'विश्वपाद' का ।।८७५।।

सूर्य के तन और लोचन। नहीं होते भिन्न-भिन्न।
वैसे सर्वद्रष्टा सर्वदर्शन। स्वरूप जिसका ।।८७६।।

इसीलिये वह अचक्षु, भ्राता। 'विश्वतश्चक्षु' कहलाता।
वेदों द्वारा बखाना जाता। इसी नाम से ।।८७७।।

वह सबके मस्तक पर। रहता है नित्य गोचर।
अतः उसे धनुर्धर। 'विश्वमूर्धा' कहते हैं ।।८७८।।

जिसका देह और मुख। दोनों होते हैं एक।
अग्नि समान देख। भोग लेता सबका ।।८७९।।

इसी कारण कहलाता। 'विश्वतोमुख' वह भ्राता।
वेदों में यही पाया जाता। नाम इसका ।।८८०।।

वस्तु मात्र में जैसे गगन। रहता सर्वव्यापक बन।
वैसे शब्दमात्र में कान। सर्वत्र इसके ।।८८१।।

इसे 'विश्वतःश्रुति' अतः। वेदों में नाम प्राप्त।
इसविध यह सर्वव्याप्त। होता सर्वत्र ।।८८२।।

वैसे भी है महामति। विश्वतश्चक्षु आदि।
नाम निराकार के प्रति। दिये व्याप्ति समझाने ।।८८३।।

सर्वशून्य का सिद्धान्त भी। जहाँ सह्य होता नहीं।
वहाँ नेत्र, कान, हाथ, आदि। शब्द किस काम के ? ।।८८४।।

कल्लोल कल्लोल को ग्रसता। वहाँ क्या दिखायी देता ?।
वहाँ ग्रसित क्या भिन्न होता। ग्रसने वाले से ? ।।८८५।।

वैसे जो तत्त्वतः एक होता। वहाँ कौन व्याप्त कौन व्यापता ?।
किन्तु निरूपणार्थ पल भर, भ्राता। द्वैत मानना पड़ता है ।।८८६।।

शून्य जब बताना होता। पहले बिन्दु बताना पड़ता।
वैसे अद्वैत समझाने भ्राता। द्वैत कल्पना रखते हम ।।८८७।।

यदि ऐसा न करेंगे पार्थ। गुरु-शिष्य होंगे व्यर्थ।
और अद्वैतवाद की चर्चा समस्त। कुंठित होगी ।।८८८।।

अतः द्वैत द्वारा अद्वैत। समझाने की रीत।
हो गई है प्रचलित। वेदान्त ग्रन्थों में ।।८८९।।

नेत्रगोचर जो आकार। उनमें ज्ञेय परात्पर।
समाया रहता निरंतर। सुनो कैसे ।।८९०।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।१४।।

आकाश जैसे अवकाश में। रहता आकाश रूप में।
या तंतु वस्त्र मे। रहता वस्त्र रूप ।।८९१।।

रस जैसे उदक में। व्याप्त रहता उदक रूप में।
तेज जैसे दीपक में। रहता दीपरूप ।।८९२।।

सुगंध जैसे कर्पूर में। रहता कर्पूर रूप में।
कर्म वैसे शरीर में। होता शरीर रूप ।।८९३।।

बल्कि स्वर्ण-कण अर्जुन। स्वयं होता सुवर्ण।
वैसे जो इन सब में पूर्ण। व्याप्त रहता ।।८९४।।

जो कण के रूप में देखता। उसे सोना कण ही लगता।
कण को गलाने पर रहता। सुवर्ण ही ।।८९५।।

टेढ़ होती झरने में। किन्तु सरलता पानी में ।
अग्नि आये लोहे में। उससे अलग ही रहता ।।८९६।।

आकाश जब घटाकार। लगता है गोलाकार ।
वही लेते मठाकार। लगता चौकोना ।।८९७।।

किन्तु जितना है अवकाश। उतना न होता आकाश ।
वैसे विकार हो कर भी जो ब्रह्म। रहता अविनाशी ।।८९८।।

ग्यारह इन्द्रियों में। अथवा सत्व, रज, तम में ।
धनंजय उन्हीं में रूप में। भासमान होती जो ।।८९९।।

वह मिठास गुड़ की। न होती आकार की ।
वैसे इन्द्रिय और त्रिगुण की। सीमा नहीं जिसे ।।९००।।

घी, दूध की अवस्था में। रहता दूध के आकार में ।
पर घृतता न होती दूध में। जैसे अर्जुन ।।९०१।।

वैसे जो विश्वदशा में होता। किन्तु विश्व कदापि न होता ।
सुवर्ण होता आभूषणों में। किन्तु होता सोना ही ।।९०२।।

स्वभाषा में सरल आसान। बताया सिद्धान्त गहन ।
कि गुण-इन्द्रियों से भिन्न। है ब्रह्मतत्व ।।९०३।।

नाम, रूप, सम्बन्ध। जाति, कर्म और भेद ।
इनका आकारों को ही प्रवाद। वस्तु को नहीं ।।९०४।।

जो त्रिगुणस्वरूप नहीं। उसका त्रिगुण से नाता नहीं ।
किन्तु त्रिगुण उसमें भाई। भासमान होते ।।९०५।।

इसी कारण, सुभद्रापति। लोगों को होती है भ्रान्ति ।
कि ब्रह्म ने ही नाम-रूप आदि। किये धारण ।।९०६।।

किन्तु यह धारना। यानी नभ का अर्भ धरना ।
या दर्पण का छवि को धरना। होता है अर्जुन ।।९०७।।

अथवा रविप्रतिबिम्ब को जैसे। जल धारण करता वैसे।
या मरीचिका को जैसे। धारते सूर्यकिरण ।।९०८।।

वैसे सम्बन्ध के बिन। उन सबको धारता निर्गुण।
यह कल्पना ही मिथ्यापूर्ण। है तत्त्वतः ।।९०९।।

निर्गुणस्वरूप ब्रह्म का। भोग लेना त्रिगुण का।
यानी स्वप्न देखना राज्य का। दरिद्री द्वारा ।।९१०।।

अतः गुणों का संग धरना। या गुणों का भोग लेना।
लागू न पड़ता यह बोलना। निर्गुण को ।।९११।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।।१५।।

जो चराचर भूतों में भ्राता। ओतप्रोत भरा होता।
अग्नि में जैसे उष्णता। होती अभिन्न ।।९१२।।

वैसे जो अविनाशी रूप में। व्याप्त होता सभी में।
उसे ही जानो पूर्णांश में। ज्ञेय यहाँ ।।९१३।।

जो एक सा भीतर-बाहर। एक-सा समीप, दूर।
जिस एक के बिना इतर। कुछ भी नहीं ।।९१४।।

क्षीरसागर का मधुरपन। न बीच में अधिक, न तट में न्यून।
वैसे जो सर्वथा परिपूर्ण। सर्वांग में ।।९१५।।

स्वेदज अंडज उदभिज्ज जारज। प्राणिमात्र के भेद सहज।
इन सबमें भी जिसका तेज। होता सम समान ।।९१६।।

सहस्त्रों घटों में पार्थ। चन्द्रिका होती प्रतिबिम्बित।
मूल स्वरूप में भेद न होत। श्रवणशिरोमणि ।।९१७।।

लवण कणों की प्रचण्ड राशि। उसमें होती क्षारता एक सी।
अथवा मधुरिमा एकसी। करोड़ों ईखों में ।।९१८।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।। १६ ।।

अनेक भूतों में वैसे। जो व्याप्त है एकत्व से ।
विश्वकार्य जिसके कारण से। होता रहता ।। ६१९ ।।

जहाँ से होते ये भूतमात्र। वही उनका मूलाधार ।
कल्लोल के लिये सागर। आधार जैसे ।। ६२० ।।

बाल्यादि अवस्थाएँ तीन। किन्तु एक ही होता तन ।
वैसे जो एक अखंड अर्जुन। उत्पत्ति स्थिति प्रलय में ।। ६२१ ।।

प्रातः, मध्यान्ह, संध्या काल। आते और जाते निकल ।
किन्तु यह गगनतल। नहीं बदलता कभी ।। ६२२ ।।

उत्पत्ति काल में जिसे ब्रह्म। संज्ञा देते प्रियोत्तम ।
स्थिति काल में विष्णु नाम। देते जिसे ।। ६२३ ।।

फिर प्रलय काल आता। तब तो रुद्र कहलाता ।
तीनों के नाश पर शेष रहता। वह शून्य आकाश ।। ६२४ ।।

लील उसकी शून्यता को। अशेष कर त्रिगुणों को ।
जो शेष रहता उसको। वेद कहते महाशून्य ।। ६२५ ।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।। १७ ।।

जो अग्नि का ज्वलन। चन्द्र का जीवन ।
सूर्य को मिले नयन। जिसके बल से ।। ६२६ ।।

जिसके प्रकाश से दीप्त। तारे होते आलोकित ।
महातेज हैं तप्त। जिसके कारण ।। ६२७ ।।

जो आद्य का भी आदि। वृद्धि की भी अभिवृद्धि ।
और बुद्धि की बुद्धि। जीव जीवों का ।। ६२८ ।।

जो मन का भी मन। जो नयनों का नयन।
कानों का भी कान। जो वाणी वाचा की।। ६२९।।

जो प्राणों का प्राण। जो गति के चरण।
कर्मों का कर्तापन। जिसके कारण से।। ६३०।।

साकार होता आकार। विस्तार पाता विस्तार।
संहार का संहार। होता जिससे।। ६३१।।

धरती को करता धारण। जो पानी का जीवन।
जिससे है प्रकाशमान। तेज सारा।। ६३२।।

जो पवन की होता साँस। गगन का जो अवकाश।
अस्तु, सारा आभास। भासमान जिससे।। ६३३।।

बल्कि है कुंतीसुत। जो सबका सर्वस्व होत।
जिसमें न होता द्वैत। लेश मात्र।। ६३४।।

होते ही जिसका दर्शन। दृश्य-द्रष्टा का भिन्नपन।
तत्काल होता विलीन। समरसता में।। ६३५।।

ज्ञेय-ज्ञान और ज्ञाता। ऐसी उसी में आती विविधता।
जिससे प्राप्त ब्रह्ममयता। वह भी होता वही।। ६३६।।

हिसाब जब पूरा होता। अंक पाते एकरूपता।
वैसे साध्य-साधन भिन्नता। लोप होती जहाँ।। ६३७।।

अर्जुन जिसके मन माहीं। द्वैत को स्थान नहीं।
अस्तु जो हृदय माहीं। होता सबके।। ६३८।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।। १८।।

ऐसे सारा क्षेत्रवर्णन। सटीक करते विवेचन।
विस्तार से किया निरूपण। धनुर्धर तुम्हें।। ६३९।।

क्षेत्रवर्णन के अनन्तर। ज्ञानस्वरूप सविस्तार।
जो हो सके तुम्हें गोचर। बताया किरीटी ।।६४०।।

आगे अज्ञान का प्रतिपादन। कौतुक से किया पूर्ण।
जब तक तृप्त मति कहे न। पर्याप्त-पर्याप्त ।।६४१।।

और अब सम्मुख तुम्हारे। ज्ञेय ब्रह्म किये उघारे।
दृष्टान्त दे कर साफ़ सारे। उपपत्ति समेत ।।६४२।।

इस विवेचन का धनजय। बुद्धि मे करते हुए संचय।
मेरा चिन्तन करते अक्षय। वे प्राप्त होते मुझे ।।६४३।।

देहादिक सारा परिवार। जिन्होने सर्वथा किया दूर।
चित्त को किया जागीर। पूर्णतः मेरी ।।६४४।।

वे इसी स्वरूप में पार्थ। पहचानते मुझे निश्चित।
सर्वस्व को कर समर्पित। अन्त मे होते मद्रूप ।।६४५।।

अर्जुन से कहते कन्हाई। मद्रूप होने का यही।
मुमुक्षु के लिये मेने ही। सुगम मार्ग बनाया ।।६४६।।

पर्वत चढ़े पोडियाँ बना कर। ऊँचा जावें माचें बाँध कर।
पार जावें नाव में बैठ कर। अनायास ।।६४७।।

अन्यथा यह सब हे आत्मा। कह देने से हे महात्मा।
बात तुम्हारी समझ माँ। आवेगी नहीं ।।६४८।।

मति की मदता तुम्हारी। हमने ठीक से विचारी।
अतः एक ब्रह्म को, धनुर्धारी। बताया चतुर्विध ।।६४९।।

बालक को कराते भोजन। एक कौर के करते तीन।
वैसे चार प्रकार से ब्रह्मनिरूपण। किया हमने यहाँ ।।६५०।।

एक क्षेत्र, दूसरा ज्ञान। तीसरा ज्ञेय, चौथा अज्ञान।
ऐसे भाग किये अवधान। देख कर तुम्हारा ।।६५१।।

फिर भी इस रीति द्वारा। जाना न मति ने ब्रह्मपसारा।
तो दूसरी रीति से दुबारा। वही समझाता हूँ।। ६५२।।

अब चार भाग नहीं करेंगे। या उन्हें एक ब्रह्म नहीं कहेंगे।
दो ही विभाग करेंगे। आत्मा और अनात्मा।। ६५३।।

पर तुम इतना ही करो। हमारी इच्छा पूरी करो।
अंग-प्रत्यंग को केन्द्रित करो। अपने कानों में।। ६५४।।

सुनकर ये श्रीकृष्णवचन। रोमांचित हुआ अर्जुन।
देव कहते, कर अवलोकन। न हो उल्लसित।। ६५५।।

संयत कर अर्जुन-आवेग। कहने लगे श्रीरंग।
अब प्रकृति - पुरुष विभाग। सुनाता हूँ।। ६५६।।

यह विचारपद्धति। जगत मे साख्य कहलाती।
इसके प्रचारार्थ महामति। कपिल मुनि बना मैं।। ६५७।।

प्रकृति और पुरुष। यह विवेक हे निर्दोष।
अर्जुन से कहे आदिपुरुष। सुनो सुनाता हूँ।। ६५८।।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। १९।।

पुरुष हे अनादि। उसकी सहचरी प्रकृति।
जैसे दिन और राति। चलते जोडी से।। ६५९।।

रूप नहीं भास व्यर्थ। पर छाया आती उसके साथ।
बढ़ने लगता बीज के साथ। भूमा जैसे।। ६६०।।

वैसे प्रकृति और पुरुष। इनकी जोड़ी हे प्रख्यात।
ब्रह्माण्ड में अनादिसिद्ध। धनुर्धर जानो।। ६६१।।

अब क्षेत्र के नाम से। जो बताया विस्तार मे।
प्रकृति के नाम से उसे। जानो यहाँ।। ६६२।।

और क्षेत्रज्ञ की संज्ञा। जिसे दी मैंने प्राज्ञा।
उसे पुरुष की संज्ञा। समझो यहा।। ९६३।।

ये नाम यदपि भिन्न। निरूप्य है अभिन्न।
न भूलों यह निवेदन। बार-बार।। ९६४।।

जो सत्ता निरपवाद। वही पुरुष तत्त्वतः।
और क्रियाएं समस्त। है प्रकृति।। ९६५।।

बुद्धि, इन्द्रियां, अन्तःकरण। इत्यादि विकार सम्पूर्ण।
वैसे ही प्रख्यात त्रिगुण। सत्व, रज, तम।। ९६६।।

यह विकार का समूह। प्रकृति मे बना पांडव।
सभी कर्मो का सम्भव। हुआ इसी से।। ९६७।।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। २०।।

इच्छा व बुद्धि से अर्जुन। अहंकार होता उत्पन्न।
वही फलप्राप्ति का कारण। बनना इन्द्रियों का।। ९६८।।

फल की प्राप्ति के लिये। जो करते हैं उपाय।
उन्हें जानते, धनंजय। कार्य के नाम से।। ९६९।।

इच्छा अत्यन्त प्रबल बन। जागृत करती अन्तर्मन।
वह करता इन्द्रिय-चालन। उसका नाम कर्तृत्व।। ९७०।।

ऐसे कार्य, कर्तृत्व, कारण। तीनों का मूल कारण।
प्रकृति है कहे श्रीकृष्ण। गणा सिद्धों का।। ९७१।।

तीनों की जब युति होती। प्रकृति क्रियारूप बनती।
जिस गुण की विशेष शक्ति। क्रिया होती तदनुरूप।। ९७२।।

सत्वगुण जब प्रबल होता। तब सत्कर्म जन्म लेता।
रजोगुण बलवान होता। होता मध्यम वर्ग।। ९७३।।

तमोगुण के प्रभाव में पार्थ। जो कर्म है होवत।
उसे जानो शास्त्र विपरीत। अधार्मिक भी ।।६७४।।

यों उत्तम और अधम। प्रकृति से होते कर्म।
उनके कारण होता जन्म। सुख-दुःखों का ।।६७५।।

असत्कर्म से दुःख उपजता। सत्कर्म से सुख निपजता।
सुख-दुःख भोगना पड़ता। पुरुष को पार्थ ।।६७६।।

जब तक सुख-दुख इस भान्ति। निपजते खरे सुभद्रापति।
तब तक प्रकृति उद्यम करती। पुरुष भोगता उन्हें ।।६७७।।

यह प्रकृति पुरुष का व्यवहार। उलटा है धनुर्धर।
पत्नी कमाती भरपूर। पति खाता निठल्ला ।।६७८।।

पति-पत्नी का यह कलत्र। कभी न आता एकत्र।
फिर भी आश्चर्य कि विश्व समस्त। वही प्रसवती ।।६७९।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। २१।।

जो सर्वथा आकारहीन। उदास अकेला निर्धन।
वृद्ध से भी वृद्ध, दीन। और जर्जर भी ।।६८०।।

उसका उपनाम है पुरुष। स्त्री भी नहीं नपुंसक।
बल्कि उसका रूप और रुख। क्या है, अशक्य कहना ।।६८१।।

वह अचक्षु, अश्रवण। करविहीन, अचरण।
अरूपा और अवर्ण। तथा अनाम भी ।।६८२।।

अर्जुन, जो कुछ भी नहीं। प्रकृति का पति वही।
उसे भोगना पड़ता सभी। सुख-दुःख निरन्तर ।।६८३।।

जो सर्वथा अकर्त्ता। उदास और अभोक्ता।
पर यह प्रकृति पतिव्रता। भोग कराती उससे ।।६८४।।

वह थोड़ा-सा महामति। रूपं गुणों का विभ्रम करती ।
फिर खेल करके दिखाती। मनमाने ।। ९८५ ।।

ऐसी यह प्रकृति। गुणमयी है कहलाती ।
बल्कि वह मूर्तिमति। होती है गुण ।। ९८६ ।।

यह प्रतिक्षण नित्यनूतन। रूपगुणमयी, अर्जुन ।
जड़ को चढ़ाती उन्माद। अपने मद से ।। ९८७ ।।

इसके कारण नाम ख्यात। इससे होता स्नेह स्निग्ध ।
इन्द्रियां रहतीं प्रवृद्ध। इसके कारण ।। ९८८ ।।

और यह मन है नपुंसक। उसे घुमाती तीनों लोक ।
ऐसा है अलौकिक। कर्तृत्व प्रकृति का ।। ९८९ ।।

यह भ्रम का महाद्वीप। व्यापकता का मूर्त रूप ।
विकारों को किया अमाप। इस प्रकृति ने ।। ९९० ।।

यह मंडपी कामलता की। वसंत-शोभा मोहवन की ।
देवी माया संज्ञा इसकी। है सुप्रसिद्ध ।। ९९१ ।।

यही साहित्य-सम्पदा बढ़ाती। निराकार को आकार देती ।
प्रपंच के छापे मारती। सब पर सदा ।। ९९२ ।।

चौसठ कलाएं इसने बनाई। चौदह विद्याओं की माँ यही ।
इसी से जन्मते, भाई। इच्छा, ज्ञान, क्रिया ।। ९९३ ।।

नाना शौकों की टकसाल। चमत्कृतियों का महल ।
यहां के सारे खेल। हैं प्रकृति के ।। ९९४ ।।

प्रलय और उत्पत्ति, पार्थ। इसके है सायं-प्रभात ।
अस्तु यह अत्यंत अद्भुत। सम्मोहन विश्व का ।। ९९५ ।।

यह अद्वय की भगिनी। निःसंग की संगिनी ।
शून्य घर की गृहिणी। चलाती संसार ।। ९९६ ।।

इसका सौभाग्य इतना महान। कि उसके बल पर अर्जुन ।
यह बिठाती अपना नियन्त्रण। निरंकुश पुरुष पर ।।९९७।।

इस पुरुष के पास, पार्थ। कुछ भी नहीं तत्त्वतः ।
उसके लिये यही स्वतः। बनती सर्वरूपिणी ।।९९८।।

उस स्वयंभू की उत्पत्ति। उस अमूर्त की मूर्ति ।
महाशून्य की स्थिति। यही बनती स्वयम् ।।९९९।।

उस निरीह की इच्छा बनती। उस पूर्ण की तृप्ति करती ।
जात-पांत-गोत बनाती। यही उस कुलहीन के ।।१०००।।

निराकार का आकार। निर्व्यापार का व्यापार ।
निरंहकार का अहंकार। होती यही प्रकृति ।।१००१।।

उस अलक्षणी के लक्षण। उस अमाप का मापन ।
अमनस्क का बुद्धि, मन। यही बन जाती ।।१००२।।

उस अनाम के नाम। उस अजन्मा के जन्म ।
निष्क्रिय के क्रिया कर्म। बनती स्वयम् ।।१००३।।

उस निर्गुण के गुण। अचरण के चरण ।
अश्रवण के श्रवण। होती चक्षु अचक्षु के ।।१००४।।

भावातीत के भाव। निरवयवी के अवयव ।
बल्कि यही होती है सर्व। प्रकृति पुरुष की ।।१००५।।

इसविध यह प्रकृति। बढ़ा कर अपनी व्याप्ति ।
निर्माण करती विकृति। उस अविकारी पुरुष में ।।१००६।।

यहां पुरुषत्व, भ्राता। प्रकृति के कारण होता ।
चन्द्रमा अमा में होता। तेजोहीन जैसे ।।१००७।।

खरे विशुद्ध सोने में। अन्य धातु मिलाने से ।
उसकी शुद्धता घटती। अर्जुन, निश्चित ।।१००८।।

पिशाच की बाधा होते। सज्जन दुर्जन बन जाते।
अथवा सुदिन, दुर्दिन बन जाते। बादल आते ही ।।१००९।।

दूध जैसे पशु के पेट में। या अग्नि होता काष्ठ में।
या छुपाया वस्त्र में। रत्नदीप ।।१०१०।।

जैसे राजा पराधीन। सिंह रोग से जर्जर शीर्ण।
वैसे पुरुष प्रकृति के अधीन। स्वतेज को खोता ।।१०११।।

जैसे जागृत मनुष्य। सहसा होता निद्रावश।
स्वप्न में सुख-दुःख। भोगने लगता ।।१०१२।।

वैसे होते प्रकृति के अधीन। पुरुष भोगता उसके त्रिगुण।
उदास पति करता सहन। प्रताप पत्नी का ।।१०१३।।

पुरुष नित्य अजन्मा होता। फिर भी जन्म-मृत्यु को झेलता।
जब सर्वथा विवश होता। प्रकृति के प्रभाव से ।।१०१४।।

तपे लोहे को पीटने पर। कहते आघात किये वह्नि पर।
वैसे प्रकृति संग पुरुष पर। ढहते जन्म-मृत्यु ।।१०१५।।

या कल्लोलित होते उदक। चन्द्रबिम्ब दिखते अनेक।
तो चन्द्र हो गये अनेक। कहते अज्ञ जन ।।१०१६।।

दर्पण में कोई देखता। तो चेहरे में पाता द्विरूपता।
कुंकुम में रखा स्फटिक भ्राता। दिखता लाल ।।१०१७।।

वैसे त्रिगुण से संगम होता। तो ऐसा आभास होता।
कि पुरुष भी जन्म लेता। अन्यथा अजन्मा वह ।।१०१८।।

संन्यासी स्वप्न में अपने, भ्राता। अधम, उत्तम जन्म देखता।
वैसे इस पुरुष की मिथ्या। होती जातपात ।।१०१९।।

यह पुरुष सर्वथा निःसंग। उसके लिये न जन्म भोग।
उसका प्रकृति से गुणसंग। कारण भास का ।।१०२०।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ।। २२ ।।

जैसे खम्भा जुही का। यह आधार प्रकृति का ।
किन्तु अन्तर धरती-नभ का। होता दोनों में ।।१०२१।।

प्रकृति नदी के तट पर। यह मेरू समान सुस्थिर ।
इसका प्रतिबिम्ब दिखता अन्दर। पर यह न बहता प्रवाह में ।।१०२२।।

प्रकृति बनती-मिटती अनित्य। पर इसका अस्तित्व सत्य ।
यही शासक है अतः। ब्रह्म से सबका ।।१०२३।।

इसकी सत्ता में प्रकृति जीती। और विश्व को जन्म देती ।
अतः पुरुष प्रकृतिपति। कहलाता है ।।१०२४।।

अनादिकाल से अर्जुन। सृष्टि में जिसका निर्माण ।
वह सब अन्त में विलीन। पुरुष में होता ।।१०२५।।

यह महाब्रह्म का अधीश्वर। ब्रह्ममंडल का सूत्रधार ।
प्रपंच इतना है अपार। फिर भी इसमें समाता ।।१०२६।।

इस देह में, हे भ्राता। जो परमात्मा कहलाता ।
वह यही पुरुष होता। जानो निश्चित ।।१०२७।।

परात्पर प्रकृति से। महात्मा कहते जिसे ।
वह यही पुरुष, इसे। जानो वाक़ई ।।१०२८।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ।। २३ ।।

अर्जुन, जो निश्चित। इस पुरुष को है जानत ।
और गुणकर्म पूर्णतः। समझता प्रकृति के ।।१०२९।।

यह रूप, वह छाया केवल। यह पानी, वह मृगजल ।
ऐसा निर्णय अविचल। करते जैसे ।।१०३०।।

ठीक वैसे ही धनुर्धर। एक प्रकृति, दूसरा पुरुष।
मन में खरा यह विवेक। उतरा जिसके ।।१०३१।।

वह शरीर की सहायता से। सभी कर्म करता सुख से।
फिर भी अलिप्त रहता जैसे। नभ धूल से न मलिन ।।१०३२।।

इसका यदपि होता देह। उसका न होता इसे मोह।
यह छोड़ देता जब देह। पुनर्जन्म न पाता ।।१०३३।।

ऐसा ज्ञानी इस पुरुष पर। प्रकृति-पुरुष विवेक कर।
करता अलौकिक उपकार। समझो भैया ।।१०३४।।

इस विवेकसूर्य का उदय। करे आलोकित हृदय।
इसके नाना उपाय। क्या होते सुनो ।।१०३५।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।। २४ ।।

कोई विचार-अग्नि में धनुर्धर। श्रवणादिक पुट चढ़ा कर।
लाते स्वर्ण को निखार। आत्मा-अनात्मा के ।।१०३६।।

प्रकृति के छत्तीस भेद। विभक्त जान कर निर्विवाद।
आत्मतत्व का विशुद्ध। चयन करते ।।१०३७।।

इस आत्मतत्व के भीतर। आत्मज्ञान की दृष्टि लगा कर।
कोई देखते धनुर्धर। आत्मस्वरूप ।।१०३८।।

और कोई भाग्यवंत। सांख्ययोग में लगाते चित्त।
कोई आचरते कर्म नियत। उस विवेक को पाने ।।१०३९।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ।। २५ ।।

ऐसे विविध उपाय कर। यह भीषण भवसागर।
कर जाते हैं पार। निश्चय ही ।।१०४०।।

किन्तु जब वे ऐसा करते। तो गर्व को दूर हटाते।
और सम्पूर्ण विश्वास करते। एक गुरु के शब्दों का ।।१०४१।।

जो गुरु हित-अहित देखते। हानि देख दया करते।
हाल पूछ कर दुःख हरते। देते सुख ।।१०४२।।

उनके मुख से अर्जुन। निकलते जो-जो वचन।
उन पर तन मन धन। निछावर करते ।।१०४३।।

गुरुवचन का पालन। वही सारा योगसाधन।
जीवन का राई नोन। उतारते उनपर ।।१०४४।।

जो ऐसे श्रद्धावन्त। वे होने पर देहान्त।
मृत्यु सागर के पार। जाते सुख से ।।१०४५।।

ऐसे यहाँ पर पार्थ। उपाय हैं अगणित।
करने के लिये हस्तगत। ज्ञान ब्रह्म का ।।१०४६।।

अस्तु यह निवेदन। सर्वार्थो का कर मन्थन।
सिद्धान्त का मक्खन। दूँगा तुम्हें ।।१०४७।।

ब्रह्मज्ञान मिलते पवित्र। अन्य आनन्द के लिये पार्थ।
तुम होगे सर्वथा पात्र। अनायास ।।१०४८।।

इसलिये देने को वह ज्ञान। करूँगा मतवादों का खंडन।
विशुद्ध करूँगा निरूपण। फलितार्थो का ।।१०४९।।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ।। २६ ।।

तुम्हें बताया क्षेत्रज्ञ। जो होता है चैतन्य।
और क्षेत्र नामक अचैतन्य। वह भी बताया ।।१०५०।।

क्षेत्र-क्षेत्र का संयोग होते। ये भूतजात सभी होते।
जल-वायु का संयोग होते। जैसे उठते कल्लोल ।।१०५१।।

धूप और रेगिस्तान। इनका होते ही मिलन।
मृगजल की लहरें आसमान। छूने लगतीं ।।१०५२।।

अथवा जब धरती पर। वृष्टि करते जलधर।
तब सर्वत्र उगते अंकुर। अगणित जैसे ।।१०५३।।

वैसे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का मिलन। होते ही जन्मता जड़-चेतन।
जिसे जीव का नामाभिधान। दिया गया है ।।१०५४।।

इसलिये, हे अर्जुन। क्षेत्रज्ञ-तत्व है प्रधान।
उससे नहीं सर्वथा भिन्न। व्यक्त भूतमात्र ।।१०५५।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। २७ ।।

वस्त्र तंतु नहीं होता। पर वस्त्र तंतु का ही बनता।
देखो प्रकृति-पुरुष की एकता। ऐसी सूक्ष्मता से ।।१०५६।।

एक ही तत्व से उत्पन्न। है सभी भूत प्राण।
किन्तु उनको अनुभव पूर्ण। करना चाहिये ।।१०५७।।

उनके नाम है विभिन्न। आचरण भी है भिन्न।
आकारमान में भी भिन्न। दिखते सभी ।।१०५८।।

यह जान कर, किरीटी। भेद ही देखे तुम्हारी दृष्टि।
तो जन्म ले कर शतकोटि। मुक्ति नहीं मिलेगी ।।१०५९।।

जहाँ जैसे सहारे मिलते। कुम्हड़े का वेल जाता चढ़ते।
वैसे फल उसमें लगते। लंबे गोल ।।१०६०।।

शाखायें हों टेढ़ीं सरल। वृक्ष बेर का होता केवल।
वैसे भूत सूक्ष्म, स्थूल। मूल वस्तु एक ही ।।१०६१।।

अंगारे यदपि अलग अलग। एक होती उनमें आग।
वैसे असंख्य जीवन पृथक। किन्तु एक परमात्मा ।।१०६२।।

नभ में पर्जन्यधारायें अनेक। किन्तु जल जैसे होता एक।
वैसे सभी भूतों में देख। ब्रह्म एकमेव होता ।।१०६३।।

प्राणिमात्र दिखते विषम। पर सर्वत्र समान ब्रह्म।
जैसे आकाश सर्वत्र सम। घट में या मठ में ।।१०६४।।

नष्ट होते यह भूताभास। आत्मा रहता अविनाश।
आभूषणों का होते नाश। शुद्ध सोना शेष जैसे ।।१०६५।।

जीव तो है धर्महीन। पर जीव से अभिन्न।
ऐसे जिसे होते दर्शन। वही ज्ञानी द्रष्टा ।।१०६६।।

मिली ज्ञानदृष्टि जिसे भ्राता। वह द्रष्टाओं का द्रष्टा
उसका भाग्योदय होता। स्तुति नहीं व्यर्थ ।१०६७।

सम पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। २८ ।।

देह इन्द्रिय-गुणों की पोट। कफ वात पित्त का त्रिकुट।
पंच महाभूतों का जमघट। महाभीषण ।।१०६८।।

यह पाँच डंकों वाला वृश्चिक। लगाता पंचधा आग।
या शेर को मिली अचानक। गुफा हिरनों की ।।१०६९।।

इस अनित्य देह का उदर। नित्यत्व का शस्त्र घोप कर।
कोई न चीरता धनुर्धर। इससे मुक्त होने ।।१०७०।।

ज्ञानी इस देह में होता। तब तक अपना नाश न करता।
किन्तु अन्त में प्राप्त करता। ब्रह्मपद को ।।१०७१।।

योगज्ञान के बल पर। कोटि जन्म लाँघ कर।
जन्म टालने इतःपर। पैठता ब्रह्मस्वरूप में ।।१०७२।।

आकार का परला पार। नादब्रह्म का जो तलघर।
तुरीय अवस्था का मध्यघर। परब्रह्म ।।१०७३।।

सभी गतियाँ मोक्षसहित। जिसमें होती विश्रान्त।
गंगादि नदियाँ विश्रब्ध। जैसे होती सागर में ।।१०७४।।

भूतभिन्नता से न होती। विषम जिसकी मति।
उसे उस सुख की प्राप्ति। पैर पखारने ।।१०७५।।

जैसे कोटि दीपों में भ्राता। प्रकाश एक ही होता।
वैसे सर्वत्र होता। एकमेव भगवन्त ।।१०७६।।

ऐसा समभाव रखकर। जो जीता है, धनुर्धर।
वह जन्म-मरण के पार। जा मुक्त होता है ।।१०७७।।

इस समग्रबुद्धि की सेज पर। जो सो लिया पल भर।
उसे कहूँगा बारंबार। परम भाग्यशाली ।।१०७८।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। २९ ।।

और मन बुद्धि आदि। कर्मेन्द्रियाँ जो जो करतीं।
वह सब प्रकृति ही करती। जानता जो ।।१०७९।।

घर का प्रत्येक परिश्रम करता। किन्तु घर कुछ नहीं करता।
बादल-दल नभ में दौड़ता। नभ रहता सुस्थिर ।।१०८०।।

वैसे आत्मप्रभा में प्रकृति। नाना खेल खेलती रहती।
पर आत्मा तटस्थ खंभे की भान्ति। जानता न खेल उसके ।।१०८१।।

ऐसे अनुभव से अर्जुन। आलोकित जिसका मन।
अकर्ता आत्मा को पूर्ण। जाना उसीने ।।१०८२।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।। ३० ।।

ये भूताकार विभिन्न। उन्हें देखता जो अभिन्न।
उसे ही जानो ब्रह्मसम्पन्न। सुनिश्चित ।।१०८३।।

लहरें जैसी जल में। परमाणु-कण स्थूल में।
किरणें सूर्यमण्डल में। एक में होतीं अनेक ।।१०८४।।

अवयव जैसे देह में। अथवा भाव मन में।
या स्फुल्लिंग अग्नि में। होते एक में अनेक ।।१०८५।।

वैसे सब भूताकार हैं एक के। यह आया दृष्टि में जिसके।
उसे ब्रह्मसम्पदा के। खुल गए द्वार ।।१०८६।।

जिधर भी वह देखता। सर्वत्र ब्रह्म ही पाता।
बल्कि उसे इसमें मिलता। सुख अपार ।।१०८७।।

इसविध तुम्हें भ्राता। प्रकृति-पुरुष व्यवस्था।
बताई यथोचित तत्त्वतः। प्रतीति पथ दिखाने ।।१०८८।।

अमृतकुंभ किया प्रदान। या मिल गया गुप्त धन।
ऐसे ही मानो अर्जुन। इस ज्ञानलाभ को ।।१०८९।।

यह ज्ञान बड़ा गंभीर। अनुभव करते ही सत्वर।
बनाओ न अभी घर। निश्चय का ।।१०९०।।

दो एक विचार गहन। और बताता हूँ, अर्जुन।
पहले गिरवी रखो मन। करो श्रवण बाद में ।।१०९१।।

ऐसे चेता कर श्रीकृष्ण। कहने लगे अर्जुन से वचन।
तब कानों में लाकर प्राण। अवधान देने लगा ।।१०९२।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।। ३१ ।।

जल में जैसे सविता। कभी गीला नहीं होता।
वैसे जो देह में लिप्त न होता। उसे परमात्मा जानो ।।१०९३।।

जल से पहले व अनन्तर। होता ही है भास्कर।
मूढ़ देखता जल के भीतर। प्रतिबिंब उसका ।।१०९४।।

वैसे आत्मा देह में होता। यह कथन सत्य न होता।
वह रहता है, जहां था। निरन्तर ।।१०९५।।

चेहरा जैसे दर्पण में। दिखता प्रतिबिंब रूप में।
आत्मतत्त्व होता देह में। ठीक वैसे ही ।।१०९६।।

देह-आत्मा का संबंध। होता यह कहना ही असंबद्ध।
वायु और बालु की गाँठ। बँधेगी कैसे ? ।।१०९७।।

पंख और अग्नि को कोई। कैसे पिरोएगा भाई ?
आकाश पाषाण में कहीं। सेतु बांधा जाता ? ।।१०९८।।

एक चला पूर्व की ओर। दूसरा पश्चिम की ओर।
दोनों की भेंट नहीं परस्पर। वैसे न देह आत्मा की ।।१०९९।।

उजाले और अन्धेरे में। जीवित और मृतात्मा में।
जैसे सम्बन्ध नहीं आपस में। वैसे न इनमें भी ।।११००।।

रात और दिवस। कनक और कपास।
आपस में विरुद्ध जैसे। वैसे देह-आत्मा ।।११०१।।

पंचभूतों का शरीर बना। उसे कर्मसूत्र में बुना।
और चरखे पर घुमाया। जन्म-मृत्यु के ।।११०२।।

यह कालाग्नि के मुख में ड़ला। जैसे मक्खन का गोला।
पलक लपकते पिघला। हो गया समाप्त ।।११०३।।

यह आग में पड़ता। तो भस्म होकर उड़ता।
श्वान मुख में पड़ता। तो होता विष्ठा ।।११०४।।

इन दोनों से बचता। तो कृमियों का भक्ष्य बनता।
ऐसे इसका अन्त आता। होता गंदा अत्यन्त ।।११०५।।

ऐसी दशा इस देह की। इससे भिन्न आत्मा की।
इसके नित्य सिद्ध होने की। बात है अनादि ।।११०६।।

न भागयुत न भागरहित। न अक्रिय न क्रियावन्त।
न कृश न स्थूल होत। निर्गुण आत्मा ।।११०७।।

भासमान या निराभास। प्रकाश या अप्रकाश।
नहीं अल्प, न प्रशस्त। आत्मा अरूपा ।।११०८।।

परिपूर्ण अथवा रिक्त। रहित अथवा सहित।
नहीं मूर्त अथवा अमूर्त। शून्यता से ।।११०९।।

सानन्द या निरानन्द। एक या अनेकविध।
नहीं मुक्त अथवा बद्ध। आत्मरूप से ।।१११०।।

इतना अथवा उतना। बना-बनाया या बना।
नहीं गूंगा या बड़बोला। अलक्षण होने से ।।११११।।

यह न होता उत्पत्ति सहित। लोपता न विलयसहित।
भाव अभाव इसके निश्चित। लयस्थान आत्मा ।।१११२।।

न नापा न बखाना जाता। न बढ़ता न ही घटता।
न ऊबता न समाप्त होता। आत्मा अव्यय ।।१११३।।

ऐसा सत्यरूप आत्मा का। देह को बताते स्वरूप उसका।
मठस्वरूप आकाश का। मठाकार जैसे ।।१११४।।

वैसे नाना देहों में भ्राता। यही अनुस्यूत आत्मा।
देह को न धरता न तजता। यह अविकारी ।।१११५।।

जैसे दिन और रातें। नभ में है आते-जाते।
वैसे यातायात करते। देह आत्मसत्ता में ।।१११६।।

आत्मा शरीर में आता। न कुछ करता न करवाता।
अतः देहधर्म में उसका। कोई नहीं कर्तव्य ।।१११७।।

इसके वास्तव रूप में भ्राता। न्यूनाधिक नहीं होता।
देह में भले ही रहता। यह होता अलिप्त ।।१११८।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।। ३२ ।।

अर्जुन जहां आकाश नहीं। ऐसा स्थान कहीं नहीं ।
फिर भी वह होता नहीं। मलिन किसी से ।।१११९।।

वैसे सर्वत्र सर्वदेही। आत्मा होता सर्वदा ही ।
संगदोष से एक के भी। होता नहीं विलिप्त ।।११२०।।

यहां जानो पुनः पुनः। यही लक्षण अर्जुन ।
देह-क्षेत्र से भिन्न। क्षेत्रज्ञ आत्मा ।।११२१।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। ३३ ।।

लोह हिलता चुंबक के संग। किन्तु लोह नहीं है चुंबक ।
वैसे होते नहीं एक। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ।।११२२।।

दीप के प्रकाश में। काम धाम होता घर में ।
किन्तु घर और दीप में। अन्तर बहुत ।।११२३।।

काष्ठ में स्वभावतः। अग्नि होती है भ्राता ।
किन्तु काष्ठ अग्नि नहीं होता। समझो इसे ।।११२४।।

आकाश और मेघमण्डल। सूर्य और मृगजल ।
वैसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ केवल। जानो भिन्न ।।११२५।।

जैसे सूर्यनारायण। अकेले कर नभ-क्रमण ।
करते हैं प्रकाशमान। विश्व को सारे ।।११२६।।

वैसे क्षेत्रज्ञ एक मात्र। करता प्रकाशित सारा क्षेत्र ।
इस विषय में इतःपर। कुछ न पूछो ।।११२७।।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। ३४ ।।

शब्दतत्त्व का जाने सार। वही प्रज्ञा होती चतुर।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अन्तर। समझती जो ।।११२८।।

अर्जुन, यह अन्तर। जानने को जो आतुर।
वे ज्ञानवंत के द्वार। बारबार जाते ।।११२९।।

जानने को यही द्वैत। शान्ति-सम्पत्ति जोड़ते नित्य।
घर में शास्त्रधेनु को पोसत। सन्त मुमुक्षु ।।११३०।।

अर्जुन कोई सत्पुरुष। मन में रखते साहस।
कि चढ़ें योग का आकाश। इसी एक आशा से ।।११३१।।

शरीरादि को समस्त। मानते सर्वथा तृणवत्।
भक्ति से खड़ाऊधर। बनते सन्तों के ।।११३२।।

विविध प्रकार से अर्जुना। करके ज्ञान की साधना।
निश्चिन्त होते स्थिरमना। मुमुक्षु अन्तर्यामी ।।११३३।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अन्तर। जिन्होंने जाना धनुर्धर।
हम अपने ज्ञान को निछावर। उनके ज्ञान पर करेंगे ।।११३४।।

महाभूतों के रूप में। पसरी नाना आकारों में।
वह असत्य प्रकृति वाकई में। सत्य जाना जिन्होंने ।।११३५।।

तोता बंधा नलिका से। वैसे जीव प्रकृति से।
अर्जुन, यह रहस्य जिसे। पूर्ण ज्ञात हो गया ।।११३६।।

पहले घोर भ्रान्तिवश। माला लगी सर्पसदृश।
भ्रान्ति मिटते आया होश। माला है माला ही ।।११३७।।

भ्रम हुआ कि है रूपा। तो रजत का लगा सीपा।
भ्रम टूटते लगा अनुपा। सीपा है सीपा ही ।।११३८।।

आत्मा व प्रकृति की भिन्नता। जो भिन्नत्व से देखता।
वही निश्चित ब्रह्म होता। बताता हूँ ।।११३९।।

जो ब्रह्म आकाश से गहन। अव्यक्त के परे का चरण ।
उससे केवल होते मिलन। भेदभाव नष्टता ।।११४०।।

जहाँ आकार निराकार होता। जीवत्व जहाँ घुल जाता ।
द्वैत जहां शेष न रहता। अद्वय जो ।।११४१।।

वह परमतत्त्व पार्था। वे ही बनते सर्वथा ।
जो आत्मानात्मा की व्यवस्था। जानते राजहंस से ।।११४२।।

सन्तों से कहते ज्ञानदेव। अर्जुन जिसे जीव का जीव ।
उस श्रीकृष्ण ने कराया अनुभव। ऐसे परिपूर्ण ।।११४३।।

एक कलश से जल लिया। दूजे कलश में डाल दिया ।
वैसे स्वेच्छा से दान दिया। श्रीहरि ने अर्जुन को ।।११४४।।

नर है वह अर्जुन। कृष्ण है नारायण ।
जहां दोनों हों अभिन्न। कौन देता किसे ? ।।११४५।।

अस्तु यह कहना अप्रस्तुत। बिना पूछे बताई बात ।
पा गया सर्वस्व भारत। श्रीकृष्ण से ।।११४६।।

इतना पाकर भी देव से। पार्थ तृप्त नहीं मन से ।
ज्ञानामृत की तृष्णा से। होता व्याकुल ।।११४७।।

नेह दीपक में डाले जितना। उसका तेज फैलता उतना ।
वैसे अधिक सुनने की भावना। बढ़ती अर्जुन में ।।११४८।।

पाकनिपुणा अति उदार। जीमने वाला रसज्ञ चतुर ।
तो दोनों का आनन्द अपार। बढ़ता है ।।११४९।।

व्याख्यान को करने श्रवण। देख पार्थ का तीव्र अवधान ।
चौगुना बढ़ता व्याख्यान। श्रीकृष्ण का ।।११५०।।

मेघ बरसता अनुकूल पवन से। सागर में ज्वार चन्द्रोदय से ।
वैसे श्रोताओं के आदर से। रस बढ़ता व्याख्यान में ।।११५१।।

अब विश्व को आनन्दपूर्ण। व्याख्यान से करेंगे श्रीकृष्ण ।
उसे करिए श्रवण। संजय कहे धृतराष्ट्र से ।।११५२।।

ज्ञानेश्वर करते विनति। श्रीव्यास थे महामति ।
भीष्मपर्व में उनकी स्फूर्ति। कह गई जो कथा ।।११५३।।

वह श्रीकृष्णार्जुन संवाद। करके ओवी-छन्दोबद्ध ।
यहाँ कर रहा हूँ विशद। नागरी भाषा में ।।११५४।।

यह शान्त रस की सादी कथा। सुरस भाषा मैं हूँ कहता ।
जो शृंगार-कथा का माथा। रगड़ेगी एड़ी से ।।११५५।।

यह स्वभाषा नयी मधुर। सजाएगी भारती-भंडार ।
अमृत का गर्व-परिहार। करेगी मधुरता से ।।११५६।।

चन्द्र इन शब्दों को सुने। तो चन्द्रकान्त-सा लगेगा झरने ।
नादब्रह्म भी लगेगा डोलने। इनके रसरंग में ।।११५७।।

छूटेगा उन्मत्त के मन। सात्विकता का पेन्हा सघन ।
श्रवण करते ही सज्जन। लगायेंगे समाधि ।।११५८।।

ऐसा वांङ्मयविलास करूँगा। गीतार्थ से विश्व भर दूंगा ।
जगत चहुं ओर बना दूंगा। आनन्द का परिसर ।।११५९।।

विवेक का दैन्य मिटेगा। स्वर्ण मनन में सुख मिलेगा ।
ब्रह्मविद्या का भंडार खुलेगा। सबके लिए ।।११६०।।

परातत्त्व प्रत्यक्ष दिखेगा। सुख का समारोह होगा ।
विश्व में समृद्धि लाएगा। महाबोध की ।।११६१।।

यह सब होगा निश्चित। ऐसे व्याख्यान होगा उदात्त ।
कारण मन में मेरे अधिष्ठित। परमदेव निवृत्तिनाथ ।।११६२।।

यहां प्रत्येक अक्षर में। उपमा दृष्टान्त विपुलता में ।
गूढ़ार्थ जो प्रत्येक वाक्य में। करूँगा सुस्पष्ट ।।११६३।।

गुरुदेव मेरे श्रीमन्त। उन्होंने दिया यह सारस्वत।
तभी तो आजपर्यन्त। व्याख्यान किया मैंने ।।११६४।।

ऐसी गुरु की कृपा मुझपर। कि मान्य होता अक्षर-अक्षर।
गीतार्थ बताने की क्षमाता पाकर। आया आपकी सभा में ।।११६५।।

आप सन्तों के पवित्र चरण। उनका मुझे हुआ दर्शन।
अतः कोई भी अड़चन। प्रतीत न होती बोलते ।।११६६।।

प्रभो, वाग्देवता की सन्तति। गूँगी कैसे हो सकती।
महालक्ष्मी कैसे न होती। सुलक्षणयुक्त ? ।।११६७।।

वैसे जहाँ आप सन्तों की उपस्थिति। वहाँ अज्ञान की क्या हस्ती।
अतः अब करूँगा वृष्टि। उज्जवल नवरसों की ।।११६८।।

अब मुझे अल्पसा सन्तवर। दीजे व्याख्यान का अवसर।
फिर ग्रन्थ विवेचन सविस्तार। करूँगा कहे ज्ञानदेव ।।११६९।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ नामक समाप्त। उसका अध्याय तेरहवाँ ।।



।अध्याय चौदहवाँ।।

जय हो आचार्यजनों की। जय हो समस्त सुरवरों की।
जय प्रज्ञाप्रभात सूर्य की। उदय आपका सुखदायी।। १।।

आप सबका विश्रामस्थान। सोऽहं भाव का कराते भान।
जहाँ सागरसम आन्दोलन। पाते चौदहों भुवन।। २।।

आप आर्तजनों के बन्धु। चिर करुणा के सिन्धु।
ब्रह्मविद्या आपकी वधु। आप वल्लभ उसके।। ३।।

नहीं आपका ज्ञान जिसे। विश्व सत्य लगता उसे।
आपका स्वरूप ज्ञात जिसे। पाता आपको सर्वत्र।। ४।।

दूसरों की नजर चुराना। नज़रबंदी का खेल पुराना।
किन्तु अपने आपको छिपाना। कौशल आपका अद्भुत।। ५।।

एक को कराते आत्मबोध। दूजे को देते मायाबंध।
ऐसी आपकी लीला अगाध। नमस्कार आपको।। ६।।

पानी में आयी सुरसता। पृथ्वी में क्षमाशीलता।
आपकी कृपा से देवता। जय हो आपकी।। ७।।

त्रैलोक्य को देते आलोक। वे सीप हैं चन्द्रादिक।
आपके तेज से नेक। मिला तेज उन्हें।। ८।।

गुरुदेव आपका ही बल। पवन में कराता हलचल।
आप में खेलता खेल। नभ लुकाछिपी का।। ९।।

आपके बल से बल माया को। दृष्टि मिलती ज्ञान को ।
आपका वर्णन करने को। पड़ते वेदों को सायास ।। १० ।।

वेद तभी तक वर्णन करते। जब तक न आपको देखते ।
फिर तो वे भी मौन होते। हमारी भान्ति ।। ११ ।।

प्रलय के महाप्लावन में। बूँदें न रहतीं अस्तित्व में ।
क्या महानदी सागर में। रखती अलग पहचान ? ।। १२ ।।

जैसे उदित होते भास्कर। जुगनू-सा बनता शशिकर ।
आपके वर्णन के समय पर। वेद होते हम जैसे ।। १३ ।

जहाँ द्वैत की थाह टूटती। परासहित वैखरी डूबती ।
किस मुँह से बखान सकती। गिरा आपको ? ।। १४ ।

अतः स्तुति करना छोड़ कर। मौन रहना पसंद कर ।
आपके चरणों में रखना सिर। यही भला ।। १५ ।।

•

गुरुदेव जहाँ जैसे हो। मेरा प्रणाम स्वीकार हो ।
मेरे ग्रंथोद्यम के बनो। आप ही साहूकार ।। १६ ।।

कृपा-थैली का मुँह खोलें। मेरी मति-पोतड़ी को भरें ।
इसमें मुनाफा हो ऐसा करें। मुझे ज्ञान का ।। १७

फिर उस ज्ञान से गुरुदेव। विवेक के कर्णभूषण ।
पहनाऊँगा बनाकर। सन्त सज्जनों को ।। १८ ।।

गीतार्थ का गुप्त धन। निकालना चाहता मन ।
डालिए देव नेहांजन। मेरे ज्ञाननेत्रों में ।। १९ ।।

मेरी दृष्टि को एक समय। दिखे शब्दसृष्टि अक्षय ।
फैलाई ऐसी तेजोमय। प्रभा कारुण्यसूर्य की ।। २० ।।

मेरी प्रज्ञालता आमूल। धरे काव्यरूप फल ।
इसके लिए अति स्नेहल। बसंत होइए, गुरुदेव ।। २१ ।

सिद्धान्त का महापूर। मतिगंगा में आवे अपार।
ऐसी कृपादृष्टि की उदार। करिए वर्षा ।। २२ ।।

आप विश्व के हो आधार। आपकी कृपा का सुधाकर।
मुझमें भरे सुन्दर। प्रेरणा पूनम की ।। २३ ।।

गुरुकृपा का चन्द्रोदय होगा। मुझमें उन्मेष का ज्वार उठेगा।
स्फूर्ति पा बह चलेगा। नवरस, गुरुदेव ।। २४ ।।

सुन कर ऐसे भक्ति-वचन। गुरुराज हो गये प्रसन्न।
कहते 'स्तवन का निमित्त बन। द्वैत तुमने बढ़ाया ।। २५ ।।

अब बस करो बकवास व्यर्थ। ठीक से बताओ ग्रन्थार्थ।
श्रोता है अत्यन्त तृषार्त। सुनने के लिए' ।। २६ ।।

जी, बताता हूँ स्वामी। यही चाहता था अंतर्यामी।
कि श्रीमुख से आप ही। कहें ग्रन्थ सुनाओ ।। २७ ।।

पहले ही दूर्वांकुर। सहज होता अमर।
उस पर आया महापूर। अमृत का ।। २८ ।।

मिला आपका कृपाप्रसाद। अब मूल ग्रन्थ का प्रत्येक पद।
सुस्पष्ट करूंगा विशद। ओवी छन्द में ।। २९ ।।

ऐसे कि श्रोताओं के। सभी सन्देह मिटेंगे।
प्रबल होंगे सुनने के। भाव सबके मन में ।। ३० ।।

वाणी में आवे मधुरता। यही सच्ची भिक्षा देवता।
गुरु के द्वार माँगता। कृपा कीजै ।। ३१ ।।

तेरहवें अध्याय में अर्जुन से। श्रीकृष्ण ने विस्तार से।
जो सिद्धान्त बताया प्रेम से। कुछ ऐसा था ।। ३२ ।।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का होते मिलन। विश्व का होता निर्माण।
होते त्रिगुणों का संग। क्षेत्रज्ञ होता संसारी ।। ३३ ।।

प्रकृति के सम्पर्क में आत्मा। सुखदुखों के आघात सहता।
जब त्रिगुणातीत हो जाता। मोक्ष पाता तत्क्षण ।। ३४।।

असंग से कैसा संग। कैसा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग।
और क्षेत्रज को कैसा भोग। सुख-दुःख का ।। ३५।।

गुण कैसे कितने होते। कैसे उन्हें बाँधते।
गुणातीत के लक्षण क्या होते। अब बताता हूँ ।। ३६।।

इन सभी विषयों का। निरूपण करने का।
चौदहवें अध्याय का। है प्रयोजन ।। ३७।।

ईश्वर जो विश्व का। अधिष्ठाता वैकुंठ का।
अभिप्राय उस श्रीकृष्ण का। सुनिए अब ।। ३८।।

श्रीकृष्ण कहे, धनुर्धर। अवधान की सेना लेकर।
टूट पड़ो इस ज्ञान पर। हस्तगत करने ।। ३९।।

पूर्व में बताया बहुत। युक्तिवाद से सुस्पष्ट।
फिर भी न गया पार्थ। अज्ञान तुम्हारा ।। ४०।।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।। १।।

अब सुनो आगे, भ्राता। तुम्हें हूँ बताता।
वेदों में वर्णित महत्ता। 'पर' शब्द की ।। ४१।।

यज्ञज्ञान, धनुर्धर। अपना होकर बना पर।
कारण स्वर्ग और संसार। मानव को भा गये ।। ४२।।

इस एक कारण, भ्राता। यही ज्ञान उत्तम सर्वथा।
इतर ज्ञान तृणवत वृथा। यह अग्निसमान ।। ४३।।

संसार-स्वर्ग सुख का ज्ञान। यज्ञयाग से करता स्तवन।
द्वैत का ही होता भान। सदैव उससे ।। ४४ ।।

वे सभी अपार ज्ञान। 'पर' की तुलना में है स्वप्न।
जैसे प्रलयकाल में गगन। लीलता तूफान को ।। ४५ ।।

सूर्य तेज होते उदित। चन्द्रादि तेज होते लुप्त।
जैसे, प्रलय में नदी नद। महासागर में ।। ४६ ।।

वैसे, परज्ञान होते उदित। अन्य ज्ञान होते लुप्त।
सभी ज्ञानों में अतः। यही एक उत्तम। ४७ ।।

स्वयंसिद्ध जो मुक्तता। वही अपनी वास्तवता।
परज्ञान जब प्राप्त होता। वह मिलती निश्चित ।। ४८ ।।

जिन्हें प्रतीत यह ज्ञान। वे विचारक महान।
सिर उठाने देते न। संसार को ।। ४९ ।।

विषयसुखों से अर्जुन। मन से खींच लेते मन।
वे स्वरूप में होते विलीन। देहबंध से मुक्त होते ।। ५० ।।

बंधन स्थूल-सूक्ष्म देह के। एक झटके में लाँघ के।
हो जाते मेरे ही तोल के। वे पार्थ ।। ५१ ।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।। २ ।।

मेरी नित्यता से नित्य। होते वे पंडुसुत।
मेरी पूर्णता से पूर्णत्व। पाते हैं वे ।। ५२ ।।

मुझ जैसे वे अनंत आनन्द। नित्य, सत्य और सिद्ध।
उनमें और मुझमें भेद। रहता लेशमात्र नहीं ।। ५३ ।।

मैं हूँ जितना और जैसे। वे भी उतने ही और वैसे।
घटभंग होते समान जैसे। घटाकाश मठाकाश ।। ५४ ।।

एक दीप से प्रज्ज्वलित। ज्योतियों को करते एकत्रित।
उनका तेज जैसे मीलित। होता मूल तेज में ।। ५५ ।।

वैसे देहमूलक द्वैतबोध। जब पूर्ण होता समाप्त।
लोपता मैं-तू का भेद। आती एकात्मता ।। ५६ ।।

इसी कारण हे किरीटी। पुनः होती जब सृष्टि।
तब उनकी उत्पत्ति। होती नहीं ।। ५७ ।।

सृष्टि के उत्पत्ति सहित। जो देह नहीं पावत।
उनका प्रलय में पार्थ। नाश कैसे ? ।। ५८ ।।

अतः जन्म-मरणातीत। जो हो जाते, पार्थ।
इस ज्ञान से उन्हें प्राप्त। होती मद्रूपता ।। ५९ ।।

देव को जो अतिप्रिय। उसमें रस ले, धनंजय।
इसीलिए महत्ता अक्षय। बताई आत्मज्ञान की ।। ६० ।।

सुन कर देव का भाषण। सर्वांग बन गये कान।
नखशिख मूर्तिमन्त अवधान। अर्जुन हो गया ।। ६१ ।।

विशाल जो आकाश से। उस निरूपण को ध्यान से।
सुन रहा है अर्जुन इसे। देख देव प्रफुल्लित ।। ६२ ।।

फिर कहते प्रज्ञाकान्ता। ब्याही मेरी वाक्-दुहिता।
बोल के तोल का श्रोता। मिला तुम जैसा ।। ६३ ।।

तो सुनो कैसे एक मुझे। अनेक देह पाशों में।
त्रिगुण-व्याध संसार में। चाहते बाँधना ।। ६४ ।।

क्षेत्र से होते मिलन। करता हूँ विश्व-निर्माण।
कैसे सुनो, अर्जुन। बताता हूँ ।। ६५ ।।

मेरे संग का बीज पड़ कर। उत्पन्न होते भूतमात्र।
इसीलिए नाम क्षेत्र। हुआ प्रकृति का ।। ६६ ।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।। ३ ।।

महदादिक सभी विकार। जहाँ प्रलय में करते घर ।
अतः महद् ब्रह्म नामान्तर। मूल प्रकृति का ।। ६७ ।।

अथवा इसीसे सुभद्रापते। विकार सारे बड़े होते ।
इसलिए महाब्रह्म कहते। मूल माया को ।। ६८ ।।

अव्यक्तवादी, पार्थ। इसी को बताते अव्यक्त ।
करते प्रकृति नाम से व्यक्त। सांख्यदर्शन में ।। ६९ ।।

वेदों में यही, पार्थ। माया नाम से ख्यात ।
इसके नाम अनन्त। अज्ञान सारा ।। ७० ।।

स्वयं को स्वयमेय हीं। भुला देते पूर्ण ही ।
अज्ञान तो उसे ही। कहते धनंजय ।। ७१ ।।

अज्ञान की यही विशेषता। विचार के समय न दिखता ।
तम जैसे दिखाई न देता। दीप ले कर ।। ७२ ।।

दूध औटाते मलाई न होती। स्थिर होते प्रकट होती ।
विचार के चलते अज्ञान नहीं। अन्यथा होता वैसे ।। ७३ ।।

स्वप्न, समाधि, जागृति। तीनों स्थितियाँ जब न होतीं ।
तभी होती जैसे स्थिति। गहरी नींद की ।। ७४ ।।

अथवा जब न होता पवन। रिक्त रहता गगन ।
वैसे न हो अवस्था अन्य। तो रहता अज्ञान ।। ७५ ।।

दूर खम्भा है या व्यक्ति। निर्णय न कर पाती मति ।
किन्तु कुछ अवश्य देखती। जाने न क्या ।। ७६ ।।

वैसे ब्रह्मतत्त्व है जैसा। दिखाई न देता वैसा ।
किन्तु उसके विपरीत सा। नहीं पड़ता दिखाई ।। ७७ ।।

नहीं दिवस नहीं रात। वही संध्या नाम से ख्यात।
न यथार्थ, न ज्ञान विपरीत। अज्ञान वही ।। ७८ ।।

यह जो विचित्र अवस्था। वही अज्ञान सर्वथा।
जो चेतना को लपेटता। नाम उसका क्षेत्रज्ञ ।। ७९ ।।

अज्ञान को बढ़ाता। स्वरूप को न पहचानता।
यही क्षेत्रज्ञ का होता। स्वरूप पार्थ ।। ८० ।।

यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग। पार्थ, जानो सांगोपांग।
यही स्वभाव प्राकृतिक। ब्रह्म-माया का ।। ८१ ।।

आत्मचेतना इस प्रकार। माया के प्रभाव में आकर।
देखती कितने आकार - प्रकार। नहीं जानते ।। ८२ ।।

जैसे, दरिद्री को हो गई भ्रान्ति। कहता मैं हो गया नृपति।
कोई मूर्च्छा की होते समाप्ति। कहते स्वर्ग देखा ।। ८३ ।।

वैसे दृष्टि स्वरूप से ढलते। जो कल्पना के गुल खिलते।
उसे लोग सृष्टि कहते। जो मुझसे उत्पन्न ।। ८४ ।।

जब स्वप्न-भ्रम पैदा होता। नाना रूप दिखते, भ्राता।
चैतन्य निज को भुलाता। देखता अनेकत्व ।। ८५ ।।

विश्व भासमान माया से। यह बताऊँगा अन्य रीति से।
किन्तु अर्जुन स्वानुभव से। तुम्हें जानना होगा ।। ८६ ।।

जो अनादि नित्य तरुणी। अवर्णनीय और त्रिगुणी।
अविद्या जिसे कहते ज्ञानी। मेरी गृहिणी वह माया ।। ८७ ।।

अभाव ही इसका स्वरूप। आकार ही इसका माप।
अज्ञान-निद्रित के यह समीप। ज्ञान-जागृत से दूर होती ।। ८८ ।।

जब मैं निद्रित होता। तो इसका पूरा खेल चलता।
भोग कर मेरी सत्ता। यह होती गर्भवती ।। ८९ ।।

उदर में इस महद्ब्रह्म के। विकार आठ प्रकृति के।
विश्वगर्भ को पुष्ट करते। यथाक्रम ।। ९० ।।

आत्मा-माया का संगम। बुद्धि तत्व को देता जन्म।
उसका विकास होता चरम। वही मन कहलाता ।। ९१ ।।

ममता पत्नी मन की। वही जननी अहंकार की।
अहंकार में महाभूतों की। होती अभिव्यक्ति ।। ९२ ।।

विषय-इन्द्रियाँ सम्बन्धित। महाभूतों से अत्यन्त।
इसलिए वे भूतोंसहित। उत्पन्न होतीं ।। ९३ ।।

होते विषयेन्द्रियों का सम्बन्ध। सत्व, रज, तम होते क्षुब्ध।
फिर जैसी वासना शुद्धाशुद्ध। वैसे जीव जन्मते ।। ९४ ।।

ऊर्जा ओर जल का, अर्जुन। एक स्थान में होते मिलन।
जैसे अंकुर शाखा पर्ण। लहलहा जाते ।। ९५ ।।

वैसे अविद्या यदपि सूक्ष्म। मुझसे होते ही संगम।
गर्भ में धारती अचल जंगम। विश्व को सारे ।। ९६ ।।

फिर वह विश्वगर्भ माया का। आकार लेता किस प्रकार का।
एकाग्र कर भाव मन का। सुनो, सुजनवर ।। ९७ ।।

अंडज और स्वेदज। उद्भिज और जारज।
ये चार योनियाँ सहज। उत्पन्न होती हैं ।। ९८ ।।

आकाश और वात। गर्भरस में अधिक होत।
तब है जन्म पावत। मणिज या अंडज ।। ९९ ।।

तम, रज, जल, तेज। ये भूत जिनमें अधिक।
ऐसे प्राणि अर्जुन, देख। होते स्वेदज ।। १०० ।।

अधिक पृथ्वी अधिक जल। वहाँ तमोगुण अति प्रबल।
जो जीव स्थावर केवल। उन्हें जानो उद्भिज ।। १०१ ।।

पंचभूतों की बाह्य इन्द्रियाँ। मन बुद्धि ये अन्तरेन्द्रियाँ।
जहाँ दिखती धनंजया। वे हैं जारज ।। १०२ ।।

ऐसे ये योनियाँ चार। माया-गर्भ के हाथ पैर।
अष्टधा महाप्रकृति सिर। जानो इनका ।। १०३ ।।

प्रकृति जिसका तुंदिल पेट। निवृत्ति है जिसकी पीठ।
देवयोनियाँ आठ। जिसके ऊर्ध्वांग ।। १०४ ।।

कंठ मानो स्वर्गलोक। मध्यभाग मृत्युलोक।
पाताल है नितम्ब देख। इस मायागर्भ के ।। १०५ ।।

ऐसा विचित्र सा एक। माया से प्रसूत बालक।
करते ये तीनों लोक। उसकी परिपुष्टता ।। १०६ ।।

चौरासी लक्ष योनियाँ। जिसकी अस्थि मांसपेशियाँ।
ऐसा शिशु धनंजया। बड़ा होने लगा ।। १०७ ।।

देह नामों के अलंकार। पहनाती उसे बारम्बार।
मोह स्तन्य पिला कर मधुर। माया पोसतीं उसे ।। १०८ ।।

जो अलग-अलग सृष्टियाँ। इसकी मानो उंगलियाँ।
अहंकार की अंगूठियाँ। जिनमें विभिन्न ।। १०९ ।।

ऐसा शिशु इकलौता। लाड़ला पैदा होता।
भाग्य सफल सा लगता। जच्चा माया को ।। ११० ।।

ब्रह्मदेव प्रातः काल। विष्णु मध्यान्ह काल।
सदाशिव सायंकाल। उस बालक का ।। १११ ।।

महाप्रलय की शैया पर। सोता शान्त खेल कर।
कल्पारम्भ में उठता जाग कर। विपरीत ज्ञान से ।। ११२ ।।

अर्जुन इस प्रकार। मिथ्या दृष्टि के घर।
चलता पदक्षेप कर। युगानुवृत्ति का ।। ११३ ।।

संकल्प इसका सहचर। अहंकार है अलंकार।
अन्त होता जिसका सत्वर। ज्ञानप्रकाश दिखते।। ११४।।

अस्तु अब यह विस्तार। माया प्रसवती यह विश्वाकार।
उसमें होती सहायकर। सत्ता मेरी।। ११५।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। ४।।

इस कारण मैं हूँ पिता। महद्ब्रह्म है माता।
अपत्य हमारा, पंडुसुता। यह विश्व विशाल।। ११६।।

देख देहों को विविध। न मानो कोई भेद।
क्योंकि यहाँ एकविध। मन, मति इत्यादिक।। ११७।।

एक देह में, सुभद्रापते। क्या विभिन्न अंग नहीं होते ?।
वैसे नाना देह यदपि दिखते। हैं सभी एकरूप।। ११८।।

ऊँची-नीची विषम विविध। शाखाएँ दिखतीं अनेकविध।
किन्तु सभी होती उत्पन्न। एक ही बीज से।। ११९।।

जैसे माटी का सुत घट। कपास का पोता पट।
वैसे सम्बन्ध अतिघनिष्ट। मेरा और विश्व का।। १२०।।

सागर पेट से निकलती। जैसे तरंगों की सन्तति।
वैसे चराचर किरीटी। मेरी सन्तान।। १२१।।

वन्हि और ज्वाल। दोनों आग ही केवल।
वैसे मैं ही यह सकल। व्यर्थ सम्बन्ध कल्पना।। १२२।।

विश्व बनते मैं लुप्त। फिर भी विश्व कैसे होगा लुप्त।
क्या तेज में प्रदीप्त। हीरा लोप होता ?।। १२३।।

स्वर्ण अलंकार बनाया। तो क्या सोना नष्ट हो गया ?।
या कमल पूरा खिल गया। तो क्या न रहता कमल ?।। १२४।।

क्या देह को उसके अवयव। ढँक पाते हैं पाण्डव ? ।
होता है सअवयव। रूप शरीर का ।। १२५ ।।

माटी में मक्का बोया। वह भुट्टा बन प्रगट हुआ ।
बताओ उसका क्यां हुआ। विकास या क्षय ? ।। १२६ ।।

अतः जगत से कर किनारा। दर्शन नहीं होगा मेरा ।
कारण जगतरूप सारा। मैं ही हूँ ।। १२७ ।।

अर्जुन, यह सत्य सिद्धान्त। इसे समझो सुनिश्चित ।
इसकी अपने मन में गाँठ। बाँध लो पक्की ।। १२८ ।।

स्वयं अपने को मैं। दिखाता नाना देहों में ।
बँधा हुआ त्रिगुणों में। प्रतीत होता हूँ ।। १२९ ।।

नींद में देखा स्वप्न। देखा अपना ही मरण ।
उस दुःखभोग का कारण। होता स्वयम् ही ।। १३० ।।

अर्जुन, पीलियाग्रस्त की। आँखें पीली दिखतीं ।
किन्तु वाह्य पीले को देखती। पीले ही रंग में ।। १३१ ।।

जिस सूर्य के प्रकाश में। अभ्र दिखते आकाश में ।
उस सूर्य को छिपा अभ्र में। उसी प्रकाश में देखते ।। १३२ ।।

अपनी परछाई देख कर। मनुष्य काँपता थरथर ।
किन्तु क्या छाया से ऊपर। होता है वह ? ।। १३३ ।।

वैसे विविध देह धरता। मैं दिखाता विविधता ।
बंधन भलीभाँति जानता। विविधता का ।। १३४ ।।

मोक्ष अथवा देहबंध। है स्वयम् में स्वरूपबोध ।
जो स्वरूप का अज्ञान। वही बंध मोक्ष ।। १३५ ।।

मुझे अपना ही बंधन। इसका तत्वतः क्या कारण ? ।
अर्जुन से कहते श्रीकृष्ण। सुनो सुनाता हूँ ।। १३६ ।।

गुण कुल कितने होते। उनके धर्म क्या होते।
उनके रहस्य क्या-क्या होते। रूप नाम उत्पत्ति के ।। १३७ ।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबन्धन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। ५ ।।

सत्व रज और तम। प्रत्येक गुण का नाम।
और प्रकृति से जन्म। हुआ इनका ।। १३८ ।।

सत्व गुण है उत्तम। रजोगुण मध्यम।
तमोगुण अधम। तीनों में ।। १३९ ।।

एक ही वृत्ति में अर्जुन। तीनों गुण होते उत्पन्न।
जैसे एक ही तन। पाता तीनों दशाएँ ।। १४० ।।

शुद्ध स्वर्ण में धातु हीन। अधिक मिलाते बढ़ता वज़न।
किन्तु हीनता बढ़ कर स्वर्ण। घटता मूल्य में ।। १४१ ।।

जैसे आलस्य के कारण। दक्षता नष्टती अर्जुन।
स्वस्थ नींद के कारण। बढ़ जाती है ।। १४२ ।।

वैसे अज्ञान का स्वीकार। चेतना को बिखराता चहुँ ओर।
वह सत्व रज के लाँघ द्वार। घर जाती तम के ।। १४३ ।।

यह तो वृत्तिक्षोभ का कारण। उसे ही कहते गुण।
जिसका आत्मा को बन्धन। सुनो कैसे ।। १४४ ।।

विशुद्ध आत्मा होते क्षेत्रज्ञ। करता देह का अभिमान।
उसे पहला अपशकुन। जानो पार्थ ।। १४५ ।।

जगते देह का अभिमान। जन्म से आमरण।
देहधर्म का बन्धन। जीव पर पड़ता ।। १४६ ।।

काँटे में लगा आमिष। मीन पकड़ता जिस क्षण।
काँटे को उसी क्षण। खींच लेता मछुवारा ।। १४७ ।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।। ६।।

सत्वगुण व्याधसदृश। सुख ज्ञान के फैला पाश।
खिंचता जीव बद्धपाश। छटपटाता है।। १४८।।

फिर ज्ञान से उत्तम होता। अहंकार से ऐंठ जाता।
और पास का गँवा देता। आत्मसुख जीव।। १४९।।

सन्तोष पाकर विद्वन्मान्यता। धनलाभ से हर्षित होता।
दोषबोध उसका लोपता। सुन आत्मश्लाघा।। १५०।।

कहता मेरा अहोभाग्य। मुझ-सा किसे मिला सौख्य।
गर्व बढ़ता असामान्य। अष्ट सात्विकता का।। १५१।।

अस्तु, सुनो आगे जा कर। दूजी झंझट गले पड़ कर।
भूत होता हावी सिर पर। विद्वता का।। १५२।।

स्वयं है ज्ञानस्वरूप। बोध खोने का न दुःख।
विषयज्ञान से अनूप। फूले न समाता।। १५३।।

स्वप्न में नृप छत्रधारी। बन जाता है भिखारी।
मिलते मुट्ठी भीखभरी। इन्द्र मानता अपने को।। १५४।।

वैसे आत्मा देहातीत। जब होता देहवंत।
बाह्य ज्ञान से ज्ञानवंत। मानता अपने को।। १५५।।

अर्थशास्त्र, कामशास्त्र। यज्ञयाग के मन्त्र-तन्त्र।
वृत्तान्त स्वर्ग का पवित्र। साद्यन्त जानता।। १५६।।

कहता आज मुझ-सा धन्य। ज्ञानी नहीं कोई अन्य।
मेरा चित्त असामान्य। गगन चातुर्यचन्द्र का।। १५७।।

ऐसा सत्वगुण का खेल। सुख ज्ञान की डाल नकेल।
बनाता नांदिया बैल। अहंकारी ज्ञानी को।। १५८।।

यह सत्वगुण अर्जुन। रजोरूप कर धारण।
जीव पर डालता बंधन। कैसे, अब सुनो ।। १५९ ।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबन्धाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।। ७ ।।

रंजन करता जीव का। अतः रज है नाम इसका।
सदा यौवन अभिलाषा का। बनाये रखता रजोगुण ।। १६० ।।

जब जीवन में होता प्रविष्ट। काम विकार करता बलिष्ठ।
झंझा-सी हो उद्दीप्त। दौड़ती तृष्णा ।। १६१ ।।

अग्निकुण्ड में डालते घृत। वज्राग्नि होता प्रदीप्त।
क्षण में करता भस्मसात्। छोटे-बड़े सभी को ।। १६२ ।।

विषयतृष्णा के उफनते। दुख ही सुख लगते।
इन्द्र के ऐश्वर्य लगते। अपर्याप्त ।। १६३ ।।

तृष्णा ऐसी बढ़ती अत्यन्त। कि हाथ आवे स्वर्ण-पर्वत।
तो भी मन में चाहत। कुछ अधिक पाना ।। १६४ ।।

कौड़ी पाने को भ्राता। प्राण निछावर करता।
तिनका भी प्राप्त होता। धन्य मानता स्वयं को ।। १६५ ।।

समाप्त होगा संचित द्रव्य। फिर कल का क्या भवितव्य।
इसी सोच में करता भव्य। व्यवसाय नये ।। १६६ ।।

सोचता जब स्वर्ग जाऊँगा। तो वहाँ क्या खाऊँगा।
इसीलिए भागा भागा। यज्ञ करता अनेक ।। १६७ ।।

बीसियों व्रत रखता। इष्ट पूर्त कर्म करता।
काम्य कर्म की चाह रखता। सदैव बड़ी ।। १६८ ।।

जैसे ग्रीष्मान्त का वात। रुकना नहीं जानत।
वैसे करता दिन-रात। परिश्रम भारी ।। १६९ ।।

कामिनी की चितवन। चंचल दामिनी या मीन ।
इन सबसे रजोगुण। अत्यन्त चंचल होता ।। १७० ।।

ऐसे चंचल वेग से। स्वर्ग-संसार तृष्णा से ।
कूदता निर्भयता से। कर्मों की आग में ।। १७१ ।।

देह में जो भिन्न देह से। तृष्णा-फंदा फाँसता उसे ।
सारी झंझटें बला से। गले बाँध लेता ।। १७२ ।।

रजोगुण इतना दारुण। देह में आत्मा को बन्धन ।
अब सुनो लक्षण। तमोगुण के ।। १७३ ।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। ८ ।।

रात में घटा घुमड़ते। सारे व्यवहार थमते ।
वैसे मोहपटल से बंद होते। बुद्धि के कपाट ।। १७४ ।।

जिससे भ्रान्त त्रिभुवन। नाचने लगता उन्मन ।
वह अज्ञान अर्जुन। पोषण करता जिसका ।। १७५ ।।

जो अविवेक का महामंत्र। मूढ़ता-मद्य का पात्र ।
जो है सम्मोहनास्त्र। सब जीवों का ।। १७६ ।।

वह तमोगुण भ्राता। उन मूढ़ों को ग्रसता ।
जो देह और आत्मा। मानते भिन्न ।। १७७ ।।

यह तमोगुण चराचर में। उन्मत्त जिस-जिस देह में ।
अन्य चीज नहीं उसमें। रह सकती कतई ।। १७८ ।।

उसकी इन्द्रियों में जड़ता। मन माँही मूढ़ता ।
देह में बढ़ती दृढ़ता। आलस्य की ।। १७९ ।।

बारबार अंगड़ाई लेता। कामधाम से ऊबता ।
नित्य जँभाइयाँ लेते रहता। उठते-बैठते ।। १८० ।।

जो आगे की बातें, भ्राता। खुली आँखों भी न देखता।
'जीऽ' कह कर व्यर्थ चिल्लाता। किसी की पुकार पर।।१८१।।

जैसे नीचे पटका पत्थर। करवट न बदले धनुर्धर।
वैसे जिसके लिए दुर्धर। शरीर झाड़ना।।१८२।।

रसातल में जाती हो धरा। आकाश टूट कर हो गिरा।
फिर भी जागने की ज़रा। प्रेरणा नहीं जिसे।।१८३।।

निढाल हो सो जाता। उचित-अनुचित को भुलाता।
जिसके जी को बड़ा भाता। लेटना हर कहीं।।१८४।।

दोनों हाथों को उठा कर। उंगलियाँ चटकाता सिर पर।
घुटनों में छिपाए सिर। बैठा रहता अभागा।।१८५।।

जिसे नींद की बात। पसंद होती बहुत।
स्वर्ग देवताओं को तुच्छ। मानता निद्रा से।।१८६।।

ब्रह्मा की आयु मिले। और सब सोने में गुजारे।
दूजा व्यसन न विचारे। इसके अतिरिक्त।।१८७।।

पाँव फिसल कर गिर गया। तो वहीं झट सो गया।
नींद आते अमृत को कर गया। अस्वीकार जो।।१८८।।

जो किसी के आग्रह पर। करने लगे कोई व्यापार।
अंधा चलता गुस्सा कर। वैसे जिसका चलना।।१८९।।

कहाँ कैसा आचरण करें। किससे क्या बातें करें।
कहाँ क्या लेना-देना करें। जानता न जो।।१९०।।

अपने पंखों के बल पर। दावाग्नि बुझा दूँगा सत्वर।
ऐसी चाह जैसे सिर पर। हावी हो पतंगे के।।१९१।।

वैसे जिसमें साहसिक प्रवृत्ति। अकार्य में बड़ी आसक्ति।
बल्कि अत्यन्त ही प्रीति। होती प्रमाद में।।१९२।।

योंं निद्रा, आलस्य, प्रमाद। तमोगुण के तीन बंध।
निरुपाधिक आत्मा बद्ध। होता उनसे ।। १६३ ।।

वन्हि काष्ठ में प्रवेशता। तो काष्ठाकार दिखता।
घट में आकाश भरता। तो होता घटाकार ।। १६४ ।।

प्रतिबिम्ब सरोवर में। चन्द्र-सा आता नज़र में।
वैसे बँधते गुणों मे। आत्मा होता गुणाकार ।। १६५ ।।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।। ९ ।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।। १० ।।

दूर हटा कर कफ़, वात। जब उफनता पित्त।
तब होता संतप्त। शरीर सारा ।। १६६ ।।

या ग्रीष्म व वर्षा के बाद। मौसम होता बड़ा सर्द।
तब शीत से आवृत। होता गगन भी ।। १६७ ।।

या स्वप्न और जागृति। जा कर आती सुषुप्ति।
तब क्षण भर चित्तवृत्ति। होती तद्रूप ।। १६८ ।।

वैसे रज, तम को दबा कर। सत्व गुण आता उभर कर।
कहलवाता जीव से मुखर। जग में सुखी मैं ।। १६९ ।।

वैसे सत्व, रज को दबा कर। तमोगुण होता प्रखर।
तो जीव चहुँ ओर। करता प्रमाद ।। २०० ।।

इसी प्रकार से अर्जुन। दबाकर सत्व, तम गुण।
जब होता रजोगुण। प्रबल अत्यन्त ।। २०१ ।।

तब कर्म के अतिरिक्त। कुछ भी नहीं सुहावत।
यही मानता देहस्थित। राजा जीवात्मा ।। २०२ ।।

तीन गुणों का निरूपण। तीन श्लोकों में विश्लेषण।
किया, अब सुनो लक्षण। त्रिगुण वृद्धि के ।। २०३।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१२।।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।

रज, तम को जीत अर्जुन। देह में बढ़ता सत्वगुण।
तब उसके लक्षण। दिखते ऐसे ।। २०४।।

वसंत में कमल खिलता। सुगंध से परिसर महकता।
वैसे तेज सर्वत्र फैलता। अंतर के ज्ञान का ।। २०५।।

इन्द्रियों के प्रांगण में भ्राता। विवेक जागता पहरा देता।
मानो कर्मेन्द्रियों को बनाता। लोचन ज्ञान के ।। २०६।।

राजहंस के सामने नीर। मिला कर रखा क्षीर।
चोंच करती क्षीर को सत्वर। अलग नीर से ।। २०७।।

वैसे दोष और अदोष। इनका इन्द्रियाँ करतीं विवेक।
नियम सारे बनते सेवक। स्वभावतः ।। २०८।।

कान टालते अश्रवणीय। दृष्टि छानती अदर्शनीय।
जिह्वा न बोलती अकथनीय। सहजता से ।। २०९।।

जैसे दीप के पास भ्राता। अँधेरा कभी नहीं आता।
इन्द्रियों के समक्ष नहीं आता। वैसे निषिद्ध व्यवहार ।। २१०।।

वर्षा ऋतु में बाढ़। नदियों में आती प्रचंड।
वैसे शास्त्राध्ययन में पार्थ। विकास बुद्धि का ।। २११।।

पूर्णिमा की रात में। चन्द्रप्रभा फैलती आकाश में।
वैसे फैलता चित्त में। प्रकाश ज्ञान का ।। २१२।।

वासनाएँ एकत्रित होतीं। प्रवृत्तिमार्ग को तजतीं।
मन को उबा देतीं। विषयों से ।। २१३।।

सत्व गुण के प्रबल होते। ये लक्षण दिखाई देते।
तभी दैवयोग से आते। यदि यमदूत ।। २१४।।

घर में हो प्रचुर सम्पत्ति। मानस हो उदारमति।
इह पर में कीर्ति सद्गति। क्यों न मिलेगी ? ।। २१५।।

अथवा समृद्धि के रहते। तीज-त्यौहार मनाते।
प्रिय अतिथि आ पहुँचते। अकस्मात् ।। २१६।।

ऐसे यजमान को अर्जुन। कौन सा है उपमान।
सत्वावस्था में आते मरण। अन्य गति पायेगा कैसे ? ।। २१७।।

जिसका सात्विक आचरण। छोड़ता अब भोगायतन।
अपने शुद्ध सात्विक गुण। साथ ले जाता ।। २१८।।

जो ऐसे अकस्मात जाता। वह सत्यमय देह पाता।
बल्कि वह जन्म लेता। ज्ञानी परिवार में ।। २१९।।

कोई सिंहासनाधीश्वर। डेरा लगाता पर्वत पर।
तो क्या वह धनुर्धर। राजा न रहता ? ।। २२०।।

ले एक ग्राम का दिया। दूसरे ग्राम में रख दिया।
तब भी दिया तो है दिया। उस ग्राम में भी ।। २२१।।

वैसे सत्व गुण शुद्धि। अद्भुत पाती ज्ञानवृद्धि।
तैरने लगती बुद्धि। विवेक पर ।। २२२।।



फिर महत्तत्वादि विकार। करने पर सही विचार।
विचारसहित होते साचार। लीन आत्मरूप में ।।२२३।।

वेदानुसार सैंतीसवाँ। सांख्य मत से पच्चीसवाँ।
त्रिगुणों से पर पाण्डवा। चौथा तत्त्व जो ।।२२४।।

वह पूरा सर्वोत्तम। जिन्होंने किया हृदयंगम।
उनके कुल में निरुपम। जन्म मिलता उसे ।।२२५।।

इसी भान्ति, हे अर्जुन। तमोगुण, सत्त्वगुण।
दोनों का कर दमन। रजोगुण जब प्रभावी ।।२२६।।

तब देहगाँव में, आता। अपना हुड़दंग मचाता।
फिर क्या-क्या दिखायी देता। अब सुनो ।।२२७।।

आँधी आती वेगवान। हर वस्तु भरती उड़ान।
वैसे इन्द्रियों का आचरण। होता विषयों में ।।२२८।।

परायी स्त्री, को आता। निषिद्ध नहीं मानता।
बकरी चरती जो भी मिलता। वैसे करता व्यभिचार ।।२२९।।

लोभ इतना प्रबल होता। वस्तुमात्र की चाह बढ़ाता।
केवल वही वस्तु छोड़ता। जो न आती हाथ ।।२३०।।

धंधा हो चाहे कोई भी। आगे पीछे की सोचता नहीं।
अवसर न खोता एक भी। जो हाथ लगता ।।२३१।।

बनाएँ विशाल प्रासाद। या करें अश्वमेध।
ऐसा छन्द अमर्याद। पूरा करता जतन से ।।२३२।।

निर्माण करें महानगर। अच्छे बड़े सरोवर।
लगाएँ घने कान्तार। नानाविध ।।२३३।।

ऐसे कार्य विराट। करने में होता ढीठ।
फल मिले दृष्टादृष्ट। यही चाहता सदा ।।२३४।।

लगे छिछोरा सागर। तीन कौड़ी का वैश्वानर।
ऐसे होता दूभर। अभिलाष जिसका ।। २३५ ।।

जिसकी स्पृहा, सुभद्रापति। आस को मन के आगे दौड़ती।
विश्व को पैरों तले रौंदती। इच्छाएँ सारी ।। २३६ ।।

जब बढ़ता रजोगुण। ये प्रकटते लक्षण।
और हो जाये देहावसान। इस अवस्था में ।। २३७ ।।

तो इसी रजोगुण से अर्जुन। युक्त होकर परिपूर्ण।
मनुष्य योनि में जन्म। अटल होता ।। २३८ ।।

सभी सुखोंसहित भ्राता। भिखारी राजमहल में बैठा।
तो क्या राजा बन जाता। उतने मात्र से ? ।। २३९ ।।

बैल जहां भी जायेगा। कड़बी ही खायेगा।
भले ही ले जाया जायेगा। अमीर की बारात में ।। २४० ।।

व्यस्तता इतनी व्यापार की। फुरसत नहीं पल की।
पंक्ति में ऐसे लोगों की। जाता रजोगुणी ।। २४१ ।।

रजोगुण के दह में पार्थ। जिसका होता देहान्त।
उसे होता जन्म प्राप्त। कर्मठों के घर में ।। २४२ ।।

वैसे ही सत्व रज गुण। दोनों को लील अर्जुन।
जब होता तमोगुण। प्रबल अत्यन्त ।। २४३ ।।

तब तन और मन माहीं। जो लक्षण देते दिखायी।
वे बताता हूँ, भाई। सुनो ध्यान से ।। २४४ ।।

जैसे अमा निशा में गगन। होता रविचन्द्रविहीन।
वैसे होता है मन। तमोमयसा ।। २४५ ।।

निरुत्साह उदासीन। प्रेरणाहीन अन्तःकरण।
सुविचार को स्थान। उसमें न होता ।। २४६ ।।

मति होती ऐसी जड़। कि मृदु लगता पाषाण।
स्मृति फिरती अखंड। मारी-मारी ।।२४७।।

अन्तर्बाह्य देह पर। अविवेक होता सवार।
मूढ़ता का व्यवहार। होने लगता ।।२४८।।

अनाचार को इन्द्रियाँ खातीं। उसकी हड्डियाँ उन्हें चुभतीं।
पाप कर्मों में होती। रति आजीवन ।।२४९।।

कुकर्म का आते क्षण। मन होता उल्लासपूर्ण।
अंधेरे में ही चमगादड़। देख पाती जैसे ।।२५०।।

जो-जो हो निषिद्ध। उसके लिए नित्य सिद्ध।
इन्द्रियाँ भुलाती सुध। उनकी ओर दौड़ते ।।२५१।।

बिना नशे के झूमता। सन्निपात बिन बड़बड़ाता।
बिना प्रेम के मोहित होता। पागल जैसा ।।२५२।।

चित्त ठिकाने नहीं होता। किन्तु न होती उन्मनावस्था।
ऐसा मोह प्रमत्त होता। बल पाकर ।।२५३।।

ऐसे नाना लक्षण। दिखायी देते अर्जुन।
तब शरीर में तमोगुण। पुष्ट जानो ।।२५४।।

इस तामसी स्थिति में पार्थ। जब मरण होता प्राप्त।
तब तमोगुण में ही अन्ततः। पुनर्जन्म होता ।।२५५।।

राई के मारे गुण। राई में ही होते अर्जुन।
कैसे आयेंगे फल भिन्न। बोने पर राई ।।२५६।।

अग्नि दीप को बालता। फिर भले ही बुझ जाता।
उसके लक्षण सर्वथा। होते दीप ज्योति में ।।२५७।।

अतः तमोगुण की पोतड़ी। जिसके संकल्प से बढ़ती।
उसे पुनर्जन्म की गति। मिलती तमोगुण में ।।२५८।।

तमोगुण के उभाड़ में पार्थ। जिसका होता है देहान्त।
उसे होता जन्म प्राप्त। पशु, पक्षी, पेड़, कीड़े का ।। २५९ ।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।। १६ ।।

अतः सत्व से उत्पन्न। जो भी होता है अर्जुन।
उसे वेदों में नामाभिधान। सुकृत का ।। २६० ।।

वह सुकृत निर्मल। सुखी ज्ञानी सरल।
सत्वगुण का अपूर्व फल। मिलता उसे ।। २६१ ।।

रजोगुण की सारी कृति। कटु बेला-सी फलती।
वाह्य रूप से लुभाती। फल होते कड़वे ।। २६२ ।।

निमौनी दिखती सुन्दर। चखने में कड़वा ज़हर।
पहले मधुर बाद में घोर। फल राजसी कृति का ।। २६३ ।।

विष-कन्द को बोने पर। निकलेंगे विष के ही अंकुर।
वैसे तामसी क्रिया पर। विषफल ही लगते ।। २६४ ।।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।। १७ ।।

ज्ञान का मूल कारण। है केवल सत्वगुण।
जैसे सूर्यनारायण। दिनोदय का ।। २६५ ।।

सभी लोभों का कारण। एकमात्र रजोगुण।
जैसे अहंता-विस्मरण। अद्वैत का ।। २६६ ।।

मोह, प्रमाद, अज्ञान। ये मलिन दोष तीन।
इनका मूल कारण। तमोगुण ही ।। २६७ ।।

इसविध ये तीनों गुण। करते हुए पृथक्करण।
करतल पर आंवले समान। सुस्पष्ट बतायें ।। २६८ ।।

रजोगुण, तमोगुण। दोनों पतन के कारण।
सत्वगुण के बिना ज्ञान। होगा नहीं सर्वथा ।। २६९ ।।

त्यज कर भक्ति के अन्य प्रकार। ज्ञानभक्ति का स्वीकार।
जीवन-व्रत-सा, धनुर्धर। करते कितेक सात्विक ।। २७० ।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। १८ ।।

सत्वगुण से परिपूर्ण। जिनका जीवन-मरण।
वे देहान्त के बाद अर्जुन। बनते स्वर्ग के राजा ।। २७१ ।।

वैसे आवेग में रजोगुण के। सारे आचरण जिनके।
वे अनन्तर देहान्त के। पाते मनुष्य जन्म ।। २७२ ।।

एक ही थाली में तन की। खाते खिचड़ी सुख-दुख की।
अन्त में सजा मृत्यु की। अटल जहाँ ।। २७३ ।।

जो इस भोगायतन में। आचरते तमोगुण में।
देहान्त पर वे नरक में। जाते अवश्य ।। २७४ ।।

ब्रह्मसत्ता से धनुर्धर। होते जो त्रिगुण-व्यापार।
सलक्षण सविस्तार। बताये हमने ।। २७५ ।।

ब्रह्म अविकारी सर्वथा। पर गुणरूप ले भ्राता।
अपना कार्य दिखाता। गुणानुरूप ।। २७६ ।।

राजा को सपना आया। कि राष्ट्र पर परचक्र आया।
तो जय-पराजय देख पाया। वह अपने में ही ।। २७७ ।।

वैसे स्वर्ग मृत्यु पाताल। गुणवृत्ति के भेद केवल।
गुणवृत्ति लोपते विशुद्ध। शेष ब्रह्ममात्र ।। २७८ ।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।। १९ ।।

अस्तु यह निरूपण। न अपूर्व है न भिन्न ।
पिछली बातों का श्रवण। अब करो ज़रा-सा ।।२७९।।

ऐसे ब्रह्म का समर्थपन। कि सत्वादि त्रिगुण ।
देहरूप कर धारण। प्रगट होते ।।२८०।।

ईंधन-आकार में पार्थ। अग्नि होता अभिव्यक्त ।
या तरु रूप में प्रगटत। भूमि और जल तत्त्व ।।२८१।।

अथवा दूध जैसे पार्थ। दही रूप में परिणत ।
या मधुरिमा समाहित। होती ईख में ।।२८२।।

वैसे बनते ये त्रिगुण। देह और अन्तःकरण ।
और यही सच्चा कारण। जीव बन्धनों का ।।२८३।।

पर आश्चर्य यही अर्जुन। देह को यदपि त्रिगुण-बंधन ।
मोक्ष-व्यापार में न्यून। कुछ भी न उसके ।।२८४।।

त्रिगुण अपने धर्मानुसार। देह में करते व्यवहार ।
फिर भी न पड़ता अन्तर। गुणातीतता में ।।२८५।।

ऐसी जो सहज मुक्तावस्था। वही बताना हूँ भ्राता ।
ज्ञानाम्बुज के तुम ही सर्वथा। रसिक भ्रमर हो ।।२८६।।

चेतना त्रिगुणों में अवस्थित। फिर भी उनसे अलिप्त ।
यही सिद्धान्त निरूपित। किया इसमें पूर्व ।।२८७।।

इस दर्शन को जो समझते। आत्मतत्व को पृथक देखते ।
स्वप्न जैसे समझ में आते। जागने पर ही ।।२८८।।

जल में असंख्य लहरें उठतीं। तब वास्तविकता समझ में आती ।
कि जल में दिखती आकृति। प्रतिबिम्ब अपना ।।२८९।।

अभिनेता नाना पात्र बनता। अपना विवेक नहीं त्यजता ।
भेद यही जानें, भ्राता। त्रिगुण और अपने में ।।२९०।।

गगनपट पर, सुभद्रापति। तीनों ऋतुएँ आतीं-जातीं।
पर नभ की अलिप्त स्थिति। रहती सुस्थिर ।।२९१।।

वैसे आत्मतत्व गुणातीत। त्रिगुणों में होता निबद्ध।
उसमें होती जागृत। अहं ब्रह्म चेतना ।।२९२।।

इस अवस्था में देखते। मैं अकर्त्ता साक्षी कहते।
ये सभी कर्म होते। त्रिगुणों से ही ।।२९३।।

सत्वाधिक जो त्रिगुण। उनका न्यूनाधिक परिमाण।
तदनुसार भिन्न-भिन्न। होते कर्म ।।२९४।।

जैसे, वन में बसंत। बहार का होता निमित्त।
वैसे, अलिप्त पर निमित्त। मैं सभी क्रियाओं का ।।२९५।।

सूर्योदय होते अपने आप। होता तारागणों का लोप।
प्रफुल्ल होते कमल पुष्प। नष्ट होते अन्धेरा ।।२९६।।

इनमें किसी क्रिया में भ्राता। सूर्य का हाथ नहीं होता।
वैसे इस देह में अकर्त्ता। होता हूँ मैं ।।२९७।।

मेरे कारण त्रिगुण दिखते। मेरे ही कारण वे बढ़ते।
गुण जब नष्ट होते। शेष रहता मैं ही ।।२९८।।

जिसके हृदय में अर्जुन। यह विवेक हुआ उत्पन्न।
गुणातीतता मिली जान। उसे निःसन्देह ।।२९९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। २०।।

जो इसविध गुणातीत। उसका ब्रह्मबोध सुस्थित।
अचूक होता उसे ज्ञात। निर्गुणत्व ब्रह्म का ।।३००।।

वल्कि उस पंडुसुता। प्राप्त होती मद्रूपता।
जैसे नदी को समुद्रता। मिलती है ।।३०१।।

नली पर से उड़ कर तोता। डाल पर जा बैठता।
वैसे गुणमुक्त होते जानता। वह 'अहं ब्रम्हाऽस्मि' ।। ३०२।।

अज्ञान-निद्रा में खर्राटे भर। जो सोया था निढ़ार।
वही जागृत होता वीर। निज स्वरूप में ।। ३०३।।

टूटा बुद्धिभेद का दर्पण। जिसके हाथ से गिरके अर्जुन।
तुरन्त उसके टूटते बधन। प्रतिबिम्ब भ्रम के ।। ३०४।।

देह दम्भ के रुकते पवन। जीव-ब्रह्म होते विलीन।
जैसे सागर लहर लीन। होते परस्पर मे ।। ३०५।।

अत. जो गुणातीत होता। तत्काल पाता मद्रूपना।
वर्षा के अन्त मे होता। जेस मेघो का लोप ।। ३०६।।

पा कर सर्वथा मद्रूपता। भल हो देह मे रहता।
गुणो से लिप्त नही होता। कदापि वह ।। ३०७।।

कॉच के घर मे भ्राता। प्रकाश बद नही होता।
या वडवाग्नि वुझता। नही सागर मे ।। ३०८।।

आती जाती त्रिगुणावस्था। पर लोपती न बोधावस्था।
जेसे चन्द्रमा जल म भ्राता। वेस रहता देह मे ।। ३०९।।

यदपि देह मे त्रिगुण। उत्पात मचाते रात-दिन।
अहकार का स्पर्श न। वह होने देता ।। ३१०।।

अर्जुन जिसका इस प्रकार। निश्चल हो गया अन्तर।
[illegible] क्या करता ह शरीर। यह भी न जानता ।। ३११।।

जेसे, केचुली त्यज कर। बिल मे घुसता विपधर।
वेसे, देह के प्रति निर्विकार। होता गुणातीत ।। ३१२।।

जेसे कमल की सुगध। नभ मे फेलती चतुर्विध।
वापस कमल मे आने की सुध। नही होती उसे ।। ३१३।।

वैसे ब्रह्मावस्था में पार्थ। विलीन होता गुणातीत ।
फिर देहधर्म के बाबत। अनास्था होती उसे ।। ३१४ ।।

अतः जन्म ज़रा परिणाम। इत्यादि जो छह देहधर्म ।
उन्हें देह से ही होता काम। गुणातीत रहता अलिप्त ।। ३१५ ।।

देखें घट को तोड़ कर। टुकड़े जाते बिखर ।
घटाकाश विलीन फिर। होता महदाकाश में ।। ३१६ ।।

वैसे देहबुद्धि के लोपते। आत्मबोध के जागते ।
उसके बिना, सुभद्रापते। शेष क्या रहता ? ।। ३१७ ।।

ऐसा आत्मज्ञानी भ्राता। शरीर में जो रहता ।
उसे मैं हूँ कहता। गुणातीत ।। ३१८ ।।

सुन कर कथन देव का। मन झूमा अर्जुन का ।
गर्जन सुन कर मेघों का। नाचता मोर ज्यों ।। ३१९ ।।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।।२१।।

सन्तुष्ट हो अर्जुन कहता। जिसमें यह आत्मबोध जागता ।
उसके सारे लक्षण देवता। कृपया बताइए ।। ३२० ।।

गुणातीत का कैसा आचार। कैसे गुणों को करता पार ।
यह बताइए सविस्तार। करुणानिधे ।। ३२१ ।।

सुन अर्जुन का प्रश्न। षड्गुणाधीश श्रीकृष्ण ।
करने लगा समाधान। सादर सुनिए ।। ३२२ ।।

कहता, अर्जुन ऐसा प्रश्न। करने का क्या कारण ।
गुणातीत के विशेषण। सत्यासत्य चुनता ।। ३२३ ।।

जिसे गुणातीत विशेषण। वह न होता गुणाधीन।
यदपि सतही लगा गुणाधीन। गुण अधीन उसके।। ३२४।।

रहते गुणों के जंजाल में। वह न गुणों के चंगुल में।
कैसे यह सही आयामों में। पहचानो अर्जुन।। ३२५।।

यदि यहीं से सन्देह। तो पूछो निःसन्देह।
स्वरूप गुणातीत का यह। निश्चल होता।। ३२६।।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।। २२।।

देह में प्रबल रजोगुण। तो फूटते अंकुर नूतन।
और प्रवृत्तियों का बंधन। क्यों न पड़ता हो।। ३२७।।

तब भी मैं हूँ बड़ा कर्म-कर्त्ता। इस भाव से जो न ऐंठता।
या कर्म न होने पर खिन्नता। न आती जिसमें।। ३२८।।

अथवा सत्वगुण बढ़ता। सब इन्द्रियों में ज्ञान फैलता।
तब सुविद्या से जो न होता। सन्तुष्ट व हर्षित।। ३२९।।

अथवा तमोगुण के बढ़ते। जिसे मोह, भ्रम न होते।
वैसे जो अज्ञान के चलते। न होता उद्विग्न।। ३३०।।

मोह में न ज्ञान-कामना। ज्ञान में न कर्म-सराहना।
अकर्म से दुःख भावना। न होती जिसमें।। ३३१।।

प्रातः, मध्यान्ह, संध्याकाल। सूर्य न जानता ये त्रिकाल।
वैसे न जानता बल। जो त्रिगुणों का।। ३३२।।

क्या उसे होने सज्ञान। आवश्यक दूसरों का ज्ञान ?।
क्या सागर होता परिपूर्ण। वर्षा के जल से ?।। ३३३।।

अथवा करते कर्मों का पालन। क्या उसे होगा अभिमान ? ।
हिमालय को ठिठुरन। कैसे होगी शीत से ? ।। ३३४ ।।

मोह हो भी गया उत्पन्न। तो कैसे नष्ट हो उसका ज्ञान ? ।
क्या अग्नि का दहन। करता ग्रीष्म ? ।। ३३५ ।।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।। २३ ।।

सुख-दुःख और शरीर। सारे स्वरूप के विकार ।
आने-जाने से अंतर। न सुखी ना दुखी ।। ३३६ ।।

ऐसी जिसकी हो प्रतीति। वह देह में करता बस्ती ।
जैसे यात्री लेता विश्रांति। धर्मशाला में ।। ३३७ ।।

जैसे हर्ष-खेद जीत-हार में। नहीं होते रणांगण में ।
वैसे नहीं ज़िसके मन में। गुण कर्म के क्रोध-द्वेष ।। ३३८ ।।

घर में अतिथि, तन में प्राण। मिले वही लेता अन्न ।
वैसे सर्वत्र जो उदासीन। मानो खम्भा चौराहे का ।। ३३९ ।।

मृगजल में उठे कल्लोल। मेरू पर्वत रहता अचल ।
वैसे पाण्डव, वह निश्चल। गुणों के आवागमन में ।। ३४० ।।

अस्तु ये बातें, भ्राता। हवा से न गगन डिगता ।
या अँधेरे में न लोपता। सूर्य जैसे ।। ३४१ ।।

या स्वप्न से न विचलित। जो रहता है जागृत ।
वैसे गुणों के कारण गुणातीत। बँधता नहीं।। ।। ३४२ ।।

गुणबद्ध न होता निश्चित। दूर से देखता गुणचेष्टित ।
जैसे कठपुतली का खेल, पार्थ। देखते दूर से ।। ३४३ ।।

सत्कर्म कराता सत्व गुण। विषयों को बढ़ाता रजोगुण ।
मोह में डुबाता तमोगुण। अपने प्रभाव से ।। ३४४ ।।

जो जानता सुनिश्चित। कि आत्मसत्ता कराती समस्त।
वह सूर्य सा रहता अलिप्त। हो कर सर्वसाक्षी ।। ३४५ ।।

समुद्र में ज्वार आता। चन्द्रकान्त मणि पसीजता।
कमलवृन्द खिल जाता। चन्द्र फिर भी अलिप्त ।। ३४६ ।।

पवन बहता न बहता। गगन अडिग ही रहता।
वैसे जो अविरल रहता। गुणों के घालमेल में ।। ३४७ ।।

ऐसे लक्षण जिसमें सतत। उसे जानो गुणातीत।
सुनो व्यवहार में कैसे, पार्थ। आचरण उसका ।। ३४८ ।।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। २४ ।।

जैसे वस्त्र में भीतर-बाहर। सूत के बिना नहीं इतर।
वैसे देखता चराचर। मत्स्वरूप केवल ।। ३४९ ।।

सुख-दुःख को समान। तराजू में तोलता अर्जुन।
या श्रीहरि का एक सा दान। भक्तों-अभक्तों को ।। ३५० ।।

अन्यथा सुख-दुःख को अनुभव। तभी करता यह जीव।
जब आता मीन-भाव। देह-जल में ।। ३५१ ।।

अब देहाभिमान गया। स्वयं निजरूप हो गया।
फसल से चुन लिया। बीज जैसे ।। ३५२ ।।

या गंगा का बहना समाप्त। होता सागर में विलुप्त।
कलकल का होता अन्त। अपने आप ।। ३५३ ।।

वैसे आत्मस्वरूप में, पार्थ। जो हो गया व्यवस्थित।
उसे सुख-दुःख प्रतीत। होते न देह में ।। ३५४ ।।

रात हो अथवा दिन। खम्भे को दोनों समान।
वैसे देह में सुख-दुःख समान। आत्मज्ञानी को ।। ३५५ ।।

या निद्रित की शैया पर। सोये उर्वशी या विषधर।
वैसे सुख-दुःख में अन्तर। नहीं आत्मज्ञानी को ।। ३५६ ।।

गोबर और सुवर्ण। रत्न और पाषाण।
इनके प्रति भाव भिन्न। नहीं होते उसके ।। ३५७ ।।

घर पर पधारे स्वर्ग। या टूट पड़े बाघ।
आत्मबुद्धि भंग। होती नहीं उसकी ।। ३५८ ।।

मरा फिर से न जी उठता। जला बीज नहीं फलता।
वैसे साम्य नहीं त्यजता। आत्मज्ञानी ।। ३५९ ।।

बखाना ब्रह्मा मान कर। निन्दा की नीच कह कर।
जलने-बुझने का अन्तर। न जानती मिस्सी ।। ३६० ।।

कुछ भी हो निन्दा, स्तुति। मन में विकृति नहीं आती।
जैसे सूरज के घर न होती। रात या दिन ।। ३६१ ।।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। २५ ।।

पूजा ईश्वर मान कर। सताया महान जान कर।
किया महाराजा देकर। हाथी-घोड़े ।। ३६२ ।।

सखा सज्जन या शत्रुगण। सम्मुख हुए अवतीर्ण।
दोनों को मानता समान। सूर्य को जैसे दिनरात ।। ३६३ ।।

छहों ऋतुओं के आने से। गगन अलिप्त रहता जैसे।
वैसे वैषम्य भाव से। मुक्त चित्त जिसका ।। ३६४ ।।

और एक लक्षण, भ्राता। उसमें अवश्य पाया जाता।
स्वयम् होकर नहीं करता। उद्योग कोई ।। ३६५ ।।

होता सर्वारम्भ का उच्चारण। प्रवृत्तियां होती अस्तमान।
और कर्मफल का दहन। उसमें होता ।। ३६६ ।।

ऐहिक व पारलौकिक। कोई यदि न रहता सुख।
सहज प्राप्त सुख-दुःख। भोग लेता ।। ३६७ ।।

सुख अथवा थकान। अनुभव न करे, मानो पाषाण।
सभी झंझटों से मन। निवृत्त जिसका ।। ३६८ ।।

और क्या कहें सविस्तार। अर्जुन, जिसका आचार।
ऐसे साम्य से भरपूर। वही गुणातीत ।। ३६९ ।।

इन गुणों का उल्लंघन। सम्भव जिनके कारण।
उन उपायों का श्रवण। अब करो ।। ३७० ।।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। २६ ।।

व्यभिचाररहित चित्त से। मुझे भजे जो भक्तियोग से।
वह गुणपाशों को सहज से। जला सकता ।। ३७१ ।।

मैं अर्थात है कौन। भक्ति के क्या लक्षण ?।
क्या व्यभिचार, अर्जुन। सब बताता हूँ ।। ३७२ ।।

मेरा स्वरूप उतना वैसे। ब्रह्माण्ड है जितना जैसे।
रत्न में तेज जैसे। होता एकरूप ।। ३७३ ।।

अथवा द्रवता ही नीर। अवकाश ही अम्बर।
मिठास और शक्कर। भिन्न नहीं जैसे ।। ३७४ ।।

अग्नि और ज्वाल। पंखुडियाँ और कमल।
वृक्ष और डाल। भिन्न नहीं ।। ३७५ ।।

हिम होता संचित। तो बनता हिमवंत।
अथवा जमाया दूध। बनता दही ।। ३७६ ।।

वैसे जिसका नाम विश्व। वह मैं ही हूँ पाण्डव।
चन्द्र देखने उसका बिम्ब। क्या छीलना पड़ता ? ।। ३७७ ।।

पतला घी जम जाता। जाती न उसकी घृतता।
कंगन न पिघलाया जाता। होता सुवर्ण ही।।३७८।।

उधेड़ा नहीं पट। फिर भी तन्तु सुस्पष्ट।
पानी में न डाला घट। होता माटी ही।।३७९।।

अतः विश्वता त्यजें। फिर देखें मुझे।
विभक्त न मैं वैसे। विश्व स्वरूप में।।३८०।।

मुझे जानता विश्वमूर्ति। वही अव्यभिचारी व्यक्ति।
यहाँ रखना भेद वृत्ति। व्यभिचार अर्जुन।।३८१।।

अतः त्यजें निःशेष भेद। चित्त में हो सर्वथा अभेद।
जानें अपने समेत। केवल मुझे ही।।३८२।।

जैसे सोने की बिन्दिया। उसे सोने में ही जड़ दिया।
वैसे आत्मा से भिन्न, धनंजया। सत्ता को न मानो।।३८३।।

तेज सूर्य से निकलता। किन्तु सूर्य से लगा होता।
किरण नाम उसे मिलता। नाममात्र।।३८४।

भूतल और रज कण। हिमालय और हिम कण।
वैसे देखो अभिन्न। स्वरूप मेरा।।३८५।।

तरंग यदपि लघु होती। सागर से भिन्न नहीं होती।
वैसे मैं भी, सुभद्रापति। ईश्वर से न भिन्न।।३८६।।

ऐसी पा कर समरसता। ईश्वर से देखें एकता।
इसे ही भक्ति, भ्राता। कहते हैं हम।।३८७।।

यही भक्ति, धनुर्धरा। आत्मज्ञान का मार्ग खरा।
और योग का भी सारा। संचित धन यही।।३८८।।

नीचे सागर ऊपर जलधर। बीच में वर्षा सन्तत धार।
वैसे एकत्व निरन्तर। होता इस भक्ति में।।३८९।।

कूपाकाश का, भ्राता। महाकाश से नहीं नाता।
वैसे भक्त की एकरूपता। परमपुरुष से ।।३९०।।

प्रतिबिम्ब से रविपर्यन्त। प्रभा होती अखण्डित।
वैसे जीव से ब्रह्मपर्यन्त। होती सोऽहं वृत्ति ।।३९१।।

भक्त जब भगवान से। जुड़ता सोऽहं भाव से।
वह भाव भी कालान्तर से। लोपता स्वयम् ही ।।३९२।।

जैसे लवण का कण। समुद्र में घुलता, अर्जुन।
होते विलीन परिपूर्ण। समाप्त घुलना भी ।।३९३।।

अथवा जला कर पूरा तृण। अग्नि बुझ जाता अर्जुन।
वैसे लोपता ऐक्य ज्ञान। जीव-ब्रह्म भेद जला ।।३९४।।

मेरा परत्व लोपता। भक्त का अपरत्व जाता।
फिर उन भक्तों में शेष रहता। ऐक्य स्वयंसिद्ध ।।३९५।।

भक्त त्रिगुणों को जीतता। यह कहना भी समाप्त होता।
जब सर्वथा विलीन होता। ऐक्यानुभव भी ।।३९६।।

यह जो परमोच्च अवस्था। वही कहलाती ब्रह्मता।
अव्यभिचारी भक्त को ही, भ्राता। यह होती प्राप्त ।।३९७।।

ये भक्ति के लक्षण श्रेष्ठ। जिसमें होते प्रगट।
ब्रह्मता उसकी एकनिष्ठ। मानो पत्नी बनती ।।३९८।।

गंगा प्रवाह में, अर्जुन। बहता जो प्रवाह जीवन।
समुद्रबिन अन्य स्थान। उसका होता नहीं ।।३९९।।

वैसे जिसकी ज्ञाननिष्ठ। भक्ति होती सर्वश्रेष्ठ।
उसे ब्रह्मता-मुकुट का उत्कृष्ट। चूड़ामणि जानो ।।४००।।

इस ब्रह्मता को ही, भ्राता। कहते सायुज्ज अवस्था।
अथवा पुरुषार्थ चौथा। परमश्रेष्ठ ।।४०१।।

मेरा ऐसा आराधन। ब्रह्ममन्दिर का है सोपान।
ब्रह्म और ब्रह्म-साधन। मानो न भिन्न।।४०२।।

यह विभिन्नता का विचार। दूर करो बारम्बार।
ब्रह्म मुझसे इतर। कदापि नहीं।।४०३।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

ब्रह्म नाम का भ्राता। अभिप्राय मैं ही होता।
अन्य नामों में भी तत्वतः। निर्देश मेरा ही।।४०४।।

मण्डल और चन्द्र। भिन्न नहीं परस्पर।
वैसे मुझसे इतर। ब्रह्म नहीं होता।।४०५।।

अरे, जो है निष्कम्प। अनावृत धर्मरूप।
सुख है जो अमाप। अद्वितीय।।४०५।।

अज्ञान नष्ट करने पर। विवेक जहाँ बनाता घर।
वह उत्तम स्थान परात्पर। मैं ही धनंजय।।४०७।।

परमार्थ के ऐसे-ऐसे। आयाम गहरे अर्जुन से।
बता रहा प्रेम से। श्रीकृष्ण परमात्मा।।४०८।।

तब धृतराष्ट्र कहे संजय से। क्यों बतिया रहे हो ऐसे ?।
ना पूछी बात किसी से। कहनी न चाहिए।।४०९।।

हम तो अपनी विजयकथा। सुनना चाहते सर्वथा।
संजय मन में कहता। यह जिज्ञासा व्यर्थ।।४१०।।

कहता मन में हो चकित। मैंने सुना महासिद्धान्त।
कैसा दुर्भाग्य इसका अद्‌भुत। युद्ध रास आता इसे।।४११।।

अब देव इस पर कृपा करें। विवेक की मात्रा चढ़ाएँ।
इसके मन से व्यथा हरें। मोह-महारोग की।।४१२।।

संजय कर रहा चिन्तन। तभी संवाद का आया ध्यान ।
और हर्ष आया उफन। अन्त·करण में ।। ४१३ ।।

श्रीकृष्ण ने कहा अर्जुन से। वही अत्यत उत्साह से ।
सजय अपनी वाणी से। कहेगा आगे ।। ४१४ ।।

उन अक्षरो का दिव्य भाव। आपको बताऊँ यह मेरा भाव ।
सुनिए कहता ज्ञानदेव। दास निवृत्ति का ।। ४१५ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी मे अनूदित ।
गुणत्रयविभागयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय चौदहवाँ ।।

।। अध्याय पन्द्रहवाँ ।।

अब अपना अन्तःकरण। बिछा कर विस्तीर्ण ।
उस पर श्रीगुरुचरण। करें प्रस्थापित ।। १।।

अंजलि में एकात्मता की। ललित कलियाँ इन्द्रियों की ।
ले अर्घ्यरूप पुष्पांजलि। करें समर्पित ।। २।।

ले अनन्य भाव का उदक। सद्गुरु का करें अभिषेक ।
एकनिष्ठा का चन्दन-तिलक। लगायें अनामिका से ।। ३।।

सुवर्ण से शुद्ध प्रेम के। नूपुर बनायें जी के ।
कोमल चरण श्रीगुरु के। करें विभूषित ।। ४।।

अव्यभिचारी दृढ़तन। गुरुचरण की लगन ।
उसके अनवट मनभावन। पहनाएँ पदउँगलियों में ।। ५।।

सात्विक भाव अष्टविध। जिसकी पंखुडियाँ विशुद्ध ।
आनन्द जिसका पुष्पगंध। चढ़ायें भावपद्म वह ।। ६।।

अहंकार का दीप जलायें। निरहंकार की आरती उतारें ।
समरसता से लिपट जायें। गुरुचरणों से सदा ।। ७।।

यह तन और प्राण पखेरू। गुरुचरणों की मात्र खड़ाऊँ ।
राई नोन उतारूँ। इन चरणों पर ।। ८।।

पुरुषार्थ सकलविध। जिससे सहज उपलब्ध ।
वह गुरुपदसेवा विशुद्ध। मिलती भाग्यवान को ।। ९।।

तब होता ब्रह्म में विश्रान्त। प्रतिभा होती ऐसी प्रदीप्त।
कि वाणी में होता प्रकट। मानो सुधासिन्धु ।। १० ।।

कोटि-कोटि सुधाकर। जिस पर हों निछावर।
ऐसा वक्तृत्व आनन्दकर। अक्षर-अक्षर में ।। ११ ।।

पूर्व में प्रकाश होता। तो प्रकाश-साम्राज्य फैलता।
वैसे जिसकी वाणी से श्रोता। ज्ञान-दिवाली मनाते ।। १२ ।।

ज्ञानब्रह्म लगता अमधुर। कैवल्य भी असुन्दर।
ऐसे वक्तृत्व मिलता मनोहर। गुरुसेवा के भाग्य से ।। १३ ।।

श्रवणसुख के मंडवे पर। आवे ज्ञान-बसंत बहार।
ऐसी वाग्वल्लरि चहुँ ओर। फलती-फैलती उसकी ।। १४ ।।

जिसकी प्राप्ति बिना निवृत्त। वाचा होती मनसहित।
वह ब्रह्म उसके शब्दों में गुथ। स्वच्छन्द नाचता ।। १५ ।।

ज्ञान जिसे न जानता। ध्यान जिसे कूत न पाता।
वह अगोचर ब्रह्म प्रगटना। जिसकी सहज बातों में ।। १६ ।।

इतना ऐश्वर्य अपार। होता वाणी में गोचर।
जब पराग गिरते तन पर। गुरुपादपद्म के ।। १७ ।।

अब क्या बताऊँ बात। यह भाग्य मेरे अतिरिक्त।
अन्य किसे भी नहीं प्राप्त। कहे ज्ञानदेव ।। १८ ।।

अपने गुरु का एकमात्र। मैं बालक कृपापात्र।
उनकी कृपा का आधार। मेरे बिना न कोई ।। १९ ।।

देखो एक चातक हित। मेघ करते बरसात।
वैसे गुरुराय मेरे हित। करते कृपादृष्टि ।। २० ।।

तभी यह रिक्त मुख। जब करता बकबक।
तो यह व्याख्यान सरस। होता गीता का ।। २१ ।।

भाग्य के अनुकूल होते। बालू के रत्न बन जाते।
मारने वाले लुब्ध होते। यदि आयु हो दीर्घ ।। २२।।

चूल्हे पर चुढ़ाई रेत। अमृत-सा पकता भात।
यदि चाहता हो जगन्नाथ। भोजन करना ।। २३।।

वैसे जब श्रीगुरुवर। करते है अंगीकार।
तब यह सारा संसार। मोक्षमय होता ।। २४।।

पाण्डवों को नारायण ने। कोई कमी नहीं दी पड़ने।
उनकी कथागाथा उसने। कर दी विश्ववंद्य ।। २५।।

वैसे है मेरा अज्ञान। उसे ज्ञान की योग्यता पूर्ण।
मिली इसका कारण। कृपा निवृत्तिराज की ।। २६।।

अस्तु ये सारी बातें। प्रेम ढुलता बतियाते।
वैसे गुरुगौरव बखानते। शब्द मेरे अपात्र ।। २७।।

अब श्रीगुरु की कृपा से। आप सन्तों की चरणकृपा से।
बताऊँगा सम्भव जैसे। अभिप्राय गीता का ।। २८।।

श्रीकृष्ण दाता कैवल्य के। अन्त में चौदहवें अध्याय के।
यही निर्णय गये बताके। अर्जुन को ।। २९।।

कि ब्रह्मज्ञानयुत जिसका चित्त। उसे ही होता मोक्ष प्राप्त।
जैसे स्वर्गसम्पदा है लाभत। शत-यज्ञों के पुण्य से ।। ३०।।

अथवा ले कर शत-जन्म। ब्रह्मकर्म का जो करे पालन।
वही साक्षात चतुरानन। अन्य न कोई ।। ३१।।

अथवा जैसे सतेज नयन। नहीं देखता सूर्यकिरण।
वैसे मोक्षरस का पान। करते ज्ञानी केवल ।। ३२।।

तो प्राप्त करने वह ज्ञान। सक्षम है भला कौन ?।
इसका करते चिन्तन। दिखता एकमात्र ।। ३३।।

पाताल का गुप्तधन। दिखा सकता है अंजन।
किन्तु उस अंजन को करने धारण। नेत्र चाहिए पायला के ।। ३४ ।।

वैसे ज्ञान मोक्ष देगा ही। इसमें सन्देह न कतई।
किन्तु उसके लिए अत्यन्त ही। मन चाहिए शुद्ध ।। ३५ ।।

अतः विरक्ति के बिन। ठहर न पाएगा दिव्यांजन।
यही निर्णय परिपूर्ण। बताया भगवान ने ।। ३६ ।।

किसविध यह विरक्ति। पाती मन की स्वीकृति।
यह भी सर्वज्ञ श्रीपति। जानते सुनिश्चित ।। ३७

अन्न में मिलाया विष। इसकी पाते ही भनक।
खाने वाला जाता खिसक। थाली हटा दूर ।। ३८

वैसे जब यह समस्त संसार। लगता अनित्य असार।
तब वैराग्य हो कर प्रखर। पीछा करता ।। ३९ ।।

कैसे अनित्य यह संसार। वही बतायेंगे दयासागर।
बना विश्वरूपक सुन्दर। पन्द्रहवें अध्याय में ।। ४० ।।

पेड़ सकौतुक लिया उखार। उसकी जड़ें आ गयीं ऊपर।
सूख जाती सभी सत्वर। संसार तरु नहीं ऐसा ।। ४१ ।।

इस संसार का वृक्षरूपक। बना कर उचित रोचक।
जन्म-मरण की झेपें अनेक। टालीं मुमुक्षुओं की ।। ४२ ।।

यह संसार लगे असार। 'अहं ब्रह्म' को जगे जागर।
इसीलिए बताते श्रीधर। अध्याय पन्द्रहवाँ ।। ४३ ।।

इसमें गीता का सारा। रहस्य है उघारा।
कैसे कैसे उघारा। सुनिये ध्यान से ।। ४४ ।।

वह परमानन्द का समुद्र। पूर्णत्व का पूर्ण चन्द्र।
द्वारिका का नरेन्द्र। कहता अर्जुन से ।। ४५ ।।

सुनो बाबा पंडुकुमार। आते स्वरूप के घर।
विश्वरूप का आभास। बनता बड़ा रोड़ा ।। ४६ ।।

यह विश्वव्यापी संसार। मानो एक आडम्बर।
जैसे कोई वृक्ष अपार। फैला हो ।। ४७ ।।

जड़ें नीचे शाखा ऊपर। ऐसा आम नहीं विस्तार।
इसीलिए इसका पार। पाता न कोई तत्त्वतः ।। ४८ ।।

वृक्ष होते सामान्य। यदपि फैले असामान्य।
गिरते हो कर उन्मूलन। आग या कुल्हाड़ी से ।। ४९ ।।

अन्य वृक्ष जड़ें खोदते। शाखासमेत गिर जाते।
यह न ढहता सुभद्रापते। अद्‌भुत संसार तरु ।। ५० ।।

इस वृक्ष का बड़ा कौतुक। कहते लगता अलौकिक।
इसकी वृद्धि अधोमुख। होती अर्जुन ।। ५१ ।।

न जाने कितनी ऊँचाई सूर्य की। पर किरणें नीचे आतीं उसकी।
वैसे इस संसार तरु की। बात अद्‌भुत ।। ५२ ।।

अस्ति-नास्ति सबको, भ्राता। यह आच्छादित करता।
जैसे गगन को व्यापता। प्रलयोदक ।। ५३ ।।

या होने पर सूर्यास्त। रात होती तमग्रस्त।
वैसे गगन आच्छादित। संसार तरु से ।। ५४ ।।

इसमें न कोई फल लगता। सुगंधित फूल नहीं आता।
जो भी आभास होता। होता यही तरु ।। ५५ ।।

हों जड़ें ऊपर भले ही। इसका उन्मूलन होता नहीं।
तभी बहार इसमें सदा ही। दिखाई देती ।। ५६ ।।

यदपि कहा, सुभद्रापति। कि इसकी जड़ें ऊपर होतीं।
किन्तु नीचे भी फैलतीं। जड़ें अनगिनत ।। ५७ ।।

बरगद हो या अश्वत्थ। सामर्थ्य उनमें अपरिमित।
बूटे-बूटे से इसके, पार्थ। निकलतीं शाखाएँ।। ५८।।

किन्तु ऐसा भी नहीं। कि इसकी शाखाएँ सही।
फैलीं है केवल नीचे ही। धनंजय।। ५९।।

ऊपर की ओर भी भ्राता। शाखा-विस्तार होता।
सर्वत्र निकला बूटा-बूटा। संसार तरु का।। ६०।।

बेल - सा फैला गगन। वृक्ष बना बहता पवन।
या हुआ यहाँ मिलन। तीनों दशा भेदों का।। ६१।।

ऐसा यह तरु ऊर्ध्वमूल। विश्वाकार घर विशाल।
फूला-फैला अति प्रबल। अर्जुन जानो।। ६२।।

इसके ऊर्ध्व के क्या लक्षण। जड़ों की क्या पहचान।
और शाखाएँ विलक्षण। अधोमुख कैसी ?।। ६३।।

अथवा इस वृक्ष में। जड़ें जो अधोभाग में।
और शाखाएँ ऊर्ध्व में। होती कैसीं।। ६४।।

और इसका नाम अश्वत्थ। कैसे हुआ प्रख्यात।
ज्ञानीजन महासिद्ध। कैसे निर्णय करते ?।। ६५।।

इसकी प्रतीति सर्वोपरि। होगी तुम्हें धनुर्धारी।
ऐसे समझाऊँगा बारी-बारी। सविस्तार।। ६६।।

सुनने यह निरूपण। तुम ही अधिकार सम्पन्न।
कानों में लाकर प्राण। सुनो तन्मयता से।। ६७।।

यों प्रेमरस से पूर्ण। जब बोला श्रीकृष्ण।
तो मानो मूर्त अवधान। अर्जुन रूप में।। ६८।।

श्रोता-भाव इतना बढ़ा। कि कृष्णवचन छोटा पड़ा।
मानो नभ बाहों में समेटा। दसों दिशाओं ने।। ६९।।

पीने कृष्ण वचन का सागर। अगस्ति बना धनुर्धर।
मन में कहता सारा विस्तार। पीऊँगा एक घूँट में ।। ७० ।।

देखा, अर्जुन में जिज्ञासा। ठाठें मार रही सहसा।
आंतरिक सुख की वर्षा। की उस पर कृष्ण ने ।। ७१ ।।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।। १ ।।

इस तरु का ऊर्ध्व, धनंजय। साक्षात् ब्रह्म है अक्षय।
इसीलिए ऊर्ध्वतामय। है यह संसारतरु ।। ७२ ।।

अन्यथा अधो ऊर्ध्व मध्य। ऐसे नहीं इसमें भेद।
जिसमें पाता अद्वय। एकत्व ही ।। ७३ ।।

जो नादपूर्व मूल नाद। सुगंधपूर्व जो सुगंध।
जो मूर्तिमन्त आनन्द। सुरति के बिना ।। ७४ ।।

जो अपने आस-पास में। जो अपने ही आगे पार्श्व में।
अदृश्य होकर भी आये दृष्टि में। दर्शक के बिना ।। ७५ ।।

अर्जुन जिसको कभी। लगते माया की उपाधि।
नाम रूप की उत्पत्ति। होने लगती ।। ७६ ।।

ज्ञात ज्ञेय के बिन। जो है विशुद्ध ज्ञान।
जो निरुपाधिक सुखपूर्ण। आकाश - सा ।। ७७ ।।

जो न उत्पन्न किसी से। कुछ न उत्पन्न जिससे।
न एकत्व न दूजापन जिसे। जो स्वयंप्रकाशी ।। ७८ ।।

ऐसा जो परब्रह्म। वही इस तरु का ऊर्ध्व।
जड़ों से अंकुर का जन्म। होता ऐसे ।। ७९ ।।

विस्तार माया कहलाती। नास्ति जिसकी वस्तुस्थिति ।
वंध्या की जैसे संतति। नाम मात्र ।। ८० ।।

जो सत् या असत् नहीं। विचार जिसे सह्य नहीं ।
ऐसी जो विलक्षण रही। अनादि काल से ।। ८१ ।।

जो पेटी नाना तत्वों की। जननी जगत-अभ्र की ।
जो तह विश्ववस्त्र की। धनंजय ।। ८२ ।।

भवतरु की बीजकणिका। प्रपंच-चित्र की भूमिका ।
विपरीत ज्ञान की दीपिका। बाली हुई ।। ८३ ।।

ऐसी माया जो तुम्हें बताई। न होते ब्रह्म में भासित हुई ।
ज्ञान व्यवहार में प्रकट भई। केवल वस्तुप्रभा ।। ८४ ।।

जैसे निद्रा आते जागृत। हो जाता ज्ञानरहित ।
या दीपप्रभा को करती मंद। कजरी दीप की ।। ८५ ।।

स्वप्न में युवती आती। निद्रित पुरुष को जगाती ।
आलिगन से काम चेताती। आलिंगन के बिना ।। ८६ ।।

वैसे ब्रह्म में होती माया। अज्ञानरूपिणी उसकी काया ।
वही पहली जड़ भैया। संसार तरु की ।। ८७ ।।

ब्रह्म को स्वरूप का अबोध। वही संसारतरु का मूलकंद ।
बीजभाव नाम से प्रख्यात। वेदान्त शास्त्रों में ।। ८८ ।।

सुषुप्ति है पूर्ण अज्ञान। उसे बीजांकुर अभिधान ।
जागृति और स्वप्न। फलभाव कहलाते ।। ८९ ।।

वेदान्त में सुभद्रापति। माया वर्णन की यही रीति ।
अज्ञान को जानो सम्प्रति। मूल इसका ।। ९० ।।

ऊर्ध्व कंद आत्मा निर्मल। उसे माया का गहरा बाल ।
ऊपर-नीचे जड़ें प्रबल। बढ़ती फैलतीं ।। ९१ ।।

जड़ के नीचे असंख्य अंकुर। प्रकटते ले देहाकार।
उनके होते चार प्रकार। नित्य बढ़ते ।। ९२।।

ऐसे संसारतरु का मूल। ऊर्ध्वब्रह्म में होता प्रबल।
बढ़ता अधोभाग में जंजाल। अंकुरों का ।। ९३।।

ज्ञानवृत्ति का पहला कोपल। बूटा निकलता कोमल।
उसे जानो, अर्जुन विमल। **महत्तत्त्व** ।। ९४।।

फिर सत्वरजतमात्मक। त्रिदल का अंकुर एक।
बढ़ता जो अधोमुख। उसे जानो **अहंकार** ।। ९५।।

आगे डगान है **बुद्धि**। जो करती भेद की वृद्धि।
वहाँ से डाली लहलहाती। उसका नाम **मन** ।। ९६।।

जड़ें जब यों दृढ़ होतीं। विकल्परस की कर आपूर्ति।
चार शाखाएँ बढ़तीं। वही **चित्तचतुष्टय** ।। ९७।।

फिर पाँच टहनियाँ निकलती। जो सीधी सुदृढ़ बढ़ती।
उन्हें जानो, सुभद्रापति। **पंचमहाभूत** ।। ९८।।

इन टहनियों में अरिंदम। किसलय बढ़ते मुलायम।
जानो उनके ही नाम। **विषय** व **ज्ञानेन्द्रियाँ** ।। ९९।।

फिर **शब्द** का अंकुर बढ़ता। **श्रोत्रेन्द्रिय** का आकार लेता।
श्रवण-आस पूरी करता। जीवात्मा की ।।१००।।

त्वचेन्द्रिय के लतापल्लव। **स्पर्शज्ञान** के बढ़ाते कोंपल।
विकारपुष्प अभिनव। खूब खिल जाते ।। १०१।।

रूप सौन्दर्य के पत्ते आते। **नेत्रों** के पोर फैल जाते।
व्यामोह बढ़ते न अघाते। चखने मधुरिमा ।। १०२।।

फिर **रस** शाखा बढ़ती। अति वेग से फैलती।
और रसना में उपजाती। किसलय कामना के ।। १०३।।

फिर गंध का बूंटा फूटा। तो **घ्राणेन्द्रिय** ललचाता।
सुगंधसुख का लोभ बढ़ता। दुर्निवार ।। १०४ ।।

महत्तत्त्व से इसविध। अहंकार बुद्धि और मन।
अन्त में महदादिक उत्पन्न। करते बढ़ता यह तरु ।। १०५ ।।

ऐसे आठों अंगों से भ्राता। संसारतरु लहलहाता।
सीपी जितना ही चमकता। रजत जैसे ।। १०६ ।।

अथवा समुद्र का जो आकार। वही भासित लहरों पर।
वैसे अज्ञान मूल का वृक्षाकार। लगता ब्रह्म जितना ।। १०७ ।।

ब्रह्म जितना इसका विस्तार। ब्रह्म ही इसका मूलाधार।
जैसे स्वप्न में दिखता परिवार। किन्तु द्रष्टा अकेला ।। १०८ ।।

ऐसे यह भवतरु भ्रामक। इसके अंकुर महदादिक।
शाखाएँ बढ़तीं अधोमुख। अद्भुत सी ।। १०९ ।।

इसे ज्ञानीजन अश्वत्थ। क्यों कहते हैं, पार्थ।
वह भी तुम्हें यथार्थ। अब बताऊँगा ।। ११० ।।

'श्वः' अर्थात आती कल। तब तक भी न रहता चंचल।
इसका रूप बदलता पल-पल। धनंजय ।। १११ ।।

जैसे बीता नहीं एक क्षण। कि मेघ धरता नाना वर्ण।
या तड़िता न दिखे सम्पूर्ण। निमिष भर में ।। ११२ ।।

या कमलदल थर्राता। तो जल स्थिर नहीं रहता।
अथवा बढ़ते आकुलता। चित्त अस्थिर जैसे ।। ११३ ।।

वैसे ही इसकी अवस्था। यह पल-पल नष्ट होता।
इसीलिए कहलाता। यह अश्वत्थ ।। ११४ ।।

जानते लोक सकल। कि अश्वत्थ यानी पीपल।
किन्तु श्रीहरि का यही केवल। अभिप्राय नहीं ।। ११५ ।।

और इसका पीपल अर्थ। मुझे लगता यथार्थ।
किन्तु यहाँ वह लौकिकार्थ। लें किस लिए? ।। ११६ ।।

यह अलौकिक गीता ग्रन्थ। यहाँ प्रस्तुत विचारार्थ।
क्षणिकता के कारण यथार्थ। अश्वत्थ नाम इसका ।। ११७ ।।

इसे अव्यय विशेषण। दिया गया है अर्जुन।
इसका आशय गहन। है सर्वथा निराला ।। ११८ ।।

समुद्र का शोषण, भ्राता। मेघों द्वारा होता रहता।
और उधर पोषण होता। नित्य नदियों से ।। ११९ ।।

नदी मेघ का यह चक्र। जब तक चलता निशिवासर।
सागर का पूर्णत्व वीर। न बढ़ता न घटता ।। १२० ।।

वैसे इस वृक्ष का होना-जाना। शीघ्र न जाता जाना।
तभी इसका संकेत अर्जुना। होता अव्यय शब्द से ।। १२१ ।।

दाता देता है दान। उसका जोड़ता पुण्य।
वैसे व्यय होकर अर्जुन। यह तरु रहता अव्यय ।। १२२ ।।

दौड़ते रथ का चक्र। वेग से घूमता गरगर।
तो भासता अत्यन्त स्थिर। देखने वाले को ।। १२३ ।।

वैसे यथाकाल सूखतीं। ये भूत-टहनियाँ जहाँ गिरतीं।
वहाँ करोड़ों अंकुरों की आती। बहार नूतन ।। १२४ ।।

अंकुर के करोड़ों बूटे। न जाने कब फूटते-टूटते।
जैसे नभ में आते-जाते। असाढ़ के बादल ।। १२५ ।।

कल्पान्त में किरीटी। इस तरु की शाखाएँ गिरतीं।
फिर से नयी निकल आतीं। कल्पोदय में ।। १२६ ।।

संहारकाल का वात प्रचण्ड। सबको गिराता धड़ाधड़।
कल्पारम्भ में झंखाड़। बढ़ता नवसृजन का ।। १२७ ।।

मन्वन्तर के बाद मन्वन्तर। वंश बढ़ते वंश के अनन्तर ।
जैसे पोर के आगे पोर। होते ईख के ।। १२८ ।।

अब अन्त में कलियुग के। छिलके उतरते चारों युगों के ।
तभी कोंपल कृतयुग के। आते नये ।। १२९ ।।

चालू वर्ष समाप्त होता। तभी नववर्ष आता ।
जैसे न ध्यान में आता। आता-जाता दिन ।। १३० ।।

पवन बहता झोखों में। उसका जोड़ न आता ध्यान में ।
वैसे शाखा पर गिरतीं शाखाएँ। न जाने कितनी ।। १३१ ।।

एक देह का होते पतन। अनेक आते नित्यनूतन ।
इसीलिए भवतरु अर्जुन। लगता अव्यय ।। १३२ ।।

पानी वेग से हो बहता। उसका स्थान नया जल लेता ।
वैसे अस्थिर फिर भी लगता। स्थिर अज्ञानवश ।। १३३ ।।

अनेक घटनाएँ निमिष में। होती रहती विश्व में ।
लाखों लहरें उठतीं सागर में। अज्ञ को लहर नित्य ।। १३४ ।।

एक पुतली दो आँखों में। काक घुमाता तेज़ी से ।
लोग मानते भ्रम से। उसे द्विलोचन ।। १३५ ।।

फिरहरी घूमती भूमि पर। लगती मानो खड़ी स्थिर ।
यह भ्रम होता धनुर्धर। वेग के कारण ।। १३६ ।।

पलीता लेकर हाथ में। वेग से घुमाएँ अन्धेरे में ।
भ्रम होकर दृष्टि में। लगता चक्राकार ।। १३७ ।।

वैसे यह संसार का पेड़। टूटता बढ़ता अखंड ।
बिना समझे इसे मतिजड़। अव्यय मानते ।। १३८ ।।

किन्तु इसके वेग का ज्ञाता। क्षणिकता को जानता ।
कि निमिष में यह आता-जाता। करोड़ों बार ।। १३९ ।।

अज्ञानबिन नहीं मूल। अस्तित्व आभास केवल ।
ऐसे जिसने जाना आमूल। संसारतरु को ।। १४० ।।

वही है सर्वज्ञाता। पंडुसुत मैं हूँ कहता ।
वह वंदनीय तत्त्वतः। वाग्ब्रह्म वेदों को ।। १४१ ।।

योगाभ्यास का उत्तम फल। उसे ही मिलता सकल ।
उसके ही सहारे केवल। ज्ञान जीता ।। १४२ ।।

अस्तु यह भाषण। कौन करे उसका वर्णन ।
जिसने भवतरु को सम्पूर्ण। मिथ्यास्वरूप जाना ।। १४३ ।।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।। २ ।।

इस प्रपंच रूपी वृक्ष में। शाखाएँ होतीं अधोभाग में ।
और बढ़ती ऊर्ध्व दिशा में। शाखाएँ इसकी ।। १४४ ।।

नीचे फैलती जो टहनियाँ। उनकी पुनः निकलतीं मूलियाँ ।
उनके नीचे वल्लरियाँ। बढ़ती अनेक ।। १४५ ।।

ऐसा जो हमने प्रारम्भ में। बताया अति विस्तार में ।
वही अब सुगम शब्दों में। बताते, सुनो ।। १४६ ।।

सबकी जड़ में अज्ञान। उससे महदादिक उत्पन्न
वेदशास्त्रों का महावन। बढ़ा वहीं से १४७ ।

स्वेदज और जारज। अंडज और उद्भिज्ज ।
ऐसे जड़ से महाभुज। निकले पहले से ही ।। १४८ ।।

उस एक-एक भुजा पर। फूटते अनगिनत अंकुर ।
वे जीवशाखाओं के प्रकार। चौरासी लाख ।। १४९ ।।

इन सीधी शाखाओं में आड़ी। जो फैलती डालें झाड़ी।
वे ही जातियाँ विभिन्न गढ़ीं। जीव योनियों की ।। १५० ।।

स्त्री पुरुष और षढ़। व्यक्ति मात्र के भेद त्रिविध।
जब विषयविकार जाते बढ़। हिंडोलते आपस में ।। १५१ ।।

वर्षा ऋतु में नभ में जैसे। मेघपुंज आते बहुत-से।
वैसे मूल अज्ञान से। उपजती देहलता ।। १५२ ।।

गुण क्षोभ की बयार। बहती है जब स्वैर।
शाखा-संभार परस्पर। निबद्ध होते ।। १५३ ।।

त्रिगुण की अफरातफरी में। इस ऊर्ध्वमूल वृक्ष में।
नीचे, ऊपर, मध्य में। बढ़ती तीन शाखाएँ ।। १५४ ।।

रजोगुण का समीर। जब प्रबल होता धनुर्धर।
शाखाएँ बढ़तीं सत्वर। मनुष्य जाति की ।। १५५ ।।

ऊर्ध्व अथवा अधोमुख। नहीं बढ़ती मनुष्य-शाख।
मध्य में ही जमघट। चातुर्वर्ण-शाखाओं का ।। १५६ ।।

वेदवाक्यों के जो विविध। बताये गये विधिनिषेध।
वे इस वृक्ष के नाना विध। पल्लव गुच्छ नये-नये ।। १५७ ।।

अर्थ काम का प्रसार। सर्वत्र होता अपार।
असंख्य उग आते अंकुर। क्षणिक भोगों के ।। १५८ ।।

प्रवृत्ति का बढ़ता लोभ। कर्म होते शुभाशुभ।
वे ही अगणित स्तम्भ। तने संसारतरु के ।। १५९ ।।

पिछले भोग जब होते क्षीण। झड़ जाते देह जीर्ण।
वहाँ लहलहाते पूर्ण। बूटे नये देहों के ।। १६० ।।

फिर पर्णों में शब्दों के। तुर्रे लगते विषयों के।
लुभाते मन सभी के। सर्वकाल ।। १६१ ।।

होते प्रवाहित रजोगुण। खिलतीं जो शाखाएँ, अर्जुन।
उन्हें लो सही पहचान। मनुष्यलोक वह ।। १६२ ।।

इस रजोगुण का पवन। आगे धीमा पड़ता अर्जुन।
तब तमोगुण का प्रवर्त्तन। होता आँधी - सा ।। १६३ ।।

तब इन्हीं मनुष्यों में अर्जुना। प्रबल होती नीच वासना।
कुकर्म की डालियाँ नाना। बढ़ती अधोभाग में ।। १६४ ।।

अपप्रवृत्तियों की प्रबल। फूटती डाल-डाल।
पर्ण पत्तियाँ विपुल। बढ़तीं प्रमाद की ।। १६५ ।।

ऋग्, यजुस्, साम वेद। बनाते जो विधिनिषेध।
वह अग्रभाग की बहुविध। बनती पत्तियाँ ।। १६६ ।।

वासना की लता पर। त्रिदल पल्लव अपार।
वहीं आगम महा घोर। जारण-मारण का ।। १६७ ।।

कुकर्म का मूल तना। बनता जाता मोटा घना।
आगे बढ़ती विशालतना। जन्मशाखाएँ ।। १६८ ।।

दुष्कर्मों का आकर्षण। करवाता भ्रष्टाचरण।
उससे फैलता विस्तीर्ण। झंखाड़ नीच जातियों का ।। १६९ ।।

पशु, पक्षी, सूकर। बाघ, बिच्छु, साँप घोर।
ये नीच शाखा-प्रकार। बढ़ने लगते ।। १७० ।।

इस संसारतरु पर। ऐसी शाखाओं का विस्तार।
नरक यातना का द्वार। खोलता उनके लिए ।। १७१ ।।

हिंसा और विषयभोग। कुकर्मों से जोड़ते संग।
नीच जन्म का घोर प्रसंग। मानो मोल लेते ।। १७२ ।।

वे ही वनते तरु तृण। लोह काष्ठ पाषाण।
ऐसे बढ़ाता तमोगुण। दुष्ट शाखाओं को ।। १७३ ।।

संसारवृक्ष की अधोमुख। जो बढ़ती है शाख।
मनुष्य से स्थावर तक। वृद्धि उसकी ।। १७४ ।।

अधोशाखा का मूल। मनुष्य सृष्टि ही केवल।
संसारवृक्ष होता प्रबल। उसके कारण ।। १७५ ।।

जो शाखाएँ ऊर्ध्वमुख। और जो हैं अधोमुख।
मध्य में होता सुमुख। मूल दोनों का ।। १७६ ।।

तामसी शाखा दुष्टकर्मी। सात्विकी है पुण्यकर्मी।
नीचे-ऊपर मध्यभूमि। मनुष्य सृष्टि की ।। १७७ ।।

तीनों वेदों के किसलय। मानव के लिए बढ़ते अक्षय।
कोई मानवेतर धनंजय। विधिनिषेधपात्र नहीं ।। १७८ ।।

यदपि ऊर्ध्वशाखा से अर्जुन। मनुष्यशाखा हुई उत्पन्न।
कर्मवृद्धि का मूल स्थान। है यही शाखा ।। १७९ ।।

मूल के बढ़ते शाखाएँ बढ़तीं। शाखा वृद्धि से जड़ें बढ़तीं।
सभी वृक्षों की यह स्थिति। प्राकृतिक ।। १८० ।।

वैसे जब तक कर्म होता रहता। शरीरबंध नहीं छूटता।
और शरीर में प्राण होता। तब तक न छूटे कर्म ।। १८१ ।।

अतः नर देह में ही सम्भव। संसार जड़ों का फैलाव।
अर्जुन को बता रहे अनुभव। जगन्नायक श्रीकृष्ण ।। १८२ ।।

ऐसे तमोगुण का दारुण। जब ठहर जाता उफान।
वेग से बहता पवन। सत्वगुण का ।। १८३ ।।

तब यही मनुष्याकार। धारण करता सद्वासना-अंकुर।
फिर सुकृतों की बहार। आती यहीं ।। १८४ ।।

ज्ञान होता विकसित। कुशलता प्रज्ञा में विकच।
बुद्धि होती सुफलित। चातुर्य से ।। १८५ ।।

मनन के बूटे निकलते। प्रेरणा के फुटे फूटते।
विवेक की ओर दौड़ते। मन के विचार ।। १८६ ।।

मेधारस से परिपूर्ण। निकलते आस्था के पर्ण।
सद्वर्तन के बूटे भावन। फूटते सीधे ।। १८७ ।।

वे आत्महित के सदाचार। बढ़ते सहज सुन्दर।
वेदमंत्रों का चहुँ ओर। निनादता घोष ।। १८८ ।।

यज्ञयोग वेदशास्त्रोत्तम। कर्म उपासना शिष्टसम्मत।
सर्वत्र ऐसे विकसित। होते पर्ण पर पर्ण ।। १८९ ।।

तपस्या की टहनी में। गुच्छे लटकते यम दम के।
कोमल वैराग्य शाखाएँ। उससे लिपटतीं ।। १९० ।।

धीरज के पैने अंकुर। उनसे उपजते व्रत कठोर।
वहीं डालें इस वृक्ष पर। ऊँची बढ़ने लगतीं ।। १९१ ।।

जब तक बहे सत्व बयार। वेद किसलय बढ़ते अपार।
फिर सुविधा-समृद्धि सर्वत्र। होती भारी ।। १९२ ।।

धर्मशाखा खूब बढ़ती। नाना जन्मांकुर उपजाती।
स्वर्गादिक फलों से लदती। जो मधुर अत्यन्त ।। १९३ ।।

विरक्ति की शाखा भगवी। उसमें कैवल्य की पल्लवी।
निकलती नित्य नयी। धनंजय ।। १९४ ।।

रविचन्द्रादि ग्रहवर। पितर ऋषि विद्याधर।
ये उपशाखाओं के प्रकार। बढ़ते सत्वकाल में ।। १९५ ।।

इन सबके भी ऊपर। अनेक दैवी शाखा-विस्तार।
उनमें लगते फल मधुर। इन्द्रलोकादिक के ।। १९६ ।।

फिर उनसे भी ऊपर आतीं। शाखाएँ तपोज्ञान की।
जहाँ मरीचि कश्यपादि। रहते नित्य ।। १९७ ।।

इस क्रम से उत्तरोत्तर। ऊर्ध्व शाखाओं का विस्तार।
नीचे छोटा बड़ा ऊपर। है विचित्र वृक्ष ।।१९८।।

ऊर्ध्वशाखाओं के ऊपर। बढ़ता फलशाखा-विस्तार।
ब्रह्मादिक सुरवर। रहते जहाँ ।।१९९।।

इतना होता फलभार। कि ऊर्ध्वशाखाएँ झुक कर।
भूमि से रहतीं टिक कर। जड़ों के पास ।।२००।।

वृक्ष जो सामान्य होते। उनमें जब फल लगते।
तो लाट बूटे झुक जाते। छूते धरती ।।२०१।।

वैसे यह वृक्ष अर्जुन। जहाँ होता उत्पन्न।
वहीं हो जाता लीन। ज्ञान के बढ़ते ।।२०२।।

अतः ब्रह्मा-शिव के पार। जीव बढ़ता न धनुर्धर।
और उसके ऊपर। होता केवल ब्रह्म ।।२०३।।

वैसे तो ब्रह्माशिव है वरिष्ठ। किन्तु ब्रह्म उनसे भी श्रेष्ठ।
अतः सर्वथा नहीं इष्ट। तुलना उनकी ।।२०४।।

उत्कृष्ट शाखा विरक्ति की। जिसे संज्ञा सनकादि की।
फलफूलों में न उलझती। होती ब्रह्मरूप ।।२०५।।

मनुष्य से ब्रह्मपर्यन्त। ऊर्ध्वशाखाएँ जो वृद्धिंगत।
उनकी आस्था अत्यन्त। ऊँची होती है ।।२०६।।

ब्रह्मादिक शाखाएँ उन्नत। सभी मनुष्यतत्व-जात।
अतः उन्नत किन्तु अधःस्थित। मूल मनुष्यशाखा ।।२०७।।

यह ऊर्ध्वमूल अलौकिक। ऊपर-नीचे शाखाएँ अनेक।
यही बताया सकौतुक। संसारवृक्ष ।।२०८।।

जड़ें जो नीचे ऊपर इसकी। बताई विकास-रीति उनकी।
अब उन्मूलन की पद्धति। सुनाता हूँ ।।२०९।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।। ३ ।।

तुम्हारे चित्त में पार्थ। सन्देह होगा निश्चित ।
कि यह अद्‌भुत वृक्ष खंडित। होगा किस शस्त्र से ।। २१० ।।

जिसकी ब्रह्मापर्यन्त। ऊर्ध्व शाखाएँ वृद्धिंगत ।
और ऊर्ध्वमूल सुस्थित। निराकार ब्रह्म में ।। २११ ।।

निम्न शाखाओं का विस्तार। जाता चराचर भेद कर ।
मध्य में खिलती ले बहार। मनुष्य शाखा ।। २१२ ।।

ऐसा यह वृक्ष विराट। कैसे होगा इसका अन्त ।
यह भाव अतिनिकृष्ट। लाओ न मन में ।। २१३ ।।

करने को इसका नाश। आवश्यक नहीं सायास ।
क्या हौए को विदेश। भेजना पड़ता ? ।। २१४ ।।

गंधर्वनगरों को गिराने। ख़रगोश के सींग तोड़ने ।
मिथ्या ख-पुष्प तोड़ने। जतन किस लिए ? ।। २१५ ।।

संसारवृक्ष यह भ्राता। मिथ्या ही है सर्वथा ।
तब उन्मूलन का वृथा। भय किस लिए ? ।। २१६ ।।

मूल शाखादि के जो प्रकार। बताये जो अपार ।
उसे जानो वंशविस्तार। वंध्या का ।। २१७ ।।

स्वप्नों के भाषण का। जागृति में उपयोग क्या ? ।
वैसे इस वृक्ष की महिमा। जानो निःसार ।। २१८ ।।

इसकी जड़ें बताई जैसी। सुदृढ़ ही होतीं वैसी ।
स्वरूप की विशालता वैसी। यदि बताई जैसी हो ।। २१९ ।।

तो इसका करे उन्मूलन। कौन ऐसा माँ का नन्दन ? ।
क्या केवल फूँक से गगन। उड़ाया जा सकता? ।। २२० ।।

अतः हमारा निरूपण। माया ही मानो अर्जुन ।
क्या कछवी के धृत से भोजन। करायें राजा को ? ।। २२१ ।।

पार्थ, मृगजल की झील। देखने में भली केवल ।
क्या कभी धान की फसल। आती उस जल से ? ।। २२२ ।।

मूलतः मिथ्या अज्ञान। यह वृक्ष उससे उत्पन्न ।
मिथ्या हो मूल कारण। कार्य भी मिथ्या ।। २२३ ।।

और इस वृक्ष का नहीं अन्त। यह जो हमने कही बात ।
एक दृष्टि से वह भी, पार्थ। सत्य ही है ।। २२४ ।।

जब तक न जाग आती। क्या नींद समाप्त होती ? ।
रात जब तक न बीतती। क्या होता सवेरा ? ।। २२५ ।।

वैसे जब तक, भ्राता। विवेक न उठाता माथा ।
तब तक अन्त नहीं होता। संसार अश्वत्थ का ।। २२६ ।।

बहती बयार सतत। जब तक नहीं रुकत ।
तरंगों को अनंत। कहना ही पड़ता ।। २२७ ।।

होते ही सूर्य का अस्त। मृगजल का होता अन्त ।
दीप बुझते होती लुप्त। प्रभा उसकी ।। २२८ ।।

वैसे अविद्या को ग्रसता। ज्ञान जब उदित होता ।
तभी यह वृक्ष लुप्त होता। अन्यथा नहीं ।। २२९ ।।

इसे अनादि विशेषण। देते हैं विद्वान ।
देखो तो उसके लक्षण। असत्य नहीं ।। २३० ।।

इस संसारतरु में भ्राता। मूलतः नहीं वास्तविकता ।
और जो मूल में नहीं होता। आरम्भ उसका कहाँ से ? ।। २३१ ।।

वास्तव में जो जहाँ होता। वही उसका आदि होता।
अवास्तव का कैसे होता। आरम्भ कहीं ? ।। २३२ ।।

जो अजन्मा होता। उसकी कौन बताये माता ?।
न होने के कारण कहलाता। वह अनादि ।। २३३ ।।

वंध्या के पुत्र या पुत्री। उसकी कैसे जनम-पत्री ?।
आकाश को नीली छतरी। मानें कैसे ? ।। २३४ ।।

आकाश कुसुम के, धनुर्धर। कौन तोड़ लाये डंठर ?।
वैसे इस असम्भव का सम्भव। सोचें कहाँ से ? ।। २३५ ।।

घट की नहीं उत्पत्ति। तब तक घटा भाव अनादि।
वैसे उत्पत्ति पूर्व अनादि। यह संसारतरु ।। २३६ ।।

यह अभावरूप ऐसे। अतः आदि-अन्त नहीं इसे।
मध्य में दिखता उसे। जानो मृगजल ।। २३७ ।।

ब्रह्मगिरि से न निकलता। सागर में न विलीन होता।
बीच में प्रत्यक्ष दीखता। वह मृगजल ।। २३८ ।।

वैसे आदि अन्त में यह नहीं। अस्तित्व भी वास्तविक नहीं।
किन्तु आश्चर्य की सीमा यही। अस्तित्व इसका भासमान ।। २३९ ।।

नाना रंगों का इन्द्रधनुष। दिखाई दे प्रत्यक्ष।
अस्तित्व उसका लगता सत्य। अज्ञानी को ।। २४० ।।

बहुरुपिया अपने भेष से। भरमाता भलों को चातुर्य से।
संसार अज्ञानी को वैसे। भरमाता है ।। २४१ ।।

आकाश में नीलाई। यद्यपि देती दिखाई।
किन्तु उसमें सच्चाई। होती क्षणिक ।। २४२ ।।

स्वप्न में देखे नाना पदार्थ। प्रत्यक्ष में सभी व्यर्थ।
वैसे भंगुर संसार का पार्थ। उपयोग क्या ? ।। २४३ ।।

दिखता और सत्य लगता। पकड़ने से हाथ न आता ।
जैसे, कपि जल में हाथ डालता। पकड़ने प्रतिबिम्ब ।। २४४ ।।

तरंगे उठतीं मिटतीं जल में। बिजली कौंधती लोपती नभ में ।
किन्तु इस संसार की तुलना में। कम उनकी क्षणिकता ।। २४५ ।।

जैसे आँधी ग्रीष्मान्त की। न जाने किस दिशा की ।
वैसे इस संसार वृक्ष की। प्रतीति न निश्चित ।। २४६ ।।

इसे नहीं आदि, अन्त। स्थिति, या रूप निश्चित ।
फिर सायास करें किस हेत। इसके उन्मूलन का ? ।। २४७ ।।

आत्मरूप के अज्ञानवश। फैलता मिथ्या वृक्षवंश ।
अतः ज्ञान खड्ग से नाश। करें इसका ।। २४८ ।।

एक आत्मज्ञान के सिवाय। जो भी करोगे उपाय ।
वे उलझायेंगे तुम्हें अक्षय। इस संसार में•।। २४९ ।।

ऊपर-नीचे की शाखाओं में। नित्य रहोगे भटकते ।
अतः उखाड़ो तत्त्वज्ञान से। जड़ अज्ञान की ।। २५० ।।

डोर को साँप मान कर। मारने लाया डंडों का ढेर ।
सायास सभी बेकार। निरुपयोगी ।। २५१ ।।

मृगजल को पार करने। जो चला नौका ढूँढ़ने ।
सच्चे ओहरे में उसने। डूब जाना है ।। २५२ ।।

वैसे यह मिथ्या तरु तोड़ने। सारे उपाय व्यर्थ है होने ।
ज्ञान नष्ट होकर सयाने। पड़ेंगे भ्रान्ति में ।। २५३ ।।

स्वप्न में हुआ आघात। उसपर उपाय हो जागृत ।
अज्ञान जड़ को करने खंडित। साधन ज्ञानखड्ग का ।। २५४ ।।

भाँजने धार इस खड्ग की। बुद्धि को साधन की ।
विशेष वैराग्य बल की। है आवश्यकता ।। २५५ ।।

उत्पन्न होने वह वैराग्य। त्रैलोक्य के सभी भोग्य।
ऐसे लगते हैं अभोग्य। जैसे वमन श्वान का ।। २५६ ।।

उस वैराग्य का आवेश। बुद्धि को ऐसा हो विशेष।
कि पदार्थ मात्र की सरोष। घिन लगने लगे ।। २५७ ।।

फिर देहाभिमान का म्यान। इस खड्ग से उतारें अर्जुन।
करें इसे कर में धारण। अन्तर्मुख बुद्धि के ।। २५८ ।।

विवेक पाषाण पर घीस कर। आत्मानुभव की चढ़ायें धार।
अद्वैत बोध का बार-बार। सतेज पानी चढ़ायें ।। २५९ ।।

निश्चय की मुट्ठी में पकड़ कर। चलायें हाथ दो चार।
फिर सम्भाले रखें निरन्तर। मनन के द्वारा ।। २६० ।।

स्वयं और यह शस्त्र। लगन से होते एकाकार।
घाव मारने भी धनुर्धर। रहेगा न भवतरु ।। २६१ ।।

महाशस्त्र आत्मज्ञान का। जिसे उग्र तेज अद्वैत का।
वह लवलेश भवतरु का। रहने न देगा ।। २६२ ।।

शरदारम्भ की बयार। साफ़ करती अम्बर।
अंधकार को भास्कर। लीलता जैसे ।। २६३ ।।

प्राप्त होते जागृति। नष्ट होती स्वप्नसृष्टि।
वैसे आत्मानुभूति। नष्ट करती भवतरु ।। २६४ ।।

तब ऊर्ध्व या ऊर्ध्वमूल। या निम्न शाखाओं का बल।
नष्ट होता है आमूल। जैसे मृगजल चाँदनी में ।। २६५ ।।

अर्जुन, ऐसी पद्धति से। आत्मज्ञान के खड्ग से।
काट डालो लीला से। ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ ।। २६६ ।।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।। ४ ।।

जो बाह्येन्द्रियों को अगोचर। जहाँ 'अहं' नहीं गोचर ।
ऐसे निजरूप को धनुर्धर। देखें स्वयम् ही ।। २६७ ।।

जैसे दर्पण में देखकर। एक के दो मुख बनाकर ।
देखते हैं सामान्य नर। वैसे न देखें आत्मतत्व को ।। २६८ ।।

कुआँ खोदने से पूर्व। उद्गम में निर्झर पूर्ण ।
वैसे इन्द्रिय को अगोचर। देखें आत्मतत्त्व ।। २६९ ।।

या जल जब सूख जाता। प्रतिबिम्ब बिम्ब में मिलता ।
या घट टूटते विलीन होता। महाकाश में घटाकाश ।। २७० ।।

ईंधन जब समाप्त होता। अग्नि निज रूप में लौटता ।
वैसे निज को निज में, भ्राता। देखें स्वरूप में ।। २७१ ।।

रसना स्वाद चखे अपना। नेत्र का निज पुतली देखना ।
निज को निज में देखना। होता वैसे ।। २७२ ।।

प्रभा मिल जाती प्रभा में। आकाश लेटता आकाश में ।
या जल को भरे खोह में। जल की ही ।। २७३ ।।

स्वयम् ही अपना अर्जुन। अद्वैत भाव से करें दर्शन ।
उसका विधि-विधान। यही सुनिश्चित ।। २७४ ।।

यह देखे बिना देखना। बूझे बिना जानना ।
यही आदि पुरुष का कहना। यहाँ होता है ।। २७५ ।।

जिसका परिचय देने श्रुति। उपाधियों का सहारा लेती ।
नाम-रूप का निर्देश करती। बिना कारण ।। २७६ ।।

भव-स्वर्ग से ऊब कर। जहाँ जाते प्रस्थान कर ।
न लौटने की प्रतिज्ञा कर। निकले मुमुक्षु ।।२७७।।

संसार से शर्त लगाकर। विरागी जाते दौड़कर ।
ब्रह्मपद को भी लाँघकर। जाते आगे-आगे ।।२७८।।

अहंकारादि निज विकार। इनका हिसाब पूरा कर ।
प्राप्त करते प्रमाण पत्र। मूल घर जाने का ।।२७९।।

जिस तत्त्व का अज्ञान। करता विश्व का निर्माण ।
जिसने व्यर्थ निज-पर का भान। जग में अंकित किया ।।२८०।।

जहाँ से इतने विस्तारित। विश्वपरम्परा के पर्णपात ।
जो व्यर्थ आशा वृद्धिंगत। अभागे की ।।२८१।।

इस विश्व का जो आदिकारण। उस निज का हो ज्ञान ।
जैसे, शीत को आवे शीतपन। शीत से ही ।।२८२।।

आत्मस्वरूप का लक्षण। एक और भी है अर्जुन ।
जिसकी प्राप्ति से पुनरागमन। होता ही नहीं ।।२८३।।

महाप्रलय ज्यों जलपूर्ण। त्यों आत्मज्ञान से जो पूर्ण ।
उन्हें ही इस पद की अर्जुन। होती प्राप्ति ।।२८४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
गर्च्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।। ५ ।।

जिस पुरुष का मन। त्यागता मोह मान ।
जैसे मेघ छोड़ते गगन। वर्षा ऋतु के अन्त में ।।२८५।।

जो निर्धन और निष्ठुर। उसे त्यागते उसके स्वजन ।
वैसे, अर्जुन जिसके विकार। चले जाते ।।२८६।।

फला केलातरु टूटता। वैसे, जिसका कर्म ढहता।
धीरे-धीरे निर्मूल होता। आत्मज्ञान से ।।२८७।।

वृक्ष में आग लगते। पंछी उड़कर जाने लगते।
वैसे, सभी विकल्प जाते। छोड़ जिसको ।।२८८।।

भेदबुद्धि की भूमि पर। बढ़ते दोषों के तृणांकुर।
उस भेदबुद्धि को धनुर्धर। जानता ही नहीं जो ।।२८९।।

सूर्योदय की बेला आती। रात अकस्मात भाग जाती।
वैसे देह-अहंता जाती। जिसकी अविद्यासमेत ।।२९०।।

आयुहीन जीव को पार्थ। देह छोड़ता अकस्मात।
वैसे मोहमूलक द्वैत। छोड़ जाता ।।२९१।।

पारस न पाता लोहे को। अन्धेरा न मिलता सूर्य को।
वैसे अखंड अकाल जिसको। द्वैतबुद्धि का ।।२९२।।

रहते देह का अहंकार। द्वैत होते जो गोचर।
वे न आते धनुर्धर। सामने जिसके ।।२९३।।

स्वप्न में राज्य या मरण। जाग जाने पर सम्पूर्ण।
न होता शोक का कारण। अर्जुन, जैसे ।।२९४।।

वैसे सुख दुःखादिक। द्वंद्व पापपुण्यदायक।
कदापि न आते सम्मुख। साँप जैसे गरुड़ के ।।२९५।।

छोड़कर अनात्म नीर। आत्मरस का क्षीर।
ग्रहण करते जो सविचार। राजहंस ।।२९६।।

जैसे सूर्यनारायण। धरती पर कर जलवर्षण।
उसी का करता शोषण। किरणों द्वारा ।।२९७।।

वैसे स्वरूप-भ्रान्ति में। स्वरूप बिखरता दिगदिगन्त में।
ज्ञानदृष्टि से समेटते उसे। अखंडित जो ।।२९८।।

आत्मचिन्तन में जिनका। विवेक डूबता नीका।
जैसे प्रवाह गंगा का। महासिन्धु में ।।२९९।।

होते सर्वत्र स्वरूप का भान। अभिलाषा का न शेष कारण।
कैसे सर्वव्यापक गगन। जायेगा कहीं ? ।।३००।।

अग्नि के पर्वत पर। नहीं बढ़ता बीजांकुर।
वैसे जिनके मन में विकार। अंकुरित न होता ।।३०१।।

बाहर निकालते मन्दार। निश्चल होता क्षीरसागर।
वैसे कामोर्मिबिन अन्तर। प्रशान्त जिनका ।।३०२।।

चन्द्र सोलह कलाओं से पूर्ण। दिखे न कहीं अपूर्ण।
वैसे अपेक्षापूर्ति का न्यून। जिनमें नहीं ।।३०३।।

और क्या कहूँ, भ्राता। यहाँ विषय लेश न रहता।
जैसे झंझा में न टिकता। धूल का कण ।।३०४।।

ऐसे अग्नि में ज्ञान के। दोष भस्म हुए जिनके।
वे ब्रह्म में हो जाते ब्रह्म के। जैसे सुवर्ण में सुवर्ण ।।३०५।।

पर परब्रह्म होता कैसे। यदि पूछोगे हमसे।
तो जानो नाश न जिसे। वही परब्रह्म ।।३०६।।

दृश्य रूप में देखें जिसे। ज्ञेय रूप में जानें जिसे।
वह अमुक है ऐसे। कहना असम्भव ।।३०७।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।६।।

दीपक के प्रकाश में। पूर्णचन्द्र की ज्योत्स्ना में।
अथवा सूर्य की प्रभा में। प्रकाशमान जो ।।३०८।।

इन सबको देखना। है जिसे न देखना।
जिसके अज्ञान से अर्जुना। प्रकटता विश्व ।।३०९।।

ज्यों-ज्यों लोपती सींपता। त्यों-त्यों रजत निखरता।
होते रज्जु का लोप भ्राता। प्रकटता सर्प ।। ३१० ।।

वैसे सूर्यचन्द्रादिक। जो प्रकाशमान अनेक।
वे पाते आलोक। जिसके अज्ञान-तम से ।। ३११ ।।

वह है प्रखर तेजस्वी तत्त्व। सभी भूतों का सत्व।
चन्द्रसूर्य का प्रकाशतत्त्व। जिसके तेज से ।। ३१२ ।।

उससे आलोक पाकर। आते रवि-शशि-कर भू पर।
जो-जो तेजस्वी धनुर्धर। तेज उसमें ब्रह्म का ।। ३१३ ।।

जिसके प्रकाश में पार्थ। लोपते चन्द्र सूर्यादि समस्त।
सूर्योदय से जैसे लुप्त। होते नक्षत्र सारे ।। ३१४ ।।

जाग आते ही अर्जुन। नष्ट होते सभी स्वप्न।
या मृगजल का विलोपन। संध्या समय आते ।। ३१५ ।।

वैसे जिसमें, भाई। कोई आभास नहीं।
जानो उसे मेरा ही। परमधाम ।। ३१६ ।।

जो-जो वहाँ पहुँच जाता। वापस नहीं लौटता।
महासागर में सरिता। प्रवाह, जैसे ।। ३१७ ।।

लवण का हाथी बनायें। उसे सागर में डुबोयें।
वह कभी वापस न आये। अर्जुन, जैसे ।। ३१८ ।।

जो गगन में चढ़ जाती। अग्निज्वाला न लौट आती।
या तपे लोहे पर गिरती। लौटती न जलधारा ।। ३१९ ।।

वैसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होते। जो मुझमें समा जाते।
वे जन्म-मरण से होते। मुक्त सर्वथा ।। ३२० ।।

इस पर प्रज्ञावान पार्थ। कहे, मिला महाप्रसाद।
किन्तु हो कृपावंत। एक विनय सुनिए ।। ३२१ ।।

जो प्रभु में एकरूप होते। और पुनर्जन्म नहीं पाते।
वे अभिन्न या भिन्न होते। परमात्मा से ? ।। ३२२ ।।

भिन्नत्व यदि अनादिसिद्ध। तो पुनर्जन्म असंबद्ध।
क्या फूल में गया षट्पद। फूल हो जाता ? ।। ३२३ ।।

लक्ष्य से भिन्न है तीर। चलाते निशाना साधकर।
नीचे आते लक्ष्य में जाकर। वैसे ये सभी आयेंगे ।। ३२४ ।।

अथवा आप ही हो उनमें। तो कौन विलीन किसमें ? ।
अपने हाथों चलायें कैसे। शस्त्र अपने पर ? ।। ३२५ ।।

देव, जीव मात्र आपसे। अभिन्न देह अवयव से।
उनका संयोग वियोग आपसे। अतः असम्भव ।। ३२६ ।।

और जीव यदि सर्वथा भिन्न। कभी न होंगे ब्रह्मलीन।
वे आते, न आते पुनः। व्यर्थ यह चर्चा ।। ३२७ ।।

आपके मूल रूप में कृष्ण। कौन होते हैं विलीन ? ।
इसका सुस्पष्ट निवेदन। करिए कृपया ।। ३२८ ।।

यह आक्षेप सुन। कूता अर्जुन का ज्ञान।
अतः सन्तुष्ट श्रीकृष्ण। सर्वज्ञ-शिरोमणि ।। ३२९ ।।

कहे जो मुझमें होते लीन। वे मुझसे भिन्न या अभिन्न।
इसका उत्तर होते, होते न। दोनों प्रकार का ।। ३३० ।।

करने पर विवेक गहन। मैं और वे अभिन्न।
सतही विचार से विभिन्न। प्रतीत होंगे ।। ३३१ ।।

पानी पर तरंगें उछलतीं। पानी से भिन्न लगतीं।
अन्यथा सभी होतीं। सारा पानी ही ।। ३३२ ।।

अथवा सुवर्ण के आभूषण। लगते सुवर्ण से भिन्न।
किन्तु विचार करते गहन। होता सुवर्ण सारा ।। ३३३ ।।

वैसे ज्ञानदृष्टि से भ्राता। मुझसे उनकी अभिन्नता।
किन्तु दिखती विभिन्नता। केवल अज्ञानवश ।। ३३४ ।।

हे अर्जुन, वास्तव में। दूजापन नहीं मुझमें।
तो कैसे सम्भव व्यवहार में। बात भिन्न-अभिन्नता की ।। ३३५ ।।

नभ जितना हो सूर्यबिम्ब। तो कहाँ दिखेगा प्रतिबिम्ब ?।
सूर्य किरणों का फैलाव। होगा कहाँ ? ।। ३३६ ।।

जैसे, प्रलयकाल में। न कहें जल भरता खाड़ी में।
वैसे, एक सर्वव्यापक में। भिन्नता असम्भव ।। ३३७ ।।

पानी जब प्रवाहित होता। उसमें आती वक्रता।
जल के कारण आती भिन्नता। सूर्य को प्रतिबिम्ब की ।। ३३८ ।।

आकाश गोल या चौकोना। कौन बताये अर्जुना ?।
किन्तु घट मठ में आकार नाना। लगते उसके ।। ३३९ ।।

स्वप्न में कोई राजा बनता। सारे जगत को क्या न व्यापता ?।
अकेले में दिखती यह भिन्नता। निद्रा के कारण ।। ३४० ।।

सोने में टाँका लगता। तो उसमें आती हीनता।
वैसे मैं यदपि शुद्ध तत्त्वतः। होता जब मायाबद्ध ।। ३४१ ।।

तब अज्ञान सर्वत्र बढ़ता। सन्देहग्रस्त होती अस्मिता।
विवेक से निश्चय होता। कि मैं केवल देह ।। ३४२ ।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। ७ ।।

आत्मस्वरूप देहाकार। जब बढ़ता अज्ञान विकार।
तब जीव होता गोचर। मेरा अंशमात्र ।। ३४३ ।।

सागर में हवा के संग। जब उछलते तरंग।
उन्हें कहता है जग। अंश सागर का ।। ३४४ ।।

वैसे जो जड़ को जीवन देता। देह में जगाता अहंता ।
जीवलोक में वह, भ्राता। जीव मैं ही हूँ ।। ३४५ ।।

जीवत्व बोध का ले आधार। जहाँ चलते सभी व्यवहार ।
उसे वाकई धनुर्धर। जानो जीवलोक ।। ३४६ ।।

जन्म लेना या मरना। इन्हीं को सत्य मानना ।
यही मेरी अवधारणा। जीवलोक की ।। ३४७ ।।

मुझे ऐसे जीवलोक में। तुम देखो पृथक् रूप में ।
जैसे चन्द्र दिखता उदक में। उदक से पृथक ।। ३४८ ।।

स्फटिक मणि साफ़। सिंदूर पर रखते आप ।
रक्तवर्ण दिखता अनूप। किन्तु वैसा न होता ।। ३४९ ।।

वेसे मेरी अनादिता। बिना तोड़े अकारकता ।
मुझे कहते कर्ता, भोक्ता। वह केवल भ्रान्ति ।। ३५० ।।

आत्मा मूल में अति शुद्ध। किन्तु प्रकृति से होते निबद्ध ।
प्रकृति धर्म का बहाव। बहा ले जाता उसे ।। ३५१ ।।

मन श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय। है तत्त्वतः प्रकृतिकार्य ।
उन्हें मेरा मान निरामय। मग्न इंद्रिय व्यापार में ।। ३५२ ।।

संन्यासी को आता स्वप्न। देखता परिवार पूर्ण ।
उसके व्यामोह का भक्ष्य बन। दौड़ता इतस्ततः ।। ३५३ ।।

वैसे, होते आत्मविस्मृति। अपने को ही मान प्रकृति ।
आगे करता उसी की भक्ति। आत्मा तन्मय हो ।। ३५४ ।।

मन के रथ पर सवार होकर। कर्णद्वार से बाहर निकल कर ।
करता शब्द वन में जाकर। मुक्त संचार ।। ३५५ ।।

तभी नकेल प्रकृति की। जीव को खींच लेती ।
और स्पर्श-वन में ले जाती। त्वचा मार्ग से ।। ३५६ ।।

अथवा कभी कभार। नेत्रद्वार में प्रवेश कर।
सुरूप के रम्य गिरि पर। यह स्वच्छंद घूमता ।। ३५७ ।।

या रसना मार्ग पर चल कर। आस्वाद गुफा में घुस कर।
वहीं रसविभोर हो कर। रममाण होता ।। ३५८ ।।

या घ्राण द्वार लाँघ कर। यह मेरा अंश जाता बाहर।
फिर सुगंध-वन में स्वैर। सैर कर आता ।। ३५९ ।।

जीव देहेन्द्रिय नामक। मन से करते हुए सख्य।
भोगता शब्दादिक। इसविध, अर्जुन ।। ३६० ।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।। ८ ।।

जीव है कर्ता भोक्ता। यह तभी ज्ञात होता।
किसी देह में करता। जब यह निवास ।। ३६१ ।।

कोई विलासी और सम्पन्न। इसकी तभी होती पहचान।
जब करता वह निवासस्थान। राजाप्रसाद को ।। ३६२ ।।

वैसे अहंता कर्तृत्व की। अफरातफरी भोगों की।
तब होती, जब जीव की। कुटि बनता शरीर ।। ३६३ ।।

और जब छोड़ता शरीर। सभी इन्द्रियों को, धनुर्धर।
ले जाता सपरिवार। संग अपने ।। ३६४ ।।

ले जाता अपमानित अतिथि। यजमान की पुण्यसम्पत्ति।
या कठपुतली की शक्ति। हरता टूटा सूत्र ।। ३६५ ।।

ले जाता भास्कर अस्त होते ही। जननेत्रज्योति साथ ही।
या सुगंध-सार पवन भी। संग ले जाता जैसे ।। ३६६ ।।

मन ज्ञानेन्द्रियों को वैसे। ले जाता शरीर से।
जब निकल जाता देह से। देहस्वामी जीव ।। ३६७ ।।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।। ९ ।।

फिर यहाँ अथवा स्वर्ग में। आश्रय लेता जिस देह में ।
वहाँ भी रचता ठाठ में। मन आदि का पसारा ।। ३६८ ।।

जैसे बुझाया दीप, पार्थ। जाता अपनी प्रभा सहित ।
फिर से उसे करते प्रदीप्त। फैलती प्रभा ।। ३६९ ।।

इस जन्म-मरण में अर्जुन। सभी अविवेकी जन ।
करते इतना ही दर्शन। भ्रान्तिवश ।। ३७० ।।

कि आत्मा देह में आया। उसने विषयभोग लिया ।
वही देह से चला गया। सत्य है सारा ।। ३७१ ।।

वस्तुतः, देह में आना-जाना। कर्म करना, भोग लेना ।
इन प्रकृतिधर्मो को माना। आत्मा के इन्होंने ।। ३७२ ।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। १० ।।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। ११ ।।

शरीर हुआ उत्पन्न। उसमें होता देख चलन ।
कहते जीव का आगमन। हुआ यहाँ ।। ३७३ ।।

वैसे जीव के संग-संग। देख विषयों का उपभोग ।
कहते जीव ने लिया भोग। विषयों का ।। ३७४ ।।

कर्मयोग हुआ क्षीण। देह पड़ा त्राणहीन ।
तो करते आक्रन्दन। 'गया रे गया' ।। ३७५ ।।

वृक्ष को देख डोलता। मानते पवन बहता ।
किन्तु जहाँ वृक्ष न होता। क्या पवन होता नहीं? ।। ३७६ ।।

दर्पण में, पंडुसुत। देख छवि को प्रतिबिम्बित।
तभी स्वयं को मानें सत्य ?। अन्यथा नहीं ? ।।३७७।।

दर्पण को दूर हटाया। प्रतिबिम्ब लुप्त हो गया।
क्या अपना अस्तित्व भी गया। ऐसा मान लें ? ।।३७८।।

शब्द गुण आकाश का। जन कहते हैं मेघ का।
वेग देख कर अभ्र का। कहते भागता चन्द्र ।।३७९।।

वैसे देह पाता जन्म-मरण। आत्मा सर्वथा विकारहीन।
किन्तु मानते मोहान्ध जन। जन्म-मरण आत्मा का ।।३८०।।

यहाँ आत्मगुण आत्मा में। देहधर्म शरीर में।
देखते जो विभक्त रूप में। वे विवेकी दुर्लभ ।।३८१।।

सूर्यकिरणें ग्रीष्म में, किरीटी। मेघपटल चीर कर आतीं।
वैसे देहावरणभेद प्रतीति। करते जो आत्मा की ।।३८२।।

स्वरूप में विवेक-बल पर। जिनकी प्रज्ञा सुस्थिर।
वे ज्ञानी देखते विभक्त कर। देह में आत्मा को ।।३८३।।

जेसे, आकाश नक्षत्रों सहित। सागर में होता बिम्बित।
नहीं गिरा वह जल में पार्थ। भान सहज इसका ।।३८४।।

आकाश है आकाश में। केवल प्रतिबिम्ब सागर में।
वैसे आत्मा को स्वदेह में। वे देखते पृथक् ।।३८५।।

छोड़ें प्रवाह का कलरव। प्रवाह में ही पाण्डव।
देखें ज्योत्स्ना का मार्दव। प्रशान्त चन्द्र में ।।३८६।।

डबरा भरा हो या शुष्क। सूर्यबिम्ब होता पृथक्।
वैसे देह आवे-जावे अनेक। आत्मबल निराला ।।३८७।।

बनाये घट और मठ। आगे चल कर गये टूट।
फिर भी न जाता टूट। आकाश सर्वव्यापी ।।३८८।।

वैसे आत्म सत्ता अखंडित। वहाँ देह आवत-जावत ।
यह अज्ञान का विलसित। जानते ज्ञानी ।। ३८९ ।।

चैतन्य न बढ़ता न घटता। न करता न कराता ।
यह भलीभाँति जानता। आत्मज्ञानी ।। ३९० ।।

प्राप्त हुआ सकल ज्ञान। ज्ञात हुआ परमाणु परिमाण ।
रहस्य का हुआ आकलन। सभी शास्त्रों के ।। ३९१ ।।

इतनी विद्वता आ गयी। किन्तु विरक्ति नहीं आयी ।
तो सर्वात्मक से भेंट कतई। होगी नहीं ।। ३९२ ।।

सुविचार सारे मुख में। विषय भरे हों हृदय में ।
तो निश्चय जानो जीवन में। प्राप्ति न होगी मेरी ।। ३९३ ।।

स्वप्न में बका ग्रन्थज्ञान। तो कैसे टूटेगा भवबंधन ? ।
पोथियां बांधे रखीं तो पठन। होगा कैसे ? ।। ३९४ ।।

या आंखें ली कस कर मींच। और नाक सम्मुख रखे सुभाषित ।
तो कैसे कोई जाने पार्थ। भारी मूल्य उनका ? ।। ३९५ ।।

वैसे चित्त में हो अहंता। और मुख में शास्त्रज्ञता ।
ऐसे शतजन्म पर भी भ्राता। मेरी प्राप्ति असम्भव ।। ३९६ ।।

जो मैं एक समस्त। व्यापता हूँ भूतजात ।
उसकी स्वरूप प्राप्ति निश्चित। कैसे, बताता हूँ ।। ३९७ ।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।। १२ ।।

सूर्यसमेत, सुभद्रापति। विश्वरचना को दिखाती ।
सर्वत्र जो फैली दीप्ति। है मेरी ही ।। ३९८ ।।

सूर्य जल को जब सोखता। फिर देता जो आर्द्रता ।
वह चन्द्रप्रभा भी भ्राता। मेरी ही जानो ।। ३९९ ।।

दहन अथवा पाचन। जिससे करता हुताशन।
वह तेज भी सम्पूर्ण। मेरा ही है ।।४००।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।। १३ ।।

मैं हूँ नीचे भूतल के भी। अतः थाह महासागर की।
पृथ्वी को, जो भेली माटी की। घुला सकती नहीं ।।४०१।।

और जो भूत चराचर। मैंने धारण किये अपार।
उनका भी आधार। मैं स्वयम् हूँ ।।४०२।।

आकाश में अमृत मधुर। मानो जंगम सरोवर।
मैं ही बना हूँ, धनुर्धर। चन्द्र रूप में ।।४०३।।

वहाँ किरणों के अपार। नहर बना के निरन्तर।
सभी औषधियों का भरपूर। पोषण हूँ करता ।।४०४।।

नाना अनाज उगा कर। अन्नसमृद्धता लाकर।
भूतमात्र का पोषण। करता हूँ प्रेम से ।।४०५।।

यदपि पकाया अन्न। उसका हो उचित पाचन।
सब जीवों को समाधान। मिलना चाहिए ।।४०६।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। १४ ।।

अतः उदर में प्राणिमात्र के। कंद पर नाभिस्थान के।
रूप में जठराग्नि के। मैं ही रहता हूँ ।।४०७।।

दो फुँकनियाँ प्राण-अपान। चालू रखता रात-दिन।
और पचाता उदर में अन्न। न जाने कितना ।।४०८।।

शुष्क ओर सुस्निग्ध। सुपक्व और अग्निदग्ध।
ऐसे अन्न चतुर्विध। मैं ही पचाता हूँ ।।४०९।।

मैं ही हूँ सकल जन। अन्नरूप में उनका जीवन।
और अन्न का मुख्य साधन। अग्नि भी मैं ।। ४१० ।।

और अब, सुभद्रापति। क्या बताऊँ अपनी व्याप्ति।
विश्व में मुझ बिन, कहे श्रीपति। कुछ भी नहीं ।। ४११ ।।

तो फिर इस जगत में। कुछ अत्यन्त सुख में।
और कुछ अतीव दुःख में। क्यों दिखते हैं ? ।। ४१२ ।।

किसी नगर के दीप समस्त। एक ज्योति से प्रज्ज्वलित।
उनमें कुछ की ज्योति मंद। क्यों होती है ? ।। ४१३ ।।

ऐसे वितर्क अर्जुन। उठते हों तुम्हारे मन।
करने उनका निवारण। मैं सिद्ध हूँ ।। ४१४ ।।

मैं सर्वत्र ओतप्रोत। इसे जानो सुनिश्चित।
किन्तु जो जैसे सोचत। उन्हें दिखता वैसे ।। ४१५ ।।

आकाश का शव्द गुण। सर्वत्र होता समान।
किन्तु भिन्न वाद्यों से भिन्न। प्रकटता है ।। ४१६ ।।

सूर्य का प्रकाश गुण। सर्वत्र एक समान।
उपयोग उसके विभिन्न। जन-व्यवहार में ।। ४१७ ।।

जल एक, पर बीजानुसार। धरता नाना आकार।
वैसे अनेक जीवानुसार। स्वरूप मेरा प्रकटता ।। ४१८ ।।

नीलमणियों का सुन्दर हार। मूर्ख को लगता सर्प घोर।
किन्तु उसे देखकर चतुर। सुखी होते ।। ४१९ ।।

स्वाती बूँदें सीप में मोती। सर्पमुख में वे ही विष होतीं।
वैसे मुझमें सुख-दुःख की प्राप्ति। करते ज्ञानी अज्ञानी ।। ४२० ।।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।। १५ ।।

सबके हृदय में गुड़ाकेश। 'मैं अमुक हूँ' यह मतिविशेष ।
जो प्रकटता अभिनिवेश। वह मैं ही हूँ ।। ४२१ ।।

किन्तु संगत सन्तों की। दृढ़ साधना योग की ।
और सेवा गुरुचरणन की। वैराग्यपूर्ण ।। ४२२ ।।

ऐसा करते सदाचरण। और आत्मरूप अहं-दर्शन ।
उनका सम्पूर्ण अज्ञान। नष्ट होता ।। ४२३ ।।

ज्ञानदृष्टि से स्वरूपदर्शन। होते ही पाते सुख सम्पूर्ण ।
इसे तत्वतः नहीं कारण। मेरे सिवा दूसरा ।। ४२४ ।।

सूर्योदय पर सूर्यदर्शन। होने सूर्य ही कारण ।
वैसे होने मेरा ज्ञान। कारण मैं ही ।। ४२५ ।।

देहपरायणों की सेवा कर। संसार-महिमा सुन कर ।
रहती देह में उलझ कर। अहंता जिनकी ।। ४२६ ।।

स्वर्ग-संसार-सुख के लिए। वे कर्मकाण्ड करते नये ।
भाग्य में उनके लिए। अंत में केवल दुःख ।। ४२७ ।।

इस दुःख की जड़ अर्जुन। है मेरे प्रति अज्ञान ।
जैसे स्वप्न निद्रा की जड़। होती जागृति में ।। ४२८ ।।

अभ्र ने सूर्य को ढँका। सूर्य से ही ज्ञान इसका ।
वैसे मेरे ऐवज में विषय आँका। मेरे कारण ही ।। ४२९ ।।

निद्रा अथवा जागरण। प्रबोध इसका मूल कारण ।
वैसे ज्ञान-अज्ञान का कारण। मैं ही अकेला ।। ४३० ।।

जैसे सर्प अथवा डोर का। भास डोर के कारण होता ।
वैसे ज्ञान-अज्ञान के व्यवहार का। कारण मैं ही ।। ४३१ ।।

मेरा स्वरूप है जैसा। वेद ने भी न जाना वैसा।
मुझे जानने लगा जैसा। शाखाएँ हुईं वेद की ।। ४३२ ।।

मुख्य वेद शाखाएँ तीन। करतीं मेरा ही वर्णन।
पूर्व-पश्चिम वाहिनियाँ लीन। जैसी एक सागर में ।। ४३३ ।।

वातलहरें गंध-लीन। आकाश में होतीं विलीन।
वेसे सशव्द श्रुति का विलोपन। महासिद्धान्त के पास ।। ४३४ ।।

जहाँ समस्त श्रुतिजात। सलज्ज रुक जात।
उस ब्रह्म को यथावत। मैं ही करता ।। ४३५ ।।

जिसमें श्रुतिसमेत अशेष। खो जाता विश्व निःशेष।
उस आत्मज्ञान का विशेष। मैं ही ज्ञाता ।। ४३६ ।।

जैसे नींद से जागते, भ्राता। स्वप्न का द्वैत जाता।
वल्कि अकेलापन होता। अपना ज्ञात ।। ४३७ ।।

वैसे अपनी अद्वैतता। द्वैत बिना मैं ही जानता।
उस बोध का भी ज्ञाता। मैं ही होता हूँ ।। ४३८ ।।

कपूर में अग्नि लगता। सारा कपूर जल जाता।
अन्त में कुछ भी न रहता। कपूर या अग्नि ।। ४३९ ।।

वैसे अज्ञान को जलाता। ज्ञान भी लोप हो जाता।
तब 'अस्ति-नास्ति' अशक्य होता। प्रतिपादन ब्रह्म का ।। ४४० ।।

जो विश्व की चोरी करे। उसकी खोज कहाँ करें ?।
उस विशुद्ध दशा को अवधारें। जान स्वरूप मेरा ।। ४४१ ।।

चराचर में अपनी व्याप्ति। यों समझा कर कैवल्यपति।
लेने लगे विश्रान्ति। निरुपाधि के स्वरूप में ।। ४४२ ।।

पूर्ण चन्द्र आकाश में। विम्बित क्षीरसागर में।
वैसे यह निबोध मानस में। उतरा पार्थ के ।। ४४३ ।।

जैसे चिकनी दीवार पर। सामने बिम्बित चित्र ।
वैसे समसमान बोध। कृष्ण और अर्जुन में ।। ४४४ ।।

ज्यों-ज्यों आत्मबोध बढ़ता। स्वानन्द जाता बढ़ता ।
अतः अर्जुन है कहता। अनुभवियों का राजा जो ।। ४४५ ।।

प्रसंगानुसार देवता। बताई अपनी व्यापकता ।
और निरुपाधिकता। हार्दिकता से ।। ४४६ ।।

यही निरुपाधिक का ज्ञान। उकेर कर बताइए पुनः ।
सुन अर्जुन का अभिनन्दन। किया श्रीकृष्ण ने ।। ४४७ ।।

अर्जुन, हमें तो सदैव। यही बताने का चाव ।
किन्तु क्या कहें, दुर्दैव। पूछने वाला नहीं ।। ४४८ ।।

आज मनोरथ पूर्ण हो गया। पूछनेवाला मिल गया ।
तुमने पूरे मन से प्रश्न किया। निरुपाधिक स्वरूप का ।। ४४९ ।।

अद्वैतानुभव के अनन्तर। जिसे भोगे निरन्तर ।
वह भोगने स्वानंदसार। सहायक तुम हुए ।। ४५० ।।

निर्मल दर्पण में देख कर। स्वरूप होता दृग्गोचर ।
तुम्हारा प्रश्न धनुर्धर। लगता वाकई वैसा ।। ४५१ ।।

तुम पूछो अज्ञता से। और हम बतायें सुज्ञता से ।
अपने संवाद को ऐसे। न मानो, मित्र ।। ४५२ ।।

इतना कह गले लगाया। कृपादृष्टि से देख लिया ।
फिर अर्जुन से संवाद किया। क्या-क्या सुनिए ।। ४५३ ।।

होंठ दो, किन्तु बोलना एक। पैर दो पर चलना एक ।
वैसे पूछना और कहना एक। तुम्हारा मेरा ।। ४५४ ।।

तुममें और मुझमें पार्थ। तत्वतः है अद्वैत ।
वक्ता-श्रोता का भी द्वैत। नहीं कतई ।। ४५५ ।।

इतना कहते देव लुभाया। अर्जुन को गले लगाया।
डरते-डरते कह गया। इतना प्रेम नहीं ठीक ।। ४५६ ।।

भेली बनाने इक्षुरस की। आवश्यकता क्षार की।
लेने मजा संवादसुख की। वैसे द्वैत आवश्यक ।। ४५७ ।।

अर्जुन नर, मैं नारायण। हम दोनों नहीं भिन्न।
अतः यह प्रेमावेग हो विलीन। मुझ ही मैं ।। ४५८ ।।

ऐसा द्वैत जगाकर। अर्जुन से पूछता श्रीधर।
अभी तुमने धनुर्धर। प्रश्न क्या किया था ।। ४५९ ।।

श्रीकृष्ण में अर्जुन। हो गया था तल्लीन।
सम्भल कर दे अवधान। सुनी बात कृष्ण की ।। ४६० ।।

गद्गद् हो भरे गले से। अर्जुन ने कहा श्रीकृष्ण से।
बताइए अब स्पष्टता से। अपना रूप निरुपाधि ।। ४६१ ।।

रूप समझाने निरुपाधि। पहले बताते कृपानिधि।
दो प्रकार की उपाधि। अर्जुन को ।। ४६२ ।।

पूछा था रूप निरुपाधि। फिर क्यों बताई उपाधि ?।
ऐसे सन्देह की व्याधि। यदि हो किसी को ।। ४६३ ।।

वे जाने छाछ को हटाना। है नवनीत निकालना।
अशुद्धता हटा कर सोना। मिलता शुद्ध ।। ४६४ ।।

दूर हटाते शेवाल। सहज मिलता शुद्ध जल।
सहज स्वच्छ नभ विशाल। अभ्र हटते ।। ४६५ ।।

करते धान का कंडन। भूसा निकालता छाजन।
फिर तण्डुल लेते बीन। बाधा कैसी? ।। ४६६ ।।

वैसे निरुपाधि की, भ्राता। उपाधि हटाते सर्वथा।
अवशिष्ट हो रहता। वही निरुपाधिक ।। ४६७ ।।

होते पति का नामोच्चारण। वधु देती मौन पहचान।
वैसे श्रुति शब्द के बिन। निरुपाधि जताती ।। ४६८ ।।

स्वरूप बताया न जाय जिसका। बाह्य वर्णन करने उसका।
अतः वर्णन उपाधि का। करते श्रीकृष्ण ।। ४६९ ।।

प्रतिपदा की चन्द्ररेखा। दिखाने बताते वृक्षशाखा।
वैसे परिचय बाह्य का। कराते हैं ।। ४७० ।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। १६ ।।

अर्जुन से कहते चक्रधर। संसार को जानो पाटनगर।
यहाँ रहते धनुर्धर। पुरुष दो ही ।। ४७१ ।।

जैसे आकाश में सम्पूर्ण। रहते रात और दिन।
संसार रजधानी में अर्जुन। रहते ये दोनों ही ।। ४७२ ।।

और एक तीसरा पुरुष। इसका नाम भी जिसे न रास।
ग्रामसमेत इनका ग्रास। प्रकट होते ही खाता ।। ४७३ ।।

अस्तु बात तीसरे की। पहले बताऊँ उन दोनों की।
जिन्होंने रहने संसार ग्राम की। बस्ती को चुना ।। ४७४ ।।

एक पंगु पागल अन्ध। दूसरा सर्वांगसमृद्ध।
किन्तु दोनों हुए सम्बद्ध। कारण एक ग्राम के ।। ४७५ ।।

एक का नाम है क्षर। दूसरे का है अक्षर।
दोनों ने संसारनगर। व्याप लिया पूरा ।। ४७६ ।।

अब क्षर यानी कौन?। अक्षर के क्या लक्षण ?।
इसका विवेचन सम्पूर्ण। बताऊँगा विस्तार से ।। ४७७ ।।

महतत्त्व अहंकार से पार्थ। तृण के अन्तिम अग्रपर्यन्त।
जो-जो है निर्मित। इस विश्व में ।। ४७८ ।।

जो लघु या महान। जड़ हो, अथवा चेतन।
बल्कि बुद्धि और मन। जिसे गोचर करते ॥ ४७९ ॥

पंचभौतिक जो-जो होता। जिसका नाम रूप होता।
अन्तर्भूत जो-जो होता। गुणत्रय में ॥ ४८० ॥

सिक्का भौतिक आकार का। बनता जिस सोने का।
जिस धन से काल का। जुआ चलता है ॥ ४८१ ॥

विपरीत ज्ञान से आकलन। क्षण-क्षण जिसका निर्माण।
और वैसे ही विलोपन। होता, धनंजय ॥ ४८२ ॥

भ्रान्ति की वास-बल्लियाँ। लगा बनाता सृष्टि-कुटिया।
जिसे नाम दिया दुनिया। सभी जनों ने ॥ ४८३ ॥

अष्टधा प्रकृति सातवें अध्याय में। क्षेत्र नाम से तेरहवें में।
छत्तीस प्रकार से विस्तार में। किया वर्णन जिसका ॥ ४८४ ॥

अस्तु वे नाना प्रकार। इसी अध्याय में सविस्तार।
वर्णन जिसका वृक्षाकार। किया हमने ॥ ४८५ ॥

अर्जुन ये सभी आकार। मान कर अपने नगर।
चैतन्य लिये नाना आकार। सर्वत्र खड़ा है ॥ ४८६ ॥

सिंह जेसे कूप में। निज बिम्ब देखता पानी में।
और फिर क्रोध में। कूद पड़ता है ॥ ४८७ ॥

आकाश जल में व्याप्त। वही उसमें होता बिम्बित।
वैसे चैतन्य यदपि अद्वैत। द्वैत है होता ॥ ४८८ ॥

ऐसी नगरी आकारयुक्त। स्वरूप में ही कर कल्पित।
आत्मा निद्रा लेता सतत। विस्मृति की ॥ ४८९ ॥

स्वप्न में ढूँढ़े बिछौना। उस पर सोये लिये सिरहाना।
वैसे नगर में सोना। इस पुरुष का ॥ ४९० ॥

गहरी निद्रा में अज्ञान की। उफान में अहं-ममता की ।
कहते हुए मैं सुखी-दुःखी। बर्राता चैतन्य ।। ४६१ ।।

यह पिता, यह माता। मैं गोरा, यह पूरा कलूटा ।
पुत्र, वित्त, कान्ता। मेरे ही हैं ये ।। ४६२ ।।

ऐसे विविध सपनों में। दौड़ता इह-पर वनों में ।
इस चैतन्य को जगत में। कहते क्षर पुरुष ।। ४६३ ।।

जिन्हें सभी तत्वज्ञ। जानते कह क्षेत्रज्ञ ।
या विश्व में जो प्रसिद्ध। जीवदशा नाम से ।। ४६४ ।।

जो स्वरूप को भुला कर। भूतमात्र में वास कर ।
रहता उस आत्मा को क्षर। कहते हैं जन ।। ४६५ ।।

जो तत्त्वतः स्वरूप में पूर्ण। देह ग्राम में करता शयन ।
ये हैं दो कारण। पुरुष संज्ञा के ।। ४६६ ।।

और क्षरता का पार्थ। इस पुरुष पर व्यर्थ ।
आरोप आया सर्वत्र। उपाधिवश ।। ४६७ ।।

जैसे, कलकलाते जल में। चन्द्र चंचल दिखता हमें ।
वैसे, विकारों की उपाधि में। आत्मा दिखता विकारी ।। ४६८ ।।

जलाशय जब सूख जाता। चन्द्रबिम्ब लुप्त होता ।
वैसे उपाधि लोप से लगता। चैतन्य लुप्त ।। ४६९ ।।

यों उपाधि के सम्पर्क में। क्षणिकता लगती आत्मा में ।
अतः उसे प्राप्त जगत में। क्षर नामाभिधान ।। ५०० ।।

यों अखिल जीव-चैतन्य। वह क्षर पुरुष है सामान्य ।
अब सुनो असामान्य। अक्षर पुरुष कैसा ।। ५०१ ।।

जैसे सभी पर्वतों में। मेरू स्थित मध्य में ।
वैसे मध्य माया-ब्रह्म में। अक्षर पुरुष ।। ५०२ ।।

पृथ्वी स्वर्ग पाताल में। मेरू न भिन्न रूप में।
वैसे ज्ञान-अज्ञान में। अक्षर पुरुष अभिन्न ।। ५०३ ।।

यथार्थ ज्ञान से ऐक्य पाता। अन्यथा ज्ञान से द्वैत लेता।
दोनों प्रकारों को जानता। है उसका स्वरूप ।। ५०४ ।।

माटी रूप लोप हो गया। घटाकार नहीं आया।
उस ढेले - सा जिसे आया। मध्य स्वरूप ।। ५०५ ।।

सागर जल सोखा जाता। तरंग या नीर नहीं रहता।
यह निराकार दशा भ्राता। है अक्षर पुरुष ।। ५०६ ।।

समाप्त हो गयी जागृति। स्वप्नावस्था की न प्राप्ति।
ऐसी जो निद्रा स्थिति। वैसी उसकी अवस्था ।। ५०७ ।।

विश्वाभास हुआ अस्त। आत्मबोध नहीं उदित।
ऐसी अज्ञानमय दशा पार्थ। अक्षर कहलाती ।। ५०८ ।।

श्रुति अजा कहती। अजा यानी जन्मा नहीं।
उसका कैसे नाश भाई ?। अतः अज्ञान घन अक्षर ।। ५०९ ।।

सकल कला विरहित। चन्द्रता अमा में स्थित।
वैसे शुद्धाशुद्ध ज्ञानरहित। अज्ञान है अक्षर ।। ५१० ।।

सर्व उपाधियाँ होते नष्ट। जहाँ जीवदशा होती प्रविष्ट।
पके फल के बीज में वृक्ष। होता जैसे ।। ५११ ।।

वैसे उपाधि और उपाधिमुक्त। जहाँ होते हैं विश्रान्त।
वही स्थान है ज्ञात। अव्यक्त नाम से ।। ५१२ ।।

वेदान्त शास्त्रों में पार्थ। जिसे बीजभाव नाम प्राप्त।
वही जानो सुनिश्चित। स्थान अक्षर का ।। ५१३ ।।

जहाँ से विपरीत ज्ञान। फैलाता जागृति स्वप्न।
और नाना मति का ज्ञान। बढ़ा वहाँ से ।। ५१४ ।।

जहाँ से विश्वसमेत। जीवभाव होता उत्पन्न।
जीव-विश्व का संगम-स्थान। वही अक्षर पुरुष ।। ५१५ ।।

क्षर पुरुष जो जन में। खेलता जागते स्वप्न में।
वे दोनों अवस्थायें। उत्पन्न जिससे ।। ५१६ ।।

जो अज्ञानघन अवस्था। सुषुप्ति नाम से ख्याता।
उसी को कहते हैं ब्रह्मावस्था। किन्तु एक कमी ।। ५१७ ।।

उस सुषुप्ति के अनन्तर। न आता स्वप्न-जागर।
तो यही स्थिति धनुर्धर। होती ब्रह्मावस्था ।। ५१८ ।।

किन्तु प्रकृति-पुरुष उदित। इस सुषुप्ति नभ में पार्थ।
स्वप्न में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ। देखे जिसने ।। ५१९ ।।

नीचे इस संसारतरु के। फैलाव जिन शाखाओं के।
मूल कारण को उनके। कहते अक्षर पुरुष ।। ५२० ।।

यह पूरी तरह पड़ा रहता। मायापुरी में शयन करता।
इसीलिए कहलाता। पुरुष यह ।। ५२१ ।।

जहाँ न होते विकार। या विपरीत ज्ञान-प्रकार।
वही सुषुप्ति धनुर्धर। स्वरूप इस पुरुष का ।। ५२२ ।।

अपने आप स्वभावतः। यह तत्त्वज्ञानातीत।
क्षरण नहीं भारत। इसे सर्वथा ।। ५२३ ।।

अतः शास्त्र वेदान्त। बताते जो महासिद्धान्त।
उनमें इसका प्रख्यात। अक्षर नाम ।। ५२४ ।।

जीव कार्य का कारण। माया उपाधिक चैतन्य।
उसे ही जानो अर्जुन। अक्षर पुरुष ।। ५२५ ।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। १७ ।।

स्वप्न और जागृति। है विपरीत ज्ञान स्थिति।
दोनों विलीन होतीं। जिस प्रगाढ़ अज्ञान में ।। ५२६ ।।

वह अज्ञान ज्ञान में डूबता। ज्ञान भी आगे लुप्त होता।
जैसे, वन्हि काष्ठ को जलाता। लुप्त होता अन्त में ।। ५२७ ।।

वैसे, नष्ट कर अज्ञान। ज्ञान देता ब्रह्मत्व अर्जुन।
फिर शेष रहता जाने बिन। जानना जो ।। ५२८ ।।

वही उत्तम पुरुष धनुर्धरा। जो तत्त्वतः है तीसरा।
क्षर और अक्षर से परा। निराला ही ।। ५२९ ।।

सुषुप्ति और स्वप्न। इनके अनुभव भी भिन्न।
तीसरा दोनों से भिन्न। जागृति का ।। ५३० ।।

मृगजल और रविकिरण। सूर्य इनसे होता भिन्न।
वैसे क्षर अक्षर से भिन्न। उत्तम पुरुष निराला ।। ५३१ ।।

जैसे अग्नि काष्ठ का। काष्ठ से होता निराला।
वैसे उत्तम पुरुष निराला। क्षराक्षर से ।। ५३२ ।।

नद नदियों को एकत्र कर। अपनी मर्यादा लाँघ कर।
कल्पान्त में परिपूर्ण सागर। उमड़ता जैसे ।। ५३३ ।।

जैसे रात और दिन। प्रलय-तेज में होते लीन।
वैसे जागृति और स्वप्न। लोपते जहाँ ।। ५३४ ।।

फिर द्वैत अद्वैत न रहता। होना न होना अशेष होता।
अनुभव मर जाता। जिसके सम्मुख ।। ५३५ ।।

ऐसे जो अवर्णनीय है। वही उत्तम पुरुष है।
परमात्मा की संज्ञा है। प्राप्त जिसे ।। ५३६ ।।

उस अवस्था में गये बिना। जीवदशा की बात करना।
है किनारे पर बतियाना। डूबने के बारे में ।। ५३७ ।।

वैसे विवेक-सिन्धु के तट पर। खड़े रहकर धनुर्धर।
वेद रहे हैं कर। बातें परमार्थ की ।। ५३८ ।।

अतः पुरुष क्षर-अक्षर। दोनों को देख अपर।
इस आत्मरूप को पर। कहते वेद ।। ५३९ ।।

इसी प्रकार अर्जुन। परमात्मा शब्द से सूचन।
पाता है जो अन्तःकरण। उसे पुरुषोत्तम जानो ।। ५४० ।।

जहाँ मौन ही है कथन। जानना ही है ज्ञान।
कुछ न होना ही सम्भवन। होता पार्थ ।। ५४१ ।।

जहाँ 'सोऽहं' भाव अस्त होता। कथक ही कथ्य बनता।
दृश्य का भी विलय होता। द्रष्टासमेत ।। ५४२ ।।

बिम्ब प्रतिबिम्ब में। प्रभा नहीं कैसे कहें ?।
किन्तु वह प्रतीति में। आती भी नहीं ।। ५४३ ।।

नाक और फूल में। सुगंध होता जो मध्य में।
दिखता नहीं फिर भी न है। कहें कैसे ? ।। ५४४ ।।

वैसे दृश्य-द्रष्टा भेद जाता। तो न जाने क्या रहता।
किन्तु जो प्रतीत होता। वही परमात्मा पार्थ ।। ५४५ ।।

प्रकाश बिन जो प्रकाश। नियमबिन जो नियामक।
अवकाश का व्यवस्थापक। स्वरूप में जो ।। ५४६ ।।

नाद जिसका सुनता नाद। स्वाद चखता आस्वाद।
जिसको भोगता आनन्द। आनन्द स्वयमेव ।। ५४७ ।।

जहाँ सुख को सुख होता। जहाँ तेज को तेज मिलता।
शून्य भी डूब जाता। जिस महाशून्य में ।। ५४८ ।।

जो पूर्णता का परिणाम। पुरुष जो सर्वोत्तम।
विश्रान्ति का भी विश्राम। जहाँ लेता विश्रान्ति ।। ५४९ ।।

जो शेष विश्व को व्याप कर। शेष निःशेष को ग्रस कर।
बहुगुणा बहुत से बहुत। बहुतेरा ।। ५५० ।।

सीपी चाँदी न होती। किन्तु अज्ञानी को देती।
केवल चाँदी की प्रतीति। धनंजय! ।। ५५१ ।।

या अलंकार-दशा में पार्थ। सोना बिना छिपे रहता लुप्त।
वैसे विश्व बिना हुए जगत। धारण करता जो ।। ५५२ ।।

तरंग और पानी अर्जुन। जैसे होते अभिन्न।
वैमे विश्व से अभिन्न। अस्तित्व जिसका ।। ५५३ ।।

अपने संकोच विकास का। जो स्वयम् ही मूल होता।
कारण प्रतिबिम्ब का। चन्द्रमा जैसे ।। ५५४ ।।

जो विकास में न विकसता। विनाश में न नष्ट होता।
जैसे सूर्य को भेद न होता। दिन या रात में ।। ५५५ ।।

वैसे जो कहीं न होता। किसी से नाश न पाता।
जिसका सानी होता। स्वयमेव ही ।। ५५६ ।।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। १८ ।।

जो अपने आपको अर्जुन। करता है प्रकाशमान।
उसे दूजा उपमान। होता नहीं ।। ५५७ ।।

वही मैं निरुपाधिक। क्षर-अक्षर से उत्तम एक।
अतः वेद और लोग। कहते मुझे पुरुषोत्तम ।। ५५८ ।।

यो मामेवसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।। १९ ।।

ज्ञानसूर्य है पार्थ। जिसमें होता उदित।
उसने कूता तत्वतः। पुरुषोत्तम रूप मेरा ।। ५५९ ।।

उदित होते आत्मज्ञान। मिथ्या लगता त्रिभुवन।
जैसे व्यर्थ होता स्वप्न। जाग जाते ।। ५६० ।।

माला हाथ में लेते ही। सर्पभास रहता नहीं।
वैसे आत्मबोध के आते ही। मिथ्या भास लोपता ।। ५६१ ।।

जो भूषण में स्वर्ण जानता। उसे भूषण मिथ्या लगता।
वैसे आत्मज्ञान से भ्राता। भेद मिथ्या लगते ।। ५६२ ।।

सर्वत्र, कहे सच्चिदानन्द। मैं ही एक स्वयंसिद्ध।
निजसहित सारे भेद। यों भुलाये जिसने ।। ५६३ ।।

उसे ही मिला संकल्प-ज्ञान। ऐसा कहना भी न्यून।
सकल में जो द्वैत, अर्जुन। वही उसमें न होता ।। ५६४ ।।

ऐसा अद्वैती जो होता। वही मुझे भजने पात्र होता।
गगन को बाँहों में भरने, भ्राता। जैसे गगन ही पात्र ।। ५६५ ।।

क्षीरसागर बने आपुन। फिर क्षीरसागर को दे भोजन।
अथवा अमृत में हो विलीन। अमृतस्वरूप ।। ५६६ ।।

स्वयं बने शुद्ध सुवर्ण। तभी स्वर्ण में हो विलीन।
वैसे मेरी भक्ति सम्भव अर्जुन। मद्रूप हो कर ही ।। ५६७ ।।

गंगा सागर से भिन्न होती। तो कैसे उसमें मिल पाती ?।
वैसे मद्रूप हुए बिना भक्ति। सम्भव कैसे ? ।। ५६८ ।।

कल्लोल सब प्रकार के जैसे। अभिन्न होते सागर जल से।
वाकई में अभिन्न वैसे। होता मेरा भक्त ।। ५६९ ।।

प्रभा और सूर्य में पार्थ। जैसे अद्वैत होता नित्य।
वैसे मुझसे एकता सत्य। अद्वैती भक्त की ।। ५७० ।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।। २० ।।

उपनिषदों का दिव्य कमल। उससे निकला जो परिमल।
सभी शास्त्रों का वही निर्मल। सार यहाँ बताया।।५७१।।

शब्द ब्रह्म का मंथन। व्यास-प्रज्ञा ने किया पूर्ण।
उसका यह सार अर्जुन। निकाला हमने।।५७२।।

यह ज्ञानामृत की जाह्नवी। आनन्द-कन्द की कला सत्रहवीं।
विचार-क्षीरसागर की नयी। लक्ष्मी यह गीता।।५७३।।

अतः इसके वर्ण-पदों में। या प्राणभूत अर्थ में।
मेरे बिन गीताहृदय में। अन्य कुछ भी नहीं।।५७४।।

क्षराक्षर आते इसके सम्मुख। धिःकारा उनका पुरुपत्व।
सर्वस्व किया समर्पित। मुझ पुरुषोत्तम को।।५७५।।

अतः अब तक तुमने भ्राता। जो श्रवण करी गीता।
वह धर्मपत्नी पतिव्रता। प्रख्यात मेरी।।५७६।।

यह प्रवचन का नहीं शास्त्र। है संसार-विजय का अस्त्र।
अक्षर इसके दिव्य मंत्र। आत्म प्राप्ति के।।५७७।।

तुम्हारे सम्मुख यह निवेदन। ऐसे मानो अर्जुन।
जैसे अपना गुप्त धन। बाहर निकाला।।५७८।।

गीता गंगा को मस्तक पर। धारता मैं चैतन्य-शंकर।
गोतम-सम तुमने बाहर। निकाला उसे आस्था से।।५७९।।

निर्मल दर्पण में पार्थ। सामने की चीज़ बिम्बित।
वैसे आत्मस्वरूप को व्यक्त। करता दर्पण तुम मेरा।।५८०।।

जैसे नभ चन्द्र-तारों सहित। सागर में होता बिम्बित।
वैसे हृदय में गीतासहित। लिया तुमनें मुझे।।५८१।।

अंतर के त्रिविध मल। धोकर तुम हुए निर्मल।
तभी बने हो निवास-स्थल। गीतासहित मेरा।।५८२।।

और क्या बताऊँ भ्राता। यह गीता मेरी ज्ञानलता।
इसका रहस्य जो जानता। होता मोहमुक्त ।।५८३।।

सेवन करते अमृत सरिता। रोगों का निर्मूलन होता।
प्राप्त होती अमरता। सर्वोपरि ।।५८४।।

वैसे करते गीता-सेवन। मोहों का होता निर्मूलन।
आत्मस्वरूप में विलीन। होता आत्मबोध ।।५८५।।

आत्मज्ञान का उदय होता। तो कर्म को आती निष्कर्मता।
अन्त में वह विलीन होता। कृतज्ञता से ।।५८६।।

खोयी वस्तु मिल जाती। तो खोज समाप्त होती।
कर्मप्रसाद पर चढ़ाती। ज्ञानशिखर ।।५८७।।

अतः जिसे ज्ञान प्राप्त। उसका कर्म होता समाप्त।
ऐसे बोला भगवंत। नाथ अनाथों का ।।५८८।।

वह श्रीकृष्ण वचनामृत। पार्थ हृदय में ओतप्रोत।
व्यास कृपा से हुआ प्राप्त। संजय को ।।५८९।।

उसे ही वह धृतराष्ट्र को। दे रहा था पीने को।
तभी जीवनान्त उसको। कठिन लगा नहीं ।।५९०।।

अन्यथा गीतामृत प्राशन का। अधिकार न था धृतराष्ट्र का।
किन्तु अन्त में प्रकाश ज्ञान का। उसी ने दिया उसे ।।५९१।।

अंगूरलता में डाले दूध। तो लगता गया व्यर्थ।
किन्तु फसल आती द्विगुणित। मधुरता लिये ।।५९२।।

वैसे श्रीकृष्ण के वचन। संजय ने सादर किये कथन।
उनसे सुखी वह नेत्रहीन। हुआ कालान्तर से ।।५९३।।

वह वचनामृत स्वभाषा में। टेढ़ी-मेढ़ी शैली में।
यथामति यहाँ मैंने। किया प्रस्तुत ।।५९४।।

सेवंती का फूल नहीं होता। लिए कोई विशेषता ।
किन्तु भ्रमर ही सही जानता। उसके गुण ।।५६५।।

वैसे मान्य हो वही स्वीकारें। अमान्य को मुझे लौटा दें ।
अबोधता को ही अवधारें। लक्षण बालक का ।।५६६।।

देख बालक की अबोधता। प्रसन्न होते माता-पिता ।
बल्कि उनका हर्ष बढ़ता। सकौतुक ।।५६७।।

आप मातुपिता को देखकर। मैंने जो कहा सहेज कर ।
वही यहाँ ग्रन्थरूप ले कर। प्रकट हुआ है ।।५६८।।

मेरा विश्वात्मक स्वामी। निवृत्तिराज अन्तर्यामी ।
वाङ्मय पूजा स्वीकारे मेरी। कहे ज्ञानदेव ।।५६९।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
पुरुषोत्तमयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय पन्द्रहवाँ ।।



।। अध्याय सोलहवाँ ।।

अद्‌भुत भास्कर हो उदित। करता विश्वाभास का अस्त ।
अद्वैत कमल विकसित । प्रणाम शत-शत उसे ।। १।।

जो अविद्या रात निवारता। ज्ञान अज्ञान के तारे लीलता ।
ज्ञानियों के लिए लाता। दिवस आत्मबोध का ।। २।।

जिसका उदय होते सृष्टि। आत्मज्ञान की पाती दृष्टि ।
छोड़ जाते जीव-पक्षी। देह-अहंता के घरौंदे ।। ३।।

लिंगदेह कमल के भीतर। बंदी जो जीव-भ्रमर ।
वह मुक्त हो जाता सत्वर। जिसके उदय से ।। ४।।

शब्द-जंजाल से समस्त। बुद्धिबोध होते वियुक्त ।
भेद नदी के दो कूलों पर। विरह में चिल्लाते ।। ५।।

उनके मैथुन को उन्मेष। समरसता का सन्तोष ।
चिद्‌गगन में देता सुरस। भुवनदीप जो ।। ६।।

जिसके उदय की पौ फटते। भेद के चोरप्रहर मिटते ।
स्वानुभव-पथ पर चल पड़ते। योगीप्रवर ।। ७।।

जिसकी विवेक किरणें प्रदीप्त। करतीं ज्ञान को सूर्यकान्त ।
जला कर करतीं भस्मसात। संसार वनों को ।। ८।।

जिसका किरण पुंज प्रखर। स्वरूप-मरु में होते स्थिर ।
आता मृगजल का पूर। महासिद्धि रूप में ।। ९।।

'सोऽहं' के मध्यान्ह प्रहर। जो प्रत्यग् बोध के माथे पर ।
आते ही भ्रान्ति-छाया काफूर। होती पैरों तले ।। १० ।।

माया निशा के बीतते। विश्व स्वप्न नष्ट होते ।
विपरीत ज्ञान निद्रा को सँभालते। भला कौन ? ।। ११ ।।

अत[illegible] [illegible]ैन बोध के नगर में। महदानन्द के ज्वार में ।
मं[illegible] ने विषयसुख के। व्यापार सभी ।। १२ ।।

बल्कि जिसका प्रकाश। सभी के लिए अशेष ।
करता मोक्ष का सुदिवस। निरन्तर ।। १३ ।।

आत्मरूप के नभ में नित्य। राज्य जिसका अबाधित ।
दिशासहित उदयास्त। जिसके प्रभाव से लोपते ।। १४ ।।

तम का नाश प्रकाशसहित। आत्मतेज करता प्रकाशित ।
ऐसा उदयकाल अद्‌भुत। अवर्णनीय ।। १५ ।।

जो दिन-रात के भी पार। कौन देखे ज्ञानभास्कर ? ।
जो करता प्रकाश-विस्तार। प्रकाश्य के बिना ।। १६ ।।

वह चित्सूर्य निवृत्ति। उसे बारम्बार प्रणति ।
शब्दों में उसकी स्तुति। अप्रस्तुत ।। १७ ।।

गुरुदेव की महिमा अपार। बताना हो सविस्तार ।
तो स्तव्य, स्तोता, स्तोत्र। यह भेद न रहे ।। १८ ।।

जिसे जानें सकल अबोध से। बखानें धारे मौन से ।
और प्राप्त करें जिसे। स्वयं को भी भुला कर ।। १९ ।।

सद्‌गुरु आपकी स्तुति हित। पश्यंति मध्यमा कर समाहित ।
परावाणी समर्थित। विलीन होती वैखरी ।। २० ।।

देव आपकी सेवा करने। पहनाऊँ स्तोत्र के गहने ।
स्वीकारो कहना मैंने। अद्वैत आपका खो देगा ।। २१ ।।

दरिद्र को दिखे अमृतसागर। औचित्य को बिसार कर ।
उसका करता स्वागत-सत्कार। साग-भाजी से ।। २२ ।।

तो साग-भाजी करें स्वीकार। उसके हर्ष का कर विचार ।
सूर्य की आरती में गुरुवर। भक्तिभाव ही देखें ।। २३ ।।

उचित-अनुचित का भान रहा। तो बालकपन कहाँ रहा ? ।
किन्तु माता को सदा रहा। कौतुक उसका ।। २४ ।।

गाँव का जल निस्सारण। आया गंगा की शरण ।
तो लौट जा ऐसा, भगवन। गंगा कहती क्या ? ।। २५ ।।

भृगु का कितना अपकार। किन्तु उसे जान प्रियोपचार ।
प्रसन्नता से शारंगधर। गुरुप्रसाद मानते ।। २६ ।।

अथवा तिमिर भरा आकाश। आवे सूर्य के सम्मुख ।
तो क्या वह उसे विमुख। लौटाता कभी ? ।। २७ ।।

वैसे भेदबुद्धि के पलड़े में। आपकी तुलना की सूर्य से ।
कृपावंत हो इसकी मुझे। क्षमा करें गुरुदेव ।। २८ ।।

जिन्होंने आपका किया ध्यान। वेदमन्त्रों से किया स्तवन ।
आपने किया सारा सहन। मेरा भी कीजिए वैसे ।। २९ ।।

आपका करने गुणवर्णन। ललचाया है मेरा मन ।
आधे में न छोड़ूँ, जाएँ प्राण। करें चाहें जो ।। ३० ।।

गीता आपका प्रसादामृत। निरूपणार्थ मैं प्रस्तुत ।
आपकी ही कृपा से प्राप्त। सामर्थ्य दूना ।। ३१ ।।

मेरी वाणी ने बहुत कल्प। किया सत्य-कथन का तप ।
गीता नामक महाद्वीप। फल उसी का ।। ३२ ।।

पुण्य सँजोये असाधारण। तभी आपका गुणवर्णन ।
मुझे भाग्य में कर प्रदान। ऋणमुक्त पुण्य हुए ।। ३३ ।।

जीवन के अरण्य में। फँसा था मरण गाँव में।
यह दुर्दशा आपने पल में। वार दी देव ।। ३४ ।।

गीता नामक आपकी कीर्ति। त्रिलोक में जानी जाती।
वह अविनाशी बलवती। मिली निरूपणार्थ ।। ३५ ।।

निर्धन के घर अकस्मात्। महालक्ष्मी हो प्राप्त।
तो भी उसे कैसे तात। मानें निर्धन ही ? ।। ३६ ।।

अथवा अन्धेरे के घर। भाग्य से पधारे भास्कर।
तो विश्व को वह अहंकार। क्यों न प्रकाश देगा ? ।। ३७ ।।

जिस देव की महिमा के समक्ष। विश्व नहीं अणुतुल्य।
वह भक्तिभाव के समकक्ष। क्या नहीं होगा ? ।। ३८ ।।

वैसे मेरा गीताकथन। नभपुष्प का अवघ्राण।
छन्द मेरा किया पूर्ण। अपने बल से ।। ३९ ।।

अतः आपका प्रसाद मान। मैं गीता का निरूपण।
करूँगा सविश्लेषण। ज्ञानदेव कहता ।। ४० ।।

पन्द्रहवें अध्याय में अविकल। शास्त्रसिद्धान्त सकल।
स्पष्ट बता चुके गोपाल। अर्जुन को ।। ४१ ।।

अच्छा वैद्य कर निदान। बताता रोग का कारण।
वैसे वृक्षरूपक से वर्णन। किया उपाधिरूप का ।। ४२ ।।

बताया, जो कूटस्थ अक्षर। उसी का पुरुष है प्रकार।
जो उपाधियुक्त आकार। चैतन्य का ।। ४३ ।।

उत्तम पुरुष शब्द द्वारा। आत्मतत्त्व को उकेरा।
स्वरूप बताया सारा। कृष्ण ने पार्थ को ।। ४४ ।।

आत्मप्राप्ति का मुख्य साधन। जो परमात्म तत्त्वज्ञान।
उसका भी विवेचन। सुस्पष्ट किया ।। ४५ ।।

अब इस अध्याय में यहाँ। कहने को कुछ नहीं रहा ।
अतः गुरुशिष्यों का कहा। रहा केवल प्रेम ।। ४६ ।।

इसका किया जो निरूपण। उससे सन्तुष्ट हुए सुज्ञ ।
किन्तु कोई मुमुक्षु जन। अतृप्त रहे ।। ४७ ।।

परमात्मा है पुरुषोत्तम। उससे मिलता तो ज्ञानी उत्तम ।
वही भक्ति की सीमा चरम। वही सर्वज्ञ सच्चा ।। ४८ ।।

पन्द्रहवें के अन्त में। यही कहा श्रीपति ने ।
ज्ञान की ही स्तुति उसमें। की है मुख्यतः ।। ४९ ।।

वह प्रपंच को एक घूँट में पीता। दर्शक को द्रष्टा बनाता ।
आनन्द सिंहासन पर करता। जीव का राज्याभिषेक ।। ५० ।।

इससे बढ़ कर ब्रह्मज्ञान का। उत्तम उपाय नहीं नीका ।
सम्यक् ज्ञान आत्मतत्त्व का। उपायों का राजा वह ।। ५१ ।।

सच्चे आत्मजिज्ञासुओं ने। सुसन्तुष्ट मानस से ।
उतारी आरती भक्तिभाव से। इस ज्ञानमार्ग की ।। ५२ ।।

मन को जो रास आता। उसी का स्मरण नित्य होता ।
यही वास्तव में होता। प्रेम का लक्षण ।। ५३ ।।

अतः जिज्ञासु मुमुक्षु जन। जो आत्मानुभव से विहीन ।
उनका लगा रहता मन। योगक्षेम में ज्ञान के ।। ५४ ।।

वह सम्यक् आत्मज्ञान। कैसे होगा स्वाधीन ? ।
और उसकी वृद्धि का जतन। होगा कैसे ? ।। ५५ ।।

ज्ञान हो ही नहीं उत्पन्न। हुआ तो उसे संकीर्ण ।
मार्ग पर ले जाता कौन। जानें पहले ।। ५६ ।।

फिर ज्ञान के प्रतिकूल जो। उसकी बाधा कैसे दूर हो ।
और ज्ञान के अनुकूल जो। जान ले उसे ।। ५७ ।।

ऐसा तत्त्वजिज्ञासु आपने। भाव धारा जो मन में ।
आपकी जिज्ञासा पूरी करने। बोलेंगे अब श्रीकृष्ण ।। ५८ ।।

करने को ज्ञानप्राप्ति। चित्त को दिलाने शान्ति ।
आवश्यक जो दैवी सम्पत्ति। उसका करेंगे निरूपण ।। ५९ ।।

जिसमें कामाकार ज्ञान होता। राग-द्वेष बहुत बढ़ता ।
कैसे होती वह आसुरी सम्पदा। समझाएँगे विस्तार से ।। ६० ।।

पूर्व नवम अध्याय में। इष्टानिष्ट कर्म-सन्दर्भ में ।
उभय सम्पत्तियाँ संक्षेप में। बतायी थीं ।। ६१ ।।

वहाँ दूसरा ही विचार। बताना था सविस्तार ।
अतः अब उसका विस्तार। करेंगे यहाँ ।। ६२ ।।

अन्य विषय का निरूपण। पन्द्रहवें अध्याय में परिपूर्ण ।
वहाँ किया जो बीजारोपण। सोलहवें में उगेगा ।। ६३ ।।

अस्तु, अब है प्रस्तुत। ज्ञानमार्ग में हिताहित ।
करने दो ही सम्पत्तियाँ समर्थ। दैवी तथा आसुरी ।। ६४ ।।

जो मोक्ष पथदर्शिका। मोह निशा की धर्म दीपिका ।
वर्णन उस दैवी सम्पत्ति का। सुनिए प्रथम ।। ६५ ।।

परस्पर के सहायकर। बहुत पदार्थ जहाँ एकत्र ।
सम्पादित उन्हें सर्वत्र। कहते सम्पत्ति ।। ६६ ।।

दैवयोग से एकत्रित। दैवी सुख से लाभान्वित ।
सद्गुणों को प्रख्यात। नाम दैवी सम्पत्ति ।। ६७ ।।

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। १ ।।

अब सभी दैवी गुणों में। अग्रसर जो जीवन में।
अभय नाम से ख्यात जग में। सुनिए स्वरूप उसका ।। ६८ ।।

महाप्लावन में जो न कूदता। उसे डूबने का भय न होता।
अथवा जो देह में पथ्य करता। उसे न होते रोग ।। ६९ ।।

वैसे कर्म-अकर्म करते। जो अहंकार को दबाते।
भवभय उन्हें सुभद्रापते। होगा कैसे ? ।। ७० ।।

होते विकास अद्वैत भाव का। जो दूजे को मानता निजसरीखा।
वह भय का नाम भ्राता। जानता ही नहीं ।। ७१ ।।

पानी लवण को डुबाता। तो नमक ही पानी हो जाता।
वैसे भय भी डूब जाता। अद्वैत के बढ़ते ।। ७२ ।।

अभय नाम से जाना जाता। उसका स्वभाव ही ऐसा होता।
सम्यक् ज्ञान के साथ दौड़ता। वह सदैव ।। ७३ ।।

सत्वशुद्धि नामक जो गुण। उसका सुनो लक्षण।
जलता नहीं, बुझता भी न। मिस्सी जैसा ।। ७४ ।।

अमावस बीत जाती। प्रतिपदा नहीं आती।
तब चन्द्रकला जैसे रहती। सूक्ष्म दशा में ।। ७५ ।।

ग्रीष्म हो गयी समाप्त। वर्षा की नहीं शुरुआत।
तब गंगाजल को प्राप्त। निजस्वरूप जो ।। ७६ ।।

वैसे संकल्प-विकल्प तज कर। रज, तम की तज कावर।
बुद्धि को जब प्रियतर। होता निजस्वरूप ।। ७७ ।।

प्रिय अथवा अप्रिय। इन्द्रियजात विषय।
प्राप्त होते हुए भी विस्मय। होता न चित्त को ।। ७८ ।।

दूर गाँव गया प्रियकर। पतिव्रता विरहातुर।
तब हानि-लाभ का विचार। स्पर्शता न उसे ।। ७९ ।।

वैसे सत्स्वरूप की प्रीति। मति को अनन्य करती ।
वही है तत्त्वसंशुद्धि। कहते केशिहन्ता ।। ८० ।।

आत्मलाभ के लिए। ज्ञान, योग दो मार्ग बताये ।
उनमें जो भा जाये। करें उसका अवलम्बन ।। ८१ ।।

उसमें हो कर दत्तचित्त। सभी भाव करें अर्पित ।
जैसे अग्नि में पूर्णाहुति डालत। निष्काम पुरुष ।। ८२ ।।

कुलवती कन्या कुलवंत। इनका ब्याह कर पिता निश्चिन्त ।
अथवा विष्णु में सुस्थित। लक्ष्मी जैसे ।। ८३ ।।

वैसे निर्विकल्प हो सर्वथा। ज्ञान योग में स्थिर हो पाना ।
तीसरा योग कहलाता। 'ज्ञान-योग-व्यवस्थिति' ।। ८४ ।।

काया, वाचा, मन से। यथाशक्ति धन से ।
विपदा में बैरी की सहृदयता से। करना सहायता ।। ८५ ।।

वृक्ष जैसे फल, मूल। पत्र, पुष्प, छाया सकल ।
पथिकों को अविकल। निरन्तर देता ।। ८६ ।।

वैसे यथासमय मन से। धन धान्यादिक दे के ।
मन को परिश्रान्तों के। देता सन्तोष ।। ८७ ।।

इस व्रत का नाम दान। जो मोक्षनिधान का अंजन ।
अब बताऊँगा दम के लक्षण। सुनो ध्यान से ।। ८८ ।।

विषयेन्द्रियाँ होतीं संसक्त। उन्हें करना विभक्त ।
जैसे शत्रु को करता खंडित। शस्त्रधारी ।। ८९ ।।

बंद कर इन्द्रिय-द्वार। रोकना विषय-बयार ।
इन्द्रियों को बंदी बना कर। सोपना प्रतिहारी को ।। ९० ।।

प्रवृत्ति मन की पार्थ। बाहर भागती सतत ।
वैराग्य अग्नि प्रज्ज्वलित। रखना दसों द्वारों में ।। ९१ ।।

धड़कन से भी, धनुर्धर। व्रत आचरना दुष्कर।
अहोरात्र करते सदाचार। रहना अतृप्त ।। ९२ ।।

ये है उसके लक्षण। जिसे दम कहते अर्जुन।
अब संक्षेप में निवेदन। यज्ञ का सुनो ।। ९३ ।।

विप्र से नारी पर्यन्त। जो-जो समाज में रहत।
वे अपने अधिकारोचित। यज्ञ करें ।। ९४ ।।

जो धर्म तथा दैवत। उपासनार्थ लगे उचित।
उसका शास्त्रविहित। करें यजन ।। ९५ ।।

द्विज षट्कर्म आचरता। शूद्र उसे वन्दन करता।
यज्ञकर्म समान होता। दोनों का ही ।। ९६ ।।

अपने अधिकारानुसार। सब करें यज्ञाचार।
किन्तु उसमें न मिलायें, वीर। विष फलाशा का ।। ९७ ।।

देह कर्म आचरता। न मानें मैं ही कर्ता।
किन्तु पालन करे यत्नतः। वेदाज्ञा का ।। ९८ ।।

यह शास्त्रानुसार आचरण। यज्ञ कहलाता अर्जुन।
यही कहते सुज्ञजन। उपाय कैवल्य का ।। ९९ ।।

गेंद को पटक कर। तुरन्त लेना लपक कर।
अथवा खेत में बीज बोकर। फसल लेना उसीकी ।। १०० ।।

रखी वस्तु देखने को। हाथ में ले दीप को।
शाखा फल पाने को। करें सिंचन जड़ का ।। १०१ ।।

दर्पण में अपना मुख। दिखाई दे स्वच्छ।
इसलिए उसे पोछपाछ। अमलिन करें ।। १०२ ।।

वैसे, वेदवर्णित जो ईश्वर। उसका पाने साक्षात्कार।
अभ्यास करें निरन्तर। वेदान्त का ।। १०३ ।।

विप्रों को उचित ब्रह्मसूत्र। अन्य जन गायें पवित्र स्तोत्र ।
या जपे नाम मंत्र। पाने पर-तत्त्व ।। १०४ ।।

इसी को कहते स्वाध्याय। जो अभ्यास करने योग्य ।
अब सुनो अभिप्राय। तप शब्द का ।। १०५ ।।

सर्वस्वार्पण स्वार्थबिन। ऐसा उदारतापूर्वक दान ।
सूख जाती कर फल प्रदान। वनलतिका जैसे ।। १०६ ।।

अग्नि में धूप नष्टता। सुवर्ण का वजन घटता ।
जैसे, चन्द्र का ह्रास होता। कृष्णपक्ष में ।। १०७ ।।

वैसे, आत्मस्वरूप का करते दर्शन। शरीर, इन्द्रियाँ व प्राण ।
यम-नियम से करना क्षीण। तप कहलाता ।। १०८ ।।

ओर दूसरा भी अर्जुन। तप का है लक्षण ।
दूध-पानी का मिश्रण। राजहंस विभक्त करता ।। १०९ ।।

वेसे देह जीव का एकीकरण। सर्वथा करते विभिन्न ।
करना पड़ता जागरण। आत्मानात्म-विवेक का ।। ११० ।।

वैसे पाते आत्मा की ठोर। मति न जाती विषय की ओर ।
जैसे, निद्रासहित स्वप्न। डूबता जागर में ।। १११ ।।

वैसे, करते आत्म-चिन्तन। नित्य रहे विवेकपूर्ण ।
यह भी जानो अर्जुन। तप का लक्षण दूसरा ।। ११२ ।।

वालक को हितकारी स्तन्य। या सकल भूतों को चैतन्य ।
वैसे प्राणिमात्र से सौजन्य। वही आर्जव जानो ।। ११३ ।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् य ।। २ ।।

विश्वसुख के हित। काया, वाचा, मन से पार्थ ।
सत्कर्म करना सर्वतः। अहिंसा कहलाता ।। ११४ ।।

जैसे अच्छी क़िस्म का कमल। तीक्ष्ण किन्तु अति कोमल।
तेजस्वी किन्तु शीतल। चन्द्र जैसे ।। ११५ ।।

जो न हो कड़वा स्वाद में। किन्तु प्रभावी रोग-निवारण में।
ऐसी औषधि नहीं जग में। उपमा कैसे दें उसकी ? ।। ११६ ।।

नैनों पर छिड़का जाता। मृदुतावश व्यथा न देता।
अन्यथा पर्वत को भेदता। पानी जैसे ।। ११७ ।।

करने सन्देह-निवारण। पैना शस्त्रसमान।
मधुर जिसका श्रवण। मधुरिमा से ।। ११८ ।।

कुतूहल से श्रवण करते। कान भी मुखर हो जाते।
अपनी सत्यता के बूते। करता ब्रह्मभेद ।। ११९ ।।

जो अपनी मधुरता से। छल न करता किसी से।
खलता नहीं यथार्थ में। किसी को भी ।। १२० ।।

बहेलिये का मधुर गान। वास्तव में हरता प्राण।
अग्नि सत्य ही करता दहन। आग लगे उस सत्य को ।। १२१ ।।

कानों को लगे मधुर। किन्तु करे मर्मान्तक प्रहार।
ऐसी वाणी नहीं सुन्दर। डायन प्रत्यक्षतः ।। १२२ ।।

कल्याणहित बाह्यतः कठोर। पुष्प-सा कोमल अंतर।
होता माता का धनुर्धर। स्वरूप जैसे ।। १२३ ।।

वैसे जो श्रवणसुख देता। जिसका परिणाम हितकर होता।
जो विकाररहित होता। वही सत्यवचन ।। १२४ ।।

नित्य किया जलसिंचन। अंकुर न प्रसवता पाषाण।
अथवा न निकलता मक्खन। चूनानिथरी मथने से ।। १२५ ।।

लात मारते केंचुली पर। फन न उठता ऊपर।
आकाश में न आती बहार। वसंत आने पर भी ।। १२६ ।।

रूप रम्भा का अति सुंदर। फिर भी शुक हृदय निर्विकार।
या घी डालते भस्म पर। चेतता न अग्नि ।। १२७ ।।

नन्हा बालक भी हो कुपित। ऐसे कह दें अपशब्द।
या और भी हो निमित्त। चाहे जो ।। १२८ ।।

विधाता के पाँव पड़ते भी। मृतात्मा जी उठता नहीं।
वैसे जगाये जगता नहीं। क्रोध जहाँ ।। १२९ ।।

ऐसी जो गम्भीर अवस्था। उसे ही जानो अक्रोधता।
श्रीकृष्ण पार्थ को रहे बता। रहस्य ऐसे ।। १३० ।।

मृत्तिका-त्याग से घटत्याग। तंतुत्याग से पटत्याग।
बीजत्याग से वटत्याग। होता जैसे ।। १३१ ।।

या त्याग करते दीवार का। त्याग होता चित्र का।
त्याग करते नींद का। टूटता स्वप्नजाल ।। १३२ ।।

या जल त्याग से तरंग त्याग। वर्षा त्याग से मेघ त्याग।
धनत्याग से भोगत्याग। होता जैसे ।। १३३ ।।

वैसे ज्ञानीजन धनुर्धर। देह की अहंता त्यज कर।
संसार-बंधन समग्र। छोड़ देते हैं ।। १३४ ।।

ऐसे संसार को आमूल छोड़ना। वास्तव में त्याग है करना।
कृष्ण का अर्जुन से कहना। जिस पर कहता धनुर्धर ।। १३५ ।।

अब शान्ति के लक्षण। स्पष्ट करिए निवेदन।
देव कहते, अवधान। दो ठीक से ।। १३६ ।।

ज्ञेय जानता सम्पूर्ण। ज्ञेय, ज्ञाता जिसमें अभिन्न।
वही जानो अर्जुन। शान्ति तत्त्वतः ।। १३७ ।।

प्रलयकाल का जल। डुबोता विश्व सकल।
शेष रहता केवल। आप अकेला ।। १३८ ।।

तब उद्गम, प्रवाह, सागर। नहीं रहता भेद-व्यवहार ।
सर्वत्र दिखता एकमात्र। पानी-ही-पानी ।। १३९ ।।

वैसे ज्ञेयबोध होते सम्पूर्ण। ज्ञातृत्व होता विलीन ।
फिर बचता वही अर्जुन। सत्य रूप शान्ति का ।। १४० ।।

रोग करते निवारण। और बलसंवर्धन ।
सद्वैद्य सोचता न। अपना पराया ।। १४१ ।।

फँसी गाय कीचड़ में। देख करुणा जिसके मन में ।
प्रश्न न उठता जिसके मन में। दुधारू या ठाँठ ।। १४२ ।।

मनुष्य को देखते डूबता। जात-पात नहीं पूछता ।
तत्काल उसे बचा लेता। तैराक जैसे ।। १४३ ।।

किसी साध्वी को वन में घने। विवस्त्र किया पापियों ने ।
उसे वस्त्र दिये बिना अपने। देखता न सभ्य ।। १४४ ।।

वैसे, अज्ञान प्रमादों से। अथवा प्राक्तन दोषों से ।
अत्यन्त निन्दनीय जिसे। लोगों ने माना ।। १४५ ।।

उसे मन से अर्जुन। सर्वस्व कर प्रदान ।
करता दुःखनिवारण। सर्वतोपरि ।। १४६ ।।

दूसरों को दिखे दूषण। वहीं खोजता सद्गुण ।
और करता अवलोकन। सदयता से ।। १४७ ।।

देव को देखें पूजा कर। खेत को जाने बोनी कर ।
आशीर्वाद ले सन्तुष्ट कर। अतिथि को ।। १४८ ।।

वैसे स्वगुणों से धनुर्धर। दूसरों के दोष हटा कर ।
दयादृष्टि उनपर। रखें सर्वदा ।। १४९ ।।

वर्म पर प्रहार न करें। अकर्म को प्रवृत्त न करें ।
प्रकट रूप में करे। दोषकथन ।। १५० ।।

किसी भी उपाय द्वारा। खड़ा करे उसे, जो गिरा।
कदापि न हे धनुर्धर ! घाव मारे मर्म पर ।। १५१ ।।

एक को मानें उत्तम। दूसरे को अधम।
यह छोड़ कर सबको सम। निर्दोष भाव से देखें ।। १५२ ।।

यही अपैशुन्य का लक्षण। साचा जानो अर्जुन।
मोक्षपथ का मुख्य वाहन। यही सुखदायी ।। १५३ ।।

जैसे चन्द्रमा पूर्णिमा का। होता छोटे-बड़े सबका।
दाह हरता ताप का। दया उसका नाम ।। १५४ ।।

वैसे दीन-दुखी का दुखड़ा। दयापूर्वक जो हटाता।
और भेद नहीं जो जानता। उत्तम-अधम का ।। १५५ ।।

जल जैसा जगत में कौन ?। जो दे कर अपना जीवन।
करता है संरक्षण। सूखे घास का भी ।। १५६ ।।

वैसे दूसरों के दुख से। हृदय भर आता करुणा से।
सर्वस्व देकर भी उसे। मानता दिया अल्प ।। १५७ ।।

गड्ढा जब तक न भर जाता। पानी आगे नहीं बढ़ता।
वैसे श्रान्त को तोष देता। तभी बढ़ता आगे ।। १५८ ।।

पाँव में चुभते काँटा। जीव को होती व्यथा।
वैसे जो व्यथित होता। परदुःख से ।। १५९ ।।

पैर पर करते शीतोपचार। नैन होते विभोर।
वैसे हिय में सुख अपार। पाता परसुख से ।। १६० ।।

करने सबका तृषाहरण। जगत में जल का निर्माण।
वैसे अर्जुन जिसका जीवन। परदुःख हरने ।। १६१ ।।

ऐसा जो गुणवान। वही दया मूर्तिमान।
उसके जन्म से फाल्गुन। ऋणी मैं हो गया ।। १६२ ।।

प्रेम से सूर्य का अनुसरण। कमल करता प्रतिदिन ।
किन्तु वह न करता अपहरण। कमल-गंध का ।। १६३ ।।

आते वन में वसंत। वनश्री होती प्रफुल्लित ।
किन्तु वह है चला जावत। बिना उपभोग के ।। १६४ ।।

सकल महासिद्धि सहित। लक्ष्मी होती पास नित ।
किन्तु उसे करता दुर्लक्षित। महाविष्णु ।। १६५ ।।

वैसे ऐहिक पारलौकिक। भोग हुए इच्छा के सेवक ।
फिर भी न जिसे कौतुक। उपभोग का ।। १६६ ।।

क्या बतायें बहुत ? कुतूहल के भी निमित्त ।
मन न हो विषयासक्त। वही अलोलुपता ।। १६७ ।।

छत्ता जैसे बर्रो को। पानी जैसे जलचरों को ।
अथवा आकाश पक्षियों को। विचरने मुक्त ।। १६८ ।।

जैसे अपने शिशु के प्रति। माँ के उर में प्रीत होती ।
या वसंत ऋतु जब आती। मलयानिल होता मृदु ।। १६९ ।।

नेत्रों को प्रियजनों का दर्शन। कछवी को शावक-विलोकन ।
भूतमात्र के प्रति आचरण। वैसे जिसका मृदु ।। १७० ।।

जिसका स्पर्श अत्यंत मृदु। स्वाद अतीव सुस्वादु ।
सुगंध बहुत मधु। रूप उज्ज्वल ।। १७१ ।।

छक कर खाने पर भी। कपूर बाधक न होता यदि ।
तो इसका उपमेय वही। होता यहाँ ।। १७२ ।।

जो महाभूतों को धारता। परमाणुओं में भी रहता ।
विश्वाकार होकर रहता। गगन जैसे ।। १७३ ।।

कितना करूँ निरूपित। जिसका अस्तित्त्व विश्वहित ।
वही सद्गुण यहाँ वर्णित। मार्दव शब्द से ।। १७४ ।।

जैसे राजा पराभूत। होता अत्यंत लज्जित।
विपरीत दशा होते प्राप्त। निस्तेज जैसा अभिमानी ।। १७५ ।।

चंडाल घर के निकट। संन्यासी पहुँचे अकस्मात्।
तो उत्तम पुरुष हिय में होत। लज्जित जैसे ।। १७६ ।।

भाग जाना समर छोड़। क्षत्रिय के लिए लज्जास्पद।
अथवा महासती को वैधव्य। होता जैसे ।। १७७ ।।

कोढ़ रूपवान के देह पर। या आरोप सम्भ्रान्त पर।
मरण से भी बदतर। लगता उसे ।। १७८ ।।

वैसे दो गज के देह में। शव बन कर जीने में।
जनम कर मरने में। पुनः-पुनः ।। १७९ ।।

नाना गर्भो के साँचों में। रक्त, मूत्र, रसों में।
ढाला जाना देह रूप में। लज्जाजनक ।। १८० ।।

अस्तु वह विस्तार। यह नाम-रूपात्मक शरीर।
धारण करना बार-बार। लज्जास्पद अत्यन्त ।। १८१ ।।

ऐसे देह से घृणा। करते सन्त निर्मलमना।
उसी अमंगल की कामना। करते निर्लज्ज ।। १८२ ।।

टूटते नचाते सूत्र। कठपुतलियाँ पड़तीं निचेष्ट।
वैसे प्राणजय से कुंठित। होतीं कर्मेन्द्रियाँ ।। १८३ ।।

या सूर्यास्त के अनन्तर। रुकता किरण-प्रसार।
वैसे मनोजय करने पर। थमतीं ज्ञानेन्द्रियाँ ।। १८४ ।।

मन प्राण का करते संयम। दसों इन्द्रियाँ होतीं अक्षम।
यही अचापल्य का कर्म। जानो अर्जुन ।। १८५ ।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। ३ ।।

ईश्वर को करने प्राप्त। ज्ञानमार्ग में होते प्रवृत्त।
धैर्यादिक की कमी प्रतीत। होती न चित्त में ।। १८६ ।।

होते देहान्त प्राणेश्वर का। अग्निप्रवेश करती पतिव्रता।
अतः मरण दुःख से भ्राता। न हो विचलित ।। १८७ ।।

वैसे देवभक्ति के बढ़ते। विषय विषसम लगते।
शून्य के दुर्गम पथ पर चलते। मनोभाव ।। १८८ ।।

शास्त्रवर्णित विधिनिषेध। मार्ग न करते अवरुद्ध।
महासिद्धि की लगन। लगती चित्त को ।। १८९ ।।

ऐसी ईश्वर के प्रति। मन की लौं जब लग जाती।
इस सद्गुण का सुभद्रापति। नाम आध्यात्मिक तेज ।। १९० ।।

सहिष्णुता का गर्व नहीं। मेरे अनुसार क्षमा वही।
जैसे रोमांच धारण का नहीं। गर्व करता देह ।। १९१ ।।

इन्द्रियों का बढ़ा आवेग। प्रवल पुराने रोग।
प्रिय वस्तु का हो वियोग। या योग अप्रिय का ।। १९२ ।।

ऐसी विपदाओं का पूर। एक साथ आवे भरपूर।
फिर भी खड़ा रहे जो धीर। अगस्ति समान ।। १९३ ।।

आकाश में धुआँ छाये। सर्वत्र पसर जाये।
पवन उसको हटाये। एक झोखे से ।। १९४ ।।

वैसे उपद्रव आधिभौतिक। आधिदैविक, आध्यात्मिक।
सबको जो सकौतुक। पी जाता ।। १९५ ।।

चित्तक्षोभ के क्षण में। धीरज धरना हिय में।
धृति नाम से जगत में। प्रख्यात सद्गुण ।। १९६ ।।

स्वर्णकलश उज्जवल। उसमें अमृतमय गंगाजल।
वैसे जीवन जो निर्मल। उसे जानो शौच ।। १९७ ।।

निष्काम बाह्य आचार। विवेकपूर्ण अंतर।
ऐसा पुरुष धनुर्धर। शुचित्व मूर्तिमान ।। १९८ ।।

पापताप का नाश करता। तट के वृक्षों को पोसता।
गंगाप्रवाह जैसे जाता। समुद्र में ।। १९९ ।।

जगत की अंधता मिटाता। लक्ष्मीनिवास कमल खिलाता।
प्रदक्षिणा नभ में करता। सूर्यनारायण जैसे ।। २०० ।।

वैसे बद्ध को मुक्त करता। डूबते को उबारता।
तथा संकट निवारता। आर्तजनों का जो ।। २०१ ।।

बल्कि जो रात-दिन। करता परसुखवर्द्धन।
फिर करता स्वार्थ-साधन। स्वभाव से ।। २०२ ।।

साधने अपना हित। किसी का करे अहित।
मन में भी न यह बात। आती जिसके ।। २०३ ।।

वह है अद्रोहत्व। तुम्हें किया निवेदित।
उसे देखो, भ्रात। इसी रूप में ।। २०४ ।।

शिव की जटाओं में अर्जुन। गंगा होती संकीर्ण।
वैसे पाते सम्मान। संकोचता चित्त ।। २०५ ।।

यह महान सद्गुण। अमानित्व नाम से ख्यात।
पहले कर चुका निरूपित। अधिक क्या बताऊँ ? ।। २०६ ।।

इन छब्बीस गुणों में पार्थ। ब्रह्मसम्पदा है बसत।
मोक्ष चक्रवर्ती की अंकित। मानो वतनदारी ।। २०७ ।।

या दैवी-सम्पत्ति-गंगा पवित्र। विरक्त सगरों का उद्धार।
करने आयी धरती पर। छब्बीस तीर्थों सहित ।। २०८ ।।

या गुणकुसुमों की वरमाला। लिये खोजती मुक्तिबाला।
निष्काम विरक्त का गला। वरने उसे ।। २०९ ।।

परमात्मा अपना पति। उसकी उतारने आरती।
गीता आयी बालते बाती। छब्बीस गुणों की ।। २१० ।।

गीतास्वरूप सागर में। दैवी सम्पदा की सीपी में।
सुस्नात दिव्य तेज में। जन्में छब्बीस मोती ।। २११ ।।

क्या बतायें इसकी महति। सहज हुई अभिव्यक्ति।
अतः इसे दैवी सम्पत्ति। कहा हमने ।। २१२ ।।

अब दुःख की दृढ़मूल वल्लरी। दोष-काँटों से जो भरी।
वह सम्पत्ति आसुरी। बताऊँ सलक्षण ।। २१३ ।।

जो त्याज्य ही सर्वथा। निरुपयोगी तत्त्वतः।
फिर भी है पंडुसुता। सुनो ध्यान से ।। २१४ ।।

सारे दोष भयंकर। जिसमें हुए एकाकार।
देते नरक व्य. ा घोर। वही सम्पत्ति आसुरी ।। २१५ ।।

नाना विषों का जमघट। उसे कहते कालकूट।
वैसे सकल दोषों का सम्पुट। वही सम्पत्ति आसुरी ।। २१६ ।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।। ४ ।।

सभी आसुरी दोषों में पार्थ। जो श्रेष्ठ तथा प्रख्यात।
जगत में उसे ही पण्डुसुत। कहते दम्भ ।। २१७ ।।

जगत में तीर्थरूप माता। उसे कोई नग्न करता।
तो वही पतन का, भ्राता। कारण बन जाती ।। २१८ ।।

गुरु ब्रह्मविद्या देते। उसका भेद खोलते।
वह हितकारिणी होते। हुए भी करती अहित ।। २१९ ।।

डुबोता हो महापूर। जो नौका कराती पार।
उसे लेते सिर पर। अवश्य डुबाएगी ।। २२० ।।

अन्न जीवन का आधार। उसका बखान करते अपार।
अधिक खाया तो धनुर्धर। विष बन जाता ।। २२१।।

वैसे, इह-पर लोक के मित्र। धर्म को बघारा सर्वत्र।
तो वही दोष का पात्र। होता धनंजय ।। २२२।।

अतः धर्मकार्य का ढिंढोरा। अपने मुँह बहुत पसारा।
तो वही अधर्म बनता पूरा। दम्भ जिसका नाम ।। २२३।।

मूर्ख की जिव्हा पर। खेलने लगे चार अक्षर।
तो ब्रह्मसभा को तुच्छतर। वह मानता जैसे ।। २२४।।

या तबेले का घोड़ा। ऐरावत को मानता हेठा।
गिरगिट बाड़ पर चढ़ा। स्वर्ग को मानता हेय ।। २२५।।

मिलते घास का ईधन। लपटों को बौना गगन।
अथवा डबरे का मीन। तुच्छ मानता सिंधु को ।। २२६।।

एक जून पा परान्न। उन्मत्त होता निर्धन।
वैसे पा स्तुति, विद्या, स्त्री, धन। उन्माद चढ़ता जिसे ।। २२७।।

अभ्रछाया आते सिर पर। निदैवी गिराता अपना घर।
मरीचिका को देख कर। गृहकूप पाटता ।। २२८।।

सम्पत्ति होते प्राप्त। व्यवहार में होता उन्मत्त।
यह दोष जानो सुनिश्चित। दर्प कहलाता ।। २२९।।

जग का विश्वास वेदों में। विश्व की श्रद्धा ईश्वर में।
सूर्य-सा तेजस्वी विश्व में। नहीं कोई ।। २३०।।

जग का एक ही मनोरथ। कि हों सिंहासनस्थ।
चिरंजीवता निर्विवाद। प्रिय विश्व को ।। २३१।।

अतः सोल्लास करते जन। वेद ईश्वर का स्तवन।
जो उसका करते श्रवण। फूला न समाता गर्व से ।। २३२।।

कहता ईश्वर को खा जाऊँगा। वेद को विष पिलाऊँगा ।
सारी सत्ता हर लूँगा। जगन्नाथ की ।। २३३ ।।

पतंगे को नापसन्द ज्योति। जुगनू को रवि-किरणें न भातीं ।
टिटहरी सागर से करती। बैर जैसे ।। २३४ ।।

वैसे इसे 'मैं' का मोह। ईश्वर का नाम भी दुःसह ।
वेदाज्ञा को मानता यह। सौतन अंपनी ।। २३५ ।।

ऐसी ऐंठन रोम-रोम में। अभिमान बहुत बड़ा मन में ।
उसे जानो रूढ़ जगत में। पथ रौरव नरक का ।। २३६ ।।

परसुख का कर विलोकन। जल भुन कर जिसका मन ।
हो जाता विषपूर्ण। तत्काल पार्थ ।। २३७ ।।

जैसे उबला हुआ तेल। भभकता पड़ते जल ।
या चन्द्र को देख शृगाल। भरते क्रोध से ।। २३८ ।।

विश्व का जीवनदाता। सूर्योदय देख भ्राता ।
नेत्रतेज लोप होता। पापी उल्लुओं का ।। २३९ ।।

प्रभात सबको सुखदायी। चोरों को वही दुखदायी ।
साँप को पिलाया दूध भाई। बनता कालकूट ।। २४० ।।

अथाह यदपि सागर-जल। उसे पीकर दावानल ।
अधिक ही होता प्रबल। न पाता शान्ति ।। २४१ ।।

वैसे दूसरों को सौभाग्यवश। मिलते विद्या, धन, यश ।
मन में होती जलन विवश। उसका नाम क्रोध ।। २४२ ।।

सर्प-बाँबी जैसा मन। तीर-से तीक्ष्ण नयन ।
आग के समान भाषण। दाहक जिसका ।। २४३ ।।

अन्य क्रियाजात सारा। मानो इस्पात का आरा ।
ऐसे अन्तर्बाह्य सारा। अत्यन्त कठोर जो ।। २४४ ।।

उसे पारुष्य का अवतार पूर्ण। जानो नराधम अर्जुन ।
अब सुनो पहचान। अज्ञान की ।। २४५ ।।

शीत तथा उष्ण। भेद न जाने पाषाण ।
या रात अथवा दिन। जन्मान्ध न जानता ।। २४६ ।।

सर्वभक्षी अग्नि भभकता। खाद्याखाद्य नहीं जानता ।
लोहा सोने की भिन्नता। जैसे न जाने पारस ।। २४७ ।।

जैसे, करछी रसोई में। चलाते नाना रसों में ।
स्वाद नहीं उसकी समझ में। आता कतई ।। २४८ ।।

पवन बहता जाता। मार्ग भला बुरा न जानता ।
वैसे, धनुर्धर जो अन्धता। कर्माकर्म विवेक में ।। २४९ ।।

यह स्वच्छ यह मलिन। बालक को न होता ज्ञान ।
हाथ आई वस्तु को तत्क्षण। डालता मुँह में ।। २५० ।।

वैसे पाप-पुण्य की खिचड़ी कर। जो करता भक्षण छक कर ।
कड़वे मीठे का न जानता अंतर। ऐसी दशा जो ।। २५१ ।।

उसे ही कहते अज्ञान। इसे निःसन्देह लो जान ।
ऐसे छहों दोषों के लक्षण। बताये यहाँ ।। २५२ ।।

इन छहों दोषों के कारण। आसुरी सम्पत्ति बलवान ।
जैसे छोटे तन में काम के कारण। भीषण तन्वागी ।। २५३ ।।

प्रलय-विद्युत्-वड़वाग्नि। त्रिभुवन में तीन ही अग्नि ।
किन्तु विश्व भी अधूरा, कोदंडपाणि। इनकी पूर्णाहुति में ।। २५४ ।।

विधाता की गहते शरण। फिर भी त्रिदोष में अटल मरण ।
इनसे दूने षट्दोष, अर्जुन। घातक अत्यन्त ।। २५५ ।।

ऐसे छह दोषों से सृजन। हुआ इसका अर्जुन ।
अतः यह न कदापि ' न्यून। आसुरी सम्पत्ति ।। २५६ ।।

एक राशि में कभी-कभार। क्रूर ग्रह होते एकत्र ।
या सभी पाप एक निन्दक पर। सवार होते ।। २५७ ।।

मरने वाले के देह में भ्राता। सब रोगों का मेला लगता ।
या सारे कुयोगों का होता। जमघट कुवेला में ।। २५८ ।।

विश्वासी को चोरों के हवाले। श्रान्त को बाढ़ में धकेले ।
वैसे इन दोनों को जान लें। अनिष्टकारी ।। २५९ ।।

सात डंकों का डँसे वृश्चिक। मरती बकरी को अचानक ।
वैसे छहों दोष महाघातक। मिलते विनाशकाल में ।। २६० ।।

मोक्षमार्ग की ओर जाते। ये दोष आड़े जाते ।
तब बाहर आये बिना डूबते। भव में मानव जो ।। २६१ ।।

अधम योनियों का सोपान। क्रमशः उतरते ये जन ।
अन्त में पहुँचते अधमतम। योनि में ।। २६२ ।।

अस्तु उनमें धनुर्धर। ये छहों दोष मिलकर ।
बढ़ाते शतगुणित कर। आसुरी सम्पत्ति ।। २६३ ।।

ये दोनों सम्पत्तियाँ पार्थ। जो जगत में सुविख्यात ।
स्वतन्त्र लक्षणों से युक्त। बताई यहाँ ।। २६४ ।।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।। ५ ।।

इन दोनों में जो प्रथम। दैवी सम्पत्ति ख्यातनाम ।
वही उषा अभिराम। मोक्ष-सूर्योदय की ।। २६५ ।।

और वह जो है दूसरी। नाम जिसका आसुरी ।
जीव को बाँधने वाली। है मोह श्रृंखला ।। २६६ ।।

यह सुन कर कौन्तेय। तुम्हें लगेगा भय ।
किन्तु दिन को कैसा भय। रात्रि से ? ।। २६७ ।।

ये छहों महादोष। जहाँ पाते परितोष।
आसुरी सम्पत्ति का पाश। पड़ता वहीं ।।२६८।।

छब्बीस हैं दैवी गुण। जिनका कर चुका मैं वर्णन।
उनका उत्कृष्ट निधान। जीवन तुम्हारा ।।२६९।।

अतः दैवी सम्पत्ति का। स्वामित्व करो नीका।
और भोगो कैवल्य का। सुख अपार ।।२७०।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।।६।।

दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति। जिनमें साकार होती।
उनकी आचारपद्धति। अनादिसिद्ध ।।२७१।।

आते रात का प्रहर। विचरते निशाचर।
दिन में होते व्यवहार। मनुष्यादिकों के ।।२७२।।

उसी भाँति है किरीटी। दैवी-आसुरी सृष्टि।
अपने-अपने चलाती। व्यवहार यहाँ ।।२७३।।

तेरहवें अध्याय में। ज्ञान के वर्णन में।
दैवी सम्पत्ति विस्तार में। मैंने समझायी ।।२७४।।

आसुरी सम्पत्ति वाले जन। उनके बताता अब लक्षण।
धनंजय दे अवधान। श्रवण करो ।।२७५।।

वाद्य के बिना नाद। कभी न लेता आकार।
पुष्प के बिना पराग। मिलता नहीं ।।२७६।।

वैसे प्रकृति आसुर। अकेली न होती गोचर।
जब तक न कोई शरीर। बनता सहारा ।।२७७।।

काष्ठ घीसते काष्ठ पर। अग्नि होता दृग्गोचर।
वैसे रहती यह समग्र। नर देह में ।।२७८।।

ईख बढ़ता जैसे-जैसे। रस बढ़ता वैसे-वैसे।
देहाकार होगे जैसे। वैसी , आसुरी सम्पत्ति ।।२७९।।

आसुरी सम्पत्ति लिये। जो यहाँ पैदा हुए।
उनकी विशेषताएँ। अब सुनाता हूँ ।।२८०।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। ७ ।।

पुण्य के प्रति हो प्रवृत्त। पाप से सर्वथा निवृत्त।
यह जानने जिनका चित्त। रात अन्धेरी ।।२८१।।

मकड़ी अपने चारों ओर। घर बनाती बिना द्वार।
स्वयं कर अविचार। उसमें बद्ध होती ।।२८२।।

आज दिया कल या कभी। मिलेगा वापस भी।
यह सोचे बिना पूँजी। मूर्ख देता चोर को ।।२८३।।

वैसे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति। आसुरी जन जानते नहीं।
स्वप्न में भी देखते नहीं। कोई शुचिता ।।२८४।।

कजरी त्यजेगा कोयला। कौआ हो जायेगा धौला।
माँसाहार से ऊबेगा। राक्षस का मन ।।२८५।।

किन्तु आसुरी मन भ्राता। कभी न लेगा शुचिता।
मद्यपात्र में पवित्रता। आती न जैसे ।।२८६।।

शास्त्रोक्त कर्म नहीं करते। बड़ों की आज्ञा न मानते।
तथा भाषा भी न जानते। सदाचार की ।।२८७।।

बकरी चाहे जो चरती। हवा दसों दिशाओं में बहती।
आग मिले उसे जलाती। अविचार से ।।२८८।।

ऐसा स्वच्छन्द आचरण। करते वे आसुरी जन।
बैर करते मन ही मन। सच्चाई से ।।२८९।।

बिच्छू अपने डंक से। सुखद गुदगुदी पैदा कर दे।
तभी ये अपनी वाणी से। कहेंगे सत्य ।।२९०।।

अपान-द्वार से पार्थ। वात निकले सुगंधित।
तभी यह आसुरी जगत। बोलेगा सत्य ।।२९१।।

ऐसे अकारण भ्राता। जिनमें भरी दुष्टता।
भाषण उनका कैसे होता। अब बताता हूँ ।।२९२।।

ऊँट का प्रत्येक गात्र। टेढ़ा मेढ़ा विचित्र।
वैसे आसुरों का चरित्र। सुनो प्रसंग से ।।२९३।।

मुख से धुआँले के। धुआँ निकलता उमड़ के।
वैसे भाषण इनके। होते रहते हैं ।।२९४।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।।८।।

अनादि यह विश्वनगर। इसका नियंता परमेश्वर।
वेद कहता उजागर। न्याय-अन्याय वहाँ का ।।२९५।।

वेद जिसे अन्यायी कहते। वे नरक दंड को प्राप्त होते।
तथा स्वर्गसुख भोगते। न्यायी जन ।।२९६।।

ऐसी यह विश्व-व्यवस्था। अनादि है पार्था।
किन्तु इस सबको वृथा। बताते वे ।।२९७।।

यज्ञमूढ़ फँसे यजन में। देवान्ध प्रतिमा-पूजन में।
योगी भगवे परिधान में। समाधि-भ्रान्त ।।२९८।।

सशक्तता से जगत में। समस्त विषय भोग लें।
श्रेष्ठ बढ़ कर इससे। पुण्य क्या है ? ।।२९९।।

देह दुर्बलता के कारण। दुर्धर जिसमें विषय-सेवन।
ऐसा जीवन सुखविहीन। पानी ही तो है ? ।।३००।।

धनवानों के प्राण लेना। इसे ही पाप मानना।
तो उनका सब धन मिलना। क्या पुण्यफल नहीं ? ।। ३०१ ।।

बलवान दुर्बल को खाता। उसे यदि पाप नहीं लगता।
तो मत्स्यवंश को निःसन्तानता। क्यों न आती सम्पूर्ण ? ।। ३०२ ।।

करने वंश का विस्तार। परख कर उभय परिवार।
रचाना विवाह सुमुहूर्त पर। यदि हो निमित्त ।। ३०३ ।।

तो पशु-पक्षियों की संतान। अखंड बढ़ने का कारण।
कौन रचाता इनका लग्न। किस मुहूर्त पर ? ।। ३०४ ।।

चोरी का धन हाथ आया। तो किसके लिए विष हो पाया ?।
जिन्होंने शोक से व्यभिचार किया। उनको निकला क्या कोढ़ ? ।। ३०५ ।।

अतः देव स्वामी सबका। भोग देता धर्माधर्म का।
तथा इहलोक के कर्मो का। भोग देता परलोक में ।। ३०६ ।।

किन्तु देव अथवा परलोक। अदृश्य, अतः काल्पनिक।
तो कर्ता मरता कर्मविपाक। कौन भोगेगा ? ।। ३०७ ।।

जैसे स्वर्गलोक में इंद्र। उर्वशीसुख भोगता अपार।
वैसे नरक के कीड़े सुखसंचार। करते नरक में ।। ३०८ ।।

अतः स्वर्ग नहीं पुण्यफल। अथवा नरक पापफल।
दोनों मे सुख केवल। कामोपभोग से ।। ३०९ ।।

अतः कामतृप्ति के हेतु। स्त्री-पुरुष का मिलन होत।
उत्पत्ति उससे होत। अखिल विश्व की ।। ३१० ।।

जिसका स्वार्थहित अभिलाष। उसका करते परितोष।
काम ही करता नाश। परस्पर द्वेष से ।। ३११ ।।

अतः काम के अतिरिक्त कोई। इस जगत का मूल नहीं।
ऐसा कहते ये सभी। आसुरी जन ।। ३१२ ।।

अस्तु यह कुविचार। इसका न करें विस्तार।
बहुत बोलने से इस पर। वाणी को आती तुच्छता ।। ३१३ ।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। ९ ।।

द्वेष करते जगदीश का। अतः न करते उसकी चर्चा।
निश्चय किसी बात का। मन में होता नहीं ।। ३१४ ।।

बल्कि बहुत अंडबंड। बघारते अपना पाखंड।
नास्तिकता का प्रचंड। विरोध खड़ा करते ।। ३१५ ।।

तब आदर स्वर्ग का। अथवा भय नरक का।
जल जाता इन भावों का। हृदयस्थ अंकुर ।। ३१६ ।।

बुलबुला गंदे पानी का। कीचड़ में ही डूबेगा।
वैसे विनाश आसुरी का। होता विषयों में ही ।। ३१७ ।।

आते जलचरों का मरणकाल। दह में आते धीवर सकल।
शरीर का आते अन्तकाल। रोग बढ़ते ।। ३१८ ।।

विश्व का अनहित करने। धूमकेतु उदित गगन में।
वैसे जनविनाश करने। होते आसुरीजन ।। ३१९ ।।

पाप अशुभ बोने पर। वैसे ही फूटते अंकुर।
पाप के ये आसुर। चल कीर्ति स्तम्भ ।। ३२० ।।

सम्पर्क में आये को जलाना। अग्नि का है स्वभाव बना।
वैसे सबके विरुद्ध जाना। स्वभाव आसुरी ।। ३२१ ।।

लोकविरोधी आचरण। ये करते उल्लासपूर्ण।
उसकी पद्धति का श्रवण। करो, कहे श्रीपति ।। ३२२ ।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।। १० ।।

जल पानी से नहीं भरता। अग्नि 'ईंधन पर्याप्त' न कहता।
वैसे बुभुक्षित-सा सर्वदा। अतृप्त जो ।। ३२३ ।।

अति प्रबल काम विकार। उसे प्रश्रय देता उर।
उसके लिए लाता सहचर। दम्भ तथा दर्प ।। ३२४ ।।

पहले ही जो प्रमत्त कुंजर। उसे पिलायें मदिरा भरपूर।
वैसा, उन्मत्त होता। आसुर बुढ़ापा आते ।। ३२५ ।।

असुर दुराग्रही बहुत। उसमें मूर्खता का मिले साथ।
तो निश्चय की क्या बात ?। होता ही नहीं ।। ३२६ ।।

जिससे दूसरों को कष्ट होते। अथवा प्राण अकुलाते।
ऐसे घोर कर्मों में होते। रुझान जन्मजात ।। ३२७ ।।

अपने किये की शेखी बघारते। विश्व को धिःकारते रहते।
दसों दिशाओं में फैलाते। वासना-जाल ।। ३२८ ।।

ऐसा घोर धर अभिमान। करते रहते पापाचरण।
जैसे चरती खेतों में बेभान। गाय धर्मादा ।। ३२९ ।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।। ११ ।।

यही एक साधन नित। करता उन्हें कर्म-प्रवृत्त।
सुख मिले मरणोपरान्त। इसी की करते चिन्ता ।। ३३० ।।

पाताल से भी जो गहन। बौना जिससे गगन।
त्रिभुवन लगे अणुसमान। जिसकी तुलना में ।। ३३१ ।।

संन्यास का अनुशासन। नवदीक्षित को लगता कठिन।
वल्लभ का होते निधन। न छोड़ती मानो पतिव्रता ।। ३३२ ।।

ऐसी चिन्ता अपार। बढ़ाते रहते निरन्तर।
प्राप्त करने असार। विषय सारे ।। ३३३ ।।

सुनें स्त्रियों का गायन। नारीरूप देखें नयन।
करें नारी का आलिंगन। सर्वेन्द्रियों से ।। ३३४ ।।

अमृत से भी मधुर। सुख नहीं नारी बिन।
ऐसा जिसका मन। नित्य मानता ।। ३३५ ।।

उस स्त्रीमुख को पाने। स्वर्ग-पाताल में दौड़ते।
या दसों दशाओं में भागते। निरन्तर ।। ३३६ ।।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ।। १२ ।।

आमिष की आशा से। मछली काँटे को लीलती जैसे।
विषयसुख की लिप्सा वैसे। करती उनकी वंचना ।। ३३७ ।।

वासना न कभी तृप्त होती। केवल आशा को बढ़ाती।
मकड़ीसमान इन्हें बाँधती। आशापाशों में ।। ३३८ ।।

ये प्रदीप्त अभिलाष। पूरा न होते करते द्वेष।
ऐसे काम क्रोध से विशेष। पुरुषार्थ नहीं ।। ३३९ ।।

प्रहरी दिन में पहरा देता। और रात में गश्त लगाता।
वैसे असुरों को न मिलता। विश्राम दिन-रात ।। ३४० ।।

काम ऊंचाई से धकेलता। क्रोध चट्टान पर पटकता।
फिर भी प्रेम कमतर न होता। काम क्रोध से ।। ३४१ ।।

विषयवासना अपरिमित। हृदय में प्रबल होत।
किन्तु न होतीं वे तृप्त। धन के बिना ।। ३४२ ।।

अतः कामोपभोग के लिए। पर्याप्त धन हाथ में आए।
जो आता उसे इसलिए। लूटते हैं ।। ३४३ ।।

एक की हत्या करते। दूजे का सर्वस्व हरते।
तीसरे के लिए रचते। घोर षडयंत्र ।। ३४४ ।।

पाश, जाल और बोरियाँ। कुत्ते, बाज, भाले, लाठियाँ ।
लिये निकले गिरिवन में बहेलिया। सदलबल जैसे ।। ३४५ ।।

केवल अपना पेट पालने वास्ते। अनेक जीवों को मारते ।
वैसे घोर प्रयास करते। आसुरी जन ।। ३४६ ।।

दूसरों का कर प्राणघात। प्राप्त करते अपार वित्त ।
इसी से सन्तोष पाता चित्त। उनका कैसे सुनो ।। ३४७ ।।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। १३ ।।

कहते अधिकांश का वित्त। कर लिया मैंने हस्तगत ।
मुझसा धन्य कौन रहत। संसार में ? ।। ३४८ ।।

ऐसे घमंड में चूर। फिर करता विचार ।
परधन का अपहार। करूँ और भी ।। ३४९ ।।

आज तक जो किया संचित। उसकी लगा कर लागत ।
चराचर में जो अवशिष्ट। उसे भी ले लूँगा ।। ३५० ।।

विश्व के सकल धन का। मैं ही स्वामी बनूँगा ।
वक्रदृष्टि जिस पर डालूँगा। होगा उसका विनाश ।। ३५१ ।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। १४ ।।

कुछ बैरी मारे आज तक। मारूँगा और भी अधिक ।
फिर राज करूँगा अकेला एक। संसार पर ।। ३५२ ।।

हो जो मेरी सेवारत। मारूँगा सबको उनके अतिरिक्त ।
चराचर विश्व में समस्त। ईश्वर मैं अकेला ।। ३५३ ।।

मैं राजा भोग भूमि का। सहारा सकल सुखों का ।
मेरी तुलना में इन्द्र का। तुच्छ सारा वैभव ।। ३५४ ।।

काया, वाचा, मन से जो भी। करूँगा वह क्यों होगा नहीं ? ।
मुझसे आज्ञासिद्ध कोई। है ही कौन ? ।। ३५५ ।।

काल बलवान तभी तक। जब तक न मेरे समक्ष ।
सब कल सुखों का तब तक। पर्वत मैं ही ।। ३५६ ।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ।। १५ ।।

कुबेर हो कितना ही धनी। नहीं रखता मेरा सानी ।
लक्ष्मीपति भी धनवान नहीं। मेरे समान ।। ३५७ ।।

मेरा वंश अति प्रख्यात। ऊँची मेरी श्रेष्ठ जात ।
साक्षात् ब्रह्मा भी निकृष्ट। मेरी तुलना में ।। ३५८ ।।

उस ईश्वर का यशोगान। व्यर्थ ही करते ये जन ।
वास्तव में मेरे समान। जगत में न कोई ।। ३५९ ।।

अब लुप्त जो जारण-मारण। उन्हें दूँगा पुनर्जीवन ।
करूँगा पुनरुज्जीवन। परघातक यजन का ।। ३६० ।।

मेरा यश जो बखानते। नाटक-नृत्य से मुझे रिझाते ।
वे मुझसे जो भी चाहते। दूँगा उनको ।। ३६१ ।।

माँस मदिरा का सेवन। भोगूँगा प्रमदा-आलिंगन ।
होगा सारा त्रिभुवन। मेरा आनंद-भोग्य ।। ३६२ ।।

और क्या बताऊँ, भ्राता। आसुरी प्रकृति शुद्ध मूर्खता ।
आकाश-पुष्प को तत्त्वतः। सूँघना जैसे ।। ३६३ ।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृत्ताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। १६ ।।

ज्यों-ज्यों सन्निपात बढ़ता। रोगी त्यों-त्यों बर्राता ।
वैसे इनके मन में भर आता। संकल्प अधिकाधिक ।। ३६४ ।।

आते आशा की आँधी। अज्ञान की धूल उठती।
अधूरी पड़ती नभ की मिति। मनोरथों को ।। ३६५ ।।

मेघ संतत आते असाढ़ में। या तरंगें उठतीं सागर में।
वैसे असंख्य वासनाएँ मन में। उठतीं अखंडित ।। ३६६ ।।

काम का कँटीला झंखाड़। मन में जाता बहुत बढ़।
और जैसे काँटों पर। कमल जाते घसीटे ।। ३६७ ।।

पत्थर पर भांड़ा गिरते। टुकड़े - टुकड़े बिखरते।
वैसे हृदय के होते। खंड विदीर्ण ।। ३६८ ।।

आते रात्रि का पहर। बढ़ जाता अंधकार।
वैसे मोह निरन्तर। बढ़ते हिय में ।। ३६९ ।।

ज्यों-ज्यों मोह वृद्धिंगत। त्यों-त्यों विषय बलवंत।
जहाँ विषय वहाँ आरूढ़। पातक होते ।। ३७० ।।

पाप पर चढ़ते पाप। यथाक्रम बढ़ते आप।
जीते जी होती प्राप्त। नरक यातनाएँ ।। ३७१ ।।

अतः वासनाएँ अर्जुन। जिनकी होतीं अत्यन्त हीन।
वे अन्ततः ऐसा स्थान। प्राप्त करते ।। ३७२ ।।

जहाँ तरुवर असि-पात। खदिरांगारों के पर्वत।
तेल के सागर तप्त। उफनाते हैं ।। ३७३ ।।

जहाँ नित्य नयी प्राणलेवा। यमयातना पड़ती सहना।
ऐसे नरकलोक में अर्जुन। निवास असुरों का ।। ३७४ ।।

ऐसे घोर नरक में भ्राता। जिन्हें जन्म प्राप्त होता।
वे भी करते नियमतः। यज्ञयाग ।। ३७५ ।।

अन्यथा यज्ञयागादिक। यदपि होते फलदायक।
किन्तु इनकी नाटकीयतावश। विफल होते ।। ३७६ ।।

सहवास में हो यजमान। अपने को मानती सुहागिन।
और सन्तोष पाती मन ही मन। वारांगना ।।३७७।।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।। १७ ।।

वैसे ये आप अपनी। बघारते महँताई।
असाधारण गर्व से भाई। फूले न समाते ।।३७८।।

जैसे खम्भे ढलुवा लोह के। अथवा शिखर पर्वतों के।
वैसे ऐंठे-ऐंठे मन के। न होते ये विनम्र ।।३७९।।

निज ऐश्वर्य का कर विलोकन। सन्तोष परम पाता मन।
दूसरों को तृण से भी हीन। मानते हैं ।।३८०।।

सम्पत्ति का नशा चढ़ते। कृत्याकृत्य नहीं मानते।
और विवेक के बन जाते। सर्वथा बैरी ।। ३८१।।

ऐसी अकड़ जिनमें होती। उन्हें यज्ञ कौन चीज़ बड़ी ?।
वे मूर्ख असुर किरीटी। करते चाहे जो ।। ३८२।।

मूर्खता की चढ़ती मदिरा। तव यज्ञयाग का पसारा।
फैलाते धनुर्धरा। आसुरी जन ।। ३८३।।

नहीं कुण्ड मण्डप वेदी। या योग्य साधन-समृद्धि।
शास्त्रोक्त विधि से बुद्धि। बैर करती सर्वथा ।। ३८४।।

देव ब्राह्मणों का नाम भी। इन्हें सहन होता नहीं।
तो इनके घर कैसे कोई। आवेंगे सज्जन ? ।। ३८५।।

भूसा भरा बछड़ा सुन्दर। गाय के आगे रख चतुर।
दोह लेते भरपूर। दूध उसका ।। ३८६।।

वैसे पूरी करते अपनी आस। याग करते अनायास।
लूटते सभी को चूस। उपहार जगत से ।।३८७।।

ऐसे अपने स्वार्थहित। होम हवन है करत।
और मन में इच्छा रखत। पर-सत्यानाश की ।।३८८।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।। १८ ।।

लगा कर डंका निशान। धूम से निज दीक्षितपन।
प्रसिद्धि प्रचार का साधन। बना कर बघारते ।।३८९।।

अधम उस प्रसिद्धि से। फूले न समाते गर्व से।
मानो अँधेरे को काजल से। चढ़ाया लेप ।।३९०।।

ऐसे बढ़ती मूढ़ता। औद्धत्य ऊँचा होता।
दुरभिमान प्रबल होता। अविवेकसहित ।। ३९१।।

दूसरों का नामोनिशान। न रहे इसका जतन।
करते अपना बड़प्पन। अधिकाधिक बढ़ाते ।। ३९२।।

यों प्रमत्त होते अहंकार। हिय में दर्पसागर।
असीम हो चहुँ ओर। उफनने लगता ।। ३९३।।

फिर दर्प होता दुर्निवार। भभकता कामविकार।
उसकी आँच से भयंकर। धधकती क्रोधाग्नि ।। ३९४।।

चिलचिलाती ग्रीष्म में। तेल-घी के भंडार में।
आग लगे और साथ में। उठे आँधी, जैसे ।। ३९५।।

वैसे, अहंकार भभकता। काम-क्रोध दर्प में मिलता।
विकारों का मेला लगता। जिनके मन में ।। ३९६।।

वे अपने ही उन्माद में। निरंकुश हो आचार में।
करते हिंसा आते मन में। चाहे जिसकी ।।३९७।।

पहले तो धनुर्धर। अपना ही मांस रुधिर।
बहाते ये जैसा नीर। जारण-मारणार्थ ।।३९८।।

अपने देह को जलाते। किन्तु देह में मेरे होते।
वे वास्तव में जलाते। मुझे ही पार्थ ।।३९९।।

वे जारण-मारण के द्वारा। जिसका पीड़न करते वीरा।
उसका क्लेश भोगता सारा। मैं चैतन्यस्वरूप ।।४००।।

इस अतिचार से सुभद्रापते। शायद ही जो बच जाते।
उन पर ये दुर्जन लाते। आरोप नाना ।।४०१।।

सती और सत्पुरुष। दानशील याज्ञिक।
तपस्वी अलौकिक। संन्यासी जो ।।४०२।।

अथवा महात्मा तथा भक्त। जो मेरे निजधाम तत्त्वतः।
होमहवन से पवित्र। श्रोत्रादिक, ।।४०३।।

उन पर पैने तथा तीक्ष्ण। चलाते प्रबल बाण।
जिनपर चढ़ाया भीषण। कालकूट द्वेष का ।।४०४।।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। १९ ।।

ऐसे जो सर्वतः पार्थ। मेरे बैर को प्रवृत्त।
उन पापियों का भारत। मैं क्या करता, सुनो ।।४०५।।

मनुष्य देह में आकर। कर्तव्य को देते बिसार।
उनकी मनुष्यता को हर। देता ऐसी दुर्गति ।।४०५।।

जो कूड़ाघर क्लेशनगर का। पनघट भवपुरी का।
वतनदार ऐसी योनि का। बनाता हूँ ।।४०७।।

जहाँ पालने को पेट। उगती न घास की पात।
वहाँ व्याघ्र, बिच्छु, दुष्ट। बनाता उन्हें ।।४०८।।

वहाँ क्षुधापीड़ित होकर। अपने को ही खाते नोंच कर।
जनमते मर-मरकर। पुनः वहीं ।।४०९।।

या अपना ही विषदाह। जिसे होता दुःसह।
देकर ऐसा सर्पदेह। बंद करता बिल में।। ४१०।।

इन दुर्जनों को धनुधर। साँस लेने का भी अवसर।
देता न मैं पल भर। उस योनि में।। ४११।।

ऐसे अनेक कोटि कल्पान्त। हो भी जायें समाप्त।
तब भी उन्हें क्लेशमुक्त। करता नहीं।। ४१२।।

उनके भाग्य में जहाँ जाना। उसका यह पहला थाना।
यहाँ से होता भोगना। दारुण दुःख उन्हें।। ४१३।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। २०।।

ऐसी यह सम्पत्ति आसुरी। जिसने भी स्वीकारी।
उसने मोल ली पूरी। अपनी अधोगति।। ४१४।।

व्याघ्रादि योनि में अर्जुन। ये करते देह धारण।
तब मिलता इन्हें स-चैन। जो समय थोड़ा।। ४१५।।

वह भी मैं लेता छीन। और जहाँ करते गमन।
अँधेरा भी होता कृष्णवर्ण। अचानक।। ४१५।।

पाप जिससे घिन करता। नरक भयभीत होता।
श्रम थक कर अचेत होता। परिश्रम से।। ४१७।।

मैल जहाँ होता मलिन। ताप का बढ़ता तापमान।
जिसका नाम कर श्रवण। महाभय थर्राता।। ४१८।।

जिससे पाप ऊब जाता। जो अशुचि को अमंगल लगता।
अस्पर्श भी डरता। जिसे छूने से।। ४१९।।

ऐसे जो सकल विश्व में। अधमतम अधमों में।
उसे भोग तामस योनि में। जन्म लेते वे।। ४२०।।

वाचा रोती जिसे कहते। मन मुँह फेरता स्मरते।
अरे रे मूर्खों ने कितने। जोड़ लिए नरक।। ४२१।।

तो किसलिए ये पार्थ। आसुरी सम्पत्ति जोड़ते व्यर्थ ?।
जो बनती निमित्त। घोर पतन का।। ४२२।।

जो ऐसी नरकापत्ति। ढाती वह आसुरी सम्पत्ति।
दूर धकेलो सुभद्रापति। सर्वथा अपने से।। ४२३।।

दम्भादिक छहों दोष। आसुरी सम्पत्ति में निवास।
करते, उसे तजो अशेष। क्या बताना चाहिए ?।। ४२४।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। २१।।

किन्तु काम, क्रोध, मोह। तीनों ही निःसन्देह।
यहाँ मचाते विद्रोह। प्रबलता से।। ४२५।।

करते सभी दुःखदर्शन। इहलोक में हे अर्जुन।
ये त्रिदोष आये बन। पथप्रदर्शक।। ४२६।।

अथवा नरक पापियों को। इहलोक में ही देने को।
पातकों की सभा को। किया आयोजित।। ४२७।।

इस नरक की भयानकता। पुराणों में जो वर्णिता।
इनका आगमन न होता। तभी तक लगती भीषण।। ४२८।।

सुलभ होती दुष्कृति। यातना सहज सस्ती।
हानि, हानि नहीं लगती। ये ही तीनों हानियां।। ४२९।।

अधिक क्या कहूँ पार्थ। जो नरक सर्वथा निकृष्ट।
उसका प्रवेश द्वार यथार्थ। त्रिदोष ये।। ४३०।।

काम, क्रोध, मोह में भ्राता। जो मनःपूत रमता।
वह नरकसभा में पाता। बड़ा सम्मान।। ४३१।।

अतः बताया बार-बार। यह तिकड़ी बहुत घोर।
इन्हें करो अस्वीकार। सर्वोपरि ।। ४३२ ।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। २२ ।।

धर्मादिक पुरुषार्थ चार। तभी सधेंगे साचार।
जब छूटेंगे ये घोर। दोष तीनों ।। ४३३ ।।

ये तीनों मन में हों जागृत। तभी होगा शुभ प्राप्त।
सुनने को यह बात। सिद्ध न मैं पलभर भी ।। ४३४ ।।

जिसे हो स्वयं से प्रीति। और आत्मनाश की भीति।
वह न करे इनसे युति। रहे सावधान ।। ४३५ ।।

छाती से बाँधे पाषाण। करे सागरतरण।
अथवा जीने भोजन। करे कालकूट का ।। ४३६ ।।

वैसे त्रिदोषवश पाण्डव। कार्यसिद्धि असम्भव।
मन से करो सर्वथैव। निर्मूलन उनका ।। ४३७ ।।

यह बेड़ी अकस्मात्। टूटती तीनों कड़ियों सहित।
तब चलना होता सुखद। पथ आत्महित का ।। ४३८ ।।

त्रिविकारमुक्त शरीर। त्रिकष्टरहित नगर।
त्रिताप विरहित अम्बर। होता जैसे ।। ४३९ ।।

वैसे कामादिक से मुक्त। सुख पाता अपरिमित।
सत्संग जोड़ता नित्य। मोक्षपथ में ।। ४४० ।।

फिर सत्संग के बल पर। सत् शास्त्रों का ले आधार।
जन्म-मरण के बीहड़ पार। कर जाता ।। ४४१ ।।

गुरुकृपा का पुण्यस्थान। जो आत्मानन्द से परिपूर्ण।
तथा सदा सुप्रसन्न। प्राप्त होता उसे ।। ४४२ ।।

वहाँ मिलती परमप्रिय। आत्मा-माता दयामय।
उसके आलिंगन से विलय। होता भवताप का ।। ४४३ ।।

ऐसे काम, क्रोध, लोभ का। निर्दालन करने का।
साहस करने से प्रेम का। होता अधिकारी ।। ४४४ ।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।। २३ ।।

आत्महित नहीं चाहता। कामादिक ही रास आता।
इसलिए उनमें रमता। मूढ़ आत्मघाती ।। ४४५ ।।

जो जग में समान सकृप। हिताहित दर्शक दीप।
वह कर दिया वेद बाप। अमान्य जिसने ।। ४४६ ।।

न धर्मविधि का लिहाज करता। न आत्महित की चिन्ता।
अविवेक से पूर्ण करता। लाड़ इन्द्रियों के ।। ४४७ ।।

कामादिक से लागी न छोड़ता। मानो उनकी सौगंध न तोड़ता।
स्वैराचार के वन में विचरता। जी भर कर ।। ४४८ ।।

इनसे होने के लिए मुक्त। उसे न मिलती फुरसत।
स्वप्न में भी न होता प्राप्त। सुख उसे कदापि ।। ४४९ ।।

परलोक में उत्तम गति। निश्चय ही उसे न मिलती।
ऐहिक सुखों की भी प्राप्ति। होती नहीं उसे ।। ४५० ।।

मछली पकड़ने ब्राह्मण। क्षण भर जल में हुआ मगन।
मछली हाथ आती न। ब्राह्मणत्व भी जाता ।। ४५१ ।।

वैसे विषयों के पीछे पड़े। परत्र को अनावृत करे।
उसे मरना इहलोक में। केवल नसीब ।। ४५२ ।।

यों न परलोक न स्वर्ग ही। ऐहिक उपभोग भी नहीं।
उसे मोक्षप्राप्ति नहीं। होगी कैसे ? ।। ४५३ ।।

अतः चेतते कामविकार। विषयसुख को जो आतुर।
इह पर उससे जाते दूर। उद्धार होता नहीं।। ४५४।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। २४।।

इसीलिए धनंजया। जिसे आती अपनी दया।
वह न करे अवज्ञा। वेदवचनों की।। ४५५।।

पतिमतानुसार चल कर। पतिव्रता लेती प्राप्त कर।
आत्महित जिस प्रकार। अनांयास।। ४५६।।

श्रीगुरुवचन का पालन। करते हुए अर्जुन।
प्राप्त करता आत्मभुवन। शिष्य जैसे।। ४५७।।

अस्तु अपना गुप्त धन। प्राप्त करना हो अर्जुन।
तो सादर दीप प्रज्ज्वलन। करते जैसे।। ४५८।।

वैसे सकल पुरुषार्थ। जो चाहता करना प्राप्त।
शिरोधार्य करे सतत। श्रुतिस्मृति को।। ४५९।।

शास्त्रवचन में वर्जित। राज्य भी मानें तृणवत्।
प्राशन करें ग्राह्य वर्णित। विष ही क्यों न हो।। ४६०।।

जो ऐसे होकर एकनिष्ठ। वेदाज्ञा पालन करें श्रेष्ठ।
उसका होगा अनिष्ट। पार्थ कैसे ?।। ४६१।।

अहित से जो बचाती। हित देकर उसे बढ़ाती।
ऐसी जगत में श्रुति। माता एकमेव।। ४६२।।

जो कराती ब्रह्मप्राप्ति। कोई न तजे वह स्मृति।
अर्जुन तुम विशेष भक्ति। करो इसकी।। ४६३।।

यहाँ तुम्हारा जन्म अर्जुन। हुआ है इसी कारण।
कि सार्थक करो शास्त्रवचन। सदाचार से।। ४६४।।

तथा उपाधि यह सहज। तुम्हें मिली है अनुज।
व्यर्थ न करो उसे आज। त्यज स्वधर्म को।।४६५।।

कार्याकार्य का पाने ज्ञान। शास्त्रों को ही मानो प्रमाण।
शास्त्रानुसार जो हीन। कर्म त्यजो सर्वथा।।४६६।।

और जो उत्तम सत्य। अवश्य करो वह कृत्य।
हृदय में धारो नित्य। आदर से।।४६७।।

अखिल विश्व को प्रमाण। तुम्हारा अधिकार अर्जुन।
लोकसंग्रह के लिए पूर्ण। पात्र हो तुम ही।।४६८।।

आसुरी सम्पत्ति भीषण। उसका सारा स्वरूपलक्षण।
उसका किया निरूपण। भगवान ने।।४६९।।

इससे आगे अर्जुन। सद्भाव कर धारण।
जो पूछेगा करिए श्रवण। तन्मयता से।।४७०।।

श्रीव्यास की आज्ञा से। संजय ने कहा धृतराष्ट्र से।
कहूँगा वैसे निवृत्ति कृपा से। कहे ज्ञानदेव।।४७१।।

आप सारे संत सज्जन। कृपादृष्टि रखें पूर्ण।
तो सहज जाऊँगा बन। आपकी इच्छा जितना।।४७२।।

अतः आपका अवधान। यही देंगे पसाऊदान।
तो हो जाऊँगा मैं सनाथ। ज्ञानदेव कहता।।४७३।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
दैवासुरसम्पत्ति नामक समाप्त। उसका अध्याय सोलहवाँ।।

।। अध्याय सत्रहवाँ ।।

नमो श्रीगुरुरूप गणराय। तव माया योगनिद्रामय।
विश्व को करती विकासमय। सम्पूर्णतः ।। १।।

त्रिगुण-त्रिपुर से घिरा। जीवन-दुर्ग में जो धरा।
उस आत्मा को मुक्त करा। शंकर ने तब स्मरण से ।। २।।

शिव से तुलना करते। आप गुरुतर लगते।
मायाजाल से तारते। लगते हलके बहुत ।। ३।।

जो न जानते बुद्धिजड़। उन्हें लगते हो वक्रतुंड।
किन्तु ज्ञानी देखते अखण्ड। सरल मुख आपका ।। ४।।

दिव्य आपके छोटे नयन। किन्तु उनका उन्मीलन।
लीलया करता पूर्ण। प्रलयोत्पत्ति विश्व की ।। ५।।

हिलते लगते प्रवृत्ति-कर्ण। मंद गंध फैलाता पवन।
नीलकमल से करता पूजन। जीवभृंग ।। ६।।

जब हिलते निवृत्ति-कर्ण। पूजा का होता विसर्जन।
शुद्ध रूप का दर्शन। होता आपके ।। ७।।

वामांग शक्ति का विलास। जो यह जगत-आभास।
तब अस्तित्व-ताण्डव विशेष। देता चेतना उसे ।। ८।।

और सुनिये अद्भुत वार्ता। आपसे होता जिसका रिश्ता।
उसका नाता टूट जाता। अन्य सभी से ।। ९।।

आप तोड़ते सभी बंधन। अतः जगतबंधु मान ।
जो गहते आपकी शरण। श्रीगुरुदेव ।। १० ।।

उन्हें न रहता द्वैत-भान। अशेष होता देहज्ञान ।
द्वैत करते ही विलीन। निज रूप में आप ।। ११ ।।

आपको पृथक् मानते। फिर पाने को दौड़ते ।
आप उनके हाथ न आते। दूर रह कर ।। १२ ।।

आपका ध्यान जो मन में धरते। आप उनके तन में न रहते ।
ध्यान को जो भुलाते। ध्याता प्रिय आपको ।। १३ ।।

आपको स्वयंसिद्ध जान। जिसे न तब पृथक् ज्ञान ।
करता नहीं वह श्रवण। वेदवचनों का ।। १४ ।।

आपका राशिनाम मौन। चाव से कैसे करूँ स्तवन ।
सब माया जो दृश्यमान। भजे किसको ? ।। १५ ।।

आपका कहलाना सेवक। अद्वैत का होगा द्रोहजनक ।
अतः न हो कोई द्वैतमूलक। सम्बन्ध हमारा ।। १६ ।।

तोड़ दें सारे सम्बन्ध। तभी मिलेगा अद्वैतबंध ।
जानता मैं यह वर्म शुद्ध। आपका आराध्यदेव ।। १७ ।।

छोड़ कर अपनी भिन्नता। लवण पानी में रहता ।
वैसे अद्वैत भाव से करता। नमन आपको ।। १८ ।।

खाली घट सागर में। पूरा भर जाता पानी से ।
या बाती को संग दीप के। आती दीपकता ।। १९ ।।

वैसे देव निवृत्तिनाथा। आपके चरणों में रखते माथा ।
कृतार्थ होकर बताता। गीतार्थ में ।। २० ।।

सोलहवें अध्याय के अन्त में। समापन के श्लोक में ।
सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में। देव ने बताया ।। २१ ।।

कि कृत्य-अकृत्य की व्यवस्था। सही रखने के लिये भ्राता ।
शास्त्र को ही सर्वथा। मानो प्रमाण ।। २२।।

सुन कर यह कृष्णवचन। मन ही मन कहता अर्जुन ।
क्या शास्त्र के बिन। कर्म अगतिक ? ।। २३।।

भुजंग का फन तोड़कर। मणि लायें निकाल कर ।
शेर की नाक से उखाड़ कर। लायें बाल ।। २४।।

फिर उसमें मणि को पिरोयें। तभी गले में धारण करें ।
अन्यथा कंठ को रहने दें। क्या खाली ? ।। २५।।

शास्त्र हैं कई भिन्न। किसे होगा सबका ज्ञान ? ।
उनमें सहमति कर निर्माण। उपयोग कौन करेगा ? ।। २६।।

सहमति हो भी जाय। अनुष्ठान को किसे समय ? ।
किसे मिला है अभय। इतनी दीर्धायु का ? ।। २७।।

शास्त्र, अर्थ, देश, काल। किसी को गये भी मिल ।
शेष जन सकल। क्या करेंगे ? ।। २८।।

अतः शास्त्रोक्त भाषण। सबके लिये सम्भव न ।
तो मूढ़ मुमुक्षुजन। कौन गति पायेंगे ? ।। २९।।

यही जानने अभिप्राय। अर्जुन ने किया उपाय ।
वही प्रारम्भ में विषय। इस अध्याय का ।। ३०।।

सभी विषयों में तृष्णाहीन। जो सकल कलानिपुण ।
आश्चर्य का कारण। कृष्ण के लिये भी ।। ३१।।

जो शौर्य का आधार। सोमवंश का अलंकार ।
सुखदायी परोपकार। जिसकी लीला ।। ३२।।

जो प्रज्ञा का प्रियोत्तम। ब्रह्मविद्या का विश्राम ।
सहचर मनोधर्म। जो श्रीकृष्ण का ।। ३३।।

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। १ ।।

अर्जुन कहे हे तमालश्याम। इन्द्रियगोचर परब्रह्म ।
आपके वचन से भ्रम। होता मन में ।। ३४ ।।

बिना शास्त्रज्ञानी हुए। जीवनमोक्ष यदि ना पाये ।
तो अर्थ क्या बताइये। आपके वचन का ? ।। ३५ ।।

शास्त्राध्ययन को उचित। देशकाल नहीं प्राप्त ।
तथा अध्यापक समर्थ। दुर्लभ होता ।। ३६ ।।

तथा अध्ययन में सहायक। सामग्रियाँ जो अनेक ।
वे भी सहसा यकायक। सुलभ नहीं होतीं ।। ३७ ।।

प्राक्तन नहीं अनुकूल। प्रज्ञा सर्वथा प्रतिकूल ।
अतः न होता केवल। शास्त्राध्ययन ।। ३८ ।।

शास्त्रों में सर्वसम्मति। खोजने में असमर्थ मति ।
अतः जिन्होंने छोड़ दी। शास्त्रचर्चा ।। ३९ ।।

पर शास्त्रनिर्णयानुसार। यथार्थ अनुष्ठान कर ।
जो पहुंचते आनंदमन्दिर। परलोक के ।। ४० ।।

बनने की उनके समान। मन में पालते लगन ।
उन्हीं का अनुसरण। करते जो ।। ४१ ।।

सुलेख के अक्षर। बालक लिखता बार-बार ।
या अन्धा बनता अनुचर। सुनयन का ।। ४२ ।।

वैसे सर्वशास्त्रनिपुण। करते जैसा आचरण ।
उसे मानते जो प्रमाण। श्रद्धानुसार ।। ४३ ।।

कर शिवादिक का पूजन। भूमि सुवर्ण का महादान ।
अग्निहोत्रादि का यजन। करते जो श्रद्धा से ।। ४४ ।।

वे सत्व-रज-तम गुणी। कौन गति पाते चक्रपाणि ? ।
बताइये मुझे ज्ञानी। समझा कर ।। ४५ ।।

तब वैकुंठ का आराध्य लिंग। निगमपद्म का जो पराग ।
तथा यह सम्पूर्ण जग। जिसकी मात्र छाया ।। ४६ ।।

जो महाकाल की अनंतता। लोकोत्तर जिसकी प्रौढ़ता ।
तथा अद्वितीय गूढ़ता। आनंदघन जो ।। ४७ ।।

इन गुणों को प्राप्त ख्याति। जिसके कारण जग में फैलती ।
वह कृपालु श्रीपति। कहने लगा ।। ४८ ।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ।।

तुम्हारे मन की बात। हमें भलीभाँति ज्ञात ।
शास्त्राध्ययन को रुकावट। बताते हो ।। ४९ ।।

केवल श्रद्धा से, पार्थ। चाहते हो परम पद ।
पर सुलभ नहीं यह, प्रबुद्ध। लगता जैसे ।। ५० ।।

श्रद्धा यद्यपि श्रेष्ठ वीर। उसी पर न करो निर्भर ।
अत्यंजस्पर्श से विप्रवर। क्या न होगा अंत्यजाति ? ।। ५१ ।।

गंगाजल यदपि पवित्र। मद्यपात्र में रखा हो सुन्दर ।
न करें उसका स्वीकार। कदापि भी ।। ५२ ।।

चन्द्र शीतल स्वभावतः। किन्तु उसमें अग्नि लग जाता ।
क्या न उसकी दाहकता। जलायेगी हाथ ? ।। ५३ ।।

गलाते अशुद्ध सोना। उसमें शुद्ध भी मिलाना।
शुद्ध का मूल्य चुकाना। क्या धोखा नहीं ? ।। ५४ ।।

वैसे श्रद्धा मूलतः। यद्यपि शुद्ध अत्यन्त।
सम्पर्क में जब आवत। प्राणियों के ।। ५५ ।।

वे सभी प्राणीजन। अनादि माया के कारण।
सत्य-रज-तम से ही उत्पन्न। हुए होते हैं ।। ५६ ।।

इनमें दो के होते क्षीण। प्रबल होता तीजा गुण।
प्रवृत्तियाँ उनके समान। होती जीवों की ।। ५७ ।।

प्रवृत्ति के समान मन बनता। जैसा मन, वैसा कर्म होता।
कर्मानुरूप देह मिलता। मरणोपरान्त ।। ५८ ।।

बीज लोपता, वृक्ष बनता। वृक्ष में बीज समा जाता।
यों कल्पान्त चक्र चलता। पर न लोपता वृक्षत्व ।। ५९ ।।

वैसे जन्म-मरण अखण्डित। प्राणि मात्र को क्रम प्राप्त।
पर न होता खण्डित। त्रिगुणत्व उनका ।। ६० ।।

प्राणिमात्र में अतः। जो श्रद्धा होती उदित।
उसे त्रिगुणानुरूप निश्चित। पार्थ जानो ।। ६१ ।।

प्रबल होते सत्व शुद्ध। अंतर में होता ज्ञान प्रबुद्ध।
पर रज-तम हो विरुद्ध। रोकते उसे ।। ६२ ।।

श्रद्धा होकर सत्वाश्रित। जाती मोक्षफलपर्यन्त।
किन्तु मार्ग में अवरोध। रज-तम लाते ।। ६३ ।।

सत्वगुण को हटा कर। रजोगुण होता प्रखर।
कर्मकूड़ा झाड़-बुहार। वही श्रद्धा निकालती ।। ६४ ।।

जब तम की आग भभकती। कर्मप्रेरणा नहीं रहती।
मनचाहे भोगों के प्रति। श्रद्धा करती प्रवृत्त ।। ६५ ।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। ३ ।।

अतः जीव मात्र में श्रद्धा। त्रिगुणरहित सर्वथा ।
होती ही नहीं पार्था। जानो सुनिश्चित ।। ६६ ।।

तामस, राजस, सात्विक। श्रद्धा है त्रिगुणात्मक ।
विभिन्नता से स्वाभाविक। समझो अर्जुन ।। ६७ ।।

जल तत्त्वतः होता जीवन। विष के संग हरता प्राण ।
काली मिर्च में तीखापन। मधुर होता ईख में ।। ६८ ।।

वैसे तमोगुण से प्रभावित। जो जन्म मृत्यु को पावत ।
उनकी श्रद्धा परिणत। तमानुरूप होती ।। ६९ ।।

काजल तथा स्याही। इनमें जैसे भेद नहीं ।
वैसे श्रद्धा तथा तम में भी। भेद नहीं रहता ।। ७० ।।

राजसी जीव की, सुभद्रापति। श्रद्धा राजसी ही होती ।
तथा श्रद्धा सात्विक की। होती सात्विक ।। ७१ ।।

ऐसे यह विश्व समस्त। कीड़े से ब्रह्मापर्यन्त ।
गढ़ा गया है निश्चित। श्रद्धामय ही ।। ७२ ।।

पर अपने प्रभाव से त्रिगुण। श्रद्धा पर लगाते तीन चिह्न ।
दिखते सुस्पष्ट अर्जुन। चीन्हो उन्हें ।। ७३ ।।

वृक्ष को जानें फूल से। मन को वाणी वचन से ।
इस जन्म के भोगों से। पूर्वजन्म का प्राक्तन ।। ७४ ।।

वैसे, अर्जुन, देखते ही। श्रद्धा के रूप तीनों ही ।
किन चिन्हों से पहचान सही। देते अपनी, सुनो ।। ७५ ।।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।। ४ ।।

धनुर्धर, जिनका। देह सात्विक श्रद्धा का।
उनकी मति स्वर्ग का। बहुधा करती विचार।। ७६।।

वे नाना विद्यायें सीखते। यज्ञयाग की चर्चा करते।
देवलोक में पा लेते। अन्ततः सद्गति।। ७७।।

तथा कौन्तेय जिनका। देह राजस श्रद्धा का।
वे राक्षस पिशाचों का। करते पूजन।। ७८।।

जिनकी श्रद्धा तामसी। वे केवल पापराशि।
होते मन से, गुडाकेशी। अतिकठोर निर्दय।। ७६।।

जीवहत्या कर बलि चढ़ाते। नित्य श्मशान में रहते।
शाम को पूजा करते। भूत प्रेतों की।। ८०।।

जो तमोगुण का निचोड़। निकाल गढ़े नर दुष्ट।
वे जानो होते गढ़। तामसी श्रद्धा के।। ८१।।

त्रिविध श्रद्धा विश्वमाहीं। ऐसी होती देखो भाई।
किन्तु यहाँ मैंने बताई। इसीलिये।। ८२।।

कि संवर्द्धन प्रयत्नपूर्वक। करो श्रद्धा का जो सात्विक।
अन्य दोनों का निश्चयपूर्वक। त्याग करो।। ८३।।

इस सात्विक श्रद्धा का, अर्जुन। करता जो भरण-पोषण।
उसके लिये कैवल्य स्थान। दुर्लभ नहीं।। ८४।।

उसने न सीखा हो ब्रह्मसूत्र। न पढ़े हो अन्य शास्त्र।
नाना मतों का स्वतंत्र। समन्वय न किया हो।। ८५।।

कर श्रुतिस्मृति का अन्वयार्थ। होते जो तद्रूप समर्थ।
आचार करते यथार्थ। जग के लिये।। ८६।।

उनका देख कर आचरण। सात्विक श्रद्धा से अर्जुन।
करता जो अनुसरण। वही फल पाता।। ८७।।

बाले दीप से किसी के। कोई दीप जला ले अपने।
क्या वह प्रकाश से। होता वंचित ? ।। ८८।।

धन लगा कर अपार। एक ने बनाया घर।
उसमें बसे जो इतर। क्या न होता सुखी ? ।। ८९।।

जो सरोवर बाँधता। क्या उसी की वह तृषा हरता ?।
क्या अन्न तृप्त करता। केवल रसोइये को ? ।। ९०।।

गौतम गंगा ले आये। क्या वह पवित्र उन्हीं के लिये ?।
तथा शेष सभी के लिये। केवल नाला ? ।। ९१।।

अतः जो सुज्ञ जन। करते शास्त्रोक्त अनुष्ठान।
श्रद्धा से कर उनका अनुसरण। मूर्ख भी तर जाते ।। ९२।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। ५ ।।

जो नाममात्र के लिये भी। शास्त्र न जानते कोई।
शास्त्री को आने देते ही। अपने द्वार ।। ९३।।

बड़ों की धर्मक्रिया देखते। जो उनको मुँह चिढ़ाते।
अपनी ढपली बजाते। पंडितसभा में ।। ९४।।

अपने ही अहंकार में। अमीरी के घमंड में।
तप आचरते दम्भ में। वे पाखंडी ।। ९५।।

अपने या दूसरे पर। शस्त्र के वार कर।
रक्त मांस से लेते भर। यज्ञपात्र वे ।। ९६।।

यज्ञवेदी में धधकती। पिशाच को देते आहुति।
पूरी करने मनौती। शिशुबलि चढ़ाते ।। ९७।।

क्षुद्र देवता को रिझाने। दुराग्रह से मनमाने।
सप्ताह व्रत रखते अनजाने। रह कर निराहार ।। ९८।।

तमोगुण के खेत में। निज पर पीड़ा को बोते ।
फिर उसीकी काटते। फसल, अर्जुन ।। ९९ ।।

जिसके दोनों हाथ नहीं। नाव में बैठता नहीं ।
ऐसे मूर्ख की सागर माहीं। होती दुर्गति ।। १०० ।।

वैद्य से जो द्वेष करता। औषधि को ठुकरा देता ।
ऐसा बीमार मूर्ख क्या होता। यातनामुक्त कभी ? ।। १०१ ।।

सनयन से जल कर। अपने फोड़ ले जो नेत्र ।
वह अंधा होकर। पड़ा रहता घर में ।। १०२ ।।

वही गति उन असुरों की। जो निन्दा करते शास्त्रों की ।
फिर भटकते मोह वन की। ख़ाक छानते ।। १०३ ।।

करते जो काम करवाता। मारते जिन्हें क्रोध मरवाता ।
मुझे दुखशिला तले दबाता। उनका अविचार ।। १०४ ।।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। ६ ।।

देह में अपने या पराये। जो भी दुख पहुँचाते ये ।
मैं सर्वात्मा वे यातनाएं। स्वयं भोगता हूं ।। १०५ ।।

नाम भी इन पापियों का। न ले किसी की वाचा ।
पर कहना पड़ा, क्योंकि उनका। त्याग करो तुम ।। १०६ ।।

प्रेत को ढो ले जाना। या अन्त्यज से बतियाना ।
या गंदगी साफ़ करना। अपने हाथों ।। १०७ ।।

इसमें शुद्धि का प्रयोजन। अतः स्पर्शदोष लगता न ।
वैसे इन दुष्टों का वर्णन। किया त्यागहित ।। १०८ ।।

इनका होते ही दर्शन। करें मेरा नामस्मरण ।
निष्फल होगा अन्य। प्रायश्चित यहाँ ।। १०९ ।।

अतः सात्विक श्रद्धा ही। एक है सर्वोपरि ।
उसकी रक्षा सही-सही। करो बार-बार ।। ११० ।।

संग धरो पार्थ उनका। जो परिपोष करें सत्व का ।
सत्वपोषक आहार का। बना लो नियम ।। १११ ।।

यह निश्चित लो जान। कि स्वभाव बुद्धि का कारण ।
एक आहार के सिवा अन्य। कोई नहीं ।। ११२ ।।

प्रत्यक्ष में देखो अर्जुन। होश में करे जो मद्यप्राशन ।
उस पर उन्माद तत्क्षण। चढ़ता उसका ।। ११३ ।।

हम जो करते अन्न भक्षण। वह त्रिदोष का करता पोषण ।
क्या दूध से होता शमन। नवज्वर का ? ।। ११४ ।।

या करते अमृत सेवन। होता मृत्यु का निवारण ।
तथा करते विषभक्षण। परिणाम निश्चित ।। ११५ ।।

जो भी लेते हम आहार। उस धातु का होता शरीर ।
तथा बढ़ते तदनुसार। मनोभाव हमारे ।। ११६ ।।

जैसे तपाते बरतन। पानी होता ऊष्ण ।
वैसे चित्तवृत्ति बनती, अर्जुन। धातु अनुसार ।। ११७ ।।

सात्विक रस का करते सेवन। बढ़ने लगता सत्वगुण ।
अन्य रसों से होता पोषण। राजस तामस गुणों का ।। ११८ ।।

कैसे होता सात्विक आहार। अन्यों के कौन से प्रकार ।
सुनाता हूँ, धनुर्धर। सादर सुनो ।। ११९ ।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ।। ७ ।।

सर्वसामान्य जो आहार। उसके होते तीन प्रकार ।
कैसे, यही सविस्तार। बताता हूँ ।। १२० ।।

जैसी खाने वाले की रुचि। वैसी पकवान की निष्पत्ति ।
भोक्ता में त्रिगुणों की। होती दासता ।। १२१।।

जो जीव कर्ता भोक्ता। त्रिगुणों में पा त्रिविधता ।
तीन प्रकार से करता। व्यवहार भारत ।। १२२।।

अतः त्रिविध है आहार। यज्ञ के भी तीन प्रकार ।
तप, दान, यज्ञ व्यापार। होते त्रिविध ही ।। १२३।।

किन्तु कहा करूँगा निवेदन। पहले आहार लक्षण ।
उसी का करो श्रवण। एकाग्रता से ।। १२४।।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।। ८ ।।

सुदैव से हो सद्गुणी भोक्ता। मधुर रस पकवान में उतरता ।
स्वाद उसे खूब भाता। धनंजय ।। १२५।।

जिनमें होती सुरसता। स्वाद में होती रुचिरता ।
स्निग्धता तथा पक्वता। ऐसे व्यंजन जो ।। १२६।।

जो आकार में नहीं शिथिल। स्पर्श में सौम्य मृदुल ।
स्वाद में स्नेहिल। लगते रसना को ।। १२७।।

रसभरे बड़े फल। जिनमें न पड़ी हो कील ।
जो गरमी से पके रसैल। पेड़ों पर ही ।। १२८।।

जैसे गुरुमुख का अक्षर। अल्प किन्तु अति हितकर ।
वैसे जो तृप्ति देते अपार। अल्प सेवन से ।। १२९।।

खाने में लगता मधुर। परिणाम में भी हितकर ।
ऐसा अन्न प्रियतर। सात्विकों को ।। १३०।।

ऐसे होते हैं लक्षण। सात्विक अन्न के अर्जुन ।
इसी का करते सेवन। बढ़ती आयु ।। १३१।।

इस सात्त्विक रस की वृष्टि। ज्यों-ज्यों देह पर होती ।
त्यों-त्यों देह में सुभद्रापति। आता ज्वार दीर्घायु का ।। १३२ ।।

जैसे, बढ़ने को दिनमान। सूर्य ही होता कारण ।
वैसे, सारे सत्वलक्षण। बढ़ते आहार से ।। १३३ ।।

शरीर तथा मन का, भ्राता। जो शक्तिवर्द्धन करता ।
उस सात्विक आहार को सेवता। उसे रोग कैसे ? ।। १३४ ।।

सात्विक अन्न भक्षण। स्वास्थ्य करता प्रदान ।
मानो देह का भाग्य उदित। हो जाता ।। १३५ ।।

सकल सुखों का निधान। उत्तम आचारयुत जीवन ।
आनंद से मैत्री सघन। बढ़ाता जाता ।। १३६ ।।

सात्विक आहार के अर्जुन। परिणाम होते महान ।
देह को करता प्रदान। सुख अन्तर्बाह्य ।। १३७ ।।

अब राजसों की प्रीति। जिस अन्न से हुआ करती ।
उसके लक्षण सम्प्रति। बताता हूँ ।। १३८ ।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।। ९ ।।

कालकूट जो न मारता। रुचि में इतना कड़वा होता ।
अथवा बहुत ही खट्टा। दाहक चूने से भी ।। १३९ ।।

जितना पानी आटे में। उतना नमक डालता अन्न में ।
उतने ही अनुपात में। मिलाता अन्य रस ।। १४० ।।

इतना खारा अत्यन्त। राजस को प्रिय होत ।
उष्ण खाने के निमित्त। लीलता आग को ।। १४१ ।।

जिनकी केवल भाँप से। बातियाँ जल उठतीं वेग से ।
उष्ण पदार्थ ऐसे-ऐसे। खाते राजसी जन ।। १४२ ।।

जो आँधी से तेजतर। सब्बल से भी प्रखर।
बिना घाव के करे प्रहार। खाते तीखा इतना ।। १४३ ।।

जो राख से भी प्रत्यक्ष। अन्तर्बाह्य अति रुक्ष।
राजस को भाते भक्ष्य। व्यंजन ऐसे ।। १४४ ।।

जिन्हें चबाते हुए पार्थ। दाँतों को पीसते दाँत।
ठूँसते ऐसे पदार्थ। मुख में हर्ष से ।। १४५ ।।

चटपटा जैसे अंगार। उसमें लगाते सरसों पीस कर।
जिसे खाते बराबर। नाक, कान झुनझुनाते ।। १४६ ।।

आग को भी पीछे छोड़ता। ऐसा रसीला रायता।
राजसी को लगता। प्रिय प्राणों से ।। १४७ ।।

ऐसे सर्वदा बुभुक्षित। जिह्वालौल्य से पीड़ित।
भुक्खड़पन से नित्य। पेट में भरते अंगारे ।। १४८ ।।

दाह से जलता पेट। फिर होते लोटपोट।
पीते रहते गटगट। ठण्डा पानी ।। १४९ ।।

यह नहीं अन्नसेवन। है विषैला मदिरापान।
जिससे जागते, अर्जुन। व्याधिसर्प देह में ।। १५० ।।

आपस में होड़ लगाते। नाना रोग देह में उठते।
राजसी आहार से, सुभद्रापते। फलते यों दुःख ।। १५१ ।।

राजसी होता जो अन्न। उसका किया यहाँ वर्णन।
परिणाम का निवेदन। कर दिया है ।। १५२ ।।

अब आहार जिसे तामसी जन। विशेष प्रिय मानते अर्जुन।
सुनते जिसका वर्णन। घिन उठेगी मन में ।। १५३ ।।

सड़ा-गला जूठा खाते। अपना अहित नहीं जानते।
भैंस खाती, सुभद्रापते। जैसे सानी ।। १५४ ।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। १० ।।

आज प्रातः का तीसरे प्रहर। आज रात का कल दोपहर ।
ऐसा बासी भोजन प्रियतर। तामसियों को ।। १५५ ।।

व्यंजन जो अधपके। अथवा अत्यंत झुलसे, जले ।
या न हुए रसीले। भाते तामसी जनों को ।। १५६ ।।

जो भलीभाँति पका। या सुरसों से भरा नीका ।
उसे अन्न ही न मानने का। स्वभाव तामसी का ।। १५७ ।।

कहीं कभी भूल से। उत्तम अन्न मिला उसे ।
व्याघ्र-सा न खायेगा उसे। दुर्गन्ध छूटते तक ।। १५८ ।।

बहुत दिनों का रखा-रखाया। जो सूखा स्वादहीन हो गया ।
जिसमें पड़ गयी इल्लियाँ। कीड़े-कीटक ।। १५९ ।।

उसे भी छोटे बालक-सा। बना कर काला खासा ।
एक ही थाली में भुक्खड़-सा। खाता सपरिवार ।। १६० ।।

ऐसा गंदा खाने पर। भोजनसुख पाता अपार ।
फिर भी तृप्त न होता पर। वह पापी ।। १६१ ।।

और देखो बात अद्‌भुत। जो-जो पदार्थ है दूषित ।
तथा शास्त्रों द्वारा वर्जित। पार्थ, सर्वथा ।। १६२ ।।

उन अपेयों का पान। करते अभक्ष्य भक्षण ।
वृत्ति होती उत्तान। तामसी जनों की ।। १६३ ।।

ऐसा तामसी आहार, भ्राता। जिसे अत्यन्त प्रिय होता ।
उसका फल भी मिल जाता। उसे तत्काल ।। १६४ ।।

ऐसे जो अपवित्र अन्न। उसका करता जो भक्षण ।
वह हो जाता तत्क्षण। पाप का भागी ।। १६५ ।।

यह तामसी भक्षण। वास्तव में नहीं भोजन।
वह तो पेट में भरण। यातनाओं का ।। १६६ ।।

परिणाम शिरच्छेद का। अथवा अग्निप्रवेश का।
क्या अनुभव लेते इसका ?। पर तामसी सहता वही ।। १६७ ।।

अर्जुन से कहते श्रीकृष्ण। ऐसा जो तामसी अन्न।
उसके परिणाम का वर्णन। अलग से करें क्यों ? ।। १६८ ।।

अब सुनो आगे भ्राता। आहारानुसार तत्त्वतः।
यज्ञ भी त्रिविध होता। सात्त्विक, राजस, तामस ।। १६९ ।।

इन तीनों में प्रथम। सात्विक यज्ञ उत्तम।
उसका बताता हूँ मर्म। महाबाहो तुम्हें ।। १७० ।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। ११ ।।

पतिव्रता का पवित्र मन। एक प्रिय पति के बिन।
अन्यों के प्रति काम धारण। करता नहीं कभी ।। १७१ ।।

सागर में होते विलीन। गंगा का न आगे गमन।
या होते आत्मदर्शन। वेद होता प्रशान्त ।। १७२ ।।

वैसे, स्वहित के कारण। चित्त का करता शमन।
फल के हित देहाभिमान। न रखता मन में ।। १७३ ।।

वृक्ष-जड़ तक पहुँच कर। जल न आता लौट कर।
रहता विलीन होकर। उसी के अंग में ।। १७४ ।।

वैसे काया, वाचा, मन से। यज्ञकर्म में हो निमग्न से।
फल की आशा उससे। रखते नहीं ।। १७५ ।।

फल की अभिलाषा त्यज कर। अधर्म से विरक्त होकर।
यथाविधि जो होता सम्पूर्ण। वह यज्ञ उत्तम ।। १७६ ।।

दर्पण लेते कर में। अपना रूप व्यक्त उसमें।
अथवा दीप प्रकाश में। रत्न दिखता हथेली पर ।।१७७।।

या उदित होते दिनकर। मार्ग दिखता सुकर।
वैसे वेदों का आधार। लेकर पूर्णतः ।।१७८।।

कुंड, मंडप, वेदी रचते। अन्य सामग्री प्राप्त करते।
लगती जो देखते। शास्त्र-संचित ।।१७९।।

जैसे उचित स्थान पर। खूब सुहाते अलंकार।
वैसे योग्य स्थान पर। रखते सामग्री ।।१८०।।

क्या बताऊँ धनुर्धर। लगता यज्ञविद्या हो साकार।
पहन कर अलंकार। आई यज्ञ करने ।।१८१।।

अर्जुन ऐसे जो याग। पूर्ण होता सांगोपांग।
रखे बिना कोई भाग। अहंकार का ।।१८२।।

पानी दे कर नहर का। आँगन में पौध तुलसी का।
लगाते फल-फूल छाया का। अभिलाष रखे बिन ।।१८३।।

वैसे फलाशा के बिन। जो यज्ञ होता परिपूर्ण।
उसे ही जानो अर्जुन। यज्ञ सात्विक ।।१८४।।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१२।।

दूसरा जो राजस यज्ञ। होता सात्त्विक के समान।
किन्तु श्राद्धभोज का आमंत्रण। राजा को जैसे ।।१८५।।

राजा यदि घर पधारेगा। तो बड़ा ही लाभ होगा।
यश सर्वत्र फैलेगा। श्राद्ध तो होगा ही ।।१८६।।

ऐसी फलाशा से भरा चित्त। कहते स्वर्ग होगा प्राप्त।
दीक्षित रूप में होंगे ख्यात। यज्ञ भी सधेगा ।।१८७।।

ऐसे फल प्राप्त करने। अपना महत्त्व बढ़ाने।
प्रस्तुत जो यज्ञ करने। उनके यज्ञ राजस ।। १८८ ।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। १३ ।।

पशु-पक्षियों के विवाह माहीं। पंडत होता काम ही।
वैसे तामस यज्ञ माहीं। दुराग्रह मूल ।। १८९ ।।

बयार राह खोजती नहीं। मृत्यु का मुहूर्त होता नहीं।
अग्नि कभी डरता नहीं। निषिद्ध से ।। १९० ।।

वैसे तामस का आचरण। सर्वथा विधिविहीन।
अतः उसे अर्जुन। जानो उच्छृंखलता ।। १९१ ।।

वहाँ न होता विधिनियम। मंत्र-तंत्र का क्या काम।
अन्नदान में ऐसा संयम। मक्खी रहती भूखी ।। १९२ ।।

ब्राह्मणों का वैराग्य जहाँ। कैसे दक्षिणा होगी वहाँ ?।
अग्नि की होती सखी महा। आँधी जैसे ।। १९३ ।।

निःसंतान को आते मरण। वंश होता जैसे वीरान।
वैसे खर्च होकर धन। श्रद्धा का नाम नहीं ।। १९४ ।।

ऐसा जो यज्ञ आभास। उसे नाम यज्ञ तामस।
अर्जुन से कहे श्रीनिवास। सुनो ध्यान से ।। १९५ ।।

जैसे, गंगाजल एक। देते प्रयोजनों में अनेक।
उपयोगानुसार नेक। आती शुद्धाशुद्धता ।। १९६ ।।

वैसे, तीन गुणों से एक तप। यहाँ हुआ है त्रिरूप।
एक से लगता पाप। दूजा उद्धार करता ।। १९७ ।।

एक तप के भेद तीन। जानना चाहो उनका कारण।
तो पहले तपलक्षण। समझ लो ।। १९८ ।।

जिसे जन कहते तप। उसका पहले सुनो स्वरूप।
फिर बताऊँगा पृथक रूप। तीनों भेदों का ।।१९९।।

जो तप है सम्यक। वह शारीर, वाचिक।
तीसरा है मानसिक। ये हैं तीन प्रकार ।।२००।।

इन तीनों में अर्जुन। शारीर तप के लक्षण।
शंभु अथवा नारायण। जो भी भाता देवता ।।२०१।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। १४ ।।

प्रिय देवता के करने दर्शन। करते हुए तीर्थाटन।
विश्राम नहीं करते चरण। आठों पहर ।।२०२।।

देवालय झाड़ने-बुहारने। पूजा-साहित्य जोड़ने।
देवता की सेवा करने। हाथ जिनके उत्सुक ।।२०३।।

दर्शन लिंगप्रतिमादि के। पथ में जहाँ भी होते।
वहीं भक्तिपूर्वक करते। साष्टांग दंडवत ।।२०४।।

विद्या-विनयसम्पन्न। ऐसे जो वरिष्ठ ब्राह्मण।
उनका करते पादपूजन। मनोभाव से ।।२०५।।

प्रवास में श्रान्त। संकट से जो पीड़ित।
ऐसे जीव जब मिल जाते। उन्हें देते सुखसुविधा ।।२०६।।

सभी तीर्थो में भ्राता। माता-पिता श्रेष्ठ सर्वथा।
उनकी सेवा में ऐसी आस्था। कि तन करते निछावर ।।२०७।।

जिसका होते ही दर्शन। टलते भवताप दारुण।
जो ज्ञान-दान में अति करुण। भजते सद्गुरु ।।२०८।।

अग्नि में स्वधर्म के। पुट चढ़ा स्वाध्याय के।
जलाता देहाभिमान के। सारे अशुद्ध को ।।२०९।।

भूतमात्र में ब्रह्मवंदन। जो परोपकारपरायण।
सर्वोपरि नियमन। जिसका नारीसम्बन्ध में ।। २१० ।।

एक बार ही जन्म समय। स्त्रीस्पर्श होता निरुपाय।
उसके आगे सभी समय। अछूता रहता स्त्रीस्पर्श से ।। २११ ।।

घास में कीड़े देखता। तो उसे भी नहीं रौंदता।
तोड़-फोड़ नहीं करता। न ही मर्मच्छेद ।। २१२ ।।

ऐसा आचरण धनुर्धर। अनायास करे शरीर।
वहाँ जानो तप शारीर। विकसित पूर्ण ।। २१३ ।।

पार्थ, यह समस्त आचरण। होता शरीर के कारण।
अतः उनका नामाभिधान। शरीर तप है ।। २१४ ।।

ऐसा जो शारीर तप। उसका बताया स्वरूप।
अब सुनो जो निष्पाप। तप वाचिक ।। २१५ ।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। १५ ।।

बिना बिगाड़े आकारमान। बिना घटाये वजन।
पारस करता सुवर्ण। लोहे का जैसे ।। २१६ ।।

वैसे बिना दिये कोई दुःख। श्रोता को देता सुख।
जिसकी वाचा में अनायास। साधुता ऐसी ।। २१७ ।।

पानी पेड़ों के लिये बहता। घास अनायास पलता।
वैसे एक के लिये जो बोलता। करता सबका हित ।। २१८ ।।

अमृतगंगा मिल जाती। प्राणों को अमरता देती।
नहाते पापताप हरती। प्राशन में मधुर ।। २१९ ।।

वैसे अविवेक मिटाता। आत्मा-परमात्मा से मिलता।
सुनते मन नहीं अघाता। अमृतवाणी ।। २२० ।।

यदि कोई करे प्रश्न। तो उतना ही करता भाषण।
अन्यथा वेद-पारायण। अथवा **नाम-जाप ।। २२१।।**

ऋग्वेदादिक वेदत्रय। वाग्भवन को करते आलय।
जिसका वदन निरामय। मानो वेदशाला ।। २२२।।

नाम शिव या विष्णु का। नित्य मुख में नाचता।
वही वाचिक तप होता। जानो पार्थ ।। २२३।।

अब तप जो मानसिक। सुनाता हूँ सुनो ठीक।
ऐसा कहे विश्वनायक। भारत से ।। २२४।।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। १६ ।।

सरोवर तरंगविहीन। आकाश मेघों के बिन।
या सर्पविरहित उद्यान। चन्दन का ।। २२५।।

सकल कलायुत चन्द्र। सर्व चिन्तामुक्त नरेन्द्र।
मंदाररहित समुद्र। होवे जैसा ।। २२६।।

वैसे नाना विकल्प-जाल। निर्मूल जहाँ सकल।
मन रहता केवल। निमग्न स्वरूप में ।। २२७।।

उष्णता बिन प्रकाश। जाड्यताविहीन अन्न-रस।
अवकाशरहित आकाश। होवे जैसा ।। २२८।।

वैसे होते आत्मज्ञान। अचंचल होता मन।
जैसे जाड़े से, अर्जुन। जाड़ा नहीं ठिठुरता ।। २२९।।

फिर निश्चल तथा कलंकहीन। शशि बिम्ब जैसे पूर्ण।
वैसे प्रशान्त रहता मन। केवल आनंद में ।। २३०।।

बुझी वैराग्य की उमस। नष्ट मन का असमंजस।
भूमिका केवल रही शेष। आत्मबोध की ।। २३१।।

करने शास्त्रार्थ-विवेचन। थकाना पड़ता जो वदन।
वहीं पर धरता मौन। सदा-सर्वदा ।। २३२ ।।

स्वरूप का होते ज्ञान। निज अस्तित्व भुलाता मन।
जैसे लवणत्व-लवण। खोता जलस्पर्श से ।। २३३ ।।

फिर कैसे उठेंगे यहाँ भाव। जो इन्द्रियपथ पर खा ताव।
दौड़ पहुँचाते भोग के गाँव। मानस को ? ।। २३४ ।।

अतः पाता ऐसा मानस। भावशुद्धि अनायास।
हथेली बिना केश। पाती शुद्धता जैसे ।। २३५ ।।

अन्य क्या करें भाषण। ऐसी अवस्था पाता मन।
तब जानो हुआ पूर्ण। तप मानसिक ।। २३६ ।।

मानसिक तप के लक्षण। यहाँ बताये सम्पूर्ण।
अर्जुन से कहे श्रीकृष्ण। समझो भली-भाँति ।। २३७ ।।

ऐसे काया, वाचा, मन से। जो तप होते त्रिविध से।
उनके सामान्य लक्षण तुमसे। बतायें यहाँ ।। २३८ ।।

ऐसे तप के ये तीन प्रकार। उनके त्रिगुणात्मक विकार।
कैसे होते सविस्तार। बताता हूँ ।। २३९ ।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।। १७ ।।

तप के जो भेद तीन। तुम्हें किये निवेदन।
श्रद्धा से फलाशाबिन। करो पार्थ ।। २४० ।।

सत्वशुद्धि कर सम्पूर्ण। अस्तिक्य भाव कर धारण।
जो होता तपाचरण। वह सात्विक कहलाता ।। २४१ ।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं, राजसं चलमध्रुवम् ।। १८ ।।

करते यह तपाचरण। प्राप्त करने बड़प्पन ।
अपना हाँकते अलगपन। जो संसार में ।। २४२ ।।

त्रिलोक का सकल सम्मान। अपने सिवा किसी को मिले न ।
पंगत में भी पहला स्थान। मिले स्वयं को ।। २४३ ।।

विश्व भर के सभी जन। करें हमारा ही स्तवन ।
करने हमारा दर्शन। भीड़ हो लोगों की ।। २४४ ।।

मिल कर समस्त जन। करें हमारा ही पूजन ।
महत्व के भोग सम्पूर्ण। प्राप्त हो हमें ही ।। २४५ ।।

ऐसे अपना महत्त्व बढ़ाने। तामस का ढोंग रचाते ।
रूप का प्रदर्शन जैसे। करती बूढ़ी वेश्या ।। २४६ ।।

धन-सम्मान की रख आस। करते तप सायास ।
वह कहलाता राजस। तप अर्जुन ।। २४७ ।।

थनेला जिसका चूसे स्तन। उस गाय का अशक्य दोहन ।
पशु चराते खेत में अर्जुन। फ़सल नहीं उगती ।। २४८ ।।

वैसे फैलाने अपनी ख्याति। तप करते जो सुभद्रापति ।
उन्हें उसकी फलप्राप्ति। होती नहीं सर्वथा ।। २४९ ।।

तप से फलप्राप्ति न देखते। वे तप ही छोड़ देते ।
अतः तप में ऐसे। न होती स्थिरता ।। २५० ।।

असमय नभ में घुमड़ता। गर्जन से ब्रह्माण्ड भेदता ।
ऐसे मेघ का होता। अस्तित्व क्षणिक ।। २५१ ।।

ऐसे राजस तप का फल। परिणामतः निष्फल ।
एवम् निरर्थक केवल। आचार उसका ।। २५२ ।।

राजस तप से स्वर्ग कीर्ति । इनकी तो होती प्राप्ति ।
किन्तु उससे भी वंचित होती। तामसी तपश्चर्या ।। २५३ ।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। १६ ।।

मन में रख कर घोर। मूर्खता का अहंकार ।
मानो करते बैर। शरीर से ही ।। २५४ ।।

उष्णता जो देह में व्याप्त। पंचाग्नि-सी करते प्रदीप्त ।
ईंधन-सा उसमें आहुत। करते देह को ।। २५५ ।।

मस्तक पर गुग्गुल जलाते। पीठ में अँकुसी चुभोते ।
अपने चहुँ और जलाते। अग्निज्वाला ।। २५६ ।।

साँस को रोक लेतें। व्यर्थ उपवास करते ।
देह को उल्टा टाँग लेते। घूँट लेते धुएँ का ।। २५७ ।।

गले तक जल में ठण्डे। चट्टान पर बैठे-बैठे ।
नोच-नोच कर निकालते। अपने ही अंग ।। २५८ ।।

ऐसे नाना ढंग से अर्जुन। करते स्वकायापीड़न ।
दूसरों का करने हवन। तप आचरते ।। २५९ ।।

शिखर से लुढ़का पाषाण। स्वयं होता विदीर्ण ।
आड़े आये का चूर्ण। करता जैसे ।। २६० ।।

वैसे, कर आत्मपीड़न। करते जो तपाचरण ।
जीतने को अन्य जन। श्रेष्ठ तथा सुखी ।। २६१ ।।

ऐसे अत्यन्त अनिष्ट। करते नानाविध कष्ट ।
अर्जुन जानो उसे दुष्ट। तप तामसी ।। २६२ ।।

यों सत्वादि गुणानुरूप। त्रिविध होते जो तप ।
उनका किया स्वरूप। विशद यहाँ ।। २६३ ।।

बातों-बातों में क्रमप्राप्त। त्रिविध दान आते निश्चित ।
उनका स्वरूप भी पार्थ। अब सुनो ।। २६४ ।।

जग में त्रिविध हैं गुण। अतः त्रिविध हुए दान।
प्रथम सात्विक दान के लक्षण। सुनो अर्जुन ।। २६५ ।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।। २० ।।

स्वधर्म का कर सही पालन। प्राप्त होगा जो धन।
उसी का करो दान। सम्मानपूर्वक ।। २६६ ।।

बीज यदपि उत्तम होता। उर्वर खेत नहीं मिलता।
दान करते यही आता। बहुधा प्रसंग ।। २६७ ।।

अनमोल रत्न हाथ आता। तब सोना दुर्लभ होता।
दोनों हो तब होता। अभाव सुदेह का ।। २६८ ।।

पर्व सम्पत्ति तथा सुहृद। सभी आते एक साथ।
जब अनुकूल है होत। ग्रहयोग हमारे ।। २६९ ।।

वैसे होने को योग्य दान। सहायक होता सत्वगुण।
तब देश काल सत्पात्र धन। अनुकूल होते ।। २७० ।।

काशी अथवा कुरुक्षेत्र। दान के लिये उचित तीर्थ।
अथवा इनके समान क्षेत्र। हो कोई दूसरा ।। २७१ ।।

वहाँ चन्द्र-सूर्य के ग्रहण। वही पुण्य पर्व जान।
अथवा हो इनके समान। पवित्र काल कोई ।। २७२ ।।

ऐसे समय उस स्थान पर। जो शुचित्व साकार।
ऐसा पुरुष धर्मावतार। हो दान लेने ।। २७३ ।।

सदाचार का मूल धाम। वेदज्ञान का गोदाम।
ऐसा हो द्विजोत्तम। दान लेने ।। २७४ ।।

उसे करें वित्त दान। कर ममत्व का त्यजन।
जैसे कान्ता करती गमन। प्रिय के पास ।। २७५ ।।

थाती रखी जो सुरक्षित। जिसकी उसे करना अर्पित ।
या ताम्बूल बना के देत। जैसे सेवक राजा को ।। २७६ ।।

वैसे पूरे निष्काम बन। भूमि धनादि का करे दान ।
मन में न हो उत्थापन। फल की इच्छा का ।। २७७ ।।

जिसे दें ऐसा दान। वह भी हो इतना सज्जन ।
कि उससे कदापि हो न। लाभ कोई ।। २७८ ।।

आकाश में दी गुहार का। कोई उत्तर नहीं मिलता ।
अथवा उल्टे दर्पण में आता। दिखता न रूप ।। २७९ ।।

अथवा गेंद पानी पर। मारी पूरी शक्ति लगा कर ।
वह न लेती उछाल ऊपर। आती न हाथ में ।। २८० ।।

खिलाई घास साँड को। सम्मान दिया अधम को ।
कृतघ्न किये उपकार को। स्मरता नहीं ।। २८१ ।।

वैसे जो दाता पर। कर न सकता प्रत्युपकार ।
प्रत्युपकार की और। अपेक्षा ही न करता ।। २८२ ।।

अर्जुन, जो ऐसा ज्ञान। उसे ही सात्विक जान ।
जो श्रेष्ठतम महान। होता जग में ।। २८३ ।।

देश, काल तथा पात्र। धन भी वैसा ही पवित्र ।
सात्विक दान में इतरत्र। दिखाई दे जो ।। २८४ ।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।। २१ ।।

गोरस का रख अभिलाष। गाय का करे पोष ।
या भरने गोदाम विशेष। करे खेती ।। २८५ ।।

नेगचार का कर विचार। प्रियजनों को दे जेवनार ।
या वायन भेजे वहीं पर। जहाँ से प्रतिवायन मिले ।। २८६ ।।

पहले स्वीकार करे रिश्वत। तभी किसी का करे हित ।
पैसे लेकर दवा देत। पीड़ितों को ।।२८७।।

आगे रक्षा हो अपनी। कीर्ति फैले दूनी-चौगुनी ।
बने फिरते दानी। इसी हेतु ।।२८८।।

अथवा राह चलते अचानक। विप्र मिलता कोई एक ।
जो लौटाने असमर्थ। लिया द्रव्य ।।२८९।।

तो उसके हाथों, सुभद्रापते। फूटी कौड़ी के बदले ।
प्रायश्चित्त करवा लेते। सभी पापों का ।।२९०।।

उसी भाँति पारलौकिक। फल चाहते अनेक ।
देते उससे भूख। एक जून भी न मिटती ।।२९१।।

उतना ही वह ब्राह्मण। ले जाने लगता अल्पदान ।
तो जलते मन-ही-मन। जैसे नंगाए चोर ने ।।२९२।।

बहुत क्या बताऊँ, भ्राता। रख कर ऐसी नीचता ।
जो दान दिया जाता। उसे जानो राजस ।।२९३।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

जहाँ म्लेच्छों का वसतीस्थान। या अरण्य हो निर्जन ।
नगर के पावित्र्यहीन। चौराहे जैसे ।।२९४।।

ऐसे निंद्य स्थानों में एकत्र। देख कर संध्या या रात ।
लूट लाया धन बाँटत। उदारता से ।।२९५।।

भाट, तमासबीन, मदारी। देवदासी या जुआरी ।
जादूटोना करते भारी। ऐसा दान पाने वाले ।।२९६।।

उनका स्वांग, नृत्य, गायन। देखते-सुनते लगा मन ।
कान करते श्रवण। स्तवन-गीतों का ।।२९७।।

उसमें ही मंद-मंद। पुष्प धूप की आते सुगंध।
पिशाच सिर पर अंधाधुंध। नाचता महाभ्रम का ।।२९८।।

फिर जगत को चूस कर। जोड़ा जो धन अपार।
उससे अन्नदान की भरमार। करते चण्डालों को ।।२९९।।

अर्जुन, जो ऐसा दान। वही होता है तामस दान।
उसमें जो भाग्य के कारण। सुनो वर्णन उसका ।।३००।।

नाम बने घुणाक्षर में। कौआ पकड़ा जाये ताली में।
वैसे प्राप्त तीरथ में। पुण्यपर्व तामस ।।३०१।।

वहाँ उसका ऐश्वर्य देखकर। आये कोई हाथ पसार।
और यह मन में गर्व धर। देने लगे भी दान ।।३०२।।

किन्तु मन में न होती श्रद्धा। विनय में न नवाता माथा।
दूसरे से सत्कार करवाता। स्वयम् करता नहीं ।।३०३।।

बैठने को न देता आसन। गंधाक्षतों से कहाँ पूजन ?।
करता अतिथि का अपमान। तामसी दाता ।।३०४।।

टरकाते लेनदार को। वैसे दुतकारता अतिथि को।
तुकार पर उतर उसको। करता अपमानित ।।३०५।।

तथा जिसे कुछ देना होता। उसे उलाहने देता।
अवमान कर गालियाँ देता। भगा देता वहाँ से ।।३०६।।

अस्तु, अब यह कथन। मोल रूप में दिया दान।
कहलाता तामस दान। पहचान लो ।।३०७।।

सात्त्विक, राजस, तामस दान। तथा उनका स्वरूप लक्षण।
बतलाये यहाँ सम्पूर्ण। धनंजय, हमने ।।३०८।।

फिर भी यहाँ भ्राता। मन में विचार आता।
शायद तुम्हारा मन सोचता। होगा ऐसे ।।३०९।।

कि भवबंध विमोचक। यदि अकेला कर्म सात्त्विक ।
तो सदोष कर्म अनेक। बतलाये ही क्यों ? ।। ३१० ।।

जब तक पिशाच उठ न जाता। गड़ा धन हाथ न आता ।
धुआँ सहे बिन भ्राता। मिलता न अग्नि ।। ३११ ।।

वैसे मार्ग में शुद्ध सत्व के। रज, तम बाधक बनते ।
उन्हें परास्त करने में। बुरा किस बात का ? ।। ३१२ ।।

श्रद्धा से लेकर दान पर्यन्त। जो क्रियाएँ बताई समस्त ।
वे सभी होतीं व्याप्त। सत्व-रज-तम से ।। ३१३ ।।

सविस्तार यहां तीनों गुण। बताना चाहता था न ।
किन्तु समझाने सत्व गुण। शेष दोनों बताये ।। ३१४ ।।

तीसरा होता बीच दोनों के। उन्हें हटाते दर्शन उसके ।
जैसे बीच दिन शाम के। होती संध्या ।। ३१५ ।।

वैसे रज-तम का होते नाश। तीसरे का फैलता प्रकाश ।
वहीं सत्व अनायास। प्रकट होता ।। ३१६ ।।

बताने को सत्व गुण। रज तम का किया वर्णन ।
उन्हें सर्वथा त्यज अर्जुन। कार्य साधो अपना ।। ३१७ ।।

हो कर शुद्ध सत्व सम्पन्न। करो यज्ञादि कर्म पूर्ण ।
फिर निजरूप का दर्शन। अनायास होगा ।। ३१८ ।।

साक्षात सूर्य ही हो दिखाता। तो क्या न दिखेगा भ्राता ? ।
कर्म किये रख सात्विकता। कौन सा फल अप्राप्य ? ।। ३१९ ।।

सत्व के बल पर सकल। कर्म होते सहज सफल ।
किन्तु पार्थ मोक्षफल। मिलता जिससे ।। ३२० ।।

वह है कुछ और ही। उसकी सहायता मिलते ही ।
राह देती है दिखाई। मोक्षप्राप्ति की ।। ३२१ ।।

सोना शुद्ध शत-प्रतिशत। किन्तु राजमुद्रा उस पर अंकित।
होती तभी उसे प्राप्त। विशेष पात्रता ।। ३२२ ।।

स्वच्छ सुगंधित शीतल। यदपि सुखद हुआ जल।
पवित्रता उसे केवल। तीर्थक्षेत्र में ।। ३२३ ।।

झरना यदपि बड़ा नहीं। किन्तु गंगा में मिलते ही।
उसे मिलता सागर माहीं। सुलभ प्रवेश ।। ३२४ ।।

वैसे सात्विक कर्म कर। पाना चाहो मोक्षदर्शन।
उसमें बाधा का निवारण। करने वाला निराला ।। ३२५ ।।

सुन कर यह वचन। अधीर हो कहे अर्जुन।
देव कृपालु बन। वह गूढ़ बताइये ।। ३२६ ।।

तो परमकृपालु श्रीकृष्ण। कहे सुनो उसके लक्षण।
जिससे पाते मुक्ति-रत्न। सात्विक कर्मनिष्ठ ।। ३२७ ।।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। २३ ।।

वह अनादि परब्रह्म। जगदादि का विश्रामधाम।
उसका एक ही नाम। त्रिविध है ।। ३२८ ।।

ब्रह्म नाम-जाति-विहीन। पर श्रुति बताती पहचान।
सहज पाने उसका ज्ञान। अविद्या तम में ।। ३२९ ।।

बालक जब जन्म लेता। उसका कोई नाम न होता।
पर रखा नाम सुन देता। 'जी' प्रत्युत्तर ।। ३३० ।।

भवदुःख से पीड़ित। देव को आते।
उसका 'जी' उत्तर देत। वह नाम यही ।। ३३१ ।।

नाता जुड़े ब्रह्म से। अद्वैत जुड़े उससे।
अतः सिद्ध किया सदयता से। वेदों ने इस मंत्र को ।। ३३२ ।।

करके इसका उच्चारण। करते ब्रह्म का आह्वान।
वह तज कर पार्श्वस्थान। सामने खड़ा होता ।। ३३३।।

नियमगिरि के शिखर पर। उपनिषदों का दिव्य नगर।
वहाँ करे जो तप घोर। वही इसे जानता ।। ३३४।।

करने सृष्टि का निर्माण। समर्थ हुआ चतुरानन।
अखंड कर पुरश्चरण। जिस नाम का ।। ३३५।।

सृष्टिनिर्माण से पूर्व भ्राता। अकेले ब्रह्मा की अवस्था।
पागल जैसी सर्वथा। हुई थी ।। ३३६।।

उसे न थी मेरी पहचान। तब करने विश्वनिर्माण।
उसे की शक्ति प्रदान। इस नाम ने अकेले ।। ३३७।।

करते इसके अर्थ का चिन्तन। तथा वर्णत्रय का जपन।
करने विश्व का निर्माण। पात्र हुआ विरंचि ।। ३३८।।

तब उसने बनाये ब्राह्मण। उन्हें दे वेदानुशासन।
यज्ञमार्ग का आचरण। निर्वाहार्थ बताया ।। ३३९।।

आगे न जाने कितने हीं। जन बनाये जग माहीं।
उनके निवास के लिये, भाई। बनाये त्रिभुवन ।। ३४०।।

करके ऐसा नामजपन। विधाता ने पाया श्रेष्ठपन
अर्जुन से कहे श्रीकृष्ण। सुनो उसका स्वरूप ३४१।।

ॐ उसका आद्याक्षर। तत् शब्द अनन्तर।
सत् उसका अन्ताक्षर। मन्त्र सर्वोत्तम ऐसा ।। ३४२।।

ॐ तत् सत् यह मन्त्र। वही ब्रह्म नाम त्रिप्रकार।
उपनिषद् का पुष्प सुन्दर। नित्य सूँघें अर्जुन ।। ३४३।।

इस सर्वोत्तम मंत्र के साथ। जो सात्विक कर्म करते नित्य।
उन्हीं के घर मोक्ष आवत। दौड़ कर सेवक-सा ।। ३४४।।

कर्पूर के अलंकार। भाग्य से मिले, धनुर्धर।
कैसे धारें देह पर। न सूझे दुर्भाग्य से ।। ३४५ ।।

वैसे, यद्यपि किये सुकर्म। मुख से जपा ब्रह्मनाम।
पर विनियोग का वर्म। आया न समझ में ।। ३४६ ।।

घर पर संत सज्जन। पधारे भाग्य के कारण।
न करते उचित सम्मान। पुण्य लोपता ।। ३४७ ।।

सुवर्ण रत्नों के सुंदर। बनवाये नाना अलंकार।
सबकी गठरी बाँध। गले में लटकाया ।। ३४८ ।।

वैसे मुख में ब्रह्मनाम। हाथ करते सात्विक कर्म।
पर व्यर्थ सारा परिश्रम। विनियोग के बिना ।। ३४९ ।।

बालक भूख से बिलखता। सामने अन्न परोसा होता।
उसे भोजन करना न आता। अतः होता अनशन ।। ३५० ।।

तेल, बाती, अग्नि घर में। होते यदपि एक स्थान में।
जलाना न जाने कोई घर में। तो न मिलता प्रकाश ।। ३५१ ।।

वैसे उचित कर्म हो जाता। मंत्रपाठ याद आता।
पर सभी व्यर्थ होता। विनियोग बिन ।। ३५२ ।।

अतः वर्णत्रयात्मक। जो परब्रह्म नाम एक।
उसका विनियोग नेक। सुनो अर्जुन ।। ३५३ ।।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। २४ ।।

कर्म करते करें उच्चार। आदि मध्य अंत्य स्थान पर।
ब्रह्म नाम के तीनों अक्षर। करें प्रयुक्त ।। ३५४ ।।

इसी रीति से, सुभद्रापति। ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मस्थिति।
इह लोक में प्राप्त होती। सुनिश्चित ।। ३५५ ।।

जिन्हें प्राप्त शास्त्रज्ञान। वे ब्रह्म से होने अभिन्न।
छोड़ देते नहीं अर्जुन। यज्ञ-दान-तप क्रिया।। ३५६।।

कर्मारम्भ में ॐकार। ध्यान द्वारा करते गोचर।
फिर करते उसका उच्चार। वाचा से भी।। ३५७।।

वह ध्यान द्वारा होते प्रकट। प्रणवोच्चार से सुस्पष्ट।
फिर पकड़ते बाट। यज्ञादि कर्म की।। ३५८।।

अखंड दीप अँधेरे में। मित्र समर्थ घने वन में।
वैसे सहायक सब कर्म में। ॐकार प्रारम्भ का।। ३५९।।

इष्ट देवता का कर स्मरण। स्वधर्मार्जित सारा धन।
यज्ञ में करते दान। ब्राह्मण को।। ३६०।।

आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण। अग्नियों का कर आह्वान।
पवित्र द्रव्य का हवन। करते यथाविधि।। ३६१।।

बल्कि विविध प्रकार के याग। सम्पन्न कर सांगोपांग।
अप्रिय उपाधियों का त्याग। करते सर्वथा।। ३६२।।

न्यायार्जित जो पवित्र धन। भूमि गृहादिक स्वाधीन।
सत्पात्र को करते दान। पुण्यपर्व पर तीरथ में।। ३६३।।

अथवा आये दिन आये मास। विकट करते उपवास।
तपाचरण सायास। करते देह सुखाने।। ३६४।।

ऐसे यज्ञ-दान-तप। जिन्हें कहते बंधरूप।
प्रणवोच्चार से अपने आप। होते मोक्षदायी।। ३६५।।

नाव न चलती तट पर। पर पानी में ले जाती पार।
कर्मबंध से मुक्त सत्वर। यह नाम करता।। ३६६।।

अस्तु यह, धनंजय। यज्ञ-दान-तप अक्षय।
मोक्षसाधन में करते सहाय। ॐकार के बल पर।। ३६७।।

ये क्रियाएँ निश्चित। जब होतीं फलप्रद।
तब करते प्रयुक्त। तत् शब्द को ।। ३६८ ।।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।। २५ ।।

जो जगत से अलिप्त। जो सर्वसाक्षी समर्थ।
वह परब्रह्म सर्वातीत। तत् शब्द से बखाना जाता ।। ३६९ ।।

जो सबका आदि कारण। उसका मन में धर ध्यान।
सुख से करते उच्चारण। तत् शब्द का ।। ३७० ।।

कहते जो तद्रूप परब्रह्म। उसे फलसहित सब कर्म।
अर्पण हो, यह इच्छा परम। कुछ न हो हमारे लिये ।। ३७१ ।।

ऐसे जो तत्स्वरूप ब्रह्म। उसे समर्पित कर सब कर्म।
मुख से कह 'न मम' 'न मम'। कर्ममुक्त होते ।। ३७२ ।।

जो प्रारम्भ ॐकार से। ब्रह्मार्पित तत् शब्द से।
हो गया वह कर्म जैसे। ब्रह्मस्वरूप ।। ३७३ ।।

पर कर्म ब्रह्मरूप हुआ। कर्ता में द्वैत शेष रहा।
तो जानो अधूरा रहा। कर्तव्य पार्थ ।। ३७४ ।।

लवण पानी में घुलता। पर खारापन शेष रहता।
वैसे, कर्मब्रह्म बोध होता। वही द्वैत अर्जुन ।। ३७५ ।।

और ज्यों-ज्यों द्वैत होता जाता। त्यों-त्यों संसारभय बढ़ता।
वह वेदवचन स्वयम् कहता। श्रीकृष्ण ।। ३७६ ।।

अतः ब्रह्म का द्वैतपन। आत्मस्वरूप में करने क्षीण।
सत् शब्द तीसरा अर्जुन। रखा है नाम में ।। ३७७ ।।

ॐ तत् कहने से भ्राता। कर्माचरण ब्रह्मरूप होता।
उसका वर्णन किया जाता। प्रशस्त कर्म शब्द से ।। ३७८ ।।

ऐसे प्रशस्त कर्म में। सत् शब्द आता प्रयोग में ।
उसका सुनो विस्तार में। आगे विवेचन ।। ३७९ ।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।। २६ ।।

प्रयोग इस सत् शब्द का। गलाता असत् का सिक्का ।
सुवर्ण ब्रह्मसत्ता का। निखरता है ।। ३८० ।।

देशकालादि प्रभाव आता। जिसमें परिवर्तन नहीं लाता ।
जो सर्वथा अखण्डित रहता। निजस्वरूप में ।। ३८१ ।।

यह जो-जो देता दिखाई। वह वास्तव में नहीं कतई ।
सत् का ज्ञान होते भाई। स्वरूप बोध होता ।। ३८२ ।।

जिसके कारण प्रशस्त कर्म। हुआ सर्वात्मक ब्रह्म ।
उसे ऐक्यबोध से कर सम। आत्मरूप जानो ।। ३८३ ।।

ॐ तत् का करते उच्चार। कर्म होता ब्रह्माकार ।
सत् शब्द मिटाता धनुर्धर। उस संस्कार को भी ।। ३८४ ।।

ऐसा सत् शब्द का अंतरंग। ऐसा उसका विनियोग ।
जान लो कहता श्रीरंग। मैं नहीं कहता जी ।। ३८५ ।।

यदि इसे कहूँ निजमत। तो श्रीरंग से होगा द्वैत ।
अतः जानो यह मनोगत। देव का ही ।। ३८६ ।।

अब और भी कई प्रकार। सत् शब्द सात्विक कर्म पर ।
करता है उपकार। सुनो कैसे ।। ३८७ ।।

शास्त्रोक्त कर्म भले-भले। यदपि यथाविधि चले ।
कभी कभार उनके तले। खोट कोई रह जाती ।। ३८८ ।।

गात्रहीन होते शरीर। रुकते उसके सभी व्यापार ।
या रथ टूट जाने पर। उसकी गति कुंठित ।। ३८९ ।।

वैसे न होते कोई गुण। सत्कर्म में ही असत्पन।
तब होता है निर्माण। धनुर्धर ।। ३९० ।।

तब ॐकार और तत्कार। कर्म के होते सहायकर।
सत् शब्द करता जीर्णोद्धार। उसी असत् कर्म का ।। ३९१ ।।

निकालता उसका असत्पन। सत्स्वरूप को करता पूर्ण।
होता ऐसा दिव्य गुण। सत् शब्द में ।। ३९२ ।।

दिव्यौषधि जैसे रोगी को। कुमक जैसे हारे को।
वैसे अपूर्ण कर्म को। सत् शब्द उपकारी ।। ३९३ ।।

अथवा प्रमाद के कारण। कर्म हो गया विधिहीन।
उसमें आ भी गयी, अर्जुन। कोई निषिद्धता ।। ३९४ ।।

पथिक यदि राह भूला। पारखी भी भ्रमित रहा।
तो ऐसे समय भला। क्या क्या न होगा ? ।। ३९५ ।।

अतः भ्रांतिवश अर्जुन। कर्म होता विधिविहीन।
तो उसे असत्पन। प्राप्त होता ।। ३९६ ।।

ऐसे समय यह सत् शब्द। जो ॐतत् शब्द से श्रेष्ठ।
उसके प्रयोग से उत्कृष्ट। असत् कर्म भी होता ।। ३९७ ।।

लोह का पारस से घर्षण। नाले का गंगा में मिलन।
मृत को मिले वर्षण। अमृत का ।। ३९८ ।।

वैसे असत् कर्म में सर्वदा। सत् शब्द का उच्चार होता।
तो क्या बताऊँ भारता। महिमा उसकी ।। ३९९ ।।

जान यह सत् शब्द का मर्म। उच्चारोगे यह ब्रह्मनाम।
तो वही है केवल ब्रह्म। समझोगे उसे ।। ४०० ।।

ॐ तत् सत् यह ब्रह्मनाम। ले कर करते सात्विक कर्म।
प्राप्त होता परमधाम। दृश्य प्रकट जहाँ से ।। ४०१ ।।

अरूप तथा अनाम। ऐसा जो विशुद्ध परब्रह्म।
ॐ तत् सत् यह गूढ़ नाम। व्यक्त करता उसे।। ४०२।।

जैसे आकाश का ही पार्थ। आश्रय आकाश को सर्वथा।
वैसे परब्रह्म तत्त्वतः। आश्रय इस नाम को।। ४०३।।

आकाश में उदित होता। सूर्य ही सूर्य को प्रकाशता।
ब्रह्मनाम व्यक्त करता। वैसे ब्रह्म को।। ४०४।।

अतः यह तीन अक्षरों का नाम। नाम नहीं साक्षात् ब्रह्म।
अपना हर कर्तव्यकर्म। इस नामसहित करें।। ४०५।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।। २७।।

यज्ञयाग अथवा दान। चान्द्रायणादिक तप गहन।
सम्पूर्ण अथवा अपूर्ण। हो भले ही।। ४०६।।

पारस का स्पर्श होता। सुवर्ण भिन्न नहीं रहता।
वैसे ब्रह्मार्पण से होता। सकल कर्म ब्रह्मरूप।। ४०७।।

कर्म जब ब्रह्मार्पित होता। पूर्णापूर्ण भेद नहीं रहता।
जैसे नदियों को न भिन्नता। सागर में।। ४०८।।

ऐसे उपपत्ति सहित। तथा देकर दृष्टान्त।
तुम्हें बताई सुनिश्चित। शक्ति ब्रह्मनाम की।। ४०९।।

ब्रह्म नाम का जो-जो अक्षर। प्रत्येक का विनियोग आचार।
बताया तुम्हें सविस्तार। धनंजय यहाँ।। ४१०।।

ऐसा ॐतत् सत् ब्रह्मनाम। जिसकी महिमा सर्वोत्तम।
उसका अर्जुन सारा वर्म। समझ लिया न ?।। ४११।।

इस ब्रह्मनाम में भ्राता। रखते नितान्त श्रद्धा।
कर्मबन्ध से मुक्तता। सर्वथा मिलती।। ४१२।।

करते जो भी कर्माचरण। जो होगा नामोच्चारण।
वह वेदोक्त कर्मसमान। परिपूर्ण होता ।। ४१३ ।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। २८ ।।

अथवा यह मार्ग त्यज कर। सारी श्रद्धा मिटा कर।
मन में पक्का ठान कर। दुराग्रह ।। ४१४ ।।

करना कोटि अश्वमेध। रत्नमंडित पृथ्वी का दान।
सहस्त्रों वर्ष तपाचरण। एक अँगूठे पर ४१५

सागर-सा विस्तीर्ण। बनाया जलाशय नवीन।
किन्तु अर्जुन यह सम्पूर्ण। है व्यर्थ ही ।। ४१६ ।।

चट्टान पर जलवर्षण। भस्म में हविर्दान।
अथवा जैसे आलिंगन। छाया का ।। ४१७ ।।

अथवा जैसे पार्थ। गगन को मारे चपत।
वैसे, ब्रह्मनामरहित। व्यर्थ सारा प्रयास ।। ४१८ ।।

घानी में पत्थार की पेराई। तेल या खली देती नहीं।
वैसे कर्म में दरिद्र ही। नामबिन उदंड ।। ४१९ ।।

द्रव्य मान कर ठीकरी। बाँध ली, धनुर्धारी।
तो निश्चय होगी भुखमरी। इस या उस पार ।। ४२० ।।

कर्म नामविहीन। न देते ऐहिक भोगसाधन।
परलोक के सुख की कौन। धरेगा आस ? ।। ४२१ ।।

ब्रह्मनाम में श्रद्धा तज कर। जो भी होते कर्म धनुर्धर।
सब होते व्यर्थ बेकार। यहाँ या परलोक में ।। ४२२ ।।

ऐसे कलुषगज केसरी। त्रिविध तापों का तिमिरारि।
परमात्मा श्रीहरि। बोला अर्जुन से ।। ४२३ ।।

पौर्णिमा की चाँदनी में। जैसे, चन्द्र खो जाये गगन में ।
वैसे, पार्थ निजानन्द में। निमग्न हो गया ।। ४२४ ।।

युद्ध व्यापार अति विचित्र। जहाँ नाप होते तीर प्रखर ।
नाप लेते प्राण समग्र। मांससहित ।। ४२५ ।।

ऐसे अत्यंत कर्कश समय। अर्जुन भोगता स्वानंद राज्य ।
भला ऐसा भाग्योदय। अन्यत्र कहाँ ? ।। ४२६ ।।

संजय कहे धृतराष्ट्र से। तोष पायें शत्रु गुण से ।
हमारे सुख के लिये। गुरु हुआ अर्जुन ।। ४२७ ।।

अर्जुन यह सब न पूछता। तो देव कैसे बताता ? ।
फिर परमार्थज्ञान मिलता। हमें कैसे ? ।। ४२८ ।।

अज्ञान के अँधेरे में। फँसे थे जन्ममरण के फेरों में ।
आत्मप्रकाश के मन्दिर में। अर्जुन हमें लाया ।। ४२९ ।।

इतना आप पर हम पर। इसने किया उपकार ।
इसीलिये यह गुरुवर। हमारा व्यास-सा ।। ४३० ।।

तब संजय सोचता मन में। इतना अर्जुन की प्रशंसा में ।
कहना खलेगा इसे मन में। अतः अधिक न कहूँ ।। ४३१ ।।

अतः श्रीकृष्ण से अर्जुन ने। अपनी जिज्ञासा पूरी करने ।
पूछी, वही संजय ने। बताई राजन को ।। ४३२ ।।

जैसे उनका आचरण। वैसे ही मेरा अनुसरण ।
कहे करिये श्रवण। दास निवृत्ति का ।। ४३३ ।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित ।
श्रद्धात्रयविभागयोग नामक समाप्त। उसका अध्याय सत्रहवाँ ।।

।। अध्याय अठारहवाँ ।।

जय जय देव परम निर्मल। करते स्वजनों का मंगल।
जन्म-जरा का मेघजाल। मिटाते महावायु ।। १ ।।

जय जय देव परम प्रबल। नष्ट करते अमंगल।
वेदशास्त्रों का सुफल। सकल फलदायी ।। २ ।।

जय जय देव आप सकल। विषयत्यागी के वत्सल।
कालशक्ति तव लीला केवल। आप कालातीत ।। ३ ।।

जय जय देव निरुपाधिक। आप परमानन्द प्रेरक।
सभी दोषों के विनाशक। मूलाधार विश्व के ।। ४ ।।

जय जय देव अतिनिश्चल। चल चित्त मान से आप स्थूल।
विश्वनिर्माण आपका खेल। चलता अखंडित ।। ५ ।।

जय जय देव स्वयंप्रभ। आकाश जगद्मेघगर्भ।
भुवनारम्भ के मूल स्तम्भ। आप विध्वंसक भव के ।। ६ ।।

जय जय देव उपाधिहीन। ज्ञानवनविहारी वारण।
शम दम से करते कामदमन। दयासिन्धु ।। ७ ।।

जय जय देव एकरूप। मदनसर्प का हरते दर्प।
भक्तहृदय मंदिर के दीप। त्रिविध तापहारी ।। ८ ।।

जय जय देव अद्वितीय। पूर्ण वैराग्यप्रिय।
भक्ताधीन हो भजनीय। अगम्य माया को ।। ९ ।।

जय जय देव सद्गुरु। ब्रह्मफल के कल्पतरु।
आप बीज आपसे तरु। फैलता आत्मबोध का ।। १० ।।

आप तत्त्वतः निर्विशेष। आपकी स्तुति में अशेष।
क्या क्या बखानूँ विशेष। सद्गुरुनाथ ? ।। ११ ।।

जो भी दूँ विशेषण। वह न आपका रूप-गुण।
इसका बोध होते मन। वर्णन करते शरमाता ।। १२ ।।

मर्यादा में रहता सागर। ऐसी ख्याति उसकी अपार।
किन्तु उदित होते सुधाकर। व्यर्थ ख्याति सारी ।। १३ ।।

चन्द्रकान्तमणि स्वयं पसीज। अर्घ्य चन्द्र को न देता हरगिज़।
किन्तु चन्द्र वही उससे सहज। स्वयं करवा लेता ।। १४ ।।

न जाने कैसे, आते वसंत। वृक्ष होते प्रफुल्लित।
बहार को रोकना निश्चित। उनके वश में न होता ।। १५ ।।

पद्मिनी को रविकिरण स्पर्शत। त्यज लज्जा होती प्रफुल्लित।
जैसे ही जलस्पर्श होत। लवण स्वरूप भुलाता ।। १६ ।।

वैसे आपको करते स्मरण। अस्मिता का होता विस्मरण।
छकते भोजन इच्छाबिन। जैसे आती डकार ।। १७ ।।

वैसे आपने मुझसे किया। मेरी अस्मिता को मिटाया।
व्यसन वाचा को लगाया। स्तुति के मिस ।। १८ ।।

अन्यथा रखते देहभान। करते आपका स्तवन।
गुणी और उसके गुण। तौलना पड़ता ।। १९ ।।

आप एकरस के प्रतीक। कैसे करूँ गुण-गुणी विवेक।
मोती फोड़ कर करूँ एक। या रखूँ अखंडित ।। २० ।।

कहते आपको मातुपिता। आपका स्तवन नहीं होता।
मेरे पुत्रत्व की भिन्नता। करती दूषित आपको ।। २१ ।।

चाकर कहूँ अपने को। तो स्वामित्व जाता आपको ।
उपाधि से आपके स्वरूप को। क्यों करूं दूषित ? ।। २२।।

कहूँ आपको जगदात्मा। तो आप जो अंतरात्मा ।
उसे बाहर निकालना पड़ता। दुविधा में ।। २३।।

अतः आपकी प्रशंसा में। सार्थक शब्द नहीं जग में ।
मौन के सिवा चढाऊँ तन में। कौन-सा अलंकार ? ।। २४।।

कुछ न कहना ही स्तवन। कुछ न करना ही पूजन ।
हो जाना पूर्णतः अभिन्न। यही सान्निध्य आपका ।। २५।।

पहले पागल, फिर बौराया। बकने लगा जो मन में आया ।
वैसे मेरे वर्णन को, भैया। सह लीजिएगा ।। २६।।

मेरा यह गीता-प्रवचन। इसे मान्यता दें आपुन ।
तो ये सभ्य सज्जन। देंगे सम्मति ।। २७।।

तब निवृत्तिनाथ कहते। बार-बार क्यों बिनती करते ? ।
क्या लोहा पारस पर घीसते। बार-बार कोई ? ।। २८।।

इस पर कहते ज्ञानदेव। यही कृपा करें देव ।
कि लगा रहे मनोभाव। मेरा निरूपण में ।। २९।।

यह रत्न-प्रासाद गीता का। शिखर अर्थ-चिन्तामणि का ।
जिसके दर्शनमात्र से गीता का। होता साक्षात्कार ।। ३०।।

ऐसी जनमान्यता भी। कि शिखर दिखते दूर से ही ।
श्रेय मिलता अनायास ही। देवदर्शन का ।। ३१।।

यहाँ भी वही सुविधा। इस अध्याय का मर्म जानता ।
उसे स्वाध्याय हो जाता। पूरी गीता का ।। ३२।।

इस अध्याय को इसीलिये। चिन्तामणि शिखर कहा मैंने ।
गीता रत्नमन्दिर पर व्यास ने। जिसे चढ़ाया स्वयम् ।। ३३।।

शिखर के अनन्तर कुछ भी। मन्दिर का काम रहता नहीं ।
वता रही है गीता यही। यहाँ सम्पूर्ण होकर ।। ३४ ।।

व्यास कुशल सूत्रकार। उन्होंने वेद-रत्नगिरि पर ।
उपनिषदार्थ की गहनतर। खोदी खदान यहाँ ।। ३५ ।।

धर्म, अर्थ, काम के प्रस्तर। उसमें से निकले अपार ।
उनका रचा प्राकार। महाभारत रूप में ।। ३६ ।।

उसमें आत्मज्ञान के एकाकार। चुने सुन्दर पत्थरों पर ।
कृष्णार्जुन संवाद की मनोहर। खोदी नक्काशी ।। ३७ ।।

निवृत्ति सूत्र से रेखा खींचकर। सर्व शास्त्रार्थ देकर ।
मोक्षमर्यादा सुनिश्चित कर। दिया आकार ।। ३८ ।।

पन्द्रहवें अध्याय में। ऐसी रचना करते हुए ।
प्रासाद लगा दिखाई देने। परिपूर्ण-सा ।। ३९ ।।

आगे सोलहवाँ अध्याय सुन्दर। गलघट का वही आकार ।
शिखर का बना आधार। अध्याय सत्रहवाँ ।। ४० ।।

अठारहवाँ अध्याय उस पर। शिखर सुहाता सहज सुन्दर ।
व्यास-कीर्ति का सबसे ऊपर। ध्वज लहराता ।। ४१ ।।

सत्रह अध्याय कौशल से। रचे व्यास ने क्रम से ऐसे ।
गीतामन्दिर पूर्ण जैसे। अठारहवें में हुआ ।। ४२ ।।

रचना में न कहीं न्यून। बताया शिखर दर्शन ।
वैसे अठारहवें का पठन। साद्यन्त गीता बताता ।। ४३ ।।

ऐसा व्यास ने अति सुन्दर। रच कर गीतामन्दिर ।
किया सर्वथा उद्धार। प्राणिमात्र का ।। ४४ ।।

कोई करते पारायण। कोई बाह्य प्रदक्षिणा कर ।
कोई करते नित्य श्रवण। मानो छाया पाते ।। ४५ ।।

कोई देकर अवधान। प्राप्त करते अर्थज्ञान।
ताम्बूल दक्षिणा कर प्रदान। मानो गर्भगृह में जाते ।। ४६ ।।

उन्हें पाकर आत्मज्ञान। होता परमात्म-दर्शन।
पर मोक्षमन्दिर में समान। सबकी योग्यता ।। ४७ ।।

श्रीमन्त जब भोज देता। सबको एक-सा परोसता।
वैसे पाठक, चिन्तक, श्रोता। सब पाते मोक्षपद ।। ४८ ।।

ऐसे गीता है विष्णुमन्दिर। अठारहवाँ अध्याय शिखर।
मैंने सोच विचार कर। यह भेद किया ।। ४९ ।।

सत्रहवें अध्याय से। अठारहवाँ आता कैसे।
इसका नाता परस्पर से। कैसा है सुनिए ।। ५० ।।

यह गंगा वह यमुना। प्रवाह में दोनों भिन्ना।
किन्तु जलरूप में अभिन्ना। है दोनों ।। ५१ ।।

अर्द्ध नारी-नटेश्वर। दिखते दो आकार।
किन्तु तत्त्वतः शरीर। होता एक ही ।। ५२ ।।

शुक्लपक्ष में प्रतिदिन। कला दिखती वर्द्धमान।
चन्द्रबिम्ब देखते पूर्ण। वे विभिन्न न होतीं ।। ५३ ।।

भिन्न देखते चार चरण। एक श्लोक दूजा भिन्न।
अध्याय से अध्याय भिन्न। यद्यपि सर्वथा ।। ५४ ।।

पर ग्रन्थ सिद्धान्त में सर्वथा। सर्वत्र दिखती एकता।
जैसे रत्नमणियों को पिरोता। धागा एक ।। ५५ ।।

सतेज मोती गूँथ अनेक। बनती है माला एक।
किन्तु उज्ज्वलता की चमक। होती एक -सी ।। ५६ ।।

हार में सर, पुष्प नाना। पर सुगंध की नहीं कलना।
श्लोकों अध्यायों की रचना। वैसे ही यहाँ जानिए ।। ५७ ।।

श्लोक सात सौ गीता में। अठारह अध्याय गणना में।
किन्तु तत्त्व कहा देव ने। एकमेवाद्वितीयम् ।। ५८ ।।

बिना छोड़े वह सिद्धान्त। मैंने भी बताया गीतार्थ।
तदनुसार है प्रस्तुत। सारा निरूपण ।। ५९ ।।

सत्रहवें अध्याय में। समापन के श्लोक में।
अर्जुन से गीता में। श्रीकृष्ण ने कहा ।। ६० ।।

ब्रह्मनाम में पार्थ। न रखते कोई आस्था।
जो कर्म करते सर्वथा। होते सभी व्यर्थ ।। ६१ ।।

सुन कर देव की बात। अर्जुन मन में हर्षित।
कहे यहाँ खंडन होत। कर्मनिष्ठ का ।। ६२ ।।

बेचारा अज्ञानी नर। न जाने, सर्वव्यापी ईश्वर।
तो सम्मुख आने पर। जानेगा कैसे ? ।। ६३ ।।

रज-तम दोनों का। जब तक लोप नहीं होती।
ब्रह्म से नाता नहीं जुड़ता। सात्त्विक श्रद्धा का ।। ६४ ।।

तब शस्त्र को गले लगाना। वार्ता सुनते दौड़ना।
या नागिन से खेलना। जैसे घातक ।। ६५ ।।

वैसे कर्म श्रद्धाहीन। पुनर्जन्म का कारण।
यह बड़ा ही दुर्गुण। होता कर्म में ।। ६६ ।।

शायद ही हो निर्दोष। ज्ञान का लाता उन्मेष।
वरना ले जाता नरक में अवश। सदोष कर्म ।। ६७ ।।

कर्ममार्ग में इसविध। संकट होते अनन्त।
तो कर्मठ को मोक्ष प्राप्त। होगा कैसे ? ।। ६८ ।।

यह दैन्य मिटे कर्म का। त्याग करें सर्वथा उसका।
जीवन में निर्दोष संन्यास का। आवे सुयोग ।। ६९ ।।

कतई नहीं कर्मबाधा। नहीं जन्म-मरण व्यथा।
आत्मज्ञान मिलता सर्वथा। संन्यास मार्ग में ।। ७० ।।

जो ज्ञान का आह्वान-मंत्र। ज्ञानोत्पत्ति का उर्वर क्षेत्र।
अथवा ज्ञानाकर्षक सूत्र। सुविख्यात ।। ७१ ।।

उन संन्यास त्याग दोनों का। अनुष्ठान करके नीका।
लाभ कैसे हो मुक्तियोग का। पूछूँगा देव से ।। ७२ ।।

ऐसा विचार मन में ठान। त्याग-संन्यास का पाने ज्ञान।
श्रीकृष्ण से किया प्रश्न। अर्जुन ने ।। ७३ ।।

उसका देने प्रत्युत्तर। बोला जो जगदीश्वर।
है उसी का विस्तार। अध्याय अठारहवाँ ।। ७४ ।।

कार्य निकलता कारण से। वैसे अध्याय अध्याय से।
अब सुनिए श्रीकृष्ण से। प्रश्न अर्जुन का ।। ७५ ।।

सत्रहवें अध्याय के अन्त में। बात आयी जो कृष्णवचन में।
उसे सुन कर सन्देह मन में। उठा अर्जुन के ।। ७६ ।।

अन्यथा देव ने जो कहा। वह तत्त्व उसने सही गहा।
आगे देव जब शान्त रहा। यह हुआ अशान्त ।। ७७ ।।

बछड़ा तृप्त दूध पीकर। फिर भी गाय न जाये दूर।
यही चाहता मन के भीतर। यही स्वरूप प्रीति का ।। ७८ ।।

प्रिय व्यक्ति बोले अकारण। बार-बार करे अवलोकन।
यह सुख भोगते प्रियजन। सहवास में दूना ।। ७९ ।।

यही प्रीति की रीति। और पार्थ प्रेममूर्ति।
अतः मौन होते श्रीपति। हुआ बेचैन अर्जुन ।। ८० ।।

संवाद का कर निमित्त। परब्रह्मदर्शन हो प्राप्त।
जैसे दर्पण में देख। रूप विलोकें अपना ।। ८१ ।।

वह संवाद थम गया। ब्रह्मानन्द लोप हो गया।
यह असहनीय हो गया। लालायित पार्थ को ।। ८२ ।।

अतः त्याग और संन्यास। जानने के मिष।
गीतावस्त्र खोला अनायास। फिर से उसने ।। ८३ ।।

यह अठारहवाँ अध्याय नहीं। साक्षात् गीता एकाध्यायी।
गाय को दोहे जब बछड़ा ही। विलम्ब कैसे ? ।। ८४ ।।

समापन की बेला आयी। सारी गीता फिर कहलवाई।
गुरुशिष्य संवाद के तई। असम्भव क्या ? ।। ८५ ।।

अस्तु यह विस्तार। विनती करे धनुर्धर।
कि देव दीजिए उत्तर। मेरे प्रश्न का ।। ८६ ।।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।। १ ।।

त्याग तथा संन्यास क्या होता ?। अर्थ दोनों का एक होता।
जैसे, संघात या संघ में होता। व्यक्त समुदाय ही ।। ८७ ।।

संन्यास और त्याग शब्द। कराते त्याग का ही बोध।
ऐसा लगता निश्चित। मेरे मन को ।। ८८ ।।

या हो कोई अर्थभेद। देव कृपया करें विशद।
तब कहते श्रीमुकुंद। दोनों शब्द भिन्न हैं ।। ८९ ।।

पर तुम्हारे मन में धनंजय। त्याग-संन्यास शब्दद्वय।
एकार्थक होने का प्रत्यय। आया हो तो ।। ९० ।।

मेरे भी मतानुसार। त्याग ही दोनों का सार।
किन्तु कारण धनुर्धर। उसका इतना ही— ।। ९१ ।।

कि कर्मत्याग ही सर्वथा। संन्यास है कहलाता।
और केवल फल को छोड़ता। वही त्याग ।। ९२ ।।

किस कर्म का फल छोड़ें ?। किस कर्म को ही छोड़ें ? ।
इसे जानने को जोड़ें। एकाग्रता धनंजय ।। ६३।।

गिरि वनों में अनायास। पेड़ बढ़ते हैं अमाप ।
वैसे धान गेहूँ अपने आप। नहीं आते ।। ६४।।

बिना बोये घास बढ़ता। वैसे धान नहीं आता ।
धान के लिये करना पड़ता। परिश्रम खेत में ।। ६५।।

शरीर हो स्वाभाविक। अलंकार औद्योगिक ।
नदी होती प्राकृतिक। कुआँ खोदना पड़ता ।। ६६।।

वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म होता स्वाभाविक ।
पर विना इच्छा के आंतरिक। न होता काम्य कर्म ।। ६७।।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। २।।

जिन्हें करने अर्जुना। हिय में होती प्रखर कामना ।
ऐसे अश्वमेधादिक नाना। हैं यज्ञयाग ।। ६८।।

कूप, पुष्करिणी खोदना। सुन्दर उद्यान लगाना ।
गाँव देना, नगर बसाना। इत्यादि व्रत लौकिक ।। ६९।।

ऐसे इष्टापूर्त कर्म सकल। कामना ही जिनका मूल ।
जो बाँध कर देते फल। कर्ता को ।।१००।।

आते देह के गाँव। जन्म-मरण का उत्सव ।
टाल नहीं सकता जीव। धनुर्धर ।। १०१।।

अथवा ललाट लेख, भाई। कुछ भी करो मिटता नहीं ।
कितनी ही करो धुलाई। काला-गोरापन न मिटता ।। १०२।।

वैसे काम्य कर्म अर्जुन। टलता न फलबिन।
ऋण चुकता किये बिन। जैसे नहीं उतरता ।। १०३ ।।

अथवा कामना बिना भ्राता। कोई कर्म हो भी जाता।
खेल का तीर हरता। प्राण जैसे ।। १०४ ।।

जाने बिना गुड़ खाए। तब भी मीठा स्वाद आये।
राख जान रौंद जायें। तो जलाती आग ।। १०५ ।।

काम्य कर्म में यही एक। सामर्थ्य स्वाभाविक।
अतः उसका कौतुक। करे मुमुक्षु ।। १०६ ।।

बल्कि बात सुनो भ्राता। जो-जो काम्य कर्म होता।
उसे त्यागो ही सर्वथा। विषवमन- सा ।। १०७ ।।

ऐसे त्याग को सुभद्रापते। ज्ञानी संन्यास कहते।
अर्जुन को ऐसा समझाते। सर्वद्रष्टा श्रीहरि ।। १०८ ।।

इस काम्य कर्म को त्यागने। कामना को ही उखाड़ें।
जैसे मन से भय को मिटाने। तजें सम्पत्ति ।। १०९ ।।

चन्द्र-सूर्य को लगते ग्रहण। करना जाप तथा दान।
या माँ-बाप को आते मरण। श्राद्धकर्म करना ।। ११० ।।

अथवा भोजन समय प्राप्त। अतिथियों को करना तृप्त।
अर्जुन ऐसे कर्म समस्त नैमित्तिक होते ।। १११ ।।

वर्षा में भरता गगन। बसंत में खिलता वन।
अथवा निखारता यौवन। अंग-प्रत्यंग को ।। ११२ ।।

ज्योत्स्ना में चंद्रकान्त पसीजता। धूप में कमल खिल जाता।
यहाँ जो है वही बढ़ता। नया नहीं कुछ भी ।। ११३ ।।

वैसे जो नित्य कर्म। उसे लगते निमित्त के नियम।
उसी का होता बड़ा नाम। नैमित्तिक कर्म ।। ११४ ।।

सायं, प्रातः, मध्याह्न में। जो भी करना है प्रतिदिन में ।
ऐसे सहज, जेसे नयन में। दृष्टि न लाना पड़ती ।। ११५ ।।

अथवा पैरों में गति। नहीं लाना पड़ती ।
या दीपक में दीप्ति। लाना अनावश्यक ।। ११६ ।।

अथवा चन्दन में सुवास। कौन लाता सायास ।
वैसे स्वाभाविक विशेष। कर्माधिकार सबको ।। ११७ ।।

ऐसे अधिकारानुरूप कर्म। उसे ही जानो नित्य कर्म ।
पार्थ बताया यह मर्म। नित्य नैमित्तिक का ।। ११८ ।।

जो कर्म नित्य नैमित्तिक। उसका पालन आवश्यक ।
इसीलिये कुछ लोक। कहते उसे निष्फल ।। ११९ ।।

पर जैसे भोजन करते, भ्राता। तृप्ति मिलती, मिटती क्षुधा ।
वैसे सर्वथा फल मिलता। नित्य-नैमित्तिक कर्म का ।। १२० ।।

अशुद्ध सोना आग में तपता। मैल जल कर खूब निखरता ।
वैसे इन दोनों कर्मों के, भ्राता। मिलते फल ।। १२१ ।।

प्रत्यवाय दोष टलता। अपना अधिकार बढ़ता ।
सद्गति का लाभ होता। इन कर्मों से ।। १२२ ।।

इतना यद्यपि है विशाल। नित्य-नैमित्तिक का फल ।
मूल नक्षत्र में जन्मा बाल। जान त्यागें उसे ।। १२३ ।।

लता में आती बहार। आम पर आता बौर ।
हाथ भी लगाये बिना, पर। वसंत निकल जाता ।। १२४ ।।

वैसे नित्य-नैमित्तिक आचरण। करें पूरा लगाकर ध्यान ।
किन्तु त्यागें जैसे वमन। फल उसका ।। १२५ ।।

कर्मफल की ऐसी विरक्ति। ज्ञानियों में त्याग कहलाती ।
त्याग-संन्यास की यह उपपत्ति। बताई तुम्हें अर्जुन ।। १२६ ।।

ऐसे होता जब संन्यास। काम्य कर्म न होता बाधक।
निषिद्ध कर्म टलता अनायास। शास्त्रनिषेध से ।। १२७ ।।

यों कर्तव्य कर्म सकल। फलत्याग से ही निष्फल।
जैसे मस्तक काटते विकल। शरीर सारा ।। १२८ ।।

अनाज उग आने पर। पौध होता निस्सार।
वैसे कर्मक्षय होने पर। आत्मज्ञान उगता ।। १२९ ।।

ऐसे जुगत से अर्जुन। जो त्याग-संन्यास का पालन।
करते, वे ही पाते आत्मज्ञान। सत्पात्र होते ।। १३० ।।

ऐसी युक्ति छोड़ते। कर्मत्याग जो करते।
त्याग के बिना पड़ते। सम्भ्रम में, पार्थ ।। १३१ ।।

दवा बिना सही निदान। होती विष के समान।
क्षुधा बिना खाया अन्न। मारक बनता ।। १३२ ।।

अतः जो त्याज्य नहीं। उसका त्याग उचित नहीं।
जो सर्वथा हो त्याज्य ही। लोभ अनुचित उसका ।। १३३ ।।

त्याग युक्ति से चूकते। त्याग के ही बंधन पड़ते।
विरक्त ही टाल सकते। त्याज्य आचार ।। १३४ ।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। ३ ।।

जिनका न छूटे फलाभिलाष। वे कर्म में देखते बंध-दोष।
स्वयं नग्न, रख खुन्नस। कहे सबको झगड़ालू ।। १३५ ।।

अथवा रोगी जिव्हालम्पट। अन्न को ही कहे दुष्ट।
बदन पर निकलते कुष्ठ। मक्खियों पर कोपता ।। १३६ ।।

वैसे फलत्याग में अशक्त। कहते कर्म ही फलदूषित
और बघारते सिद्धान्त। कर्मत्याग का ।। १३७ ।।

कोई कहते यज्ञादिक। कर्म करना अत्यावश्यक।
उसके सिवा चित्तशुद्धिकारक। दूसरा न कुछ भी।। १३८।।

चित्तशुद्धि कार्य में, पार्थ। यशस्वी होने त्वरित।
करने में यज्ञादिक कर्म। आलस्य न करें।। १३९।।

शुद्ध करना हो सुवर्ण। तो अग्नि से न करें पलायन।
राख में कर हाथ मलिन। स्वच्छ करें दर्पण को।। १४०।।

स्वच्छ धुले वेश अपना। ऐसी अपेक्षा हो करना।
तो मैली नहीं मानना। रजक की भट्ठी।। १४१।।

वैसे कर्म जान क्लेशकर। न करें उसका तिरस्कार।
क्या अन्न लगता रुचिकर। राँधे बिना ?।। १४२।।

कोई ऐसे युक्तिवाद कर। कर्म के बनते पक्षधर।
त्याग के विषय में भी, वीर। नाना मत होते।। १४३।।

कैसे इस मतभेद का क्षय। होकर करें त्याग-निर्णय।
यही बताऊँगा धनंजय। तुम ध्यान दो।। १४४।।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।। ४।।

जिसे कहा जाता त्याग। उसके होते तीन भाग।
उनका विवरण यथा प्रसंग। बताता हूँ।। १४५।।

त्याग के तीन प्रकार। यदपि बताये, धनुर्धर।
उसका इतना ही सार। पहचान लो।। १४६।।

मैं हूँ सर्वज्ञाता। इस विषय में जो तथ्य मानता।
उसे दत्तचित्त हो, भ्राता। निश्चय तत्त्व जानो।। १४७।।

अपने को मिले मोक्ष। इस विषय में जो दक्ष।
उसे सर्वथा यही पक्ष। लेना चाहिए।। १४८।।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। ५ ।।

यज्ञ, दान, तपादिक। कर्म अत्यन्त आवश्यक ।
चलना न छोड़े पथिक। वैसे इन्हें न छोड़ें ।। १४९ ।।

खोई वस्तु नहीं मिलती। खोज तब तक जारी रहती ।
या तृप्ति जब तक नहीं होती। पात्र न त्यागें ।। १५० ।।

नाव पार जाते तक न छोड़ें। कदली फल तक न काटें ।
दीपक को न बुझायें। चीज़ दिखते तक ।। १५१ ।।

वैसे आत्मज्ञान लाभ का। जब तक विश्वास नहीं होता ।
यज्ञादिक के प्रति, भ्राता। न रहें उदासीन ।। १५२ ।।

अपनी योग्यतानुसार। यज्ञदानादिक आचार ।
लगन से बारम्बार। अवश्य करें ।। १५३ ।।

जो सत्वर मार्ग पर चलता। वह सत्वर विश्राम पाता ।
वैसे जो अधिक कर्म करता। पाता नैष्कर्म्य ।। १५४ ।।

बार-बार जो औषधि। नियम से लेता नित्य प्रति ।
उसका देह रोगमुक्ति। पाता यथाक्रम ।। १५५ ।।

वैसे यज्ञादि कर्म निरन्तर। करते होकर तत्पर ।
रज-तम दोष सत्वर। नष्ट होते आमूल ।। १५६ ।।

सुवर्ण पर बार-बार। पुट चढ़ाये डाल क्षार ।
तो अशुद्धता होकर दूर। आती शुद्धता ।। १५७ ।।

वैसे निष्ठापूर्वक करते कर्म। नष्ट होते रज-तम ।
सत्वशुद्धि का दिव्य धाम। प्राप्त होता ।। १५८ ।।

अतः हे भारत। सत्वशुद्धि करने प्राप्त ।
सत्कर्म ही योग्यता पावत। तीर्थक्षेत्रों की ।। १५९ ।।

तीर्थ धोते बाह्य मल। सत्कर्म करते अंतर उज्ज्वल।
अतः तीर्थों समान निर्मल। जानो सत्कर्म ।। १६० ।।

प्यासे को मरु में अकस्मात। अमृत निर्झर होते प्राप्त।
अथवा अन्धे नेत्र में ज्योतित। होवे साक्षात् रवि ।। १६१ ।।

डूबते को बचाये नदी। गिरते को सम्भाले धरती।
मरते को करे मृत्यु ही। दीर्घायु प्रदान ।। १६२ ।।

वैसे बंधन से कर्म ही अर्जुन। साधक का करता विमोचन।
विष बनते ही रसायन। मरते को बचाता ।। १६३ ।।

अतः कर्म यदपि बंधनकारक। करते उन्हें युक्तिपूर्वक।
होते सर्वथा बंधमोचक। धनंजय ।। १६४ ।।

मैं यहाँ वही कर्मयुक्ति। बताता हूँ, सुभद्रापति।
जिससे मिलेगी मुक्ति। कर्मबन्धनों से ।। १६५ ।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। ६ ।।

कर्म पंचमहायागादिक। होते यदपि अचूक।
कर्तापन का अनावश्यक। हो न अभिमान ।। १६६ ।।

किसी के लिये लेकर धन। जो करता तीर्थाटन।
तीर्थयात्रा का अभिमान। उसमें नहीं होता ।। १६७ ।।

चक्रवर्ती की आज्ञा पर। जो मांडलीक को लाता धर।
विजयी होने का अहंकार। उसमें नहीं होता ।। १६८ ।।

तुम्बा पकड़ जो तैरता। उसमें तरण का गर्व न होता।
राजद्रव्य पुरोहित देता। गर्व न करता दान का ।। १६९ ।।

वैसे कर्म यथावसर। करता जो शास्त्रानुसार।
बिना धरे अहंकार। कर्तृत्व का ।। १७० ।।

कृतकर्मो का जो फल। निश्चित मिलेगा सकल।
उसके प्रति मन मे प्रबल। वैराग्य जिसे ।। १७१ ।।

पहले फलाशा तज कर। सन्तोष से करे कर्माचार।
जेसे दाई करती सवर्द्धन। पराये शिशु का ।। १७२ ।।

फल की आस के बिन। पीपल का करते सिचन।
वेसे फल की आशा बिन। करे सत्कर्म ।। १७३ ।।

दूध की अपेक्षा किये बिन। चरवाहा चराता गोधन।
कर्मफलो के प्रति मन। हो निरीच्छ वेसे ।। १७४ ।।

वरतते ऐसी कुशलता। सत्कमाचरण जो करता।
आत्मरूप का दर्शन पाता। वह अवश्यमेव ।। १७५ ।।

अत फलाशा तज अजुन। भुला कतृत्वाभिमान।
करे सत्कम का आचरण। यही सन्देश मेरा ।। १७६ ।।

जो जन्मवध स श्रान्त। मुक्ति के लिये आर्त।
वह मेरा यह सन्देश, पार्थ। न भुलाये कभी ।। १७७ ।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। ७ ।।

अँधेरे पर गुस्सा कर। आँखे फोड ले नख चुभो कर।
वेसे कम से नाराज होकर। त्याग करना कर्म का ।। १७८ ।।

ऐसे कर्मत्याग को, गुडाकेश। मे कहता हूँ तामस।
क्या काट डाले शीप। अधकपारी से उबरने ? ।। १७९ ।।

मार्ग कितना ही हो दुस्तर। चल कर ही करे पार।
क्या माग पर गुस्सा कर। अपने पेर काटें ।। १८० ।।

भूख लगते मिला अन्न। जो हे अत्यन्त उष्ण।
उसे लतियाते लघन। निश्चित होगा ।। १८१ ।।

युक्ति से कर कर्माचरण। कैसे टालें कर्मबंधन।
नहीं जानते तामसी जन। भ्रमोन्मत्त ।। १८२ ।।

वर्णाश्रमानुसार, भ्राता। स्वकर्म जो भी होता।
उसे तामस भाव से वृथा। कभी न छोड़ो ।। १८३ ।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। ८ ।।

अपने अधिकार को जानता। विहित कर्मबोध भी रखता।
किन्तु जो ऊब जाता। कर्मक्लेशों से ।। १८४ ।।

प्रारम्भ में कौन्तेय। कर्म लगते कष्टमय।
जैसे ढोते पाथेय। लगता भारी ।। १८५ ।।

नीम स्वाद में कड़वीला। हरड़ लगता कसैला।
वैसे प्रारम्भ में कटीला। लगता कर्म ।। १८६ ।।

गाय के सींग गढ़ते। सेवती के काँटे चुभते।
भोजसुख में पीड़ा देते। क्लेश रसोई के ।। १८७ ।।

वैसे शास्त्रविहित कर्म। करने में अति विषम।
अतः करने पड़ते श्रम। प्रारम्भ में ही ।। १८८ ।।

शास्त्रोक्त मान शुरू करता। आगे जब कष्टप्रद होता।
तो गरम वस्तु-सा फेंकता। हाथ जलते ।। १८९ ।।

कहता, अहोभाग्य के कारण। प्राप्त हुआ मुझे तन।
उसका निरंतर कर्म से पीड़न। क्यों करूँ पापी-सा ? ।। १९० ।।

कर्म से जो होगा प्राप्त। वह मुझे चाहिए साम्प्रत।
प्राप्त सुख भोग को व्यर्थ। गवाऊँ किस लिये? ।। १९१ ।।

ऐसे शरीर क्लेश भय से। नियत कर्म त्यागने से।
राजस त्याग होता ' इसे। जानो धनंजय ।। १९२ ।।

अन्यथा इसमें भी कर्म छूटता। पर त्याग फल नहीं मिलता।
जैसे उफन कर आग में गिरता। न कहलाता आहुति ।। १९३।।

डूबने से जो मृत्यु आती। जलसमाधि न कहलाती।
वह दुर्घटना ही होती। शोचनीय सर्वथा ।। १९४।।

देह पर प्रीति रखते। जो विहित कर्म छोड़ते।
उन्हें न फल प्राप्त होते। कर्मत्याग के ।। १९५।।

आत्मज्ञान की किरीटी। अपने में जब पौ फटती।
तो सूर्योदय पर नष्ट होती। नक्षत्र आभा जैसे ।। १९६।।

वैसे समस्त अज्ञानसहित। कर्म ही जिससे होता लुप्त।
वह कर्मत्याग देता निश्चित। मोक्षफल जो ।। १९७।।

वह मोक्षफल अज्ञान से। न मिलता कर्म तजने से।
अतः कर्मत्याग को ऐसे। जानो राजस ।। १९८।।

तो कौन-सा त्याग करने से। मोक्षफल अपने पाँव से।
चला आता यह प्रसंग से। बताऊँगा यहाँ ।। १९९।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।। ९।।

तो वर्णाश्रमानुसार। कर्म आता जो अपने पर।
उसे आचरें यथाशास्त्र। निर्दोष रीति से ।। २००।।

किन्तु इसमें कर्ता-बोध। मन में कभी न हो पार्थ।
वैसे ही फलाशा की बात। न लायें मन में ।। २०१।।

माता की करें अवज्ञा। या उसके प्रति कामवासना।
दोनों बनती अर्जुन। पतन का कारण। ।। २०२।।

ये दोष छोड़कर पांडुसुत। करें माँ की सेवा नित।
मुख अपवित्र है अतः। तजें क्या गाय को ? ।।। २०३।।

सार नहीं गुठली का। रसहीन है छिलका ।
अतः क्या प्रिय आम का। करता कोई त्याग ? ।। २०४ ।।

वैसे कर्तृत्व का मद। और कर्मफल का आस्वाद ।
कहलाता कर्मबन्ध। जग में पार्थ ।। २०५ ।।

हो दोनों में निष्कामता। जैसे, कन्या में अनासक्त पिता ।
फिर कभी दुःखी न होता। कर्म करते भी ।। २०६ ।।

यही त्याग श्रेष्ठ वृक्ष। इसी का फल है मोक्ष ।
ख्यात जगत में प्रत्यक्ष। सात्त्विक नाम से ।। २०७ ।।

जैसे बीज की करते राख। वृक्ष होता निर्वंश ।
वैसे करते कर्मफल त्याग। होता त्याग कर्म का ।। २०८ ।।

लोह को पारस-स्पर्श होते। रंग रूप कलंक जाते ।
वैसे दोनों कर्मदोष त्यजते। त्याग होता सात्त्विक ।। २०९ ।।

फिर शुद्ध सत्त्व होते उदित। आत्मबोध होता जाग्रत ।
संध्या होते जैसे लोपत। मृगमरीचिका ।। २१० ।।

वैसे यह विश्व -आभास। तत्काल होता अदृश्य ।
जैसे सर्वव्यापी आकाश। न देखता कहीं ।। २११ ।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। १० ।।

प्रारब्धवश हे भ्राता। यहाँ भलाबुरा कर्म होता ।
किन्तु मेघ जैसे विलीन होता। आकाश में ।। २१२ ।।

वैसे सभी कर्मो को, भ्राता। वह निर्दोष ही देखता ।
अतः सुख, हर्ष, दुःख, व्यथा। होती नहीं उसमें ।। २१३ ।।

शुद्ध कर्म का आचरण। नहीं करता हर्षित मन ।
या कर्म को अशुभ मान। द्वेष नहीं करता ।। २१४ ।।

शुभाशुभ के प्रति कतई। सन्देह मन में रहता नहीं।
जैसे, जागते स्वप्न का कुछ भी। शेष नहीं रहता ।। २१५ ।।

अतः कर्म और कर्ता। इस द्वैतभाव की वार्ता।
जिसमें न होती, भ्राता। वही त्याग सात्विक ।। २१६ ।।

ऐसे करते कर्म का त्याग। तत्त्वतः होता कर्मत्याग।
अन्य प्रकार करते त्याग। कर्मबन्धन निश्चित ।। २१७ ।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। ११ ।।

नरदेह को प्राप्त करने। जो कर्म से ऊब जाते।
उन्हें मानो सुभद्रापते। मूर्ख जगत में ।। २१८ ।।

घड़ा ऊब सकता कैसे। अपनी ही माटी से।
त्याग करेगा पट कैसे। अपने ही तंतुओं का ।। २१९ ।।

अग्नि अपनी उष्णता। भला कैसे छोड़ सकता ?।
क्या दीप करेगा, भ्राता। द्वेष अपनी प्रभा से ? ।। २२० ।।

हींग ऊबा भी बदबू से। सुगंध उसमें आये कैसे ?।
पानी अपनी द्रवता से। कैसे रहेगा अलग ? ।। २२१ ।।

अर्जुन, जब तक शरीर। करता रहे व्यवहार।
कर्मत्याग का भूत सवार। उस पर हो किसलिये ? ।। २२२ ।।

टेढ़े लगे तिलक को। पोंछ सकते बार अनेकों।
किन्तु टेढ़े मस्तक को। कैसे करें ठीक ? ।। २२३ ।।

कर्म जो शास्त्रों से आता। उसे छोड़ा भी जा सकता।
पर कर्ममय देह को, भ्राता। छोड़ेगा कौन ? ।। २२४ ।।

श्वसनकर्म नित्य चलता। नींद में भी जारी रहता।
किसी दशा में नहीं थमता। सहज कर्म वैसे ।। २२५ ।।

भले ही देह के कारण। कर्म पीछा छोड़ता न।
अशक्य उसका त्यजन। जीते जी या मरणोत्तर ।। २२६ ।।

कर्मत्याग का भारत। एक ही उपाय तत्त्वतः।
कर्म करते न हो ईप्सित। फल उसका ।। २२७ ।।

कर्मफल करें ईशार्पण। तभी मिलेगा आत्मज्ञान।
फिर रज्जुबोध से सर्पभान। लोपता जैसे ।। २२८ ।।

वैसे उदित होते आत्मज्ञान। होगा अज्ञानसहित कर्म क्षीण।
सच्चा कर्मत्याग अर्जुन। होता ऐसे ।। २२९ ।।

ऐसा जो सात्विक त्यागी। वही सच्चा कर्मत्यागी।
इतर सभी जानो रोगी। मूर्च्छा जिनका विश्राम ।। २३० ।।

एक कर्म से ऊब गया। दूजा कर्म चिपक गया।
जैसे मारने लग गया। डंडे के बजाय घूसों से ।। २३१ ।।

अस्तु कितना कहूँ भ्राता। वही त्यागी श्रेष्ठ होता।
जो फलासक्ति को त्यज करता। कर्म को ही निष्कर्म ।। २३२ ।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। १२ ।।

अन्यथा भी अर्जुना। जो न तजते फलकामना।
उन्हें पड़ता ही भोगना। त्रिविध कर्मफल ।। २३३ ।।

कर कन्यादान पिता। मोह से मुक्त हो जाता।
पर जो पाणिग्रहण करता। पड़ता मोहबंधन में ।। २३४ ।।

विष बेचता विक्रेता। संसार में सुख भोगता।
पर जो खरीद कर खाता। उसका होता विनाश ।। २३५ ।।

कर्म करें साभिमान। या करे फलाशा छोड़।
दोनों को भी कर्मबंधन। टारे नहीं टरेगा ।। २३६ ।।

पका फल मार्गतरु का। जो लेगा होता उसी का ।
वैसे कर्मफल होगा उसका। जो चाहेगा उसे ।। २३७ ।।

कर्म करने पर भी न ले फल। भव में न फँसता वही केवल ।
कारण त्रिविध जग है कर्मफल। अन्य कुछ भी नहीं ।। २३८ ।।

देव, मानव, स्थावर। यही जगत का विस्तार ।
और ये ही हैं तीन प्रकार। कर्मफलों के भी ।। २३९ ।।

एक अत्यन्त अनिष्ट। दूजा ही केवल इष्ट ।
तीसरा है इष्टानिष्ट। त्रिविध कर्मफल ।। २४० ।।

जिनकी मति विषयासक्त। जो विधिहीन कर्म करत ।
जो होते नित्य रत। निषिद्ध दुराचार में ।। २४१ ।।

वे पाषाण कृमि कीट। ऐसे देह पाते निकृष्ट ।
इन्हीं का नाम अनिष्ट। कर्म फल ।। २४२ ।।

स्वधर्म को मान। स्वाधिकार को जान ।
वेदोक्त सदाचरण। करते जो ।। २४३ ।।

उन्हें इन्द्रादि देवताओं के। शरीर मिलते नीके ।
प्रख्यात नाम हैं इनके। इष्ट कर्मफल ।। २४४ ।।

खट्टा-मीठा मिलाने पर। रस बनता विचित्र ।
जो स्वाद में अधिक मधुर। दोनों से भी ।। २४५ ।।

अथवा योगाभ्यास से रेचक। बन जाता है कुंभक ।
वैसे सत्यासत्य हो एक। जीते जाते दोनों ।। २४६ ।।

शुभ-अशुभ जिसमें समान। ऐसा होते आचरण ।
मिलता जो मानव-तन। मिश्र फल वही ।। २४७ ।।

ऐसे त्रिविध कर्मफल। जगत में दिखते सकल ।
फलाशा जिसकी प्रवल। वही प्राप्त होता ।। २४८ ।।

गले तक मिष्टान्न छकते। बहुत सुख तो पाते ।
पर अजीर्ण बाधा हो अंत में। पाते मरण ।। २४६ ।।

जब तक वन नहीं आता। साव-चोर की भली मित्रता ।
वेश्या- स्पर्श नहीं होता। तभी तक वह भली ।। २५० ।।

वैसे देही कर्म करते। मन में अभिमान धरते ।
फिर कर्मफल भोगते। मरणोपरान्त ।। २५१ ।।

साहूकार हो बलवान। वसूल कर ही लेता ऋण ।
वैसे कर्मभोग अर्जुन। टाले नहीं जाते ।। २५२ ।।

भुट्टे से दाने निकलते। उनसे नये भुट्टे उगते ।
ऐसा चक्र रहता चलते। बीज-भुट्टों का ।। २५३ ।।

वैसे भोग से मिलता फल। उससे आता दूजा फल ।
एक के बाद एक अविकल। चलते चरण जैसे ।। २५४ ।।

ढलती धारा में नाव। रुके वहीं उसका पड़ाव ।
वैसे न होता ठाँव। कर्मफल भोगों का ।। २५५ ।।

शरीर से भोग, भोग से शरीर। ऐसे अखंड चलता संसार ।
अतः संसार में रहते निरन्तर। जो फलाशा न छोड़ते ।। २५६ ।।

जाही का फूल पूर्ण खिलता। उसी क्षण मुरझाने लगता ।
वैसे जिसका कर्म होता। नैष्कर्म्य पार्थ ।। २५७ ।।

बीज लिया खाने। तो क्या रहेगा खेत में बोने ? ।
वैसे, कर्म परिणाम है रुकने। फलत्याग से ।। २५८ ।।

सत्वशुद्धि की सहायता से। गुरुकृपामृत की वर्षा से ।
आत्मबोध बढ़ता जिससे। द्वैतदैन्य जाता ।। २५९ ।।

तब जिन फलों से त्रिविध। जगदाभास उत्पन्न ।
वही नष्टते लोपता पूर्ण। द्वैत भोक्ता-भोग का ।। २६० ।।

इस ज्ञानप्रधान संन्यास का भ्राता। जो अशेष पालन करता।
उसे कभी बाधक न होता। दुःख फलभोग का ।। २६१।।

इस संन्यास का आचरण। कराता आत्मतत्त्व का दर्शन।
तो कर्म का पृथकपन। कहाँ रहता ? ।। २६२।।

सचित्र दीवारें गिरतीं। चित्रों की होती केवल माटी।
क्या पौ फटने पर दिखती। अँधेरी रात ? ।। २६३।।

जब आकृति ही हो नहीं। कैसे पड़ेगी परछाई।
छवि कैसे देगी दिखाई। बिना दर्पण के ? ।। २६४।।

निद्रा ही गयी टूट। कैसे दिखेगा स्वप्न ?।
सत्य-आभास का कौन। विवेचन करेगा ? ।। २६५।।

करते कर्मफल संन्यास। अविद्या का होता नाश।
फिर कौन करे सायास। उसे लेने-देने का ? ।। २६६।।

उस संन्यास में कतई। कर्म का नाम भी रहता नहीं।
पर अविद्या अपने देह में रही। तो क्या होता सुनो ।। २६७।।

तो मन में धर अहंकार। आत्मा शुभाशुभ आचार।
करता, तथा रहता निरंतर। द्वैत विचार प्रबल ।। २६८।।

तब तक जानो हे अर्जुन। कर्म तथा आत्मा भिन्न।
दिशाएँ जैसे भिन्न। पूर्व तथा पश्चिम ।। २६९।।

आकाश और अभ्र। सूर्य तथा मृगजल।
वायु और भूतल। विभिन्न जैसे ।। २७०।।

सरिता-जल में डूब कर। रहता है सदा प्रस्तर।
दोनों में पृथकता अपार। होती धनुर्धर ।। २७१।।

सिवार पानी के अति समीप। फिर भी उनमें अंतर अनूप।
क्या सम्पर्क मात्र से दीप। कहें काजल को ? ।। २७२।।

कलंक है चन्द्र पर। चन्द्र नहीं कलंक पर।
दृष्टि और नेत्र। होते भिन्न ही ।। २७३ ।।

भिन्न पथ और पथिक । जलौघ और जल पृथक ।
भिन्न होता दर्शक। दर्पण से जैसे ।। २७४ ।।

वैसे आत्मा और कर्म से। पृथकता निश्चित रूप में।
किन्तु आता नहीं समझ में। यही अज्ञानी की ।। २७५ ।।

विकास से संकेत प्रभात का । मकरंद से रिझाती मन भ्रमर का ।
यह सरोवर से कार्य नीका। करती कमलिनी जैसे ।। २७६ ।।

वैसे आत्मा के कर्म। कराते जो पाँच कारण ।
उन पाँचों का पूरा वर्म। अब बताऊँगा ।। २७७ ।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। १३ ।।

तुम ये पाँचो कारण। जानते होगे अर्जुन ।
क्योंकि शास्त्रों ने उनका निरूपण। किया कर उठाये ।। २७८ ।।

वेदराज की नगरी में। सांख्य वेदान्त मन्दिर में।
बज रहा डंका त्रिभुवन में। उस निरूपण का ।। २७९ ।।

कर्मसिद्धि के लिये सकल। पाँचो परम आवश्यक ।
किन्तु आत्मा न होता कारण। उनका किरीटी ।। २८० ।।

जो शास्त्रों में वर्णित। वे सर्वत्र सुपरिचित ।
होंगे तुम्हें भी ज्ञात। अवश्य अर्जुन ।। २८१ ।।

तो इतरों से करे श्रवण। ऐसा क्यों पड़े प्रश्न ।
जब मैं प्रत्यक्ष चिद्रत्न। हूँ तुम्हारे वश में ।। २८२ ।।

दर्पण हो जब सम्मुख। तो देखने अपना मुख ।
किसी इतर की आँख। प्रमाण माने क्यों ? ।। २८३ ।।

भक्त देखता जो जहाँ। मैं वही बनाता वहाँ।
तुम्हारे हाथ का यहाँ। खिलौना ही हूँ।।२८४।।

देव ने प्रेमावेग से कहा। मूल विषय धरा रहा।
पार्थ भी डूबता उतराता रहा। आनन्द की बाढ़ में।।२८५।।

फैलते चाँदनी दूधिया। चंद्रकांत गिरि, भैया।
पसीज कर तलैया। बनाता हो जैसे।।२८६।।

वैसे सुख और प्रतीति। इस द्वैत की हुई समाप्ति।
शेष रही अर्जुनाकृति। शुद्ध सुख की केवल।।२८७।।

तब समर्थ होने के कारण। देव को आया स्मरण।
सुखसागर से तत्क्षण। अर्जुन को निकालने का।।२८८।।

इतना महान अर्जुन। प्रज्ञासहित गया था डूब।
तब अपना प्रेमावेग। कर सन्तुलित।।२८९।।

देव ने कहा भ्राता। स्वरूप को देखो सर्वथा।
तब आह भर नवाया माथा। धनजय ने।।२९०।।

बोला, देव आप ज्ञाता। यह द्वैत मुझे न भाता।
आपसे अद्वैत मै चाहता। सम्पूर्णतया।।२९१।।

देव आपने सदा ही। मेरी लालसा निभाई।
तो आज ही क्यो मनाही। कर रहे है ?।।२९२।।

तब बोला भक्तशिरोमणि। अर्जुन, अभी हो अज्ञानी।
द्वैत कहाँ हे वीराग्रणि। चन्द्र चन्द्रिका में।।२९३।।

और कहते यह अभिप्राय। हमारे मन में है भय।
रूठने से होता अपरिमेय। ऐसा प्रेम हमें तुमसे।।२९४।।

अस्तु में उपदेशकर्ता। तुम भक्त उपदेश श्रोता।
यह हमारा द्वैत होता। तभी तक सम्भव।।२९५।।

तो बताओ पंडुसुता। अभी मैं क्या बता रहा था।
कि आत्मा से तत्त्वतः। सभी कर्म भिन्न ।।२९६।।

तब कहता अर्जुन। मेरे मन की बात जान।
प्रमेय का निवेदन। किया प्रारम्भ आपने ।।२९७।।

जगत में जो भी आचरण। उसके होते पाँच कारण।
यही समझाने का प्रण। किया था आपने ।।२९८।।

और आत्मा का यहाँ क़तई। कर्म से सम्बन्ध नहीं।
कहा था आपने यह भी। जो मुझे बहुत भाया ।।२९९।।

सुनकर अर्जुन का भाषण। मन में प्रसन्न नारायण।
कहे, ऐसा घोर जिज्ञासु कौन। और होगा दूसरा ? ।।३००।।

अब सरल भाषा में बात। बताता हूँ सिद्धान्त।
तुम्हारे प्रेम का निश्चित। ऋणी हूँ मैं ।।३०१।।

तब अर्जुन कहता, गिरिधर। पिछला भाव क्या दिया बिसार।
यह मैं-तू का भेद विचार। कहाँ से लाये यहाँ ? ।।३०२।।

तब कहता श्रीकृष्ण। बात सुन्दर तव अर्जुन।
अब ठीक से दे अवधान। सुनो जो मैं कहता ।।३०३।।

सभी कर्मो की संरचना। आत्मा के सम्बन्ध बिना।
परस्पर होती अर्जुना। पांच कारणों से ।।३०४।।

कर्म के जो उपादान। वे ही बनते निमित्त कारण।
वे हैं केवल पाँच जान। धनंजय ।।३०५।।

दूसरे आत्मतत्त्व उदासीन। वह न निमित्त न उपादान।
कर्मसिद्धि में योगदान। उसका न होता सर्वथा ।।३०६।।

वहाँ जो सुभद्रापते। शुभाशुभ कर्म होते।
जैसे आकाश में प्रकटते। रात तथा दिवस ।।३०७।।

जल, तेज तथा धूम। इनका वायु से होते संगम।
आकाश में होता मेघागम। आकाश न जाने ।।३०८।।

काष्ठ जोड़े बनाई नाव। चप्पुओं से चलाता मल्लाह।
ले जाता हवा का बहाव। साक्षी उदक ।।३०९।।

लिया माटी का गोला। उसे चक्के पर डाला।
तब उसे आकार मिला। सुन्दर बरतन का ।।३१०।।

यहाँ कर्तृत्व कुम्हार का। सोचते लगता नीका।
आधार के सिवा धरती का। इसमें क्या काम ? ।।३११।।

रहने दो यह भी पार्थ। कर्म करते नानाविध।
सूर्य से सकल जन। पाते कौन-सी सहायता ? ।।३१२।।

निमित्त और उपादान। मिलकर पाँच कारण।
करते कर्म का निर्माण। आत्मा होता अलिप्त ।।३१३।।

कौन से वे पाँच कारण। लें पृथकता से पहचान।
मोतियों का मूल्यांकन। करते जैसे तोलकर ।।३१४।।

अधिष्टानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।१४।।

कर्म के जो कारण। उनके यथाक्रम लक्षण।
बताता हूँ करो श्रवण। पहला है शरीर ।।३१५।।

शरीर को कहते अधिष्ठान। उसका भी यही कारण।
कि भाग्य लिये सम्पूर्ण। भोक्ता रहता यहाँ ।।३१६।।

दस हाथ इन्द्रियों के। दिन-रात परिश्रम करके।
जो प्रकृति की कृपा से। पाते सुख-दुःख ।।३१७।।

उन्हें भोगने अर्जुन। पुरुष को स्थान न अन्य।
अतः कहते अधिष्ठान। इस शरीर को ।।३१८।।

चौबीस तत्त्वों का परिवार। इसी को बनाता अपना घर ।
बंध-मोक्ष का विचार। यहीं होता ।। ३१९ ।।

जागृति स्वप्न सुषुप्ति। तीनों अवस्थाएँ यहाँ रहतीं ।
अतः देह को संज्ञा मिलती। अधिष्ठान की ।। ३२० ।।

कर्म का जो दूसरा कारण। उसे कर्ता का अभिधान ।
जो प्रतिबिम्ब होता पूर्ण। चैतन्य का ।। ३२१ ।।

आकाश से वर्षा गिरती। नीचे तड़ाग बना देती ।
आकाश छवि बिम्बित होती। तड़ागाकार ।। ३२२ ।।

अथवा निद्रा लगते घोर। राजा देता स्वयं को बिसार ।
अपने को स्वप्न में देखकर। मानता भिखारी ।। ३२३ ।।

वैसे स्वरूप का हो विस्मरण। देहाकार होता चैतन्य ।
'मैं देह हूँ' यह भाव धर। विचरता जगत में ।। ३२४ ।।

इस दशा में चैतन्य। जीव नाम पाता अर्जुन ।
जो देह से होता सम्बद्ध। ममत्व की शपथ से ।। ३२५ ।।

प्रकृति करती सभी कर्म। 'मैं करता' यह पालता भ्रम ।
इसलिये इसे कर्ता नाम। दिया शास्त्रों ने ।। ३२६ ।।

एक अखंड होता नेत्र। पर पलक वालों से देखने पर ।
चीवर की भाँति विदीर्ण। दिखाई देता ।। ३२७ ।।

अथवा घर में भारत। दीप प्रकाश एक प्रशान्त ।
अनेक खिड़कियों से दिखत। अनेक रंगों का ।। ३२८ ।।

अथवा एक ही अभिनेता। नव रस प्रकट करता ।
तो नवविध प्रतीत होता। दर्शकों को ।। ३२९ ।।

वैसे बुद्धि का एक ज्ञान। गात्रों से प्रकटता अर्जुन ।
बहुविध इन्द्रियपन। धारण करता ।। ३३० ।।

उन दशेन्द्रियों को कहते करण। जो इस कर्म का कारण ।
पाँचो में तीसरा जान। नृपनन्दना ।। ३३१ ।।

पूर्व पश्चिम में बहता। पानी एक ही होता ।
नदी नद रूप में धरता। विविध रूप ।। ३३२ ।।

वैसे प्राणवायु में पार्थ। क्रियाशक्ति जो जन्मजात ।
नाना स्थानों में होते व्यक्त। नाना रूप लगती ।। ३३३ ।।

जब होती वाचा में प्रकट। तब होता कथन व्यक्त ।
जब हाथों होती संचारित। वही लेन-देन करती ।। ३३४ ।।

जब आती चरणों में। दिखती गति के रूप में ।
मलमूत्र के निस्सारण में। अधोद्वार से प्रकटती ।। ३३५ ।।

नाभि से हृदयपर्यन्त। प्राणध्वनि करती व्यक्त ।
तब इस क्रियाशक्ति को प्राप्त। संज्ञा प्राण की ।। ३३६ ।।

फिर हृदय से अर्जुन। जब करती यह श्वसन ।
तब नाम मिलता उदान। इसी क्रियाशक्ति को ।। ३३७ ।।

अधोरन्ध्रों से बहती। तब अपान कहलाती ।
सारे तन को व्यापती। तब कहलाती अपान ।। ३३८ ।।

आस्वादित अन्नरस। तन को पहुंचाती, गुडाकेश ।
जोड़ों-जोड़ों में निवास। होता जिसका ।। ३३९ ।।

ऐसी नाना क्रियाएँ देह में। करवाती अखंड रूप में ।
शक्ति वही नाभिस्थान में। नाम पाती समान ।। ३४० ।।

जमुहाई, छींक, डकार। ऐसे करवाती देह व्यापार ।
तब नाग कूर्म कुकुर। नाम पाती यह शक्ति ।। ३४१ ।।

वायु होती एक ही। पर भिन्न क्रिया करते ही ।
नाम उसे कितने ही। प्राप्त होते ।। ३४२ ।।

ऐसे व्यापारानुसार। वायुशक्ति के जो प्रकार।
वे ही जानो धनुर्धर। चौथा कारण कर्म का।। ३४३।।

ऋतुओं में शरदकाल। शरद में भी चन्द्र शीतल।
चन्द्र का भी बिम्ब सकल। हो पौर्णिमा का।। ३४४।।

बसंत का हो उपवन। उपवन में मिलें प्रियजन।
मिलन से सौख्यसाधन। भरपूर हो।। ३४५।।

अथवा कमल मनोहर। खिले ले पूरा विस्तार।
उसमें पराग सुंदर। हो सुगंधित।। ३४६।।

वाणी में हो कवित्व। कवित्व में भी रसिकत्व।
रसिकत्व में परतत्त्व। प्रकट हो।। ३४७।।

वेसे वृत्तियों का वैभव। बुद्धि में हो सर्व।
इन्द्रियों का भी प्रभाव। दिखे बुद्धि में।। ३४८।।

इन्द्रियाँ जिसका अधिष्ठान। ऐसे जो देवतागण।
वही है साचा भूषण। इन्द्रियों का।। ३४९।।

श्रोत्र-नेत्रादिक दश। इन्द्रियों के समूह पर।
नित्य करते अनुग्रह। सूर्यादिक देवता।। ३५०।।

ये इन्द्रियस्थ देवतागण। हे पाँचवा कारण।
अर्जुन, इसे लो जान। श्रीकृष्ण कहते।। ३५१।।

तुम्हारे लिये समझना आसान। ऐसे ही हैं ये पाँच कारण।
बताये मैंने विस्तारपूर्ण। सुने न तुमने ?।। ३५२।।

ये ही कारण विस्तार पाते। तो नानाविध कर्म होते।
उनके हेत क्या होते। अव वताता सुस्पष्ट।। ३५३।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। १५।।

अकस्मात् बसंत के आते। पेड़ों में नये कोंपल निकलते।
उनमें फूल भी खिलते। फूलों में आते फल ।। ३५४ ।।

वर्षा में मेघ आते। पर्जन्य बरसा जाते।
पर्जन्य से उत्पन्न होते। धान अनाज ।। ३५५ ।।

पूर्व में होता अरुणोदय। उससे होता सूर्योदय।
सूर्योदय से प्रकाशमय। होता दिवस ।। ३५६ ।।

वैसे यह मन अर्जुन। कर्म-सकल्प का कारण।
संकल्प का प्रकटीकरण। होता वाचा से ।। ३५७ ।।

वाचा के प्रकाश में पार्थ। कर्ममार्ग आलोकित।
तब कर्ता होता प्रकट। कर्म करने ।। ३५८ ।।

कर्म करने शारीर। कारण बनता शरीर।
जेसे लोहे का ओजार। बनता लोहे मे ही ।। ३५९ ।।

खड़े धागे का फेलाते ताना। आडे ततु का डालते बाना।
पाण्डव वही तानाबाना। बनता वस्त्र ।। ३६० ।।

वेसे शरीरादि कर्म का भ्राता। शरीरादिक हेत होता।
हीर की कटाई का होता। हीरा ही साधन ।। ३६१ ।।

कारण शरीरादि कर्म के। केसे हेत होगे उनके।
शंका उठती हो मानस मे। सुनो समाधान ।। ३६२ ।।

सूर्यप्रकाश को अर्जुन। जेसे सूर्य ही हेत कारण।
या ईख का हेत कारण। पोर ईख का ।। ३६३ ।।

वाग्देवता का करने स्तवन। वाग्देवता ही चाहिये अर्जुन।
या वेदमहिमा का करने वर्णन। चाहिये वेद ही ।। ३६४ ।।

वेसे कर्म का कारण शरीरादिक। यह मानते सभी लोक।
पर यही हेत भी होते निशंक। जानो यहाँ ।। ३६५ ।।

देहादिक कारणों से। तथा देहादिक हेत से।
विविध कर्मों की लीला से। होती रचना यहाँ ।। ३६६ ।।

फिर शास्त्रों के अनुसार। उन्हीं कर्मों का आचार।
न्याय होता धनुर्धर। न्याय से ही ।। ३६७ ।।

जैसे वर्षा जल का रेला। धान के खेत में चला।
वह वही यदि घुला। तब भी बड़ा उपयोगी ।। ३६८ ।।

कोई नाराज हो गया। द्वारिका की ओर चलता गया।
बीच में थक भी गया। व्यर्थ न उसका चलना ।। ३६९ ।।

वैसे हेत कारण का मिलन। कराता अंध कर्माचरण।
पर शास्त्राधार से वही आचरण। न्याय कर्म होता ।। ३७० ।।

दूध तपते-तपते चढ़ा। चढ़ते उफन कर पड़ा।
वह सत्कार्य में काम आया। कैसे कहें ? ।। ३७१ ।।

शास्त्र-मर्यादा लाँघता। कर्म तभी सार्थक होता।
लूट में खोया धन कहलाता। जब दान ।। ३७२ ।।

बावन वर्णों से विरहित। कौन-सा मंत्र करे हित।
एक वर्ण भी न उच्चारत। ऐसा प्राणि कौन ? ।। ३७३ ।।

पर मंत्र की रीति सुनिश्चित। जब तक न होती अवगत।
मंत्रोच्चार का फल प्राप्त। होता नहीं ।। ३७४ ।।

हेत-कारण संजोग से। कर्म होते सहज से।
वही अशास्त्रीय ढंग से। होते जब ।। ३७५ ।।

सब यदपि कर्म होता। वह तत्त्वतः कर्म नहीं होता।
अन्याय से किया जाता। कर्म अन्याय्य ही ।। ३७६ ।।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।। १६ ।।

ऐसे कर्म के, अर्जुन भाई। हेत और पाँच कारण ही ।
यहाँ कतई होता नहीं। सम्बन्ध आत्मा का ।।३७७।।

सूर्य नहीं विषय नेत्र का। पर प्रकाशक नेत्र विषय का ।
वैसे आत्मा न होकर कर्म का। करता कर्म प्रकाशित ।।३७८।।

प्रतिबिम्ब और दर्पण भी। स्वयं न होते हुए भी ।
प्रकाशित करता दोनों को ही। दर्शक जैसे ।।३७९।।

दिन या रात नहीं होता। दोनों को व्यक्त करे सविता ।
वैसे न होकर भी कर्मकर्त्ता। आत्मा करता कर्म व्यक्त ।।३८०।।

'मैं देह' यह भ्रान्ति। जिसकी मति पर सवार होती ।
उसके लिये मध्यरात्रि। हुई आत्मतत्त्व की ।।३८१।।

जिन्होंने माना निज शरीर। साक्षात् ब्रह्मचैतन्य ईश्वर ।
आत्मा कर्ता यह विचार। अचल होता उनका ।।३८२।।

या आत्मा ही कर्मकर्त्ता। यही निश्चय जिनका होता ।
देह को ही कर्मकर्त्ता। मानते वे ।।३८३।।

मैं आत्मा कर्मातीत। सब कर्मो का साक्षीभूत ।
ऐसी स्वरूप की बात। सुनते नहीं वे ।।३८४।।

अतः आत्मा जो सर्वव्यापी। उसे मानते देह स्वरूपी ।
दिन को बनाते रात्ररूपी। उल्लू जैसे ।।३८५।।

जिसने आकाश में कभी। सत्यसूर्य को देखा नहीं ।
वह डबरे के बिम्ब को ही। सच्चा सूर्य मानता ।।३८६।।

डबरे में पानी रुकता। उसी को सूर्योदय मानता ।
सूखते सूर्यनाश मानता। काँपते उसका प्रकम्प ।।३८७।।

मनुष्य जब तक सोया रहता। स्वप्न उसको सत्य लगता ।
रज्जुबोध बिन साँप से डरता। आश्चर्य कैसे ? ।।३८८।।

पीलिया से जो पीड़ित। उसे चन्द्र भी दिखता पीता।
मृग के सिवा कौन भ्रमित। मरीचिका से ।। ३८९।।

जो गुरु-शास्त्र की बयार। आने न देता अपने द्वार।
मूढ़ता से जिसका अंतर। ओतप्रोत होता ।। ३९०।।

देहात्म दृष्टि के कारण। आत्मा पर डालता देहबंधन।
जैसे शृगाल अभ्रगति के कारण। चन्द्र को मानते गतिमान ।। ३९१।।

देहात्मभाव से निश्चित। देह के बंदीगृह में, पार्थ।
कर्मशृंखला मजबूत। बाँधते वे अर्जुन ।। ३९२।।

नली पर बैठा तोता। यदपि पैरों से मुक्त होता।
बंधभावना से क्या न खाता। धोखा सदा ही ? ।। ३९३।।

निर्मल आत्मस्वरूप पर, अर्जुन। प्रकृति कर्म का करता रोपण।
कल्पानुकल्प उसका जीवन। कर्मबद्ध रहता ।। ३९४।।

जो कर्मों में रहता। फिर भी कर्म से अछूता।
जैसे सागरजल से अछूता। वडवानल ।। ३९५।।

ऐसे जिसकी अलिप्तता। उसका कर्म कैसे होता।
उसी के लक्षण भ्राता। यहां बताता हूँ ।। ३९६।।

कर्ममुक्त के देखते लक्षण। उसे प्राप्त अपना ही मुक्तपन।
जैसे दीपक लाते तत्क्षण। वस्तु अपनी दिखती ।। ३९७।।

दर्पण को स्वच्छ करना। है अपने आपसे मिलना।
लवण का पानी में जाना। जलरूप होना ही ।। ३९८।।

अस्तु पलट कर पीछे। प्रतिविम्ब यदि विम्ब को देखे।
देखना समाप्त हो के। रहता बिम्ब ही ।। ३९९।।

वैसे देखते संतस्वरूप। मिलता भारत, निजरूप।
अतः संतस्मरण भूप। करें वर्णन से ।। ४००।।

भला-बुरा कर्माचरण। करते न जिसका लिप्त मन ।
जैसे, पलकों का आवरण। ढँकता दृष्टि को ।। ४०१ ।।

वैसे, कर्म करते भी अर्जुन। जिसे न बाँधते कर्मबन्धन ।
उसके लक्षण समीचीन। अब कहूँगा ।। ४०२ ।।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। १७ ।।

जो अनादिकाल से। अज्ञान की निद्रा में फँसे ।
देखता था प्रत्यय से। यह विश्वरूप स्वप्न ।। ४०३ ।।

उसे महावाक्य के उच्चार से। अपने वरदहस्त के स्पर्श से ।
बल्कि थपकियों से। जगाते गुरुदेव ।। ४०४ ।।

तभी विश्वस्वप्न टूट कर। अज्ञान-निद्रा भंग हो कर ।
अद्वयानंद का ज्ञान सत्वर। प्राप्त होता अर्जुन ।। ४०५ ।।

तभी मृगजल का महापूर। जो दिन में दिखता निरन्तर ।
उदित होते चन्द्र-कर। लुप्त हो जाता ।। ४०६ ।।

अथवा लोपता बाल्य। हौए का जाता भय ।
ईधनत्व का विलय। होता जलने के बाद ।। ४०७ ।।

अथवा जाग जाने पर। दिखता नहीं स्वप्न ।
वैसे होती तत्काल विलीन। अहंता ममता जीव की ।। ४०८ ।।

सूर्य अंधेरे को ढूँढ़ता। सुरंग में पहुँच जाता ।
तब भी उसे वह सर्वथा। देख सकता नहीं ।। ४०९ ।।

वैसे सोऽहं भाव से युक्त। देखता जो भी दृश्य ।
द्रष्टापन होकर प्राप्त। आत्मरूप लगता ।। ४१० ।।

अग्नि जिसे छू लेता। वह पदार्थ अग्निरूप होता ।
तथा वहाँ लोप होता। दाह्य-दाहक भेद ।। ४११ ।।

वैसे विभक्त कर्म का, भ्राता। कृतीत्व जो आत्मा पर थोपा।
वह जब विलुप्त होता। शेष अवस्था रहती जो ।। ४१२ ।।

उस शुद्धावस्था का अधिपति। क्या धारेगा देह-वृत्ति ?।
क्या प्रलय में धाराएँ रहतीं। जल से भिन्न ? ।। ४१३ ।।

'अहं ब्रह्म' हो जिसकी धारणा। उसे देह अहंता कैसी अर्जुन।
सूर्य कैसे जायेगा समेटा। अपने बिम्ब में ? ।। ४१४ ।।

मथ कर नवनीत निकाला। फिर उसे छाछ में डाला।
अपनी अलिप्तता भला। क्या वह छोड़ेगा ? ।। ४१५ ।।

अथवा काष्ठस्थित अग्नि। प्रकट हुआ जलाकर धुनि।
तो काष्ठ की पेटी में पुनि। क्या बंद करना सम्भव ? ।। ४१६ ।।

निशा गर्भ से भास्कर। उदित हुआ एक बार।
सह लेगा वह क्यों कर। अस्तित्त्व निशा का ? ।। ४१७ ।।

वैसे ज्ञेय-ज्ञाता का द्वैत। जिसके ज्ञान में हुआ लुप्त।
उसे कैसे होगा प्रतीत। देहबोध ? ।। ४१८ ।।

आकाश जहाँ-जहाँ से। जाता गमन की इच्छा से।
वहाँ होता वह पहले से। अतः है सर्वव्यापी ।। ४१९ ।।

वैसे, वह जो भी करता। वही वह स्वभाव से होता।
फिर कर्तापन स्वीकारें, भ्राता। किस कर्म का ? ।। ४२० ।।

गगन संचित सर्वत्र। प्रवाहरहित समुद्र।
ध्रुव करता स्थानांतर। वैसे अवस्था उसकी ।। ४२१ ।।

ऐसे कर्म का अहंकार। जिसके ज्ञान में निस्सार।
उसे भी जब तक शरीर। कर्म करने पड़ते ।। ४२२ ।।

रुकते बयार का बहना। न रुकता पेड़ों का डोलना।
या कपूर का उड़ जाना। छोड़ता गंध पेटी में ।। ४२३ ।।

समाप्त होते संगीत। आनन्द न होता समाप्त ।
पानी बह जाये तब भी रहत। गीलापन माटी में ।। ४२४ ।।

सूर्यास्त के बाद भी। पश्चिम में दिखाई देती ।
शाम की ज्योति दीप्ति। जैसे पार्थ ।। ४२५ ।।

लक्ष्यवेध के अनन्तर। तभी तक दौड़ता तीर ।
जब तक उसमें जोर। शेष होता ।। ४२६ ।।

बना बरतन चक्र पर। कुम्हार लेता उतार ।
फिर भी घूमता रहता चक्र। पूर्व वेग से ।। ४२७ ।।

वैसे देहाभिमान जाते ही। स्वभाव देह से जाता नहीं ।
सभी कर्म करवाता वही। देह से अनायास ।। ४२८ ।।

संकल्पबिन दिखता स्वप्न। बिना रोपे बढ़ता वन ।
बिना रचे गंधर्व भुवन। निर्माण होता स्वभावतः ।। ४२९ ।।

वैसे आत्मा की सहायता बिन। पंचविध देहादिकारण ।
करते सब कर्मो का निर्माण। स्वभावतः ही ।। ४३० ।।

प्राक्तन-संस्कार के कारण। पाँच हेत पाँच कारण ।
करवाते कर्माचरण। नाना प्रकार का ।। ४३१ ।।

चाहे उस कर्म में पार्थ। नष्ट हो जाये जग समस्त ।
अथवा होवे पुनर्निर्मित। विश्व नया ।। ४३२ ।।

कुमुद कैसे सूखता। कमल कैसे खिलता ।
दोनों कार्य नहीं देखता। गगनविहारी सूर्य ।। ४३३ ।।

कड़क कर गाज़ गिरे। धरती को ध्वस्त करे ।
या धुआँधार वर्षा करे। हरियाली सर्वत्र ।। ४३४ ।।

फिर भी ये दोनों प्रकार। आकाश को अगोचर ।
वैसे, देह ही जिसका घर। देहाभिमान के बिना ।। ४३५ ।।

संसार बनता-बिगड़ता। वह कतई नहीं जानता।
जैसे जागने पर नहीं देखता। स्वप्न कोई ।। ४३६ ।।

जो चर्मचक्षुओं से भ्राता। आत्मा को देहरूप ही देखता।
वह आत्मा को ही कर्ता। मानता मूढ़ ।। ४३७ ।।

खेत में बिजूका। खड़ा करते घास का।
उसे रखवाला खेत का। मानते सियार ।। ४३८ ।।

पागल नंगा या सवसन। लोग ही करते विलोकन।
रणवीरों के घावों का गणन। करें इतर ही ।। ४३९ ।।

महासति के सुहाग-भूषण। देखें इतर जन।
वह तो जन, भूषण, अगन। कुछ भी न जानती ।। ४४० ।।

वैसे जो आत्मबोध के कारण। द्रष्टा-दृश्य भेद जानता न।
वह इन्द्रियों के कर्माचरण। नहीं जानता ।। ४४१ ।।

तट पर खड़े-खड़े जो देखते। वे ऐसा ही सदा कहते।
कि बड़े तरंग हैं लीलते। छोटे तरंगों को ।। ४४२ ।।

किन्तु उदकदृष्टि से भ्राता। कौन किसे लीलता ?।
वैसे द्वैत का जब लोप होता। कौन मारता किसे ? ।। ४४३ ।।

स्वर्णचन्द्रिका जैसे। स्वर्ण के त्रिशूल से।
प्राण हरती लीला से। स्वर्ण महिषासुर का ।। ४४४ ।।

भक्त जब यह देखता। तो सारा सत्य मानता।
पर स्वर्णकार जानता। सुवर्ण है सारा ।। ४४५ ।।

चित्र में दिखते जल पावक। यह दृष्टि का भास भ्रामक।
चित्रपट पर आग उदक। दोनों नहीं होते ।। ४४६ ।।

वैसे मुक्त देह में गुडाकेश। कर्म होते संस्कारवश।
जो न जानते भ्रान्तमानस। मानते उसे कर्मकर्ता ।। ४४७ ।।

और उसके कर्म से, भ्राता। त्रैलोक्य का नाश होता।
तो भी इसमें कर्तृत्व उसका। नहीं मानें ।।४४८।।

आलोक देखे अँधेरे को। और कहे उसे हटाने को।
वैसे द्वैत बिना किसको। मारे ज्ञानी ।।४४९।।

अतः उसकी बुद्धि भ्राता। पाप-पुण्य न जाने सर्वथा।
गंगा में मिलते छोटी सरिता। न रहती अपवित्र ।।४५०।।

अग्नि पड़ता अंगार पर। क्या जलता धनुर्धर ?।
या क्या चुभता शस्त्र। अपने आपको ? ।।४५१।।

वैसे जो अपने से भिन्न। कर्म को न मानता अर्जुन।
उसकी बुद्धि होगी मलिन। कैसे ? किससे ? ।।४५२।।

अतः कार्य, क्रिया, कर्ता। तीनों बना जो स्वतः।
उसे कर्मबंध तत्त्वतः। बाधक न होते कभी ।।४५३।।

जीव अपने को कर्ता मानता। फिर दशेन्द्रियों के साधनतः।
पाँचों हेत मन में धरता। कर्म के लिये केवल ।।४५४।।

फिर न्याय्य-अन्याय्य जो भी। कर्म करता दोनों ही।
बनता कर्म भुवन भी। जीव तत्क्षण ।।४५५।।

इतने कर्म का भी भ्राता। जीव नहीं साह्यकर्ता।
वह कर्मारम्भ भी तत्त्वतः। करता नहीं ।।४५६।।

वह सर्वसाक्षी चिद्रूप। अतः कर्मप्रवृत्ति का संकल्प।
नहीं पाता लोप। उससे अर्जुन ।।४५७।।

कर्म करने के वास्ते। लोग नाना कष्ट करते।
उसमें भी नहीं करने पड़ते। इसे परिश्रम ।।४५८।।

इसलिये जो केवल। आत्मस्वरूप निर्मल।
उसे कर्म की प्रबल। बाँध न सकती बेड़ी ।।४५९।।

किन्तु अज्ञानपट पर विचित्र। विपरीत ज्ञान का जो चित्र।
उसकी त्रिपुटी तो सर्वत्र। प्रख्यात है अर्जुन।। ४६०।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।। १८।।

ज्ञात, ज्ञाता, ज्ञेय। कर्म का है बीजत्रय।
जिनसे ही निश्चय। मिलती कर्मप्रेरणा।। ४६१।।

उन तीनों के लक्षण। बताऊँ कर पृथक्करण।
उनका करो श्रवण। समग्रता से।। ४६२।।

जीवन-सूर्य से अर्जुन। निकलती ज्ञानेन्द्रिय-किरण।
खिलाती जो परिपूर्ण। विषयकमल कलि को।। ४६३।।

या जीवराजा हो अश्वस्वार। ले ज्ञानेन्द्रियों के पंच शस्त्र।
विषय देश से धन अपार। लूट लाता।। ४६४।।

जो इन इन्द्रियों में रहता। सुख-दुःखसहित जीव से मिलता।
सुषुप्ति में लोप होता। जिसका अर्जुन।। ४६५।।

उस जीव का नाम ज्ञाता। और अभी जो वताया, भ्राता।
वह है ज्ञान कहलाता। इस लोक में।। ४६६।।

जो अविद्या से अर्जुन। होते है उत्पन्न।
तत्क्षण करते तीन। अपने विभाग।। ४६७।।

अपनी दौड़ के आगे। ज्ञेय का बाँध डालते।
पिछली ओर खड़ा करते। ज्ञातापन।। ४६८।।

ज्ञाता और ज्ञेय में, भ्राता। जो व्यवहार है होता।
सम्बन्धरूप में कारण होता। ज्ञान ही उनका।। ४६९।।

ज्ञेय जब होता प्राप्त। दौड़ होती कुंठित।
फिर नाम है देत। सब पदार्थो को।। ४७०।।

वही होता सामान्यज्ञान। इसे जानो निश्चय, अर्जुन।
अब तुम्हें ज्ञेय के लक्षण। बताता हूँ।।४७१।।

स्पर्श तथा शब्द। रूप, रस, गंध।
ये पाँच होते भेद। उस ज्ञेय के।।४७२।।

जैसे एक आम्रफल। उसका रूप, रस, परिमल।
शब्द, स्पर्श, सकल। इन्द्रियाँ जानतीं अलग।।४७३।।

यहाँ यद्यपि एक ही ज्ञेय। उसके होते पाँच विषय।
अतः इन्द्रियों को बोध धनंजय। पंचविध होता।।४७४।।

प्रवाह रुकता सागर में मिलते। प्रवास रुकता पड़ाव आते।
अथवा पौध में भुट्टे लगते। विकास होता कुंठित।।४७५।।

वैसे इन्द्रियपथ में पार्थ। ज्ञान जहाँ होता कुंठित।
उस विषय को संज्ञा प्राप्त। ज्ञेय की।।४७६।।

ऐसे ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान। तीनों के बताये लक्षण।
यह तिकड़ी होती कारण। सभी कर्मों का।।४७७।।

जो शब्द स्पर्शादि विषय। वही पंचविध ज्ञेय।
वही प्रिय या अप्रिय। लगता जीव को।।४७८।।

वह ज्ञाता को कराता ज्ञान। ज्ञेय वस्तु का दर्शन।
वही करता प्रवृत्ति उत्पन्न। लेने या त्यजने की।।४७९।।

मछली को देखते बक। द्रव्य को देखते रंक।
या स्त्री को देखते कामुक। लपक पड़ता।।४८०।।

पानी दौड़ता ढलान पर। भ्रमर पुष्प की ओर।
बछड़ा गाय की ओर। बंधन से छूटते ही।।४८१।।

स्वर्ग में रहती उर्वशी। मनुष्य यह सुनते ही।
जैसे आकाश को सीढ़ी। लगाते यज्ञ की।।४८२।।

कपोत जैसे, अर्जुन। नभ में भरते उड़ान।
कपोती को देखते ही तन। झोंक देता ।। ४८३ ।।

सुनकर मेघ का गर्जन। मोर भरता उड़ान।
वैसे, उत्सुक होता अर्जुन। ज्ञेय को देखकर ज्ञाता ।। ४८४ ।।

अतः ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान। जगत में ये तीन।
समस्त कर्मों का कारण। होते सर्वथा ।। ४८५ ।।

अर्जुन उसे ही जानो ज्ञेय। जो ज्ञाता को होता प्रिय।
क्षण का विलम्ब असहनीय। होता भोगने ।। ४८६ ।।

अथवा वही ज्ञेय। यदि लगा अप्रिय।
तजने में विलम्ब असह्य। होता पल का भी ।। ४८७ ।।

राह चलते दिखा रत्नहार। हर्ष होता जैसे अपार।
वैसे, दिखते साँप घोर। तन थर्रा जाता ।। ४८८ ।।

वैसे अप्रिय या प्रिय। ज्ञाता देखते ज्ञेय।
त्याग-स्वीकार का, धनंजय। कर्म होता ।। ४८९ ।।

प्रतिमल्ल देखते चाव से। सेनापति उतरता रथ से।
उस पर झपटता वेग से। आवेश में ।। ४९० ।।

वैसे अर्जुन जो ज्ञाता। वही ज्ञेयसंग होता कर्ता।
जैसे मिष्टान्न का भोक्ता। बनता रसोइया ।। ४९१ ।।

भ्रमर लगाये उद्यान। कसौटी ही बने सुवर्ण।
मंदिर बनवाये भगवान। कष्टपूर्बक लोभ से ।। ४९२ ।।

वैसे ज्ञेय के लोभ से। ज्ञाता जतन कराता इंद्रियों से।
तब प्राप्त होता उसे। कर्ता अभिधान ।। ४९३ ।।

ज्ञाता होता जब कर्ता। ज्ञान में आती करणता।
और ज्ञेय सहज होता। कार्यरूप ।। ४९४ ।।

जैसे, ज्ञान की अपनी गति। पार्थ जब पलट जाती।
क्षीण होती नेत्रशक्ति। रात आते जैसे ।। ४९५ ।।

अथवा भाग्य होते उदास। पलटता रईसी विलास।
या चन्द्र का होता ह्रास। पुनव के बाद ।। ४९६ ।।

वैसे, इन्द्रियों को चलाते। ज्ञाता स्वयं कर्ता होते।
उन कर्ताओं के, सुभद्रापते। अब सुनो लक्षण ।। ४९७ ।।

मन, बुद्धि, अहंकार। और चित्त, ये चार।
अन्तःकरण के प्रकार। होते अर्जुन ।। ४९८ ।।

चक्षु, रसना, घ्राण। त्वचा तथा श्रवण।
ये पंचविध जान। कारण बाहरी ।। ४९९ ।।

अंतरीन्द्रियों द्वारा अर्जुन। कर्ता करता कर्मप्रेरण।
यदि उसमें देखता सुखार्जन। वहाँ पर ।। ५०० ।।

तो चक्षुरादिक दसों ही। बाह्य इन्द्रियों को भी।
जगाकर क्षण माहीं। करता कर्मप्रवृत ।। ५०१ ।।

उस इन्द्रियसमूह से भ्राता। तब तक परिश्रम करवाता।
जब तक न हाथ आता। लाभ कर्म का ।। ५०२ ।।

वह कर्तव्य अपना। यदि दुखदायी बना।
तो त्याग के लिये छलना। करता दसों की ।। ५०३ ।।

साहुकार ऋणी को अर्जुन। बंधवा बनाता रात-दिन।
वैसे दशेन्द्रियों से करवाता। कर्म, दुःख टलते तक ।। ५०४ ।।

ऐसे त्याग या स्वीकार के लिये। ज्ञाता बाँधता इन्द्रियाँ।
तब वह कर्ता कहलाये। जग में धनुर्धर ।। ५०५ ।।

और कर्ता के सब कर्मों में पार्थ। जो हल जैसी उपयुक्त।
उन इन्द्रियों को संज्ञा प्राप्त। करण की ।। ५०६ ।।

इन करणों की ले सहायता। कर्ता जो-जो क्रिया करता।
उनसे जो व्याप्त होता। उसका नाम कर्म ।।५०७।।

गहना स्वर्णकार की मति में। ज्योत्स्ना चन्द्रकिरणों में।
वेला जैसे विस्तार में। व्याप्त होती ।।५०८।।

जैसे प्रभा में आकाश। मधुरता में इक्षुरस।
या आकाश में अवकाश। रहता व्याप्त ।।५०९।।

वैसे कर्ता की क्रिया में पार्थ। जो तत्त्वतः रहता व्याप्त।
वही जानो सुनिश्चित। कर्म होता ।। ५१० ।।

ऐसे कर्म, कर्ता, करण। इन तीनों के लक्षण।
किये तुम्हें निवेदन। धनंजय ।। ५११।।

यहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय। हैं कर्म के प्रकृतित्रय।
वैसे ही कर्ता, करण, कार्य। है कर्मसंचय ।। ५१२।।

धुआँ अग्नि में समाहित। वृक्ष बीज में अन्तर्भूत।
अथवा कामना मन में, पार्थ। सर्वथा होती ।। ५१३।।

वैसे कर्ता, क्रिया, करण। यही कर्म का जन्मस्थान।
जैसे सुवर्ण की खान। जन्मस्थान सुवर्ण का ।। ५१४।।

यह कार्य तथा मैं कर्ता। ऐसी होती जहाँ अहंता।
वहाँ कर्म से भ्राता। आत्मा अति दूर ।। ५१५।।

सभी कर्मो से सर्वथा। आत्मा होता दूर भ्राता।
तुम्हें बताना है वृथा। जानते हो सब ।। ५१६।।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।। १९ ।।

कर्ता, कर्म और ज्ञान। जिसका किया निवेदन।
वे तीनों त्रिधा भिन्न। त्रिगुणवश ।। ५१७।।

अतः ज्ञान, कर्ता, कर्म पर। विश्वास न करता, वीर ।
राजस, तामस बंधनकर। सात्विक करता विमुक्त ।। ५१८ ।।

ऐसा जो सात्विक गुण। जिसका सांख्य में विवेचन ।
उसका करता अब निवेदन। तुम्हारे लिये ।। ५१९ ।।

जो विचार का क्षीरसमुद्र। आत्मबोध कुमुद का चंद्र ।
विद्वन्मान्य सांख्यशास्त्र। राजा शास्त्रों का ।। ५२० ।।

प्रकृति, पुरुष, सुभद्रापते। परस्पर मिलकर रहते ।
उन्हें दिखाता पृथक जैसे। सूर्य दिन रात को ।। ५२१ ।।

मोहमय विश्व समस्त। चौबीस तत्त्वों में विभक्त ।
कर दिखाता जो निश्चित। सुख परतत्त्व का ।। ५२२ ।।

अर्जुन वह साख्यशास्त्र। अखंड गाता जिसका स्तोत्र ।
उन त्रिगुणो का चरित्र। है ऐसा ।। ५२३ ।।

उन्होंने अपने सामर्थ्य से। त्रिविधता की मुद्रा से ।
दृश्यजात निश्चय से। किया मुद्रांकित ।। ५२४ ।।

इन त्रिगुणो मे भ्राता। इतना सामर्थ्य होता ।
कि सब मे लाता त्रिविधता। ब्रह्म से कीटपर्यन्त ।। ५२५ ।।

जिसने इस विश्व मे सम्पूर्ण। किया गुणभदो का निर्माण ।
वही बताता हूं शुद्ध ज्ञान । आमूल तुम्हे ।। ५२६ ।।

दृष्टि जव हो शुद्ध। सभी दिखना विशुद्ध ।
वेसे मिलते ज्ञान शुद्ध। होता आकलन शुद्ध का ।। ५२७ ।।

अत सात्विक ज्ञान। सुनो देकर अवधान ।
ऐसा कैवल्यगुणनिधान। श्रीकृष्ण कहे ।। ५२८ ।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। २० ।।

उसे ही जानो अर्जुन। शुद्ध सात्विक ज्ञान।
जिसके उदय से विलीन। ज्ञेय ज्ञाता में ।। ५२९ ।।

सूर्य न जाने अँधेरे को। अथवा नदियाँ सागर को।
छाती से अपनी छाया को। लगा नहीं सकते ।। ५३० ।।

वैसे जो ज्ञान पार्थ। शिव से तृणपर्यन्त।
प्राणिमात्र में न जानत। कोई भिन्नता ।। ५३१ ।।

स्पर्श से चित्र देखते। पानी से लवण धोते।
स्वप्न जैसे जाग आते। बोध नहीं भिन्नता का ।। ५३२ ।।

वैसे जिस ज्ञान से सुभद्रापते। ज्ञेय को जानने लगते।
ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान में रहते। न कोई भेद ।। ५३३ ।।

गलाकर आभूषण। निकालते नहीं सुवर्ण।
अथवा तरंगों को छान। निकालते न पानी ।। ५३४ ।।

वैसे पार्थ जो ज्ञान। दृश्य को न जाने भिन्न।
उसे ही सात्विक ज्ञान। माानो निश्चय से ।। ५३५ ।।

दर्पण में देखते मुख। द्रष्टा दिखता सम्मुख।
वैसे ज्ञेय के होते विमुख। ज्ञाता दिखता, जैसे ।। ५३६ ।।

वही साचा सात्विक ज्ञान। जो मोक्षलक्ष्मी का भवन।
अस्तु अब सुनो लक्षण। राजस ज्ञान का ।। ५३७ ।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। २१ ।।

उस ज्ञान को पार्थ। राजस जानो निश्चित।
जो चलता लिये नित्य। सहारा द्वैत का ।। ५३८ ।।

भूतमात्र की विचित्रता। देख जो टुकड़े-टुकड़े होता।
और अर्जुन, जिससे ज्ञाता। चकमा खाता बड़ा ही ।। ५३९ ।।

स्वरूप का विस्मरण। डालता निद्रा का अवगुंठन ।
फिर लाता थकान। स्वप्न के कष्टों की ।। ५४० ।।

आत्मबोध की चहुँ ओर। मिथ्या ज्ञान की दीवारें रचकर ।
जागृति स्वप्न नींद के वीर। कराता भोग ।। ५४१ ।।

सोने का गहना बनाया। बालक कहता सोना गया ।
वैसे नाम रूप से पराया। अद्वैत जिस ज्ञान को ।। ५४२ ।।

देख मटको की गढाई। मूढ़ कहता माटी गयी ।
जेसे ही ज्योति जलाई। कहता गयी आग ।। ५४३ ।।

मूर्ख देखकर वस्त्र। कहे धागा हुआ समाप्त ।
अथवा कहे पट लुप्त। देखकर चित्र को ।। ५४४ ।।

वेसे, जिमे ज्ञानवश। भूतमात्र को देख पृथक ।
एकत्व का मान विशेष। लोप होता ।। ५४५ ।।

फिर ईंधनभेद से अग्निभेद। पुष्पभेद से गधभेद ।
जलभेद से चन्द्रभद। देखते जैसे ।। ५४६ ।।

वेसे, पदार्थभेद नाना। लघु महान की भावना ।
जो दिखाता अर्जुना। वह ज्ञान राजस ।। ५४७ ।।

अव जो तामस ज्ञान। उसके बताता लक्षण ।
जिससे वचे सदा अर्जुन। मातगधर से जैसे ।। ५४८ ।।

यत्तु कृत्स्नवदेकास्मन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।। २२ ।।

धर्मविधि के वस्त्रविन। जो विचरता है ज्ञान ।
उसकी निर्लज्जता देख अर्जुन। श्रुति मुँह फेर लेती ।। ५४९ ।।

अन्य शास्त्रो द्वारा निंदित। अशौच मान क्षुद्र निरूपित ।
और विजनवास में प्रेषित। म्लेच्छ धर्म के ।। ५५० ।।

अर्जुन जो ऐसा ज्ञान। हावी उस पर तमोगुण।
उसके द्वारा पीड़ित जन। पागल से विचरते ।। ५५१।।

वे नाता-रिश्ता नहीं जानते। किसी को निषिद्ध न मानते।
मखौल जी-भर उड़ाते। श्वान-से आवारा ।। ५५२।।

जो न मुँह में भरा जाता। जिसे खाते मुँह जलता।
उनके अलावा सब चलता। तामसी ज्ञानी को ।। ५५३।।

चूहा सोना चुराता। भला-बुरा नहीं जानता।
सामिष आहारी न कहता। काला-गोरा ।। ५५४।।

दावानल लगता वन को। विवेक नहीं होता उसको।
बैठने के लिये मक्खी को। जीता-मरा समान ।। ५५५।।

वमन या परोसा। शुद्ध या सड़ा-सूखा।
यह विवेक नहीं होता। कौओं को जैसे ।। ५५६।।

वैसे सारा निषिद्ध त्यजे। विहित को सादर गहे।
स्वभाव से यह न समझे। विषयासक्तिवश ।। ५५७।।

जो-जो दिखाई दे भोग्य। उसे मानता अपने योग्य।
कराता उसका उपभोग। शिश्नोदर को ।। ५५८।।

पवित्र अथवा अपवित्र। यह भेद न जाने सर्वत्र।
प्यास बुझाना एकमात्र। जानता जो ।। ५५९।।

खाद्य-अखाद्य निंद्य-अनिंद्य। न जानता इसका विवेक तथ्य।
भाता स्वाद है भक्षणीय। इतना ही जानता ।। ५६०।।

जो-जो दिख जाये नारी। उससे करता बलजोरी।
उसे अपनी सहचारिणि। बनाने की सोचता ।। ५६१।।

जो कराते स्वार्थसाधन। वे ही लगते अपने प्रियजन।
जो नहीं करता ज्ञान। देह से विभक्त ।। ५६२।।

मृत्यु का सारा अन्न। सभी अग्नि का ईंधन ।
वैसे जगत को अपना धन। तामस ज्ञान मानता ।। ५६३ ।।

वैसे ही यह विश्व सकल। भोग्य विषय लगता केवल ।
इह जन्म का एक ही फल। देहभरण मानता जो ।। ५६४ ।।

आकाश से गिरती जलधार। उसे समुद्र का एक आधार ।
वैसे भरने के लिये उदर। सारे कर्म जिसके ।। ५६५ ।।

विहित कर्म से स्वर्गप्राप्ति। निषिद्ध कर्म से नरकगति ।
यह न जानती जिसकी मति। वह ज्ञान तामस ।। ५६६ ।।

यह देह यानी आत्मा। ईश्वर यानी पाषाण प्रतिमा ।
इससे आगे जिसकी प्रज्ञा। कुछ न जानती ।। ५६७ ।।

कहते गिरते ही शरीर। आत्मा सकर्म जाता मर ।
फलभोग के लिये फिर। कौन शेष रहता ? ।। ५६८ ।।

इससे कहो ईश्वर सर्वज्ञाता। कर्मफल भोग वही देता ।
तो यह देवमूर्ति बेचता। पेट भरने ।। ५६९ ।।

देवालय की देवमूर्ति। कर्मफल नियमन करती ।
तो देश के सभी गिरि नगपति। चुप क्यों रहते ? ।। ५७० ।।

कभी ईश्वर को मानते। तो उसे पाषाणमूर्ति समझते ।
और देह को ही आत्मा बताते। तामस ज्ञानी ।। ५७१ ।।

पाप-पुण्य आदि संकल्पन। पाखंड मानते अर्जुन ।
सर्वभक्षण को अग्निसमान। अपना हित मानते ।। ५७२ ।।

वाह्य आँखें जो दिखातीं। इन्द्रियाँ जिसका चसका लगातीं ।
उसे ही सत्य अनुभूति। मानते दृढ़ता से ।। ५७३ ।।

जिनकी मति इस प्रकार। पाती विकास निरंतर ।
धुएँ के बादल जाते पसर। आकाश में जैसे ।। ५७४ ।।

सूखा अथवा गीला। झाड़-झंखाड़ फैला।
किस काम का है भला। सिवा तोड़ने के ? ।।५७५।।

अथवा बालियाँ ईख की। नपुंसक के जैसी।
साबर की झाड़ी जैसी। निरर्थक ।।५७६।।

अथवा बालक का मन। या चोरों का धन।
अथवा अजागलस्तन। निरर्थक ।।५७७।।

वैसे, जो गया वृथा। लज्जित है सर्वथा।
वह ज्ञान समस्त भ्राता। जानो तामस ।।५७८।।

उसे ज्ञान कहने का अर्जुन। आशय यही है जान।
कि जन्मांध का नामकरण। नैनसुख किया ।।५७९।।

बहरे को सुकर्ण। अपेय को कहें पान।
वैसे उपनाम है जान। तामसियों का ।।५८०।।

अस्तु कितना करें वर्णन। ऐसा जो दिखे ज्ञान।
वह ज्ञान नहीं तत्त्वतः ज्ञान। प्रकाश अँधेर का ।।५८१।।

ऐसे बताया ज्ञान। और उसके लक्षण।
जो तीन प्रकार से विभिन्न। त्रिगुणानुसार ।।५८२।।

ऐसे जो मूल ज्ञान शुद्ध। वही बनता त्रिविध।
क्रियाएँ सभी तदनुसार। होती कर्ता की ।।५८३।।

ज्ञान के होते प्रकार तीन। वैसे कर्म के भी अर्जुन।
पानी जाता जिस राह। वैसे होता ।।५८४।।

त्रिविध ज्ञान के कारण। कर्म भी त्रिविध अर्जुन।
उनमें होता सर्वोत्तम। सात्विक कर्म ।।५८५।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।। २३।।

पतिव्रता आलिंगन जैसे। करती प्रिय का मन से ।
आचरण करता वैसे। स्वाधिकारानुरूप ।। ५८६ ।।

साँवले तन को चन्दन। प्रमदानेत्र को अंजन ।
वैसे विहित कर्म भूषण। अधिकारानुरूप ।। ५८७ ।।

नित्य कर्म के साथ। नैमित्तिक भी करें, पार्थ ।
तो वह सुहाता अत्यन्त। जैसे सोने में सुहागा ।। ५८८ ।।

माता जैसे श्रम कर। प्राणों की बाज़ी लगाकर ।
करती शिशु का संवर्द्धन। बिना उक्ताए ।। ५८९ ।।

वैसे, स्वकर्म का अनुष्ठान। फल पर रखे बिना मन ।
कर्म भी करता समर्पण। परब्रह्म को ।। ५९० ।।

प्रियजन का स्वागत करते। न सोचता शेष-अशेष की बातें ।
वैसे सत्कार्य में भंग होते। विहित नित्य कर्म, ।। ५९१ ।।

तब भी खेद नहीं करता। चित्त में द्वेष भी नहीं धरता ।
होते कर्म की पूर्तता। न मानता हर्ष ।। ५९२ ।।

पार्थ, ऐसे कुशलता से। कर्म सधता पूर्णता से ।
तब सत्व गुण के प्रभाव से। उसे कहते सात्विक ।। ५९३ ।।

अब राजस कर्म का। लक्षण बताता हूँ नीका ।
विचलित न हो चित्त का। अवधान तुम्हारे ।। ५९४ ।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।। २४ ।।

घर में वृद्ध माता-पिता। उनसे मधुर न बोलता ।
जग में सबको आदर देता। मूर्ख जैसे ।। ५९५ ।।

अथवा तुलसी वृन्दावन में। छींटा तक न उड़ाता दिन में ।
किन्तु अंगूर की जड़ में। डालता दूध ।। ५९६ ।।

वैसे नित्य नैमित्तिक। कर्म जो आवश्यक।
उनके प्रति साशंक। बैठा रहता ।।५९७।।

अन्यथा काम्य कर्महित। तन घिस जाये पूर्णतः।
द्रव्यकोश हो जाये रिक्त। परवाह न करता ।।५९८।।

चक्रवृद्धि व्यवसाय में। धन लगाता जो आया मन में।
बीज बोते खेत में। पर्याप्त न कहता ।।५९९।।

अथवा पारस आते हाथ। ख़र्च कर सारा वित्त।
लोहा करता प्राप्त। लालची जैसे ।।६००।।

रखते दृष्टि फल पर। काम्य कर्म करता दुर्धर।
और किये उसे भी धनुर्धर। मानता अधूरा ।।६०१।।

फलकामना रखकर पार्थ। काम्य कर्म यथेष्ट।
करता सारे व्यवस्थित। धनंजय ।।६०२।।

जो भी कर्म करता। उसका ढिंढोरा पीटता।
अपने नाम का भ्राता। करता प्रचार सर्वत्र ।।६०३।।

ऐसा होते कर्म-अहंकार। करता गुरुजन का तिरस्कार।
न मानता कोई उपचार। कालज्वर जैसे ।।६०४।।

यों चरम अहंकार से। फल लाभ की आशा से।
कर्म करता आदर से। जो-जो भी ।।६०५।।

पर वे सारे कर्म क्लिष्ट। करते होते मात्र कष्ट।
जैसे मदारी भोगता संकट। केवल पेट के लिये ।।६०६।।

एक कण के लिये मूषक। खोदता पूरा पर्वत।
या सागर विलोड़े मेंढक। सिवार के लिये ।।६०७।।

भीख के बिन कुछ मिलेगा नहीं। सोच सँपेरे ढोते साँप भी।
क्या करें, कुछ को भाई। कष्ट ही लगते प्रिय ।।६०८।।

एक अणु को करने प्राप्त। दीमक पाताल में घुसत।
वैसे कष्ट भोगते अत्यंत। स्वर्गसुख के मोह से।।६०६।।

ऐसे फलवासना सहित। कर्म जो क्लेशयुक्त।
उसे राजस जानो निश्चित। अब तामस बताता हूँ।।६१०।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जो अत्यन्त निंद्य। शास्त्रों में निषिद्ध।
उसे जानो कुप्रसिद्ध। तामस कर्म।।६११।।

जिसे करने के अनन्तर। कोई फल न होता गोचर।
जैसे पानी पर लकीर। होती अर्जुन।।६१२।।

अथवा निथरी को मथना। या मस्सी को चेताना।
घानी में रेत पीसना। व्यर्थ जैसे।।६१३।।

या भूसी को पछोरना। आकाश में तीर चलाना।
हवा पर पाश डालना। व्यर्थ जैसे।।६१४।।

वैसे कर्म जो भ्राता। वंध्या होता सर्वथा।
सारा उपक्रम वृथा। जिसका जगत में।।६१५।।

जिसमें नरदेह के समान। व्यर्थ जाता महाधन।
वह तामस कर्म अर्जुन। विश्वसुख हरता।।६१६।।

कमल पर कँटीला पाश। डाल कर खींचें, गुडाकेश।
अपने साथ करता नाश। कमल का भी।।६१७।।

दीपक पर पतंग। झोंकता अपना अंग।
स्वयं जल डुबोता जग। अँधेरे में।।६१८।।

वैसे सर्वस्व नष्ट करता। देह को भी पीड़ा देता।
इतरों का भी घात करता। जो कर्म अर्जुन।।६१९।।

मक्खी पेट में जाती। वमन की पीड़ा देती।
वैसे, जो स्मरण कराती। आचार का अमंगल ।। ६२० ।।

ऐसा अमंगल करने का भी। सामर्थ्य है या नहीं।
करता यह सोचेबिना ही। कर्म यथासम्भव ।। ६२१ ।।

अपने साधन हैं कितने। आगे क्या उद्योग हैं करने।
क्या लाभ है मिलने। कर्म करने पर ।। ६२२ ।।

इसकी सोच को पैरों तले। रौंदता अविवेक के।
गर्व पालता व्यर्थ के। निज कर्तृत्व के बारे में ।। ६२३ ।।

अपना आश्रय जलाकर। अग्नि उठता भभक कर।
अथवा मर्यादा त्यज कर। सागर खौलता ।। ६२४ ।।

फिर छोटा-बड़ा न देखता। आगे-पीछे न देखता।
शुद्धाशुद्ध की न सोचता। करता सबका विनाश ।। ६२५ ।।

वैसे कृत्य-अकृत्य मिलाकर। आप-पर भाव भुला कर।
कर्म होता जो धनुर्धर। तामस निश्चय ही ।। ६२६ ।।

ऐसे जो तीन गुण। तदनुसार कर्म भिन्न।
उनका किया विवेचन। उपपत्ति सहित ।। ६२७ ।।

कर्ता जो इस कर्म का। गर्व करता कर्तृत्व का।
वह भी तीन प्रकार का। होता पृथक ।। ६२८ ।।

चार आश्रमों में भ्राता। एक पुरुष दिखता चतुर्धा।
वैसे कर्मभेद से त्रिधा। होता जीव भी ।। ६२९ ।।

इन कर्ताओं में त्रिविध। सात्विक कर्ता की बात।
करता हूं अब प्रस्तुत। सुनो ध्यान से ।। ६३० ।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।। २६ ।।

छोड़कर इच्छा फल की। शाखाएँ उत्तम चन्दन की।
सीधी समान बढ़तीं जैसी। वन में अर्जुन ।। ६३१ ।।

अथवा जैसे नागवेल। सार्थक होती बिना फल।
नित्य नैमित्तिक कर्म सकल। सार्थक करो वैसे ।। ६३२ ।।

प्राप्त नहीं हुआ फल। विहित कर्म नहीं विफल।
बताओ कैसे लगे फल। फल में ही ? ।। ६३३ ।।

कर्म करते चलो सादर। पर न करो कर्तृत्व-अहंकार।
जैसे वर्षा का मेघ, वीर। गरजता नहीं ।। ६३४ ।।

वैसे, परमात्मा को। योग्य अर्पण करने को।
जो कर्म, उन्हें करने को। पथ्य आवश्यक ।। ६३५ ।।

स्थल काल हों उचित। स्थान भी हो अति शुचित।
तथा हो शास्त्रोक्त। कर्मनिर्णय ।। ६३६ ।।

वृत्तियों को करें एकाग्र। चित्त न जाय फल पर।
नियमबंधन का निरंतर। करें पालन ।। ६३७ ।।

यह सहने के लिये दुर्धर। फिर भी मन में धर धीर।
चिन्तन करे जो निरंतर। तत्परता से ।। ६३८ ।।

परमात्मा को करने प्राप्त। नियत कर्म करता नित्य।
चिन्ता न करता लेशमात्र। जो देहसुख की ।। ६३९ ।।

आलस्य निद्रा झाड़ कर। भूख प्यास को भुलाकर।
सुख को न देता पल भर। प्रश्रय देह में ।। ६४० ।।

सोना अग्नि में तपता। वजन घट शुद्धत्व बढ़ता।
वैसे उल्लास बढ़ता। जिसका कर्म करते ।। ६४१ ।।

साची प्रीति जहाँ होती। तुच्छ लगती अपनी हस्ती।
सती अग्निप्रवेश करती। रोमांचित तन से ।। ६४२ ।।

तो आत्मा जितना जो प्रिय। उसे पाने के धनंजय।
देहपीड़क जो उपाय। उनसे दुख कैसे ? ।। ६४३ ।।

ज्यों-ज्यों घटता विषय मोह। क्षीण होता देहात्मबोध।
त्यों-त्यों बढ़ता हर्ष भाव। मन में विहित कर्म का ।। ६४४ ।।

ऐसे नियत कर्म करते। गाहे बाहे सुभद्रापते।
अवसर ऐसे भी आते। कि कर्म होता खंडित ।। ६४५ ।।

तब भी गाड़ी गिरते कगार से। खिन्न नहीं होता मन से।
जिसका अन्तःकरण ऐसे। रहता निश्चिन्त ।। ६४६ ।।

अथवा सादर प्रारम्भ। कार्य निर्विघ्न सम्पन्न।
फिर भी न करे जो दम्भ। कार्यसिद्धि का ।। ६४७ ।।

ऐसे लक्षणोंसहित। कर्म करता जो विहित।
उसे जानो, पांडुसुत। सात्विक कर्ता ।। ६४८ ।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। २७ ।।

राजस का यही लक्षण। कि जग का सारा अभिमान।
उसमें भरा होता, अर्जुन। कूट-कूट कर ।। ६४९ ।।

गाँव का गंदा कूड़ा-करकट। कूड़ाघर में एकत्रित।
अथवा अमंगल का मरघट। स्थान जैसे ।। ६५० ।।

वैसे विश्व में सदोष। जितने भी अभिलाष।
उन सबका जो पुरुष। पैर पखारता ।। ६५१ ।।

जहाँ फल की प्राप्ति। होने की हो निश्चिति।
उसी कर्म की प्रीति। रखता मन में ।। ६५२ ।।

जो हो सम्पत्ति जोड़ी। उससे न देता कौड़ी।
उस पर घड़ी-घड़ी। करता प्राण निछावर ।। ६५३ ।।

कृपण धरोहर को स्मरता। वैसे यह परधन की सोचता।
बक जैसे तत्पर रहता। मछली पकड़ने ।। ६५४।।

पास जाते वस्त्र पकड़ता। खींचते उसे फाड़ देता।
फल जीभ को चरचरा देता। जैसे बेर पेड़ का ।। ६५५।।

वैसे काया, वाचा, मन से। दुख ही देता सबको ऐसे।
कि अपने स्वार्थसाधन में उसे। दिखता न परहित ।। ६५६।।

जो कर्म प्रारम्भ करता। उसे लगन से पूरा करता।
फिर भी उसमें उलझा रहता। मन जिसका ।। ६५७।।

धतूरे के फल पर। पैने काँटे, मादकता अंदर।
वैसे जो बाहर-भीतर। अपवित्र सर्वथा ।। ६५८।।

और कुछ कर्म करता। उसका फल जब मिलता।
फूले नहीं समाता। हर्ष से जो ।। ६५९।।

अथवा आस्था से कर्म करता। और उसका फल न पाता।
तो दुःख से धिःक्कारता। उस कर्म को ही ।। ६६०।।

ऐसे जिसका कर्माचरण। दिखाई देगा अर्जुन।
उसे ही निश्चय जान। राजस कर्ता ।। ६६१।।

अब इसके अनन्तर। जो कुकर्म का आगर।
उसका करेंगे विचार। वह कर्ता तामस ।। ६६२।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। २८।।

अपना स्पर्श होते ही। कोई जल जाता तुरन्त ही।
अग्नि को जैसे पता ही। नहीं होता इसका ।। ६६३।।

अपनी धार काटती कैसे। शस्त्र नहीं जानता इसे।
कालकूट को अज्ञात जैसे। अपनी करनी ।। ६६४।।

वैसे स्वयं तथा इतर को। विघातक कर्म को।
करता करते रहने को। मन जिसका ।। ६६५ ।।

आँधी में वायु मचलता। चाहे जिस दिशा में बहता।
वैसे कर्म करते उसका। जो न जानता परिणाम ।। ६६६ ।।

जिसकी इच्छा और कृति। इनमें न होती कोई संगति।
ऐसे तामस के आगे, सुभद्रापति। पागल ही सयाने ।। ६६७ ।।

इन्द्रिय भोगों से जो मिलता। उसी पर जिसका जीवन चलता।
मानो चिचड़ा चिपकता। बैल के पेट को ।। ६६८ ।।

जैसे अबोध शिशु का कोई। हँसने-रोने का समय नहीं।
वैसे तालमेल होता नहीं। जिसके आचरण में ।। ६६९ ।।

प्रकृति के प्रभाव से। भलेबुरे का बोध न जिसे।
कुकर्मों के कचड़े से। कूड़ाघर-सा लदा जो ।। ६७० ।।

धर कर अहंकार वृथा। देवसम्मुख भी न झुकता।
नित्य अकड़ा-अकड़ा रहता। पहाड़ जैसे ।। ६७१ ।।

विपतरंग जिसका मन। चोरों का-सा आचरण।
वेश्या सा अवलोकन। छल भरा ।। ६७२ ।।

बल्कि जिसका शरीर। साक्षात् कपट साकार।
तथा जुएं का घर। जीना जिसका ।। ६७३ ।।

जिसका समग्र जीवन। लोभी भीलों का वस्तीस्थान।
इस लिये आवागमन। न करें उसके मार्ग से ।। ६७४ ।।

किसीका कुछ भला होता। उसीसे जो वैर करता।
दूध में जब लवण मिलता। होता वही अपेय ।। ६७५ ।।

चंदन जैसा पदार्थ भी। अग्नि में डालते ही।
तत्काल धधकता अंगार ही। हो जाता है ।। ६७६ ।।

मधु रसीला मिष्टान्न। शरीर में जाने के उपरान्त ।
बन कर रहता है, पार्थ। केवल मल रूप में ।।६७७।।

वैसे भला किसी का। इसने सुना-देखा ।
विपरीत रूप में ही लेता। यह तत्काल ।।६७८।।

साँप को पिलाया पय। बन जाता है विष ।
गुण ले देता दोष। तामस कर्ता ।।६७९।।

इहलोक में मिलेगी कीर्ति। परलोक में सद्गति ।
ऐसे पुण्यकर्म की स्थिति। आती है जब ।।६८०।।

तब जिसे निश्चय ही। त्वरित निद्रा घेर लेती ।
वही दूर भाग जाती। कुकर्म के समय ।।६८१।।

अंगूर आम के दिन आते। तो कौए को मुखरोग होते ।
अथवा दिन के निकलते। आँखें फूटतीं उल्लू की ।।६८२।।

किन्तु कल्याण का क्षण आता। तो आलस्य इसे लीलता ।
अन्यथा उसका ह्रास होता। अकल्याण करते ।।६८३।।

समुद्र गर्भ में, पार्थ। वड़वानल प्रज्ज्वलित ।
वैसे इसके मन में विषाद। परोत्कर्ष के प्रति ।।६८४।।

धुआँ भरा कण्डों में। अथवा दुर्गन्ध अपान में ।
वैसे निरंतर मन में। होता जिसके विषाद ।।६८५।।

कल्पान्त समयपर्यन्त। कर्मफल हो प्राप्त ।
इस अभिलाष से प्रवृत्त। जो कर्म करते ।।६८६।।

इच्छा रख असाधारण। करता अखंड नाना जतन ।
किन्तु उससे मिलता न। तिनका किसी को ।।६८७।।

ऐसा जो समाज में, पार्थ। पापपुंज मूर्तिमंत ।
उसे जानो निश्चित। तामस कर्ता ।।६८८।।

ऐसे कर्ता, कर्म, ज्ञान। तीनों के त्रिविध लक्षण।
बताये तुम्हें सम्पूर्ण। सुजन श्रेष्ठ ।।६८६।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।। २६ ।।

जो अविद्यानगर में रहती। मोहवस्त्र परिधान करती।
संशय के गहने पहनती। सब प्रकार के ।।६६०।।

जिसमें दर्पण-सा, भ्राता। आत्मनिश्चय दिखाई देता।
वह बुद्धि भी त्रिविधा। होती यहाँ ।।६६१।।

सत्वादिक त्रिगुणों से, भाई। जो विभाजित हुई नहीं।
ऐसी वस्तु त्रिभुवन में कतई। नहीं कोई ।।६६२।।

अग्नि न हो जिसमें। ऐसा काष्ठ कहाँ जग में ?।
त्रिगुण भेदरहित वैसे। दृश्य कहाँ मिलेगा ? ।।६६३।।

अतः त्रिगुणों के कारण। बुद्धि हुई त्रिगुणयुक्त।
धृति का भी विभाजन। हुआ त्रिविध ।।६६४।।

वही भेद विभिन्न। तथा उनके स्व लक्षण।
यहाँ करता हूँ निवेदन। सविस्तार पार्थ ।।६६५।।

धृति, बुद्धि, नरोत्तम। दोनों में सर्वप्रथम।
लक्षण बताता यथाक्रम। बुद्धि के सुनो ।।६६६।।

संसार में होने प्रविष्ट। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट।
तीन मार्ग सुस्पष्ट। होते हैं अर्जुन ।।६६७।।

अकार्य, काम्य, निषिद्ध। तीन कर्म-मार्ग प्रसिद्ध।
संसार में होते आबद्ध। जीव इन्हीं से ।।६६८।।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। ३० ।।

जो साधिकार प्राप्त। तथा हो विधिसम्मत।
ऐसे नित्य-कर्म को ही पार्थ। जग में मानो भला।।६९९।।

उसे ही आत्मबोध का फल। प्राप्त करने सुविमल।
करो, जैसे प्यासा जल। पीता आस्था से।।७००।।

ऐसे कर्म करते भ्राता। विषय जन्म भय जाता।
और सुगम बन जाता। मार्ग मोक्ष का।।७०१।।

नित्य कर्म जो करता। भवभय से मुक्त होता।
मुमुक्षुता प्राप्त करता। ऐसे आचरण से।।७०२।।

विहित नित्यकर्म पर। जब आस्था होती स्थिर।
तब मोक्ष सम्मुख सत्वर। खड़ा हो जाता।।७०३।।

निवृत्ति की नींव पर। जो रचता प्रवृत्ति-घर।
ऐसे नित्यकर्म में धनुर्धर। क्यों न हो निमग्न।।७०४।।

प्यासे को मिले जीवन। बाढ़ में कर पाएं तरण।
प्राप्त हो सूर्यकिरण। गहन तम में।।७०५।।

औषधि मिले पथ्यसहित। तभी बचता रोगपीड़ित।
तट पर छटपटाता मत्स्य। कूदे पानी में।।७०६।।

तो उसके जीवन को भ्राता। कोई भय नहीं रहता।
वैसे, नित्यकर्म जो करता। मोक्ष पाता सुनिश्चित।।७०७।।

वह नित्यकर्म को जानता। अकरणीय को पहचानता।
करणीय को प्रवृत्त होता। अकरणीय से निवृत्त।।७०८।।

ऐसे कर्म काम्यादिक। संसार-भयदायक।
निषिद्धता की निशंक। मुद्रा जिस पर होती।।७०९।।

अतः जो अकरणीय। जन्म-मरण का जिसमें भय।
उससे लौटाती उल्टे पाँव। प्रवृत्ति को।।७१०।।

अग्निप्रवेश न करते बनता। दह में पैठा नहीं जाता।
कर में न धरते आता। जलता शूल ।। ७११।।

काला नाग जब फुत्कारता। पकड़ने कोई न बढ़ता।
अथवा न कोई घुसता। शेर की जाली में ।। ७१२।।

वैसे अकरणीय कर्म। जब सामने आता विषम।
जिस बुद्धि में सर्वप्रथम। महाभय उपजता ।। ७१३।।

करते विषाक्त भोजन। कदापि न टलता मरण।
निषिद्धाचरण का बंधन। चूकता न वैसे ।। ७१४।।

फिर बंधभय से युक्त। निषिद्ध कर्म होते प्राप्त।
परित्याग करती पार्थ। जो बुद्धि उसका ।। ७१५।।

प्रवृत्ति-निवृत्ति जिसकी। पहचान कार्य-अकार्य की।
करती, जैसे राजपारखी। पहचानते सत्यासत्य ।। ७१६।।

वैसे करणीय-अकरणीय। जो पहचानती नित्य।
उसे ही जानो सत्य। सात्विक बुद्धि ।। ७१७।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।। ३१।।

बक-ग्राम में, धनुर्धर। लेते दूध जल मिलाकर।
अंधा दिन-रात में अंतर। जानता ही नहीं ।। ७१८।।

जो मकरंद को चखता। वही काष्ठ को कुरेदता।
इसलिये क्या नष्ट होता। उसका भ्रमरपन ? ।। ७१९।।

वैसे धर्मरूप हो वही करें। अधर्मरूप हो उसे टारें।
इस बोध के बिना जो दौड़ें। कर्म की ओर ।। ७२०।।

परखे बिना मौक्तिक। साचे मिलते कभी कभार।
किन्तु खोटे अवश्यमेव। पड़ते पल्ले ।। ७२१।।

वैसे निषिद्ध सहज हुआ नहीं। तभी टला मानो सही।
अन्यथा भला-बुरा सभी। समान जिसमें ।।७२२।।

पूरे ग्राम को निमन्त्रण। वैसे जिसमें सम्मिश्रण।
उसी बुद्धि को अर्जुन। जानो राजसी ।।७२३।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।। ३२ ।।

नगर का राजमार्ग। चोरों का होता चोर मार्ग।
दिन में नरक, रात में स्वर्ग। निशाचरों को ।।७२४।।

भूमि में गड़ा गुप्त धन। पर कोयला खोजते भाग्यहीन।
अस्ति-नास्ति दोनों समान। उनके लिये ।।७२५।।

वैसे जो भी होता धार्मिक। जिस बुद्धि को लगता पातक।
और असत्य जो घातक। सत्य मानती उसे ।।७२६।।

जिसका कोई उत्तम अर्थ। उसे मानती जो अनर्थ।
सभी सद्गुणों की निरर्थ। दोष ही मानती ।।७२७।।

वेदों ने भी शिरोधार्य। माने जो सत्कार्य।
वे भी जिसे लगते अकार्य। ऐसी बुद्धि विपरीत ।।७२८।।

पूछेबिना किसीसे। तामसी मानो उसे।
धर्मकार्य के लिये मानें कैसे। रात को उचित ? ।।७२९।।

ये बुद्धि के तीनों भेद। तुम्हें बताये कर विशद।
तुम्हारे आत्मबोध का कुमुद। खिला रहे सर्वदा ।।७३०।।

अर्जुन यह त्रिविधा बुद्धि। निश्चय धरती कर्म के प्रति।
तब वही बन जाती धृति। तीन प्रकार की ।।७३१।।

लक्षण उस त्रिविध धृति के। तुम्हें बताता हूँ स्पष्ट करके।
श्रवण करो एकाग्र होके। उनका धनंजय ।।७३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।। ३३ ।।

उदित होते दिनकर। चोरी सह रुकता तिमिर ।
या राजाज्ञा से पापाचार। रुकता जैसे ।। ७३३ ।।

अथवा सैरसपाटा करती। हवा बहती कड़कड़ाती ।
तब मेघमाला बंद करती। अपनी गड़गड़ाहट ।। ७३४ ।।

करते अगस्ति का दर्शन। सागर धरता तत्काल मौन ।
चन्द्रोदय होते कमलवन। सिमटा रहता ।। ७३५ ।।

जो ऊपर उठाया पैर। नीचे न रख पाता कुंजर ।
जब सुनता दहाड़ घोर। मृगेन्द्र की ।। ७३६ ।।

वैसे उठते मन में धीर। रुक जाते इन्द्रिय-व्यापार ।
मनादिक अपने व्यवहार। छोड़ते खड़े-खड़े ।। ७३७ ।।

इन्द्रियविषयों की संगति। अपने आप छूटती ।
दसों इन्द्रियाँ घुसती। मन-माता की गोद में ।। ७३८ ।।

रुकता अधोमुख अपान। तथा ऊर्ध्वमुख प्राण ।
नवों प्राणों का पुलिंदा बाँध। कूदता सुषुम्ना में ।। ७३९ ।।

संकल्प-विकल्प के वस्त्र। मन बैठता उतार ।
और बुद्धि उसके पार। रहती प्रशान्त ।। ७४० ।।

ऐसे जो धैर्य-नरेन्द्र। मन, प्राण, इन्द्रियों को, अर्जुन ।
करता चेष्टाविहीन। अपने बल से ।। ७४१ ।।

फिर अष्टांग योग से। इन्हें अलग कर युक्ति से ।
अपनी ध्यान कोठरी में। बनाता बंदी ।। ७४२ ।।

चक्रवर्ती ईश्वर को पार्थ। मन, प्राण, इन्द्रियाँ समस्त ।
जब तक न होते समर्पित। धृति करती विश्राम ।। ७४३ ।।

ऐसे धृति जो प्रबल। उसे ही जानो सात्विक केवल।
कहता वह भक्तवत्सल। अर्जुन से ।।७४४।।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।। ३४ ।।

और देहधारी होकर। स्वर्ग संसार दोनों घर।
रहता सानन्द जी-भर। धर्म, अर्थ, काम से ।।७४५।।

मनोरथ के सागर में। त्रिवर्ग की नाव में।
जिस धृति के सहारे। करता कर्मव्यापार ।।७४६।।

कर्म पूँजी से हे अर्जुन। लाभ होता चौगुना।
अतः जिससे ले प्रेरणा। करता विविध कर्म ।।७४७।।

ऐसी धृति को गुडाकेश। जानो निश्चित राजस।
अब सुनो तामस। धृति तीसरी ।।७४८।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।। ३४ ।।

लेकर सभी अधम गुण। होता जिसका निर्माण।
जैसे लिये कालापन। उत्पन्न कोयला ।।७४९।।

जो सामान्य तथा हीन। उस तम को भी कहते गुण।
जैसे राक्षसों को पुण्यवान। कहते संस्कृत में ।।७५०।।

ग्रहों में जो ज्वलंत ज्वाल। उसे कहते मंगल।
वैसे आम अर्थ मे केवल। गुण कहलाता तामस ।।७५१।।

ऐसे सकल दोषों का आगर। उस तम का निकाल सार।
बनाया जिसका शरीर। ऐसा मनुष्य ।।७५२।।

वह सदैव आलसी रहता। दिन-रात सोया रहता।
पापों को पालता-पोसता। नित्य रहता दुःखी ।।७५३।।

देह, धन, अतिप्रिय होता। अतः भय न उसे छोड़ता।
पत्थर जैसे कभी न त्यजता। अपना काठिन्य ।।७५४।।

कृतघ्न का पाप जैसे। जाता नहीं कुछ करने से।
वैसे शोक जहाँ बसे। पदार्थ-प्रेमवश ।।७५५।।

और जीव को असन्तोष। बाँधे रखता अहर्निश।
अतः विषाद जिसके साथ। करता मैत्री ।।७५६।।

लहसन में होती दुर्गन्ध। व्याधि उसमें जो करे अपथ्य।
वैसे रहता विषाद। जिसमें मरणपर्यन्त ।।७५७।।

यौवन, काम तथा वित्त। इनके दम्भ से भरा चित्त।
सदैव रहता अतः। उन्माद भी जिसमें ।।७५८।।

ताप न छोड़ता अग्नि को। बैर असली साँप को।
अथवा भय जैसे विश्व को। नहीं छोड़ता ।।७५९।।

अथवा शरीर को कभी। काल छोड़ता नहीं।
वैसे तमोगुण में सदा ही। उन्माद रहता ।।७६०।।

स्वप्न, भय, विषाद। शोक तथा उन्माद।
ये तामसी दोष भयप्रद। धारे जिसने ।।७६१।।

उसे ही जानो भ्राता। तामसी धृति सर्वथा।
ऐसे कहता पिता। अखिल विश्व का ।।७६२।।

ऐसे जो त्रिविधा बुद्धि। कर्मनिश्चय पहले करती।
धृति करती उसकी सिद्धि। धनंजय ।।७६३।।

सूर्योदय दिखाई देता। वहाँ चलने वाला चलता।
पर चलने की प्रेरणा पाता। केवल धृति से ।।७६४।।

बुद्धि कराती कर्मदर्शन। उसे गढ़ते इंद्रियसाधन।
किन्तु गढ़ने का कारण। होती धृति ही ।।७६५।।

ऐसे तुम्हें सम्प्रतिं। त्रिविध बताई धृति ।
जिसके कारण, सुभद्रापति। होते विविध कर्म ।।७६६।।

कर्म के जो फल आते। उन्हें ही सुख कहते ।
उसके भी तीन प्रकार होते। कर्मानुसार ।।७६७।।

कर्मफल जो सुख। गुणानुसार त्रिविध देख ।
उसका विचार विशुद्ध। करें सुवचन से ।।७६८।।

सुख विशुद्ध ऐसा। कि शब्द से भी मलिन होता ।
श्रवण करते जिसे लगता। मैल कानों का ।।७६९।।

अतः शब्द तथा अवधान। इन्हें हटाकर, अर्जुन ।
करो इस सुख का श्रवण। केवल हृदय से ।।७७०।।

इतना कहकर देव देवों का। प्रस्ताव करता त्रिविध सुख का ।
ज्ञानदेव कहे उसीका। अब करेंगे विचार ।।७७१।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। ३६ ।।

सुख के प्रकार तीन। कहा, करूँगा निवेदन ।
करो अब उसका श्रवण। प्रज्ञावंत ।।७७२।।

जीव आत्मा से मिलता। तब जिसका प्रत्यय होता ।
उसीको मानो, भ्राता। सुख विशुद्ध ।।७७३।।

कर अल्पमात्रा में मापन। दिव्यौषधि का करे सेवन ।
अथवा कर लेपन। रजत करें राँगे का ।।७७४।।

नमक का घोल करने। उस पर डालते होले से ।
दो-चार बार जल जैसे। धनुर्धर ।।७७५।।

वैसे आत्मबोध के सुख पर। चढ़ाते अभ्यास का पुट ।
नष्ट होता दुःख। जीवत्व का ।।७७६।।

त्रिगुणों के कारण आत्मसुख। त्रिविध होता, गुडाकेश।
बताता हूँ एक-एक। प्रकार उसके।।७७७।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। ३७।।

चन्दन के तने पर। साँप रहते महा घोर।
गाड़े धन के ऊपर। पिशाच डटा रहता।।७७८।।

वैसे स्वर्गसुख में सुभद्रापते। यज्ञ संकट बन जाते।
अथवा बाल्य-सुख में होते। नाना कष्ट।।७७९।।

आग जलाते समय, भ्राता। नाक मुँह में धुआँ भरता।
औषधि लेने पर होता। जिव्हा स्वाद कटु।।७८०।।

उसी भाँति धनंजय। यह सुख पाने अक्षय।
यम दम-से कष्ट हर समय। झेलने पड़ते।।७८१।।

आसक्ति को करे नष्ट। ऐसा वैराग्य हो प्रकट।
जो स्वर्ग-संसार की बिकट। बाड़ को तोड़ेगा।।७८२।।

आत्मानात्म-विवेक श्रवण। तथा कठोर व्रताचरण।
करते, नोंचे जाते प्रतिक्षण। मन बुद्धि अहंकार।।७८३।।

सुषुम्ना-मार्ग से अर्जुन। लीलने पड़ते प्राणापान।
ऐसे जिस सुख के कारण। कष्ट प्रारम्भ से।।७८४।।

चक्रवाकों का जोड़ा तोड़ें। वत्स को गो स्तन से मोड़ें।
भूखे को अथवा उठा दें। भरे भोजपात्र से।।७८५।।

माँ से शिशु को इकलौते। काल द्वारा छीने जाते।
अथवा मछली को निकालते। जल से कैसे।।७८६।।

वैसे विषयों को छोड़ते घर। इंद्रियों को हो दुःख घोर।
पर वे सह लेते वीर। वैराग्यसम्पन्न जो।।७८७।।

ऐसे जिस सुख का आरम्भ। कठोरता से देता क्षोभ।
सागरमंथन के बाद लाभ। जैसे अमृत का ।।७८८।।

पहले वैराग्य झेला जिसने। जैसे विष पी लिया शंकर ने।
ज्ञानामृतपान से अन्त में। वही होगा सुखी ।।७८९।।

जैसे अपरिपक्वता अंगूरों की। दाँतों में खटास लाती।
आगे चल मधुरिमा देती। वही परिपक्व होने पर ।।७९०।।

वैराग्यादिक भी वैसे। परिपक्व होते आत्मबोध से।
अविद्यामूलक दुःख हरते। वैराग्यसहित ।।७९१।।

गंगा सागर में मिलते होती। वैसे बुद्धि आत्मस्थित होती।
अकस्मात् खान खुलती। अद्वयानन्द की ।।७९२।।

ऐसे वैराग्य प्रखर। आत्मानुभव में होता स्थिर।
वही जानो धनुर्धर। सुख सात्विक साचा ।।७९३।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। ३८ ।।

इन्द्रियों का विषयसहित। संयोग होते अति निकट।
जीव को मिलता अपरिमित। जो सुख अर्जुन ।।७९४।।

अधिकारी जब गाँव में आता। उत्साह बड़ा फैलता।
या ऋण लेकर किया जाता। विवाह समारोह ।।७९५।।

अथवा शक्कर केला। रोगी को खाते लगे भला।
चसका लगता भला। बचनाग का प्रारम्भ में ।।७९६।।

साव-चोर की मित्रता। वेश्या की चितवन, भ्राता।
बहुरुपिये की खेलपटुता। मधुर लगती प्रारम्भ में ।।७९७।।

नक्षत्रबिम्ब धरती चट्टान। भ्रान्त हंस का लेती प्राण।
वैसे विषयभोग अर्जुन। अन्त में विद्या तक ।।७९८।।

संचित सारा होता समाप्त। जीवन ही होता व्यर्थ।
जोड़ा पुण्य परिणामतः। व्यर्थ जाता जिसमें ।।७९९।।

और भागा होता जो भी। रह जाता स्वप्नवत् ही।
अन्त में केवल हानि ही। आती भाग्य में ।।८००।।

यों आपत्ति में जो सुख मिलता। इहलोक में दुःख ही देता।
परलोक में भी बाधक होता। विष के समान ।।८०१।।

इन्द्रियों को सुख-भोगार्थ। देते धर्मोद्यान पार्थ।
उसे जलाकर मनाते पर्व। जहाँ विषयसुख का ।।८०२।।

वहाँ घर बनाते पातक। दिलाते रौरव नरक।
परलोक के सुख से विमुख। होते ऐसे सुख से ।।८०३।।

बचनाग स्वाद में मधुर। परिणामतः अत्यंत घोर।
वैसे जो प्रारम्भ में मीठा अपार। अंततः बहुत कड़वा ।।८०४।।

ऐसा विपरीत सुख, भ्राता। निश्चित राजस होता।
स्पर्श न करें कदा। उसको जग में ।।८०५।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

करने से अपेय का पान। अभक्ष्य का भक्षण।
स्वैरिणि का कामसेवन। जो सुख मिलता ।।८०६।।

दूसरों का घात कर। परधन को लूट कर।
भाटों से स्तुति सुन कर। जो सुख मिलता ।।८०७।।

जो आलस्य से पुष्ट होता। नींद में भी प्रतीत होता।
जिसके आदि-अन्त में न रहता। स्वत्वबोध ।।८०८।।

ऐसे सुख को, भ्राता। तामस जानो सर्वथा।
अधिक वर्णन नहीं करता। यह सुख असम्भवनीय ।।८०९।।

ऐसे कर्मभेद के कारण। फलसुख भी होता त्रिविध ।
किया वही निवेदन। यथाशास्त्र ।। ८१० ।।

कर्ता, कर्म, कर्मफल। यही तिकड़ी जग में केवल ।
इसके सिवा सूक्ष्म स्थल। नहीं कुछ भी ।। ८११ ।।

तंतु जैसे वस्त्र में। वैसे इस तिकड़ी में ।
त्रिगुण भरे रोम-रोम में। धनंजय ।। ८१२ ।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।। ४० ।।

प्रकृति के जो त्रिगुण। उनका नहीं जिसे बंधन ।
ऐसी वस्तु त्रिभुवन में अर्जुन। एक भी नहीं ।। ८१३ ।।

कम्बल नहीं ऊन बिन। घट नहीं माटी बिन ।
अथवा न उठते जलबिन। तरंग कहीं भी ।। ८१४ ।।

वैसे गुणविरहित। उत्पन्न सृष्टि में, पार्थ ।
ऐसे कोई प्राणिजात। नहीं कतई ।। ८१५ ।।

अतः यह सकल। त्रिगुणों से ही केवल ।
गढ़ा है अविकल। समझ लो अर्जुन ।। ८१६ ।।

त्रिगुणी देव त्रिरूप। त्रिगुणी लोक त्रिविध ।
इनसे चातुर्वर्ण्य कर्म। विविध बना ।। ८१७ ।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। ४१ ।।

अब वे ही चार वर्ण। जानना चाहोगे अर्जुन ।
तो सुनो ब्राह्मण वर्ण। अग्रगण्य उनमें ।। ८१८ ।।

अन्य क्षत्रिय, वैश्य वर्ण। वे भी ब्राह्मण समान ।
कारण वैदिक विधि का पूर्ण। अधिकार उन्हें ।। ८१९ ।।

चौथा वर्ण होता शूद्र। जिसे न वेदाधिकार।
अन्य तीन वर्णों पर। वह निर्भर करता।।८२०।।

इसने सत्सेवा भाव धरा। आया ब्राह्मणादिक के नियरा।
इसलिये शूद्र नाम पाया। चौथे वर्ण ने।।८२१।।

जैसे फूलों के साथ। धागा भी सूँघते श्रीमंत।
वैसे शूद्र वेदसम्मत। संग त्रिवर्णो के।।८२२।।

इसविध हे भ्राता। बनी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था।
अब इनके कर्म बताता। पार्थ तुम्हें।।८२३।।

ये चारों वर्ण जिन गुणों से। जन्म-मरण की कैंची से।
बचते हुए परमात्मा से। मिल जाते हैं।।८२४।।

वे आत्मप्रकृति के तीन। सत्व, रज, तम गुण।
उन्होंने कर्म का विभाजन। किया चारों वर्णों में।।८२५।।

बाप का धन देते पुत्र को। सूर्य पथ बताता पथिक को।
स्वामी सौंपता काम सेवक को। जैसे अर्जुन।।८२६।।

वैसे प्रकृति गुणानुसार। इन वर्णो में चार।
किये कर्म के भाग चार। धनंजय।।८२७।।

इनमें सत्व गुण अर्जुन। हुआ थोड़ा अधिक न्यून।
तदनुसार बने वर्ण। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय।।८२८।।

सत्वसहित जो रज गुण। उससे बना वैश्य वर्ण।
रजसहित तम गुण। शूद्र वर्ण में प्रधान।।८२९।।

एकरूप है प्राणिवृंद। उसमें चातुर्वर्ण्य से भेद।
त्रिगुणों के ही कारण। किये जानो।।८३०।।

फिर अपनी रखी वस्तु खास। दीप दिखाता अनायास।
शास्त्र दिखाता कर्म विशेष। गुणानुसार वर्ण के।।८३१।।

अब वर्णानुसार विहित। कर्म बताता हूँ संक्षिप्त ।
कर एकाग्र अपना चित्त। सुनो, भाग्यशाली ।। ८३२ ।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। ४२ ।।

इन्द्रियों की सभी प्रवृत्तियाँ। अपने हाथ में लेकर, भैया ।
एकान्त में मिलती बुद्धि प्रिया। आत्मा प्रिय से ।। ८३३ ।।

ऐसे बुद्धि का विलयन। उसे शम ऐसा अभिधान ।
यही होता मुख्य गुण। सकल ब्रह्मकर्मों में । ।। ८३४ ।।

जो बाह्य इन्द्रियों को, भ्राता। वैध मार्ग पर चलाता ।
चोरमार्ग पर जाने न देता। अधर्म के कदापि ।। ८३५ ।।

ऐसे शम का सहाय्यकर्ता। दूसरा गुण दम कहलाता ।
जो इन्द्रियों को चलाता। स्वधर्म पथ पर ।। ८३६ ।।

छठी पूजा की रात में। दीप बुझने नहीं देते ।
ईश्वर को निरंतर वैसे। अंतरंग में समाता ।। ८३७ ।।

ऐसा जो तीसरा गुण। उसका नाम तप अर्जुन ।
और शौच है चौथा गुण। जिसके प्रकार दो ।। ८३८ ।।

शुद्ध भाव से युक्त। शरीर सत्कर्म में रत ।
ऐसे जीवन विभूषित। अन्तर्बाह्य ।। ८३९ ।।

उसका नाम शौच, भ्राता। वह ब्रह्मकर्म का गुण चौथा ।
तथा धरती समान सर्वथा। सहन करता सब ।। ८४० ।।

उसका नाम क्षमा पांडवा। जो गुण है पाचवाँ ।
स्वरों में मधुर अनोखा। पंचम जैसे ।। ८४१ ।।

धारा यद्यपि टेढ़ी दिखती। गंगा सीधी ही होती ।
दिखे ईख की टेढ़ी आकृति। टेढ़ी न होती मिठास ।। ८४२ ।।

वैसे विरोधियों से, भ्राता। बरतते न तजे सरलता।
वह छठा गुण तत्त्वतः। ब्रह्मकर्म में ।। ८४३ ।।

परिश्रमपूर्वक माली। वृक्ष जड़ में देता पानी।
देखता फलों में सारी। प्रयास की सार्थकता ।। ८४४ ।।

शास्त्रानुकूल आचरण से। ईश्वर को पाना इसे।
जो जानता निश्चय से। वही कहलाता ज्ञान ।। ८४५ ।।

ब्रह्मकर्म में अर्जुन। यह ज्ञान सातवाँ गुण।
अब सुनो लक्षण। विज्ञान के ।। ८४६ ।।

सत्वशुद्धि होते पूर्ण। कर मनन अथवा चिन्तन।
बुद्धि को ईश्वर में लीन। करना निश्चित ।। ८४७ ।।

उसे कहते विज्ञान। जो ब्रह्मकर्म में आठवाँ गुण।
और नवम को अर्जुन। कहते आस्तिक्य ।। ८४८ ।।

राजमुद्रा मिलती जिसे। लोकमान्यता मिलती उसे।
शास्त्रों ने मान्यता वैसे। दी जिस मार्ग को ।। ८४९ ।।

उस मार्ग का करना आदर। आस्तिक्य मेरे मतानुसार।
इसी नवम गुण से वीर। कर्म सार्थक होता ।। ८५० ।।

ऐसे शम आदि नौ गुण। जिसमें पाते नित्य स्फुरण।
वही निर्दोष कर्म, अर्जुन। ब्राह्मण का सहज ।। ८५१ ।।

वह नो गुणों का रत्नाकर। इन नवरत्नों का हार।
धारण करता निरंतर। सूर्य प्रकाश को जैसे ।। ८५२ ।।

चम्पा सुशोभित फूलों से। चंद्र अपनी ज्योत्स्ना से।
चन्दन सुगंधित जैसे। सौरभ से अपने ही ।। ८५३ ।।

वैसे ये नौ गुण सुन्दर। ब्राह्मण के अलंकार।
वे न कभी जाते दूर। छोड़ ब्राह्मण को ।। ८५४ ।।

अब जो क्षत्रियोचित। बताता कर्म संक्षिप्त।
बुद्धि को रख जाग्रत। हे धनंजय सुनो ।। ८५५ ।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। ४३ ।।

विश्व को करने आलोकित। सूर्य को न चाहिये मदद।
अथवा सहायक न कोई होत। सिंह का पराक्रम में ।। ८५६ ।।

ऐसे सहायक के बिन। पराक्रम में जो स्वयंपूर्ण।
वह क्षत्रिय का प्रथम गुण। शौर्य नामक ।। ८५७ ।।

सूर्योदय होते ही पार्थ। कोटि नक्षत्र होते लुप्त।
पर सभी नक्षत्र चंद्रसहित। सूर्यलोप न कर सकते ।। ८५८ ।।

अपने गुणप्रभाव से अर्जुन। विश्व को स्तिमित करना।
किन्तु स्वयं नहीं चकराना। किसी बात से ।। ८५९ ।।

यह जो प्रगल्भता। वह दूसरा गुण भ्राता।
रखना धैर्य सर्वथा। क्षत्रिय-गुण तीसरा ।। ८६० ।।

आकाश टूट गिरे क्यों न। जिसकी बुद्धि के नयन।
भावावेग में मूँदते न। उसका नाम धैर्य ।। ८६१ ।।

कितना हो गहरा पानी। सतह पर ही खिलती कुमुदिनी।
ऊँचाई में कोई सानी। नहीं गगन का ।। ८६२ ।।

वैसे कैसी भी अवस्था। प्राप्त हो जाय भ्राता।
बुद्धि उसमें से सर्वथा। निकालती मार्ग ।। ८६३ ।।

उसे कहते दक्षता। जो क्षत्रिय का गुण चौथा।
जूझने में अलौकिक जीवटता। गुण पाँचवाँ ।। ८६४ ।।

सूर्यमुखी फूल भ्राता। सूर्याभिमुख होते सर्वदा।
वैसे शत्रु को देख डटता। उसके सामने ।। ८६५ ।।

गर्भवती नारी जैसे। पीठ न लगाती शैया से।
पीठ न दिखाता वैसे। समर में शत्रु को ।।८६६।।

क्षत्रिय आचरण में होत। यह पाँचवाँ गुण प्रशस्त।
चारों पुरुषार्थों में श्रेष्ठ। भक्ति जैसे ।।८६७।।

जैसे वृक्ष, पुष्प फल। इतरों को देता सकल।
अथवा सुगंध देता कमल। उदारता से ।।८६८।।

अपनी रुचि के अनुसार। कोई भी ले चंद्रप्रकाश।
वैसे याचक को इच्छानुसार। देते रहता ।।८६९।।

ऐसा अमाप दान। छठाँ क्षत्रिय गुण।
आज्ञा का निवासस्थान। एकमेव जो ।।८७०।।

कर अवयवों का पोषण। काम ले उनसे प्रतिक्षण।
वैसे प्रेम से विश्व पालन। करते लेना भोग ।।८७१।।

इसे कहते ईश्वर भाव। उसमें रहता सारा प्रभाव।
वह क्षात्रगुणों में सर्व। श्रेष्ठ गुण सातवां ।।८७२।।

शौर्यादिक ये सात गुण। इनसे पूर्ण जिसका जीवन।
सप्तर्षिमण्डल से गगन। शोभायमान जैसे ।।८७३।।

वैसे सप्तगुणों से युक्त। जो कर्म जगत में पवित्र।
उसे क्षात्रकर्म स्वभावजात। जानो क्षत्रिय का ।।८७४।।

वह नहीं क्षत्रिय केवल। सत्व स्वर्ण का मेरु निश्चल।
अतः होता आधार प्रबल। सप्त-गुण स्वर्ग का ।।८७५।।

ये क्षात्रगुण सागर सात। उनसे क्षात्रकर्म मही वेष्टित।
जिसका उपभोग प्राप्त। स्वभावतः क्षत्रिय को ।।८७६।।

या सात गुणों की नदियों में। क्षात्रक्रिया गंगा जग में।
जो मिलकर क्षत्रिय सागर में। अत्यंत सुशोभित ।।८७७।।

अस्तु यह सारा वर्णन। शौर्यादि सप्त-गुण-पूर्ण।
क्षत्रियों का कर्म अर्जुन। होता स्वाभाविक ।।८७८।।

वैश्व वर्ण के लिये, भ्राता। जो कर्म उचित होता।
उसे हूँ अब बताता। सुनना ध्यान से ।।८७९।।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्वकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। ४४ ।।

भूमि बीज तथा हल। इनकी पूँजी के बल।
कर लेना लाभ विपुल। सदा सर्वदा ।।८८०।।

अथवा खेतीबाड़ी करना। गोधन खूब बढ़ाना।
सस्ता माल बेचना। अधिक दाम पर ।।८८१।।

वैश्यों के ये कर्म तीन। करें सदा उनका पालन।
यही उनका धर्म अर्जुन। स्वाभाविक ।।८८२।।

वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण। द्विजों के हैं तीन वर्ण।
उनकी सेवा को जान। शूद्र कर्म ।।८८३।।

द्विज-सेवा के अतिरिक्त। शूद्रों का न कोई कर्म।
किये सारे कर्म निवेदन। चारों वर्णो के ।।८८४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। ४५ ।।

अब ये ही कर्म, धीमान। उचित वर्णो को विभिन्न।
जैसे श्रोत्रादि इन्द्रियों को। शब्दादिक विषय ।।८८५।।

मेघ से बरसता जीवन। नदी उसका उचित स्थान।
तथा नदी का उचित स्थान। सागर जैसे ।।८८६।।

वैसे बाँटता वर्णाश्रम। जो-जो विहित कर्म।
वे ही सुहाते अनुपम। गौरत्व जैसे गौर को ।।८८७।।

वही कर्म स्वभावप्राप्त। करने को होता शास्त्रोक्त।
बुद्धि करे उसी में सुस्थित। वीरोत्तम ।।८८८।।

अपने ही लिये रत्न। लेते जौहरी से अर्जुन।
वैसे स्वकर्माचरण। शास्त्रानुसार करें ।।८८९।।

लोचन जदपि अपने होते। दीप बिन पदार्थ न दिखते।
मार्ग जब तक नहीं दिखते। पैर किस काम के ? ।।८९०।।

अतः वाकई जातिनुसार। स्वाभाविक जो आचार।
उसे समझो यथाशास्त्र। अर्जुन ठीक से ।।८९१।।

अपने घर का धन गुप्त। दीप करता आलोकित।
उसे उठा लेने में, पार्थ। कठिनाई कैसे ? ।।८९२।।

स्वभावतः जो आया हिस्से में। निश्चित किया शास्त्रों ने।
वे विहित कर्म अपने। आचरता जो ।।८९३।।

सारा आलस्य झाड़ कर। फलकामना को त्याग कर।
तन, मन, धन लगा कर। सर्वथा पार्थ ।।८९४।।

पानी प्रवाह में गिरता। तो अन्यत्र नहीं बहता।
वैसे व्यवस्थित करता। स्वकर्माचरण ।।८९५।।

अर्जुन जो इसविध। करता कर्म सभी विहित।
वह जाता सहज पहुँच। वैराग्य-मोक्ष द्वार ।।८९६।।

अकार्य तथा निषिद्धाचार। इनसे रहता सदा दूर।
अतः भवपाश से धनुर्धर। वह मुक्त हो जाता ।।८९७।।

पाँव में चन्दन का फंदा। कोई नहीं डाल लेता।
वैसे काम्य कर्म में, भ्राता। न लगाता चित्त ।।८९८।।

अन्य नित्यकर्म सकल। फलत्याग से करता सफल।
अतः मोक्ष की सीमा समीप। वह पहुँच जाता ।।८९९।।

ऐसे शुभाशुभ कर्म। जिसके भव में छूटे निष्काम।
वह मोक्ष-वैराग्य के धाम। पहुँच जाता ।। ६०० ।।

वह सीमा सब भाग्यों की। निश्चितता मोक्षलाभ की।
समाप्ति कर्म मार्ग की। होती जिसमें ।। ६०१ ।।

मोक्ष जिसका अंतिम फल। उस सुकृत तरु का जो फूल।
उस वैराग्य में अविकल। जाता भ्रमर-सा ।। ६०२ ।।

आत्मबोध का सूर्योदय। बताता जिसका अरुणोदय।
पार्थ वह परम वैराग्य। नित्यकर्म से मिलता ।। ६०३ ।।

आत्मज्ञान का निधान। जिससे हाथ आता पूर्ण।
वैराग्य का दिव्यांजन। पाती उसकी बुद्धि ।। ६०४ ।।

ऐसे कर्म शास्त्रविहित। करते हुए अव्याहत।
सहज होती प्राप्त। योग्यता मोक्ष की ।। ६०५ ।।

यह विहित कर्म कौन्तेय। मानो प्राणों से प्रिय।
यही परम सेवा निरामय। सर्वात्मक ईश्वर की ।। ६०६ ।।

पतिव्रता पति के साथ। समरस होती भोगसहित।
वही होता उसका निश्चित। तपाचरण ।। ६०७ ।।

शिशु को माता के बिन। अन्य कहाँ होता जीवन।
अतः उसकी सेवा जान। परमधर्म ।। ६०८ ।।

गंगा को मान कर पानी। मछली उसमें विचरती।
सब तीर्थों का सहवास पाती। वहाँ अनायास ।। ६०९ ।।

वैसे विहित कर्म के बिन। उपाय नहीं कोई अन्य।
इस भाव से करते आचरण। देव भी होता आभारी ।। ६१० ।।

स्वकर्म जो शास्त्रविहित। ईश्वर का होता मनोगत।
अतः उसे करते निश्चित। जगदीश्वर मिलता ।। ६११ ।।

दासी राजा को होते स्वीकार। पाती स्वामिनि का अधिकार।
राजकाजहित देते सिर। पारितोषिक निश्चित ।। ९१२ ।।

पालन करे देव-अभीष्ट। वही सेवा सर्वोत्कृष्ट।
अन्य कर्म है निकृष्ट। केवल दुकानदारी ।। ९१३ ।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। ४६ ।।

विहित कर्म का आचरण। ईश्वरेच्छा का ही पालन।
साकार जिसके कारण। भूतसृष्टि सारी ।। ९१४ ।।

जो अविद्या की जोड़ चिन्दियाँ। रचता जीव गुड़ियों की माया।
त्रिगुण अहंकार की डोरियाँ। बाँध नचाता उन्हें ।। ९१५ ।।

जो इस जगत में समस्त। अन्तर्बाह्य रहता व्याप्त।
जैसे तेज से ओतप्रोत। दीपक होता ।। ९१६ ।।

स्वकर्म कुसुम से पूजित। वह सर्वात्मक भगवंत।
अपार सन्तोष, भारत। पाता है ।। ९१७ ।।

होते ऐसी स्वकर्म पूजा। सन्तुष्ट होकर आत्मराजा।
प्रसाद वैराग्य-सिद्धि का। देता उसको ।। ९१८ ।।

जिस वैराग्य से, भ्राता। लगता वेध देव का सर्वथा।
फिर भोग प्रतीत होता। वमन के समान ।। ९१९ ।।

प्राणनाथ का होते वियोग। विरहिणि जीवन से तंग।
वैसे सर्वथा दुःखदायक। संसारसुख लगता ।। ९२० ।।

न हो अद्वैत का ज्ञान। फिर भी होकर ईशलीन।
आत्मबोध का मान। स्वकर्म से मिलता ।। ९२१ ।।

अतः करने मोक्ष प्राप्ति। व्रत रख कर जो होता कष्टी।
उसे पहले चाहिये, किरीटी। करे स्वधर्म पालन ।। ९२२ ।।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।। ४७ ।।

स्वधर्म का आचार। लगा कितना भी दुष्कर ।
मन में करें विचार। अंतिम फल का ।। ६२३ ।।

कड़वे नीम का ही सेवन। अपने सुख का हो साधन ।
तो उसका कड़वापन। न मानें असह्य ।। ६२४ ।।

फलती कदली को देखकर। मन निराशा से जाता भर ।
अतः उसे उखाड़ने से, वीर। क्या लाभ ? ।। ६२५ ।।

वैसे स्वधर्माचरण। तजा जानकर कठिन ।
तो मोक्षसुख से अर्जुन। रहोगे वंचित ।। ६२६ ।।

अपनी ही माता की काय। यदि कुबड़ी हो धनंजय ।
उसके उर में ममता समाय। कतई न होती टेढ़ी ।। ६२७ ।।

और माता दूसरे की। रम्भा से भी सुंदर होती ।
बालक को उसके प्रति। न होता प्रेम ।। ६२८ ।।

घी में पानी से अर्जुन। यदपि होते वहुत गुण ।
किन्तु क्या उसमें मीन। जी सकता? ।। ६२९ ।।

सकल जग का जो विष। वही विषकीटों का पीयूष ।
विषकीट का होता नाश। गुड़ की भेली में ।। ६३० ।।

अतः विहित कर्म जो जिसका। पाश तोड़ता संसार का ।
हो कितने ही कष्ट का। करे उसी का आचरण ।। ६३१ ।।

पर धर्म को सुखकर मान। करना उस का आचरण ।
है सिर के वल प्रचलन। चरणों का ।। ६३२ ।।

अतः अपना कर्म। जो वर्णानुसार बना धर्म ।
उसके पालन से मोक्ष। मिलता कर्मबंधन से ।। ६३३ ।।

अतः परधर्म का परिहार। और स्वधर्म का स्वीकार।
यही नियम धनुर्धर। क्यों न बना लें ? ।। ९३४ ।।

जब तक नहीं आत्मज्ञान। छूटता नहीं कर्माचरण।
कर्म कभी क्लेश बिन। सम्भव नहीं पार्थ ।। ९३५ ।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। ४८ ।।

किसी भी कर्म में भ्राता। आयास अटल होता।
तो स्वधर्म का ही सर्वथा। क्यों न करें पालन ? ।। ९३६ ।।

सीधे मार्ग पर चलना। है चरणों को थकाना।
और पगडंडी पर दौड़ना। होता वही ।। ९३७ ।।

पत्थर या पाथेय अर्जुन। दोनों बोझ में समान।
तो जो करे भूख निवारण। भार लें उसी का ।। ९३८ ।।

भूसी या धान कूटते। एक-से श्रम होते।
अन्न या मांस राँधते। एक-से क्लेश ।। ९३९ ।।

दही या पानी मथते। हाथ एक-से थकते।
बालू या तिल पीसते। परिश्रम समान ।। ९४० ।।

देने को नित्य आहुति। या जलाने अँगीठी।
आग जलाते, सुभद्रापति। धुआँ जाता आँखों में ।। ९४१ ।।

धर्मपत्नी व वारांगना। पोसने का खर्च, अर्जुना।
यदपि समान, क्यों मोल लेना। दुराचार की अपकीर्ति ।। ९४२ ।।

घाव लगा पीठ में। मरण दुर्गति न टले रण में।
तो क्यों न उसे झेले। सीना तान कर ? ।। ९४३ ।।

पुनर्विवाह रचा शौक से। वहाँ पिटाई हो डण्डे से।
तो प्रथम पति को त्यजने से। लाभ ही क्या ? ।। ९४४ ।।

वैसे मनभाया कष्ट करते। भाल के कष्ट नहीं चूकते ।
तो विहित कर्म ही, सुभद्रापते। क्यों मानें कष्टप्रद ।। ६४५ ।।

जिससे अमरता होती प्राप्त। पाने को वह अमृत ।
क्यों न करें समर्पित। सर्वस्व अपना ? ।। ६४६ ।।

तथा जिसका करते सेवन। अकस्मात् आता मरण ।
उस विष का प्राशन। करने खरीदें क्यों ? ।। ६४७ ।।

वैसे इन्द्रियों को थका कर। जीवन समय नष्ट कर ।
जोड़ते पापधन सिवा दुःख। पल्ले क्या पड़ेगा ? ।। ६४८ ।।

अतः करें स्वधर्माचरण। जिससे होते क्लेश क्षीण ।
तथा समीप आता, अर्जुन। परम पुरुषार्थ ।। ६४९ ।।

विपदा आ पड़े घोर। न भुलायें सिद्धमंत्र ।
वैसे स्वधर्म हो दुष्कर। न छोड़े विपदा में ।। ६५० ।।

नाव न त्यजें सागर में। दिव्यौषधि महारोग में ।
वैसे, अर्जुन, जगत में। न छोड़ें विहित कर्म ।। ६५१ ।।

करते स्वकर्म की महापूजा। प्रसन्न होता देवराजा ।
भगाता तम-रज की छाया। दूर जीवन से ।। ६५२ ।।

फिर अन्तर्यामी सत्व गुण। पा पूरा संवर्द्धन ।
दिखाता कालकूट समान। भव तथा स्वर्ग को ।। ६५३ ।।

वैराग्य ही है संसिद्धि। पहले बता चुका, सुबुद्धि ।
उसी की कराता उपलब्धि। स्वकर्म यहाँ ।। ६५४ ।।

वैराग्य जब प्राप्त होता। कैसी होती पुरुष की अवस्था ।
क्या-क्या उसके हाथ आता। अब बताता हूँ ।। ६५५ ।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।। ४९ ।।

बहेलिये के जाल में, भ्राता। पवन नहीं बद्ध होता।
वैसे देहादि के पाश में होता। बद्ध नहीं जो ।। ९५६ ।।

पकने का समय हो आने को। वृंत फल को या फल वृंत को।
थामे न रहता, वैसे जिसको। स्नेह न थामता किसी का ।। ९५७ ।।

पुत्र दारा तथा धन। सब भले हों उसके अधीन।
फिर भी उन्हें विषसमान। अपना न कहता ।। ९५८ ।।

झुलसते विषयाग्नि में पार्थ। बुद्धि होती परावृत्त।
एकांतवास करती प्राप्त। अध्यात्म का ।। ९५९ ।।

जैसी दासी आज्ञाकारी। न होती स्वैर संचारी।
होती आत्मा की प्रभावधारी। बुद्धि न बहिर्मुख वैसे ।। ९६० ।।

और मुट्ठी में अद्वैत की। बंद कर वृत्ति चित्त की।
आत्मस्थान में लय उसकी। करता केन्द्रित जो ।। ९६१ ।।

इहपर-भोग की लालसा। दब जाती उसकी सहसा।
आग को दबाते जैसा। दबता धुआँ भी ।। ९६२ ।।

नियमबद्ध करते चित्त। वासना लोपती अकस्मात्।
वल्कि वासनातीत। हो जाता वह ।। ९६३ ।।

मन का विपरीत ज्ञान। होता सर्वथा अस्तमान।
उदित होता सत्य ज्ञान। उसके हिय में ।। ९६४ ।।

जमा कर रखे पानी जैसे। प्रारब्ध-कर्म रीतते वैसे।
मन न चाहता अहंता-क्षय से। कुछ नया करना ।। ९६५ ।।

ऐसी कर्म की साम्यदशा। प्राप्त होते ही, वीरेशा।
गुरुदेव आते हमेशा। भेंट देने ।। ९६६ ।।

रात के चारों पहर। बीतने के अनन्तर।
जैसे आता दिनकर। आँखों के सामने ।। ९६७ ।।

कदली में जब घोद लगता। उसका विकास रुक जाता।
वैसे कर्मो का विकास, भ्राता। रोकते पुरुदेव ।।६६८।।

पूनम का करते आलिंगन। चन्द्र का जाता न्यूनपन।
वैसे ही जानो अर्जुन। सामर्थ्य गुरुकृपा का ।।६६९।।

रहा सहा सारा अज्ञान। गुरुकृपा से नष्टता अर्जुन।
जैसे लोपता अंधापन। रात के साथ ही ।।६७०।।

कर्ता, कर्म, कार्य की त्रिपुटी। अविद्यासहित मरती, किरीटी।
गर्भिणी के मरते, पेट में ही। मरता गर्भ जेसे ।।६७१।।

वेसे अज्ञानसहित। लोपता सारा कर्मजात।
पार्थ, जानो इसे निश्चित। सफल संन्यास ।।६७२।।

मूल अज्ञान का संन्यास। होते लोपता सारा दृश्य।
रहता जानने के लिये शेष। केवल स्वरूप ।।६७३।।

नींद से जागते तत्क्षण। स्वप्न दह से अर्जुन।
अपने आपका उद्धरण। क्या करना पड़ता ? ।।६७४।।

मैं अज्ञानी, पाऊंगा ज्ञान। यह नष्टता दुष्ट स्वप्न।
होता ज्ञाता-ज्ञेय विहीन। चिदाकाश ।।६७५।।

दर्पण प्रतिविम्बसहित। दूर होते अकस्मात्।
जैसे, द्रष्टापनविरहित। होता द्रष्टा ।।६७६।।

वेसे, जिसका गया अज्ञान। उसने विलीन किया ज्ञान।
फिर क्रियाशून्य शुद्ध ज्ञान। शेष जहाँ ।।६७७।।

वहाँ स्वभावतः, धनंजया। शेष नहीं कोई क्रिया।
अतः इस दशा को, भैया। कहते नैष्कर्म्य ।।६७८।।

पवन का वहना थमते। तरंग सागररूप हो जाते।
वैसे, भेद-अज्ञान के लोपते। आती शुद्धावस्था ।।६७९।।

कुछ भी न होने की स्थिति। नैष्कर्म्य सिद्धि कहलाती ।
जो जगत में, सुभद्रापति। होती सर्वश्रेष्ठ ।।६८०।।

मंदिर पर शिखर का चढ़ना। गंगा का सागर में मिलना ।
सोने का खरा उतरना। अवस्था अन्तिम ।।६८१।।

वैसे अज्ञान को हटाता ज्ञान। उस ज्ञान का भी विलयन ।
जो अवस्था करती, अर्जुन। वही होती अन्तिम ।।६८२।।

उस अवस्था के आगे भाई। प्राप्तव्य कुछ रहता नहीं ।
अतः अवस्था को इसी। परमसिद्धि जानो ।।६८३।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। ५० ।।

ऐसा जो भी भाग्यवंत। जिसे गुरुकृपा होते प्राप्त ।
यह आत्मसिद्धि हस्तगत। तत्काल हो जाती ।।६८४।।

उदित होते ही दिनकर। प्रकाशरूप होता तिमिर ।
अथवा दीप के संग कपूर। दीप ही बन जाता ।।६८५।।

अथवा लवण का कण। पानी के संग होते मिलन ।
पानी बन जाता आपुन। धनंजय ।।६८६।।

अथवा निद्रित को जाग आती। तो स्वप्नसहित नींद जाती ।
और अपनी आपको हो जाती। पहचान ।।६८७।।

वैसे कोई भाग्य के कारण। सुनता गुरुकृपा वचन ।
द्वैत का हो विलोपन। प्राप्त करता आत्मस्थिति ।।६८८।।

फिर वह कुछ करे धरे। ऐसा उससे कौन कहे ? ।
आकाश नहीं आवे-जावे। यह कैसे सम्भव ? ।।६८९।।

अतः जिसने नैष्कर्म्य पाया। उसे कर्तव्य नहीं रह गया ।
पर जो पहुँच न पाया। ऐसी अवस्था को ।।६९०।।

वह सद्गुरु मुख से अर्जुन। सुनते ही बोधवचन ।
ब्रह्मरूप होता तत्क्षण। इस अवस्था में ।। ९९१ ।।

अन्यथा स्वकर्माग्नि में पार्थ। ईंधन कर काम्य निषिद्ध ।
रज-तम दोनों को दग्ध। करते साधक कोई ।। ९९२ ।।

स्वर्ग, सम्पदा, अथवा पुत्र। तीनों का अभिलाष दुर्धर ।
जिसके घर चाकर। होता है ।। ९९३ ।।

विषयभोग लिये स्वैर। करीं इन्द्रियाँ अपवित्र ।
प्रत्याहार तीर्थ में नहला कर। किया पवित्र उन्हें ।। ९९४ ।।

स्वधर्म पालन का फल। ईश्वरार्पित कर सकल ।
वैराग्यपद अटल। प्राप्त कर लिया ।। ९९५ ।।

आत्मसाक्षात्कार की। ज्ञानपात्रता चाहिये नीकी ।
सारी सामग्री उसकी। जोड़ी ऐसे ।। ९९६ ।।

और ऐसे समय अर्जुन। हो गये सद्गुरुदर्शन ।
उन्होंने दिया आत्मज्ञान। सम्पूर्णतः ।। ९९७ ।।

किन्तु औषधि लेते तत्क्षण। स्वास्थ्य लाभ कहाँ अर्जुन ।
सूर्योदय होते मध्याह्न। तत्क्षण कहाँ होता ? ।। ९९८ ।।

उर्वर खेत, प्रचुर सिंचाई। उसमें उत्तम बीज की बुवाई ।
फसल आती लवालब, भाई। पर कुछ समय बाद ।। ९९९ ।।

मार्ग आसान तथा सरल। साथी संगी मिले प्रेमल ।
पर पहुंचने का स्वस्थल। कुछ समय लगता है ।। १००० ।।

वैसे वैराग्यलाभ हो गया। तथा सद्गुरु भी मिल गया ।
उर में अंकुरित हो गया। वैराग्यभाव ।। १००१ ।।

ब्रह्म एकमेव सत्य। बाकी सारा असत्य ।
यही एक अनुभव नित्य। स्थिर हुआ अंतर में ।। १००२ ।।

पर वही परब्रह्म। सर्वात्मक सर्वोत्तम।
मोक्षप्राप्ति का भी काम। शेष नहीं जहाँ ।।१००३।।

जागृति स्वप्न सुषुप्ति। तीनों अवस्थाएँ विलोपतीं।
ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति। होती जहाँ ।।१००४।।

जहाँ ऐक्यबोध जाता। आनन्दानुभव अशेष होता।
अन्य कुछ भी न रहता। रहता केवल कैवल्य ।।१००५।।

उस ब्रह्म में लीन होना। रख अभिन्नत्व भावना।
यथाक्रम ही साध्य होता। यह विरक्त जीवन में ।।१००६।।

जैसे भूख को, गुडाकेश। परोस दिये षड्रस।
ज्यों-ज्यों लेता ग्रास। तृप्त होता त्यों-त्यों ।।१००७।।

वैसे वैराग्य-नेह डाल कर। विवेक-दीप बाल कर।
आत्मानंद की धरोहर। यह खोज लेता ।।१००८।।

उस आत्मानंद निधान का। उपभोग ले सके नीका।
ऐसी परिपूर्ण सिद्धि का। स्वामी जो ।।१००९।।

जिस क्रम से ब्रह्म। उसके लिये होता सुगम।
उस क्रम का कर्म। अब बताऊँगा ।।१०१०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।। ५१।।

गुरु के पथ पर चल कर। विवेक तीर्थ पहुंच कर।
बुद्धि का मल सर्वप्रथम। धो लेता ।।१०११।।

जैसे राहु से मुक्त होती। चन्द्रिका चन्द्र से मिलती।
वैसे जिसकी शुद्ध मति। मिलती आत्मरूप से ।।१०१२।।

उभय कुल की त्यज ममता। प्रिय की अनुगामिनि कांता।
वैसे सकल द्वंद्व छोड़, भ्राता। बुद्धि जिसकी आत्मरत ।।१०१३।।

इन्द्रियों ने निखार। आत्मज्ञान को हटा दूर।
बढ़ाए जो अपार। शब्दादिक विषय ।।१०१४।।

लोपते किरणजाल। अदृश्य होता मृगजल।
धृति से संयत इन्द्रिय जब। वैसे विनष्ट होता ।।१०१५।।

अनजाने अधम का अन्न। खाते कर डालें वमन।
वैसे विषयवासना का वमन। करवाया इन्द्रियों से ।।१०१६।।

आत्मगंगा के तट पर। इन्द्रिय-वृत्तियों को लाकर।
प्रायश्चित करवा कर। शुद्धता की जिसने ।।१०१७।।

फिर सात्विक धैर्य से। अंतर्बाह्य शुचिता से।
योगसाधना में निश्चय से। लगाया इन्द्रियों को ।।१०१८।।

ऐसे में प्रारब्धवश। आते इष्टानिष्ट भोग क्लेश।
अनिष्ट आते मन में लेश। खेद करता नहीं ।।१०१९।।

अथवा सौभाग्यवश। मिले उत्तम भोग यश।
तो भी मन में अभिलाष। न धरता उनका ।।१०२०।।

इष्टानिष्ट का यों, भ्राता। जो राग द्वेष नहीं धरता।
गिरिकंदरों में करता। एकान्तवास ।।१०२१।।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। ५२ ।।

जहाँ न कोलाहल विभ्रम। ऐसे तपोवन को करता धाम।
स्वगात्रों के सिवा अन्य। साथ न किसी का ।।१०२२।।

शम दम ही मनोरंजन। सदा प्रिय मितभाषण।
गुरुवचन का करे चिन्तन। भान खोकर काल का ।।१०२३।।

देह में आवे बल। क्षुधा मिटे सकल।
अथवा जिव्हालौल्य। करे पूरा ।।१०२४।।

ऐसी कोई चिन्ता। भोजन करते न रखता।
मिताहार से ही पाता। परम सन्तोष ।।१०२५।।

जठराग्नि को न दे अन्न। तो वह सोख लेता प्राण।
इसलिये करता मितभोजन। करने प्राणरक्षा ।।१०२६।।

परपुरुष की वासना। पूरी करती न कुलांगना।
वैसे निद्रा आलस्य को अर्जुना। देता न प्रश्रय ।।१०२७।।

केवल दंडवत के लिये भ्राता। देह भूमि पर लिटाता।
लेटने में सुख अन्यथा। न मानता कभी ।।१०२८।।

केवल निर्वाह के लिये पांडव। जो चलाता हाथ-पाँव।
ऐसे बाह्यान्तर इन्द्रियभाव। किया स्वाधीन जिसने ।।१०२९।।

मन की भी देहली पर। वृत्ति को करने न दे संचार।
तो वाणी का व्यवहार। होगा कैसे ? ।।१०३०।।

ऐसे काया, वाचा, मानस। ये जीत बाह्य प्रदेश।
फिर ध्यान का आकाश। किया स्वाधीन ।।१०३१।।

दर्पण धरते हाथ में। अपना रूप दिखता उसमें।
वैसे गुरुवचन-बोध में। स्वरूप-निश्चय देखता ।।१०३२।।

ध्याता ध्यान-वृत्ति में, भ्राता। ध्येयत्व ही प्राप्त करता।
यही है परम उदात्ता। ध्यान पद्धति ।।१०३३।।

ध्येय, ध्यान, ध्याता। इस त्रिपुटी की एकरूपता।
जब तक न होती, पंडुसुता। करें ध्यान-साधन ।।१०३४।।

आत्मसाक्षात्काररहित। मुमुक्षु दक्ष रहता पार्थ।
योगाभ्यास की जनरीत। सँभालते हुए ।।१०३५।।

जननेन्द्रिय तथा गुदद्वार। इनके बीच एड़ी दबाकर।
मूलबंध का प्रकार। सिद्ध करें प्रथम ।।१०३६।।

अधोभाग को खींचकर। तीनों बंधों को स्थिर कर।
वायु के भेद तोड़कर। करो स्वरूप ।।१०३७।।

कुण्डलिनी को जमा कर। मध्यमा को मुक्त कर।
क्रमशः भेद साध कर। षड्चक्रों का ।।१०३८।।

सहस्रदल को जलद। दिव्यामृत का करते सिंचन।
उसे मूलबंधपर्यन्त। लाते नीचे ।।१०३९।।

आज्ञाचक्र के पुण्यगिरि पर। नाचते स्वानन्द भर कर।
परोसते चिद् भैरव के खपरैल पर। खिचड़ी मन प्राण की ।।१०४०।।

करते ऐसे योगाभ्यास। जो पूरा होते अनायास।
ध्यान उसके पीछे स्वयमेव। खड़ा होता ।।१०४१।।

योगसाधना तथा ध्यान। निर्विघ्न कर सम्पन्न।
प्राप्त करने आत्मज्ञान। धनुर्धर जिसने —।।१०४२।।

पहले ही जोड़ रखा। वैराग्य जैसा सखा।
वह सर्वथा एकसरीखा। चलता साधकोंसहित ।।१०४३।।

वस्तु खोजने भ्राता। हाथ में हो पलीता।
तो कैसी असमर्थता। खोजने में ? ।।१०४४।।

वैसे मोक्षपथ पर जो प्रवृत्त। उसे 'सोऽहं' वृतिपर्यन्त।
वैराग्य का मिलते साथ। भय न होता कोई ।।१०४५।।

ऐसे हो वैराग्ययुत। ज्ञानाभ्यास में जो रत।
वह आत्मलाभ का निश्चित। साचा अधिकारी ।।१०४६।।

यह वैराग्य कवच निरंतर। देह पर धारण कर।
राजयोग के अश्व पर। आरूढ़ जो ।।१०४७।।

उसका मार्ग जो रोकता। उसे विखंडित कर देता।
विवेक-मुट्ठी में थामता। ध्यान-खड्ग जो ।।१०४८।।

फिर सूर्य जैसे अँधेरे में। वैसे घुसता संसार-रण में।
हस्तगत कर लेने। विजयश्री मोक्ष की ।।१०४९।।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। ५३ ।।

दोष वैरी रोकने आये। सबको मार गिराये।
उनमें देह अहंकार पाये। स्थान अग्रणि ।।१०५०।।

जो न मार कर छोड़ता। जन्म देकर जीने न देता।
अस्थिपंजर में बंद कर देता। बड़ी घुटन ।।१०५१।।

देह दुर्ग उसका घर। उसे जीतना ढहा कर।
दूजे वैरी का मर्दन। बल नाम जिसका ।।१०५२।।

नाम सुनते विषय का। बढ़ता चौगुना प्रभाव जिसका।
जिससे होता विश्व नीका। मरणप्राय ।।१०५३।।

वह देह विषय विष का। राजा सभी दोषों का।
पर आघात ध्यान खड्ग का। उसे होता असह्य ।।१०५४।।

प्रिय विषय जब मिलता। मन में बड़ा सुखी होता।
उसे ओढ़-ओढ़ फिरता। सर्वत्र जो ।।१०५५।।

सन्मार्ग से भटका देता। अधर्म वन में ले जाता।
नरकादिक शेरों से चखाता। साधक को जो ।।१०५६।।

दर्प रूपी वैरी को ऐसे। मारता जो निश्चय से।
और शिखपर्यन्त नख से। थर्राता तापसियों को ।।१०५७।।

वह क्रोध भयंकर। उसका परिणाम घोर।
तृप्त करते बार-बार। अतृप्त जो सदा ।।१०५८।।

वह काम शत्रु दुर्धर। यकायक गिराते मार।
सहज होता संहार। क्रोध का भी ।।१०५९।।

जैसे उखाड़ते ही मूल। शाखाएँ सूखतीं सकल।
वैसे काम को करते निर्मूल। क्रोध भी मर जाता ।।१०६०।।

अतः यह काम बैरी। जिसने मारा, धनुर्धारी।
उस पर क्रोध की बारी। आती ही नहीं ।।१०६१।।

राजा जिस पर बेड़ी डालता। उसके सिर पर बोझ देता।
वैसे परिग्रह लादता। भार मनुष्य पर ।।१०६२।।

जो विरक्त पर हो सवार। जगाता उसके अवगुण।
और चलाता लाठी देकर। ममत्व की ।।१०६३।।

मेरा यह शिष्य-परिवार। ग्रंथ मठ पर मेरा अधिकार।
इस ममत्वबोध का भार। निस्संग पर लादता ।।१०६४।।

परिवार से तो निकलता। पर वन में वन्य हो उतरता।
दिगम्बर के भी रहता। चिपका शरीर से ।।१०६५।।

ऐसा अजेय जो परिग्रह। उसका तोड़कर निवासगृह।
संसार विजय का उत्साह। भोगता जो ।।१०६६।।

वहाँ अमानित्वादि सकल। ज्ञान गुणों के मण्डल।
आते मानो भूपाल। कैवल्य देश के ।।१०६७।।

और सम्यक् ज्ञान का जो आधिपत्य। उससे समर्पण कर सत्य।
उसके परिजन बन नित्य। रहते जो ।।१०६८।।

प्रवृत्ति के राजपथ में, भैया। अवस्थारूपी सभी स्त्रियाँ।
उतारतीं राई नोन ले बलैया। निजसुख की उसपर ।।१०६९।।

फिर बोध यष्टि ले आता। विवेक दृश्य भीड़ हटाता।
आरती उतारती योगावस्था। जैसे उसकी ।।१०७०।।

ऋद्धि-सिद्धि के समस्त। समुदाय होते एकत्रित।
उनकी पुष्पवृष्टि में पार्थ। नहा लेता वह ।।१०७१।।

परब्रह्म से एकता। यही स्वराज्य मिलता।
त्रैलोक्य सारा दिखता। हर्षपूर्ण ।।१०७२।।

तब यह मित्र वह बैरी। ऐसा मानने, धनुर्धारी।
मन में समानता वाकई। शेष नहीं होती ।।१०७३।।

किसी भी निमित्त से। अपना कह सके जिसे।
कोई द्वैत रहता न ऐसे। अद्वैतमय हो जाता ।।१०७४।।

अपनी ही सत्ता से पार्थ। जो हो गया सर्वव्याप्त।
अनायास उसने ममत्व। छोड़ा जानो ।।१०७५।।

अहंकारादि शत्रुओं को जीता। विश्व में देखी एकरूपता।
तो अनायास दौड़ना रुकता। योगरूपी अश्व का ।।१०७६।।

वैराग्य कवच जो भ्राता। देह पर दृढ़ धरा होता।
उसे कुछ ढीला करता। ऐसे में ।।१०७७।।

अन्य कुछ सामने न होता। ध्यान-खड्ग का काम न रहता।
अतः हाथ प्रवृत्ति का। खींच लेता कुछ ।।१०७८।।

जैसे साचा रसायन। अपना कार्य कर सम्पन्न।
करता अस्तित्व का विलयन। वैसे होता ।।१०७९।।

पहुँचते गंतव्य स्थान। चलना रोकते चरण।
वैसे अभ्यास रुकता पूर्ण। ब्रह्मपद पाते ।।१०८०।।

संगम होते सागर से। गंगा वेग छोड़ती जैसे।
या प्रिया, प्रिय के सहवास से। होती स्थिरचित्त ।।१०८१।।

जब कदली में, फल आता। उसका बढ़ना रुक जाता।
या गाँव आते समाप्त होता। मार्ग आगे ।।१०८२।।

वैसे आत्मसाक्षात्कार। जब होता है धनुर्धर।
तब साधना का शस्त्र। साधक धीरे से छोड़ता ।।१०८३।।

अतः ब्रह्म के साथ एकता। जब साधक पा लेता ।
तब भाटा आने लगता। साधनों में ।।१०८४।।

फिर जो संध्या वैराग्य की। वृद्धता ज्ञानाभ्यास की ।
परिपक्वता योगफल की। आती ऐसी अवस्था ।।१०८५।।

वही पार्थ साची शांति। जिसके पूर्णतः हाथ आती ।
उसे ही योग्यता प्राप्त होती। होने ब्रह्मरूप ।।१०८६।।

पूनम से चन्द्र चौदस का। जितना होता अधूरा ।
या सोना पंद्रह कसौटी का। सोलह वाले से ।।१०८७।।

पानी सागर की ओर दौड़ता। तभी तक गंगा कहलाता ।
जो शान्त प्रशान्त होता। वही सागर ।।१०८८।।

ब्रह्म तथा ब्रह्मपात्रता। इनका भेद वैसे भ्राता ।
पूर्ण शान्ति पाते नष्टता। वही भेद ।।१०८९।।

ब्रह्मरूप हुए बिन। प्रतीत जो ब्रह्मपन ।
वही पात्रता, अर्जुन। ब्रह्मपद की ।।१०९०।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।। ५४ ।।

ब्रह्म होने की पात्रता। जिसमें आ गयी भ्राता ।
आत्मबोध की प्रसन्नता। उसमें आती ।।१०९१।।

उष्णता से सिझना अन्न। वह होती जब क्षीण ।
आस्वाद करता प्रसन्न। उस अन्न का ।।१०९२।।

वर्षा में आया महापूर। शरद में होता दूर ।
गीत समाप्ति पर थमते स्वर। जैसे वाद्यों के ।।१०९३।।

वैसे पाने आत्मबोध। कष्ट किये जो नानाविध ।
वे होते सर्वथा प्रशान्त। जिस अवस्था में ।।१०९४।।

आत्मबोध की प्रसन्नता। कहते जिसे, भारता ।
भोगने वह अवस्था। वही अधिकारी ।।१०९५।।

कुछ खोने पर रोयें। पाने के लिये छटपटाएँ ।
यह सर्वत्र समभाव से। समाप्त होता ।।१०९६।।

जैसे सूर्योदय होते ही। नक्षत्र गगन माहीं ।
अपने तेज के समवेत ही। विलुप्त होते ।।१०९७।।

वैसे पाते आत्मानुभव। भूतमात्र के प्रति भिन्नभाव ।
लुप्त होकर, हे पांडव। दिखती सर्वत्र एकता ।।१०९८।।

तख्ती पर लिखे अक्षर। हाथ से मिटाना सुकर ।
वैसे मिटते भेद अंतर। उसकी दृष्टि से ।।१०९९।।

जागृति तथा स्वप्न में। विपरीत ज्ञान आते मति में ।
वे दोनों अव्यक्त माया में। विलीन होते सर्वथा ।।११००।।

फिर वह अव्यक्त अज्ञान। बोध बढ़ते होता क्षीण ।
आत्मबोध के होते पूर्ण। समाप्त अज्ञान होता ।।११०१।।

कौर पर कौर खाते। भूख जैसे जाती मिटते ।
अन्नतृप्ति पूरी होते। भूख होती समाप्त ।।११०२।।

एकेक चरण बढ़ता। अंतर कम होते जाता ।
निवासस्थान जैसे आता। मार्ग होता समाप्त ।।११०३।।

धीरे-धीरे खुलती आँख। नींद से आती जाग ।
पूरी तरह जाते जाग। नींद होती समाप्त ।।११०४।।

चन्द्र जब पूरा बढ़ता। उसका बढ़ना रुक जाता ।
शुक्ल पक्ष हो जाता। समाप्त तभी से ।।११०५।।

वैसे बांध्य का लोप होकर। प्रत्यक्ष बोध ही पाकर ।
मुझमें विलीन होते, वीर। अज्ञान लोपता ।।११०६।।

कल्पान्त का समय आता। तो नदी सागर भेद लोपता ।
फिर सर्वत्र फैल जाता। पानी ही पानी ।।११०७।।

लोप होते घट मठ। आकाश रहता सुघट ।
या काष्ठ से जलाते काष्ठ। रहता केवल अग्नि ।।११०८।।

गहने अलंकार भिन्न। पर भट्ठी में गलाते पूर्ण ।
मिटकर नामोनिशान। केवल सुवर्ण रहता ।।११०९।।

अस्तु सोया जाग जाता। नहीं रहती स्वप्नावस्था ।
आप अकेला सर्वथा। रहता जैसे ।।१११०।।

वैसे मेरे बिन किसी का भी। जिसे कोई भान नहीं ।
उसे मिलती मुझमें ही। चौथी भक्ति सर्वोत्तम ।।११११।।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी। तीनों की त्रिविध भक्ति ।
अतः यह चौथी भक्ति। कही यहाँ ।।१११२।।

अन्यथा यह न प्रथम दूसरी। या नहीं चौथी तीसरी ।
सहज अवस्था जो मेरी। वही भक्ति जानो ।।१११३।।

जो मेरे विषय में अज्ञान। प्रकट कर विपरीत ज्ञान ।
सबसे मेरा भजन। करवा लेती ।।१११४।।

जो जहाँ देखता जैसे। उसे वहाँ दिखता वैसे ।
तथा जिस अखंड प्रकाश से। यह शरीर भासमान ।।१११५।।

अपने ही अस्तित्व के कारण। दिखते या न दिखते स्वप्न ।
वैसे जिस प्रकाश से अर्जुन। उदयास्त विश्व का ।।१११६।।

वह मेरा सहज प्रकाश। जो सर्वथा निर्विशेष ।
उत्तम भक्ति, गुडाकेश। उसका नाम यहाँ ।।१११७।।

आर्त में भक्ति यही। रहती आर्तता बन कर ही ।
तथा अपेक्षणीय हो जो भी। वह भी यही होती ।।१११८।।

यही जिज्ञासु में, सुभद्रापति। जिज्ञासा बन कर रहती।
और ज्ञेय जो भी बात होती। भक्ति होती यही ।।१११९।।

यही भक्ति अर्थसाधन। तथा अर्थार्थी बन।
अर्थ का अभिधान। देती मुझे ।।११२०।।

ऐसे ओढ़ कर अज्ञान। मेरी भक्ति करती वर्तन।
मुझ द्रष्टा को अर्जुन। दृश्य बना देती ।।११२१।।

दर्पण में देखते, भ्राता। दूसरा मुख दिखाई देता।
यह मुख की मिथक द्विविधता। बनाता दर्पण ।।११२२।।

गगन में होता एक चन्द्र। दो का आभास होता पर।
करता यह चमत्कार। तिमिर रोग नेत्र का ।।११२३।।

वैसे होता इस भक्ति के कारण। मुझे अपना ही आकलन।
पर दृश्यत्व प्राप्त मुझे अर्जुन। केवल अज्ञान से ।।११२४।।

वह अज्ञान अब समाप्त। मेरा द्रष्टापन मुझे प्राप्त।
निजबिम्ब में समाहित। प्रतिबिम्ब जैसे ।।११२५।।

यद्यपि मिलाया जाता अशुद्ध। मूल सुवर्ण तो रहता, पार्थ।
किन्तु जल जाता जब अशुद्ध। शुद्ध सुवर्ण रहता ।।११२६।।

क्या पूनम से पूर्व सुधाकर। पूर्ण नहीं होता वीर ?।
पौर्णिमा को ही पाता पर। साची पूर्णता ।।११२७।।

वैसे ज्ञानमार्ग पर चलता। तो मैं ही मुझे देखता।
फिर द्रष्टापन जब लोपता। मैं पाता अपने को ।।११२८।।

अतः दृश्यमार्ग से, अर्जुन। जो सर्वथा होता भिन्न।
वह यही चौथा जान। भक्तियोग ।।११२९।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। ५५ ।।

इस ज्ञानभक्ति के बल से। जिसका ऐक्य होता मुझसे ।
वह मद्रूप होता इसे। जानते हो तुम ।।११३०।।

ज्ञानी मेरा आत्मा राजा। यह मैं उठा कर भुजा ।
सातवें अध्याय में, कपिध्वजा। कह चुका हूँ सुस्पष्ट ।।११३१।।

कल्पारम्भ में भागवत में, पार्थ। यही ज्ञानभक्ति सर्वोत्कृष्ट ।
कही थी मैंने सुस्पष्ट। ब्रह्मदेव से ।।११३२।।

ज्ञानी इसे स्वसंवित्ति। शैव कहते इसे शक्ति ।
हम तो इसे परम भक्ति। कहते पार्थ ।।११३३।।

यही क्रम योगियों में। मद्रूप होने के समय में ।
प्रकट होकर सर्व रूप में। मद्रूप करती विश्व को ।।११३४।।

तब वैराग्य विवेक समेत। लोपते बंध मोक्ष सहित ।
वृत्ति आत्मज्ञान के साथ। डूब जाती सर्वथा ।।११३५।।

इस पार- उस पार भेद समस्त। जिस भक्ति से होता निरस्त ।
और जैसे आकाश अवशिष्ट। चारों भूतों को व्याप कर ।।११३६।।

वैसे साध्य साधनातीत। जो विशुद्ध अत्यंत ।
वह मद्रूप करके प्राप्त। मेरी भक्ति करता ।।११३७।।

गंगा, सागर से कर मिलन। समुद्र रूप में शोभायमान ।
वैसे पाकर अद्वैतपन। होती जो भक्ति ।।११३८।।

स्वच्छ करके दर्पण को। दूसरा दर्पण दिखाया उसको ।
वैसे मद्रूप हो गया जो। सुख भोगता भक्ति का ।।११३९।।

दर्पण को हटाते ही। मुखबोध होता लुप्त ही ।
फिर मुख को प्राप्त क्षण माहीं। आनन्द स्वरूप का ।।११४०।।

जाग जाते स्वप्न नष्टता। अपना ऐक्य दिखाई देता ।
उसे द्वैत के बिना भोगता। जैसे अपना आप ।।११४१।।

भोक्ता ही होता भोग्य जब। सर्वथा न होता भोग तब ।
कैसे होता यह करतब। जैसे शब्दोच्चार शब्द से ।।११४२।।

अबोधों के गाँव में पार्थ। दीप से सूर्य आलोकित ।
क्या आकाश को बिठा पावत। मंडवे मे वे ? ।।११४३।।

राजापन न हो मन में। राजसत्ता को कैसे भोगें ? ।
कैसे तिमिर आलिंगन करे। दिनकर का ।।११४४।।

जो स्वयं न बने आकाश। कैसे समझेंगे क्या आकाश ।
क्या रत्तिमाला, गुडाकेश। बनती रत्नालंकार ।।११४५।।

जो मत्स्वरूप हुआ नहीं। मेरा स्थान वह समझा नहीं ।
फिर मेरी भक्ति करने वही। समर्थ होगा कैसे ? ।।११४६।।

अतः वह क्रमयोगी। मत्स्वरूप में मेरा भोगी ।
जैसे यौवन को तन्वंगी। भोगती देह से ।।११४७।।

जल तरंग के सर्वांग में। प्रभा सर्वत्र सूर्यबिम्ब में ।
अथवा अवकाश आकाश में। सर्वत्र जैसे ।।११४८।।

वैसे मद्रूप जो होता। क्रियाबिन मुझे भजता ।
सहज सोने में रहता। अलंकार जैसे ।।११४९।।

जैसे चन्दन की सुगंध। चन्दन में रहती बंद ।
या बनता निवास चन्द्र। सहज चन्द्रिका का ।।११५०।।

वैसे क्रिया यदपि न सहती। अद्वैत में भक्ति ही होती ।
इसे जानें, लें प्रतीति। यह कहने से अगम्य ।।११५१।।

तब पूर्व संस्कार के कारण। जो बोलता वह वचन ।
उसे मान कर आराधन। उत्तर देता हूँ ।।११५२।।

जहाँ वक्ता-वक्ता से मिलता। वहाँ कौन कैसे बोलता ।
वहाँ मौन ही हो जाता। मेरा उत्तम स्तवन ।।११५३।।

अतः वह जब बोलता। शब्दरूप में ही मिलता।
तो उसका शब्द मौन होता। वही स्तुति मेरी साची ।।११५४।।

बुद्धि अथवा दृष्टि से। जो-जो ज्ञातव्य होता उसे।
ज्ञेय दृश्य वह खो जाने से। ज्ञाता द्रष्टा हो जाता ।।११५५।।

दर्पण से पहले जैसे। देखने वाला मुख होता है।
उसका दर्शन वैसे। होता द्रष्टा को ।।११५६।।

दृश्य वस्तु को छोड़ अर्जुन। द्रष्टा, द्रष्टा के करता दर्शन।
तब न रहता द्रष्टापन। कारण एकत्व के ।।११५७।।

स्वप्न में देखी प्रिया। जागते उसे गले लगाया।
पति पत्नी भेद जाकर, भैया। रहता अकेला ही ।।११५८।।

करते घर्षण दो काष्ठों का। अग्नि उत्पन्न होता।
दोनों के जल जाने पर भ्राता। रहता अकेला ही ।।११५९।।

अथवा प्रतिबिम्ब को अपने। सूर्य चला पकड़ने।
तो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भेद जानें। विलुप्त ही ।।११६०।।

वैसे जो मद्रूप बन। लेता दृश्य का दर्शन।
वहाँ दृश्य के साथ द्रष्टापन। लोप हो जाता ।।११६१।।

तम को देता रवि प्रकाश। तो न रहता तम प्रकाश्य।
वैसे, मद्रूप होते गुडाकेश। दृश्य-द्रष्टा कहाँ ? ।।११६२।।

फिर देखना या न देखना। कुछ भी न रहता अर्जुना।
वही मेरा दर्शन बना। वाकई पार्थ ।।११६३।।

वह तो उसे हर वस्तु में पाता। जिसे भी वह देखता।
जब दृष्टि मिलती सर्वथा। द्रष्टा-दृश्य परे की ।।११६४।।

जैसे आकाश से आकाश। पूरा भरा होता अशेष।
वैसे मद्रूपता से, गुडाकेश। होती अवस्था ।।११६५।।

कल्पान्त के समय। होता विश्व जलमय।
वैसे आत्मभाव विश्वमय। दिखता उसे ।।११६६।।

पाँव स्वयं पर कैसे चढ़ेगा। अग्नि स्वयं को कैसे जलायेगा।
पानी से नहायेगा। पानी कैसे ।।११६७।।

मेरी सर्वव्यापकता के कारण। रुकता जो आवागमन।
वही जानो तीर्थाटन। अद्वैतात्मक देव का ।।११६८।।

जल पर उठी तरंग। दौड़ती लेकर वेग।
नहीं धोती भूभाग। वह कदापि ।।११६९।।

जिसका गंतव्य प्रस्थान। और चलने को चरण।
होता सब कुछ, अर्जुन। पानी ही पानी ।।११७०।।

ऐसी तरंग, भ्राता। दौड़ी भी स्वभावतः।
उसकी जलैकात्मता। नहीं टूटती कदापि ।।११७१।।

वैसे जो मद्रूप हुआ। वह मुझको प्राप्त हुआ।
इस तीर्थाटन से हुआ। मेरा तीर्थयात्री ।।११७२।।

और शरीरधर्म के कारण। उसने किया कर्माचरण।
तो भी उसे मिला, अर्जुन। मद्रूप ही जानो ।।११७३।।

फिर कर्म तथा कर्ता। यह भेद नहीं रहता।
आत्मरूप में मुझे दिखता। और होता मद्रूप ।।११७४।।

दर्पण का दर्पण को देखना। नहीं कहलाता देखना।
जैसे सोने से सोने को ढँकना। ढँकना न होता ।।११७५।।

दीप से दीप को प्रकाश देना। होता न आलोकित करना।
वैसे मद्रूप हो कर्म करना। कोई क्रिया नहीं ।।११७६।।

करते सारा कर्माचरण। कर्त्तव्य का न हो अभिमान।
तो उस कर्म को, अर्जुन। जानो अकर्म ही ।।११७७।।

करते मद्रूप कर्माचरण। क्रिया होती अकरण।
वही सर्वोत्तम पूजन। जानो मेरा ।।११७८।।

सकल कर्म करते हुए। कर्ताबोध मन से जाये।
तो वह करना कहलाये। महापूजा मेरी ।।११७९।।

वह बोलेगा वही मेरा स्तवन। देखेगा वही मेरा दर्शन।
चलेगा वही तीर्थाटन। मुझ अद्वय का ।।११८०।।

वह करेगा वही पूजन। सोचेगा वही जप जाप पठन।
उसकी अवस्था, अर्जुन। जानो समाधि मेरी ।।११८१।।

सुवर्ण तथा कंकण। जैसे परस्पर अभिन्न।
इस भक्तियोग से अनन्य। वह मेरे लिये वैसे ।।११८२।।

तरंग जैसे उदक से। परिमल कपूर से।
अथवा तेज रत्न से। अभिन्न सर्वथा।।११८३।।

अथवा पट तंतु से। मृत्तिका घट से।
मेरा भक्त मुझसे। वैसे एकरूप ।।११८४।।

यह अनन्य भक्ति कराती। भूतमात्र में मेरी प्रतीति।
मद्रूप भक्त भलीभाँति। जानते यह बात ।।११८५।।

जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति में। स्थूल, सूक्ष्म स्वरूप में।
सभी व्यक्ताव्यक्त में। प्रकटता दृश्य जो ।।११८६।।

वह मैं ही होता पूर्णतः। यह द्रष्टाबोध पाता।
स्वानुभव ध्वज फहराता। तब भक्त मेरा ।।११८७।।

रज्जु होते दृग्गोचर। पूर्वभासित सर्पाकार।
रज्जुबोध से, धनुर्धर। जाता जैसे ।।११८८।।

सोने से पृथक् रत्ती भर। नहीं कोई अलंकार।
इस निश्चय के होते स्थिर। अलंकार लोपते ।।११८९।।

उदक से सर्वथा भिन्न ही। तरंग का अस्तित्व नहीं।
यह ज्ञान होते रहता नहीं। भ्रम आकार का ।।११९०।।

स्वप्न में जो-जो दिखता। जागने पर नहीं होता।
अपने से भिन्न तत्त्वतः। दिखता न कुछ भी ।।११९१।।

वैसे अस्ति-नास्ति रूप में। जो ज्ञेय प्रेरणा मन में।
उसे अनुभव कर मुझमें। आन्नद भोगता जीव ।।११९२।।

मैं अजन्मा तथा अमर। मैं अक्षय तथा अक्षर।
मैं अपूर्व आनन्द अपार। यह भी वह जानता ।।११९३।।

अचल, मैं अच्युत। मैं अनंत, अद्वैत।
अव्यक्त मैं, व्यक्त। आद्य भी मैं ।।११९४।।

मैं ईशितव्य, मैं ईश्वर। अनादि मैं, अमर।
अभय मैं, आधार। आधारित भी ।।११९५।।

मैं स्वामी दिनरात। मैं सहज, मैं सतत।
सर्व मैं, सर्वगत। सर्वातीत मैं ।।११९६।।

मैं नूतन, मैं पुराण। मैं शून्य, मैं सम्पूर्ण।
जो लघु तथा महान। वह मैं ही ।।११९७।।

अक्रिय मैं एक। असंग मैं अशोक।
व्याप्य तथा व्यापक। पुरुषोत्तम मैं ।।११९८।।

अशब्द मैं अश्रोत्र। अरूप मैं अगोत्र।
सम मैं तथा स्वतंत्र। परब्रह्म मैं ।।११९९।।

इस अद्वैत भक्ति से भ्राता। जो निज को मद्रूप देखता।
उस बोध का भी ज्ञाता। मानता मुझे ।।१२००।।

स्वप्न का एकाकीपन, पार्थ। हो जाने पर जागृत।
कुछ क्षणपर्यन्त। मन • में बना रहता ।।१२०१।।

निज प्रकाश से सूर्य। स्वयं को करता प्रकाशमय।
प्रकाश एवं प्रकाश्य। होता एक ही ।।१२०२।।

ज्ञेय सारा विलीन होता। तो ज्ञाता अकेला शेष रहता।
इसका ज्ञान भी रखता। केवल ज्ञाता ही ।।१२०३।।

वह अपनी अद्वयता। जिस ज्ञान से जान लेता।
वह ज्ञान ईश्वर होता। यह करता प्रतीत ।।१२०४।।

आत्मा द्वैताद्वैतातीत। मैं ही यह ज्ञान निभ्रान्त।
विलीन होता पार्थ। उस प्रतीति में ।।१२०५।।

जागने पर एकाकीपन। प्रतीत होता अर्जुन।
उसके जाते, थे कौन। भ्रम हो जाता ।।१२०६।।

अलंकार है सुवर्ण। प्रतीत होता जिस क्षण।
बिना गलाये गालन। तत्क्षण होता उसका ।।१२०७।।

लवण द्रवरूप होता। पर शेष रहती क्षारता।
समाप्त होते द्रवता। मिलता लवण ।।१२०८।।

वैसे 'मैं-वह' का भेद। सर्वथा होता लुप्त।
जब प्रतीत कर आत्मानन्द। भक्त मद्रूप होता ।।१२०९।।

जहाँ 'वह' का भाव जाता। वहाँ 'मैं' का भाव भी न रहता।
'मैं-वह' भाव जिसमें न रहता। उस मद्रूप को पाता वह ।।१२१०।।

कपूर जब जल जाता। तो अग्नि भी बुझ जाता।
दोनों से जो भिन्न होता। शेष केवल आकाश ।।१२११।।

एक को घटाते एक से। शेष शून्य रहता जैसे।
अस्ति-नास्ति को हटाते वैसे। शेष मैं अकेला ।।१२१२।।

मुझमें ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर। इन शब्दों का नहीं ठोर।
और मौन का भी पार। नहीं होता ।।१२१३।।

मौन भी जहाँ हो निर्वच। मुखर हो जाये साच।
बोधाबोध के परे सचमुच। जानें उसे ।।१२१४।।

वहाँ बोध को जानें बोध से। आन्नद भोगें आन्नद से।
सुख भोगे सुख से। निरन्तर ।।१२१५।।

वहाँ लाभ को लाभ होता। प्रकाश को प्रकाश मिलता।
विस्मय खड़े-खड़े डूबता। विस्मय-दह में ।।१२१६।।

वहाँ शम होता प्रशान्त। विश्राम होता विश्रान्त।
अनुभव होता भ्रमित। अनुभव से ।।१२१७।।

क्रमयोग की सुन्दर वेल। सेवन करते सर्वकाल।
प्राप्त होता रसीला फल। मद्रूपता का ।।१२१८।।

क्रमयोग चक्रवर्ती योगों का। मैं चिद्रत्न उसके मुकुट का।
तथा क्रमयोगी मेरे किरीट का। हीरा जानो ।।१२१९।।

अथवा क्रमयोग है मन्दिर। मोक्ष जिसका विशाल शिखर।
और क्रमयोगी है पवित्र। आकाश शिखर का ।।१२२०।।

संसारवन में, पार्थ। क्रमयोग का उत्तम पथ।
पहुँचा देता निश्चित। गाँव मद्रूपता के ।।१२२१।।

क्रमयोग में प्रवाहित होती। भक्तिज्ञान की गंगा बहती।
मेरे स्वानंद सागर में मिलती। सुनिश्चय से ।।१२२२।।

ऐसे यह क्रमयोग, अर्जुन। है अत्यंत महत्त्वपूर्ण।
अतः किया निदेन। उसका बार बार ।।१२२३।।

मुझे पाने के लिये, पार्थ। देशकालादि साधन व्यर्थ।
वे अनावश्यक निरर्थ। मैं सबके निमित्त लय ।।१२२४।।

मेरी प्राप्ति करने हित। कतई न चाहिये कष्ट।
क्रमयोग ही उपाय, पार्थ। मुझे पाने का ।।१२२५।।

गुरुशिष्यों का सम्बन्ध। विश्व में हुआ प्रचलित ।
जिसे जानने यह निश्चित। मार्ग मेरी प्राप्ति का ।।१२२६।।

निधान पृथ्वी-गर्भ में। अग्नि होता काष्ठ में ।
तथा दूध स्तन में। स्वयंसिद्ध ।।१२२७।।

किन्तु उन्हें पाने। उपाय पड़ते करने ।
वैसे मुझे भी पाने। उपाय आवश्यक ।।१२२८।।

फल बताने के अनन्तर। उपाय बताता श्रीधर ।
अभिप्राय यहाँ पर। है ऐसा ।।१२२९।।

गीतार्थ में उत्तम गुण। कि वह मोक्ष का ही साधन ।
अन्य शास्त्र स्वयंप्रमाण। उपाय नहीं मोक्ष के ।।१२३०।।

पवन बादल को उड़ाता। पर सूर्य को नहीं बनाता ।
हाथ सिवार हटाता। जल बनाता नहीं ।।१२३१।।

वैसे आत्मदर्शन-मग माहीं। अविद्या मैल आता नित्य ही ।
शास्त्र उसे हटाते, भाई। स्वयंप्रकाशी निर्मल मैं ।।१२३२।।

अतः ये शास्त्र सकल। अविद्या को करते विकल ।
पर आत्मबोधदायक बल। उनमें नहीं ।।१२३३।।

उस अध्यात्म शास्त्र को। अपनी सत्यता जताने को ।
शरण आना पड़ता जिसको। वह गीता यही ।।१२३४।।

सूर्योदय होते पूर्व में। प्रकाश फैलता दिशाओं में ।
वैसे सब शास्त्रों का जगत में। आधार शास्त्रेश्वर गीता ।।१२३५।।

यह गीता शास्त्रेश्वर। पहले नाना प्रकार ।
उपाय बता चुका सविस्तार। सहज आत्मप्राप्ति के ।।१२३६।।

पर उनका एक बार ही श्रवण। पार्थ को न देगा ज्ञान ।
ऐसे कृपालुता से मान। लिया श्रीहरि ने ।।१२३७।।

अतः उसी ज्ञान से निश्चित। अर्जुन को करने अवगत ।
पुनः एक बार संक्षिप्त। निवेदन करता श्रीहरि ।।१२३८।।

और यह समग्र गीता ग्रंथ। होगा अब परिसमाप्त ।
अतः दिखाई साद्यन्त। एकार्थता उसकी ।।१२३९।।

अथवा ग्रंथ के मध्य में। नानाविध प्रसंगों में ।
अनेक सिद्धान्त इसमें। किये जो निरूपित ।।१२४०।।

वे नानाविध सिद्धान्त। इस शास्त्र में है अनुस्यूत ।
ऐसा कोई मानेंगे भ्रान्त। बिना जाने सन्दर्भ ।।१२४१।।

अतः महासिद्धान्त में एक। गूँथ कर सिद्धान्त अनेक ।
यहाँ किया समापन नेक। गीता शास्त्र का ।।१२४२।।

अविद्या का विनाशन। मोक्षफल करता प्रदान ।
दोनों का एक ही साधन। बताया ज्ञान यहाँ ।।१२४३।।

नाना प्रकार से यही ज्ञान। सविस्तार कर प्रतिपादन ।
यहाँ बताये कर संकीर्ण। सार-संक्षेप ।।१२४४।।

यही सोच पा उपेय। कहने के लिये उपाय ।
प्रवृत्त हुए सहृदय। भगवान यहाँ ।।१२४५।।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। ५६ ।।

फिर कहने लगे श्रीकृष्ण। यह निष्ठा कर धारण ।
कर्मयोगी होता विलीन। सर्वथा मुझमें ।।१२४६।।

स्वकर्मपुष्प से कर पूजन। मुझे कर लेता प्रसन्न ।
ज्ञाननिष्ठा का पा प्रसाद। कृतार्थ वह होता ।।१२४७।।

ज्ञाननिष्ठा मिली जिसे बिंदास। उसे मेरी भक्ति का उल्लास ।
भजन में होकर समरस। परम सुख पाता ।।१२४८।।

विश्व जिससे प्रकाशित। चराचर में है व्याप्त।
उस मुझे अनुसरत। निजरूप में ।।१२४९।।

अपनी घनता छोड़। जल में घुलता लवण।
या वायु कर सर्वत्र भ्रमण। नभ में स्थिर होता ।।१२५०।।

वैसे काया, वाचा, मन से। जो रहता मेरे आश्रय से।
निषिद्ध कर्म होता उससे। यदि अनजाने में ।।१२५१।।

फिर भी गंगा में मिलते। नदी नाले एक हो जाते।
वैसे आत्मबोध से होते। शुभाशुभ कर्म एकरूप ।।१२५२।।

सूखी टहनी और चन्दन। तभी तक रहते भिन्न।
जब तक न करता आलिंगन। अग्नि दोनों का ।।१२५३।।

अशुद्ध-शुद्ध सुवर्ण। तभी तक रहते भिन्न।
जब तक न होता मिश्रण। दोनों का ।।१२५४।।

शुभ-अशुभ भी वैसा। तभी तक लगता भिन्न-सा।
जब तक न सबमें एक-सा। प्रकाशित मैं ।।१२५५।।

दिन और रात, भ्राता। यह भेद तभी तक रहता।
जब तक न गाँव में फैलता। सूर्य का प्रकाश ।।१२५६।।

अतः होते ही मुझसे भेंट। उसके कर्म होते समाप्त।
और सायुज्य पद प्राप्त। होता उसे ।।१२५७।।

देशकाल स्वभाव से, पांडव। जिसका विनाश नहीं सम्भव।
उस अविनाशी पद का ठाँव। वह पा लेता ।।१२५८।।

परमात्मा की प्रसन्नता। जिसे प्राप्त होती, भ्राता।
उससे बढ़ कर क्या हो सकता। लाभ इस जगत में ।।१२५९।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।। ५७ ।।

अतः अपना कर्मसमुदाय। बिना कोई प्रत्यवाय ।
मुझमें करो हर समय। समर्पित ।।१२६०।।

यह कर्मसंन्यास धनुर्धारी। न हो सतही, ऊपरी ।
विवेक में कृतियाँ सारी। कर एकाग्र करो इसे ।।१२६१।।

फिर आत्मानात्म-विवेक से। निजस्वरूप भिन्न कर्म से ।
मुझमें पराबुद्धि से। देखोगे अति निर्मल ।।१२६२।।

सकल कर्मों का जन्मस्थान। आत्मरूप का अज्ञान ।
उसे पाओगे अत्यंत भिन्न। अपने से निराला ।।१२६३।।

होकर वह माया तब स्वयं। अशेष देखोगे धनंजय ।
जैसे रूप से उसकी छाया। न होती भिन्न ।।१२६४।।

ऐसे होते ज्ञानोदय। अज्ञान आमूल होता लय ।
कर्मसंन्यास निरामय। अनायास पूर्ण होता ।।१२६५।।

यों विवेक से कर्म लोपता। तो केवल आत्मा शेष रहता ।
वहाँ बुद्धि पतिव्रता। बन कर रहे ।।१२६६।।

ऐसे अनन्य बुद्धि अर्जुन। जब गहती मेरी शरण ।
चित्त छोड़ अन्य चिन्तन। भजन करता मेरा ।।१२६७।।

चित्त सारा चिन्त्य तज कर। रहे मुझमें लीन होकर ।
ऐसा जतन धनुर्धर। करो सदैव ।।१२६८।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ।। ५८ ।।

ऐसे अभेद भक्ति से पांडव। चित्त मद्रूप होगा तब ।
मेरी सम्पूर्ण कृपा तब। हुई जानो ।।१२६९।।

फिर जन्म तथा मरण। जो सकल दुखों का सदन ।
होगा अत्यंत सुखपूर्ण। तुम्हारे लिये ।।१२७०।।

सूर्य-तेज की सहाय। आँखों को मिल जाय।
तो तम की धनंजय। बिसात ही क्या ।।१२७१।।

वैसे मेरी कृपा कर प्राप्त। जो जीवत्व से मुक्त।
उसमें कैसे रहेगा, पार्थ। भय संसार का ।।१२७२।।

इसीलिये, सुभद्रापते। मेरी कृपा को पाते।
संसार की दुरवस्था से। तर जाओगे ।।१२७३।।

अथवा अहंकारवश। मेरा कथन, गुडाकेश।
सुनोगे नहीं अवश। या टालोगे मन से ।।१२७४।।

तो तुम पात्र तथा नित्ययुक्त। फिर भी होगा सब व्यर्थ।
देहसम्बन्ध के आघात। होंगे तुमपर ।।१२७५।।

देहसम्बन्ध में पार्थ। पग-पग पर आत्मघात।
भोग भोगते फुरसत। नहीं क्षण की ।।१२७६।।

यदि मेरा यह कथन। न सुनोगे घमंड के कारण।
तो बिना मरण के मरण। भोगना पड़ेगा ।।१२७७।।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।। ५९ ।।

पथ्य-द्वेष से बढ़ता ज्वर। दीपद्वेष से अंधकार।
विवेकद्वेष से अहंकार। बढ़ता वैसे ।।१२७८।।

स्वदेह को कह रहे अर्जुन। परदेह को स्वजन।
और संग्राम को पापाचरण। कहते हो अहंकार से ।।१२७९।।

ऐसे तीनों के तीन। किये तुमने नामकरण।
और कह रहे हो अर्जुन। युद्ध करूँगा नहीं ।।१२८०।।

यदपि ऐसा मन माही। लिया तुमने ठान ही।
पर यह तुम्हारा स्वभाव नहीं। जिद होगी व्यर्थ ।।१२८१।।

मैं अर्जुन, ये स्वजन। इनका वध पाप महान।
इस सोच में मायाबिन। तथ्य क्या है ? ।।१२८२।।

सिद्ध हो आये युद्ध करने। फिर शस्त्र उठाये तुमने।
अब युद्ध नहीं करने की। किसलिये प्रतिज्ञा ? ।।१२८३।।

अतः युद्ध करूँगा नहीं। यह कहना व्यर्थ ही।
और लौकिक दृष्टि से भी। यह कहना अनुचित ।।१२८४।।

युद्ध करूँगा ही नहीं। बहुत सोचा तुमने मन माहीं।
किन्तु तुम्हारा स्वभाव ही। युद्ध तुमसे करवायेगा ।।१२८५।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।। ६० ।।

धारा बहती पूर्व में। तैरना चाहे जो पश्चिम में।
प्रवाह उसे बरबस पूर्व में। बहा ले जायेगा ।।१२८६।।

अथवा शालि-कण कहे। मैं न उगूँगा धान रूप में।
किन्तु स्वभाव कैसे करे। इसे सम्भव ? ।।१२८७।।

वेसे क्षत्रिय तुम स्वभावसिद्ध। अब टालना चाहते युद्ध।
पर निरर्थ तुम्हारी जिद। प्रकृति तुम्हें लड़ायेगी ।।१२८८।।

शौर्य, तेज, दक्षता। इत्यादि गुण जन्मतः।
प्रकृति ने ही, भ्राता। तुम्हें दिये हैं ।।१२८९।।

अतः प्रकृति के विरुद्ध। सर्वथा छोड़कर युद्ध।
बैठे रहना चुपचाप। असम्भव तुम्हारे लिये ।।१२९०।।

तुम क्षात्रगुणों से पार्थ। हो सर्वथा आबद्ध।
उनसे मुक्ति पाना अब। सम्भव नहीं ।।१२९१।।

यह जन्म मूल अपना। ध्यान में लिये बिना।
व्रत लोगे तुम अर्जुन। न लड़ने का ।।१२९२।।

तो हाथ-पाँव बाँध कर। जिसे चढ़ाया रथ पर।
वह जाता दिगन्तर। बिना हिले-डुले ।।१२९३।।

वैसे तुमने स्वयं होकर। युद्ध न भी किया, वीर।
बैठे रहे धर कर पर कर। तो भी युद्ध करोगे ही ।।१२९४।।

रथ से भागा था उत्तर। तुम ही ने किया सब संगर।
यह क्षात्रधर्म ही धनुर्धर। युद्ध तुमसे करवायेगा ।।१२९५।।

महावीर ग्यारह अक्षौहिणी। पछाड़े तुमने कोदंडपाणि।
वह स्वभाव वीराग्रणि। रण में तुम्हें लड़वायेगा ।।१२९६।।

क्या रोग रोगी को भाता ?। दरिद्र को दारिद्य रास आता ?।
पर प्रारब्ध बलवान होता। भोग करवाता विवश ।।१२९७।।

वही प्रारब्ध सर्वथा। जिसकी इच्छा बिन अन्यथा।
न होता, वह ईश्वर, भ्राता। है तुम्हारे हृदय में ।।१२९८।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। ६१ ।।

हृदयाकाश में सभी के। किरणों सहित चिद्वृत्ति के।
जो अद्भुत समान सूर्य के। नित्य उदित होता ।।१२९९।।

अवस्थात्रय का त्रैलोक्य। आलोकित करते नित्य।
विपरीत दृष्टि के पथिक। नित्य जगाता जो ।।१३००।।

वेद्य विश्व है सरोवर। उसमें विषयकमल मनोहर।
जिनके कारण जीव-भ्रमर। छहों इन्द्रियों को रिझाता ।।१३०१।।

अस्तु यह सूर्य रूपक सुन्दर। वह सर्वव्यापी ईश्वर।
ले सब भूतों का अहंकार। निरंतर प्रकटता ।।१३०२।।

ले ओट मायापट की। डोर चलाता जगत की।
नचाता छायाएँ अनोखी। चौरासी लाख ।।१३०३।।

ब्रह्म से कीटपर्यन्त। भूतजात जो समस्त।
उन्हें देता यथायुक्त। आकार देहों के ।।१३०४।।

जो देह जिसे भाता। योग्यतानुरूप मिलता।
वही उसे प्रतीत होता। अपना स्वरूप ।।१३०५।।

सूत को गूँथे सूत से। घास बाँधे घास से।
या बिम्ब को पकड़ने जैसे। दौड़ता बालक ।।१३०६।।

वैसे देहाकार से अर्जुन। स्वयं को दूसरा मान।
जीव करता अभिमान। भ्रान्त हो कर ।।१३०७।।

यंत्र-सा है शरीर। जीव को बैठा उसपर।
घुमाता वह ईश्वर। कर्मसूत्र प्राक्तन का ।।१३०८।।

जिसका जैसे कर्मसूत्र। नियत होता स्वतन्त्र।
वह उसी गति का पात्र। धनंजय, होता ।।१३०९।।

घास को नभ में बयार। घुमाती चक्राकार।
स्वर्ग-संसार में प्रारब्ध, वीर। वैसे जीवों को घुमाता ।।१३१०।।

चुम्बक के सम्पर्क में आता। तो लोह विचलित होता।
जीवमात्र से व्यवहार होता। वैसे ईश्वर-सत्ता से ।।१३११।।

गगन में चन्द्रोदय होता। तो समुद्रादिक की चेष्टा।
होने लगती, भ्राता। जिस प्रकार ।।१३१२।।

सागर में ज्वार आता। चन्द्रकांत मणि पसीजता।
कुमुद पूरा खिलता। चकोर होते सन्तुष्ट ।।१३१३।।

वैसे पराप्रकृति के बल पर। चलाता जो चराचर।
वह ईश्वरतत्त्व धनुर्धर। है तुम्हारे हिय में ।।१३१४।।

तज अर्जुन होने का भान। उठे हिय में जो 'अहं' पन।
वही तत्त्वतः जान। स्वरूप ईश्वर का ।।१३१५।।

वह ईश्वर हृदयस्थ। युद्ध करने करेगा प्रवृत्त ।
तुम स्वयं न भी लड़ो, पार्थ। वह तुम्हें लड़वायेगा ।।१३१६।।

है ईश्वर सर्वाधिपति। वह जो भी देता प्रकृति ।
उसके सुख के लिये करतीं। इन्द्रियाँ कर्म सारे ।।१३१७।।

छोड़ कर्तापन का अभिमान। कर्म मानो प्रकृति-अधीन ।
तथा प्रकृति भी स्वाधीन। हृदयस्थ ईश्वर के ।।१३१८।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। ६२ ।।

जैसे गंगाजल, अर्जुन। सागर में होता विलीन ।
वैसे करो ईश्वरार्पण। चित्त-अहंता-देहादि ।।१३१९।।

तव उसकी कृपा होगी। शांति प्रमदा मिलेगी*।
निजरूप में मति रमेगी। सानन्द निरन्तर ।।१३२०।।

जो उत्पत्ति का कारण। विश्राम का विश्रामस्थान ।
अनुभूति ही करती पूर्ण। अनुभव जिसका ।।१३२१।।

उस आत्मपद का सर्वथा। स्वामी बन कर भ्राता ।
भोगोगे अखंड सुख सम्पदा। कहे श्रीकृष्ण ।।१३२२।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। ६३ ।।

यह गीता नाम से प्रख्यात। सकल वाङ्मय का नवनीत ।
जिससे होता हस्तगत। आत्मरत्न अनायास ।।१३२३।।

जिसे शास्त्र वेदान्त। कहते ज्ञान उदात्त ।
जिसके वर्णन से प्राप्त। विश्वकीर्ति शास्त्रों को ।।१३२४।।

इन्द्रियगोचर वह ज्ञान। जिसकी अत्यल्प किरण ।
कराती है शुभदर्शन। सर्वसाक्षी आत्मा का ।।१३२५।।

इतना श्रेष्ठ वह आत्मज्ञान। है मेरा भी गुप्त धन।
किन्तु तुम मेरे भक्त, अर्जुन। तुमसे न छिपा सकता ।।१३२६।।

इसी कारण, हे किरीटी। अपनी यह गुप्त सम्पत्ति।
तुम्हें सौंपी सम्प्रति। प्रेमभाव से ।।१३२७।।

जैसे माँ प्रेम के कारण। करती शिशु से भाषण।
वैसे मेरा प्रेम, अर्जुन। मुझसे कहलवाता ।।१३२८।।

आकाश को भी छानें। अमृत को बैठे· छीलने।
दिव्यत्व से करवा लें। जैसे दिव्यता ।।१३२९।।

जिसके प्रकाश से, भाई। पाताल-अणु देता दिखाई।
उस सूर्य के नयनों मांहि। डालें अंजन जैसे ।।१३३०।।

वैसे मैं सर्वज्ञ अर्जुन। फिर भी हो विवेकपूर्ण।
केवल समुचित ज्ञान। बताया तुम्हें ।।१३३१।।

अब तुम इस पर। ठीक से करो विचार।
और जँचेगा वही, वीर। आचरण करो ।।१३३२।।

सुनकर यह कृष्णवचन। अर्जुन का न टूटा मौन।
तब कहते उसे कृष्ण। न करो आत्मवंचना ।।१३३३।।

परसैया हो परोसता। यदि भूखा मैं तृप्त कहता।
तो पीड़ा सह करता। आत्मवंचना ।।१३३४।।

वैसे, श्रीगुरु सर्वज्ञाता। उपदेश देने सिद्ध होता।
तब संकोचवश नहीं करता। जो उनसे प्रश्न ।।१३३५।।

वह सारा लाभ खो देता। स्वयं को धोखा देता।
तथा पाप का भी धनी होता। वंचना के ।।१३३६।।

यह तुमने साधा जो मौन। क्या इसीलिये, अर्जुन।
कि एक बार बताये पुनः। वही ज्ञान सम्पूर्ण ? ।।१३३७।।

इस पर अर्जुन कहे भगवंत। आपने खूब जाना मेरा चित्त ।
अपने मुँह क्यों बताऊँ बात। आपके बिन कौन ज्ञाता ? ।।१३३८।।

विश्व आपका ज्ञेय समस्त। ज्ञाता आप ही एक निश्चित ।
क्या सूर्य करे बखान प्रशस्त। सूर्य का ही ? ।।१३३९।।

तब कहते श्रीकृष्ण। किसलिये करते हो बखान ? ।
अब तक किया मैंने वर्णन। अल्प क्यों मानते ? ।।१३४०।।

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।। ६४ ।।

अब दे अवधान विस्तीर्ण। फिर एक बार करो श्रवण ।
मेरा सारा निर्मल वचन। मीत मेरे ।।१३४१।।

वाच्य वता कर वोले। श्रव्य जान कर सुन लें ।
ऐसा न यह ज्ञान, भोले। जो मिला तुम्हें भाग्यवश ।।१३४२।।

पिल्लों के लिये पेन्हा। बरसाते कछवी के नैना ।
चातक के घर अर्जुना। पानी भरता आकाश ।।१३४३।।

जो व्यवहार न होता जहाँ। पर उसका फल मिलता वहाँ ।
क्या असम्भव मिलना यहाँ। जब भाग्य हो अनुकूल ।।१३४४।।

निवार कर सारा द्वैत। अद्वैत के घर, पार्थ ।
भोगें एकांत में नित्य। यह दुर्लभ रहस्य ऐसा ।।१३४५।।

जो प्रेम का अनौपचारिक। विषय बनता है सटीक ।
वह आत्मा ही है इसे नेक। जान लो बंधु ।।१३४६।।

दर्पण को करते निर्मल। नहीं दर्पण के लिये केवल ।
अपनी छवि दिखे उज्जवल। इसीलिये ।।१३४७।।

वैसे तुम्हें निमित्त कर, अर्जुन। मैं दे रहा हूँ भाषण ।
तुममें मुझमें भिन्नपन। है ही कहाँ ? ।।१३४८।।

अंतरतम का गुह्य, भैया। सारा तुम्हें बता दिया।
व्यसन जो मुझे लग गया। अनन्य भक्तों का ।।१३४९।।

लवण स्वरूप को तज कर। जल में रह जाता घुल कर।
जलरूप होने में पल भर। लाज नहीं धरता ।।१३५०।।

वैसे मुझसे तुम भी। भिन्नता न रखते क़तई।
अतः तुमसे मैं भी। गोपनीय रखूँ क्या ? ।।१३५१।।

जिसके आगे सारा गूढ़। हो जायेगा सर्वथा अगूढ़।
वह सुनो गूढ़ातिगूढ़। वचन मेरा प्रियोत्तम ।।१३५२।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।। ६५ ।।

अपने अन्तर्बाह्य व्यापार। उनका करो, धनुर्धर।
सर्वव्यापी परमेश्वर। विषय एकमात्र ।।१३५३।।

हवा जैसे सर्वोपरि। आकाश में रहती भरी।
वैसे कर्मतन्मयता पूरी। रखो मुझमें ।।१३५४।।

अपने मन को पार्थ। बनाओ मेरा ही निकेत।
कान हो तुम्हारे पूरित। मेरे ही श्रवण से ।।१३५५।।

आत्मज्ञान से युक्त। मेरे ही रूप सन्त।
उनमें हो नैन आसक्त। कामी जैसे कामिनी में ।।१३५६।।

मैं सभी का वसतीस्थान। अतः मेरे सभी अभिधान।
उच्चारो जीते जीवन। अपनी वाचा से ।।१३५७।।

जो-जो कर्म हाथों का। अथवा चलन चरणों का।
सम्पर्पण उन सबका। करो मुझमें ।।१३५८।।

अपने या किसी के लिये। जो भी कर्म कराये।
सब हों मेरे ही लिये। जैसे यज्ञ याज्ञिक के ।।१३५९।।

कितना सिखाऊँ एक-एक। अपने को मान सेवक।
तथा मद्रूप सकल लोक। सेवा करो सद्‌भाव से ।।१३६०।।

सर्वत्र लोपेगा द्वैत भाव। करोगे मुझे अनुभव।
आश्रय मेरा मिलेगा सर्व। इस योग से ।।१३६१।।

फिर भरे संसार में, पार्थ। तीसरा जग होगा लुप्त।
तुम्हारा मेरा ही एकान्त। नित्य होगा ।।१३६२।।

फिर तो हम जहाँ चाहें। एक दूजे के लिये होंगे।
ऐसा सुख भोगेंगे। अनायास ।।१३६३।।

तीसरे विश्व का व्यवधान। हो जायेगा विलोपन।
तब मद्रूपता पा अर्जुन। मुझमें लीन होंगे ।।१३६४।।

जैसे प्रतिविम्ब जो जल में। जल सूखते आता बिम्ब में।
तो ऐसे विलयन से। क्या व्यवधान आता ? ।।१३६५।।

अथवा पवन का गगन में। या तरंगों का सागर में।
विलय हो जाने में। कैसा व्यवधान ? ।।१३६६।।

अतः तुम और हम। यह भेद दर्शाता देहधर्म।
इस भेद को मिलते विराम। पाओगे मद्रूपता ।।१३६७।।

मेरी इस वात में, पार्थ। कुछ लगे विपरीत।
तो निश्चय ही शपथ। तुम्हारी मुझे ।।१३६८।।

पर तुम्हारी सौगंध उठाना। है अपनी ही शपथ लेना।
प्रीति में शरमाना। नहीं होता कदापि ।।१३६९।।

जो वेद्य तथा प्रपंचरहित। जिससे विश्व अभिव्यक्त।
काल पर भी करती मात। आज्ञा जिसकी ।।१३७०।।

वह देव मैं सत्यसंकल्प। जगत का हितकर्ता बाप।
तो क्यों यह क्रिया-कलाप। सौगंध खाने का ? ।।१३७१।।

पर मुझे तुम्हारा छंद लग गया। मेरा देवत्व नष्ट हो गया।
मैं अधूरा, तू पूर्णत्व पा गया। मद्रूपता के कारण ।।१३७२।।

अपने ही काम के निमित्त। राजा लेता अपनी शपथ।
वैसी ही जानो निश्चित। बात यहाँ ।।१३७३।।

तब विनयपूर्वक कहे अर्जुन। देव, क्यों करते ऐसा भाषण ?।
तव नामस्मरण से ही पूर्ण। सकल मनोरथ मेरे ।।१३७४।।

फिर भी आप ही कहते। तथा अपनी शपथ भी उठाते।
आपके इस विनोद का जगत्मते। पार नहीं ।।१३७५।।

कमलवन का करता विकास। सहस्त्र किरणों का एक अंश।
पर नित्य देता प्रकाश। सम्पूर्ण विश्व को ।।१३७६।।

उमस मिटे, भरे सागर। इतना बरसता मेघ अपार।
उसे निमित्त चातकेतर। होता नहीं ।।१३७७।।

आपके औदार्य का अतः। मैं ही बना हूँ निमित्त।
ज्ञान किया निरूपित। विश्वकल्याण के लिये ।।१३७८।।

तब देव कहे, हे अर्जुन। मत करो मेरा स्तवन।
पाओगे मेरा स्थान। इसी उपाय से ।।१३७९।।

लवण सागर में पड़ता। पल-पल घुलता जाता।
कोई कारण नहीं रहता। पृथकता का उसकी ।।१३८०।।

वैसे सर्वत्र मुझे भज कर। सबमें मुझे ही देख कर।
अहंता अशेष होकर। होंगे मद्रूप ।।१३८१।।

कर्मादिक इसविध। मेरी प्राप्तिपर्यन्त।
उपाय नाना, पाण्डुसुत। बताये तुम्हें ।।१३८२।।

पहले सभी कर्म, अर्जुन। करें ईश्वरार्पण।
फिर सहज होता प्रसन्न। मैं परमात्मा ।।१३८३।।

जिस पर होता हूँ प्रसन्न। उसे होता मेरा ज्ञान ।
ज्ञान से होता विलीन। वह मुझमें ।।१३८४।।

मुझमें होते विलीन। अशेष होते साध्य-साधन ।
बल्कि कर्तव्य भी, अर्जुन। कुछ न रहता ।।१३८५।।

तुमने सभी कर्म, अर्जुन। किये मुझे सदा अर्पण ।
इसलिये मैं प्रसन्न। हुआ तुम पर ।।१३८६।।

अतः युद्ध का व्यवधान। यदपि आया है अर्जुन ।
तुम मेरे प्रिय प्राण। हो सदा ही ।।१३८७।।

अज्ञान को आमूल मिटाता। मेरी प्राप्ति कराता ।
वह गीताज्ञान यहाँ, भ्राता। वताया सोपपत्तिक ।।१३८८।।

अपना ज्ञान तुम्हें, पार्थ। वहुविध किया उपदेशित ।
अज्ञान करो तिरोहित। धर्माधर्म जो प्रसवते ।।१३८९।।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वाप सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। ६६ ।।

आशा सभी दुःखों को। निंद्य कर्म पातक को ।
अथवा दुर्भाग्य दैन्य को। जन्म देता ।।१३९०।।

वैसे, स्वर्ग-नरक का जो कारण। उस धर्माधर्म को प्रसवता अज्ञान ।
उसका करो निर्मूलन। इस ज्ञान द्वारा ।।१३९१।।

रज्जु लेकर हाथ में। सर्पभ्रम हटायें मन से ।
घरबार जो देखा स्वप्न में। नींद होते लोपता ।।१३९२।।

पीलिया जाने के अनन्तर। पीला नहीं दिखता चन्द्र ।
व्याधि जाते होता दूर। कड़वा स्वाद मुख का ।।१३९३।।

अथवा डूवते दिवस। मृगजल लोपता अनायास ।
दूर हटाते काष्ठ। वुझता अग्नि ।।१३९४।।

वैसे धर्माधर्म की जड़। होता अज्ञान सुदृढ़ ।
उसे लोपते मिटता बीहड़। धर्मजात ।।१३९५।।

आमूल अज्ञान के जाते। मैं ही शेष, सुभद्रापते! ।
निद्रा के संग स्वप्न टूटते। जैसे हम एकाकी ।।१३९६।।

वैसे मेरे बिना अर्जुन। रहता न कोई भिन्न-अभिन्न ।
उसमें जागता अनन्य। सोऽहं बोध ।।१३९७।।

तज कर अपना भिन्नपन। जानना मेरा अकेलापन ।
उसे ही कहते गहना शरण। मुझ परमात्मा की ।।१३९८।।

घट का होते विनाश। आकाश में मिलता आकाश ।
वैसे देवशरणता, गुडाकेश। देवत्व देती ।।१३९९।।

सुवर्णमणि सुवर्ण से। अथवा तरंग पानी से ।
वैसे अर्जुन तुम मुझसे। बनो अनन्य ।।१४००।।

दावानल सागरशरण होता। जल जाती उसकी पृथकता ।
अतः अपनी पृथकता। तजो सारी, पार्थ ।।१४०१।।

लेने पर भी मेरी शरण। पृथक रखना जीवपन ।
निर्लज्ज करे ऐसा द्वैताचरण। धिक्कार उस मति को ।।१४०२।।

राजा ने किया जिसका स्वीकार। वह दासी भी धनुर्धर ।
पाती आदर सत्कार। दरबार में ।।१४०३।।

विश्वेश्वर से हुई भेंट। और न छूटा जीवबोध ।
ऐसी असत्य भाषा सुभट। कभी न सुनो ।।१४०४।।

अतः मद्रूपता पा, अर्जुन। मेरी भक्ति होती जतनबिन ।
उसे साध्य करने का ज्ञान। तुम प्राप्त करो ।।१४०५।।

नवनीत निकाला मथ कर। फिर छाछ में डालने पर ।
घुलता नहीं छाछ में फिर। जतन करने पर भी ।।१४०६।।

पड़े लोहे में जंग लगता। पर पारस-स्पर्श से भ्राता।
जब उसका सोना बनता। छूता न कोई मैल ।।१४०७।।

काष्ठ का करते घर्षण। होता अग्नि का निर्माण।
वापस नहीं जाता पुनः। काष्ठ में जैसे ।।१४०८।।

वैसे अद्वयता से मुझे। शरण आने पर तुम्हें।
धर्माधर्म सतायेंगे। नहीं कदापि ।।१४०९।।

अर्जुन, क्या दिनकर। देख पाता तिमिर ?।
क्या जाग जाने पर। स्वप्न भ्रम रहता ? ।।१४१०।।

वैसे मुझ सर्वव्याप्त से एकत्व। प्राप्त करते अखंडित।
शेष रहने के लिये, पार्थ। क्या निमित्त रहता ? ।।१४११।।

अतः धर्माधर्म की कोई। मन में चिन्ता करो नहीं।
तुम्हारा पाप-पुण्य सभी। मैं ही बनूँगा ।।१४१२।।

लवण जल में गिरते भ्राता। उसे आती जलरूपता।
वैसे पूर्णरूपेण मद्रूपता। करोगे प्राप्त ।।१४१३।।

मुझसे रहना भिन्न। यही पाप-बंध का कारण।
होते मेरा शुद्ध ज्ञान। वह नष्ट होता ।।१४१४।।

सहज इतने मात्र से। छूट चुके हो बंधन से।
मुझे जान लो पूर्णता से। तुम्हें मुक्त मैं करूँगा ।।१४१५।।

इसीलिये अब सर्वथा। न करो कोई चिन्ता।
मुझ अकेले को जान, भ्राता। शरण आओ ।।१४१६।।

जो सकल रूपों का सौन्दर्य। सभी दृष्टियों की दृष्टि दिव्य।
चराचर का निवास भव्य। कृष्ण कहता ऐसे ।।१४१७।।

अपना कंकणधारी सव्य कर। पार्थ के सम्मुख बढ़ा कर।
आलिंगन करता श्यामसुंदर। शरणागत भक्त का ।।१४१८।।

जिसकी हुए बिना प्राप्ति। वाणी मन में शरमाती।
वापस लौट जाती। बुद्धि के संग ।।१४१९।।

ऐसे शब्द तथा मति को। दुर्धर जो मिलने को।
वह आत्मतत्त्व दिखाने को। निमित्त आलिंगन का ।।१४२०।।

हृदय से हृदय मिल गया। इस हिय का उस हिय में डाल दिया।
द्वैत तोड़े बिन कर दिया। अपने जैसा अर्जुन को ।।१४२१।।

दीप से जलाते दीप को। वैसे आलिंगन-कृपा से भक्त को।
दे गये स्वरूप को। द्वैत तोड़े बिना ।।१४२२।।

तब सुख का अपरम्पार। अर्जुन में पाया महापूर।
सर्वव्यापी होते हुए भी ईश्वर। उसमें डूब गया ।।१४२३।।

सागर में मिलता सागर। तो दूना आता ज्वार।
लेता आकाश तक हिलोर। जलाशय सारा ।।१४२४।।

वैसे कृष्णार्जुन प्रेम अपार। दोनों को हुआ दुर्निवार।
भर गया चराचर। नारायण स्वरूप से ।।१४२५।।

ऐसे वेदों का मूल सूत्र। सर्वोपयोगी पवित्र।
प्रकट किया गीताशास्त्र। श्रीकृष्ण ने ।।१४२६।।

वेदों का भी मूल गीता। कैसे कहा जा सकता ?।
ऐसा प्रश्नकर्ता। सुने उपपत्ति ।।१४२७।।

अजी जिसके उर की धड़कन। कर गयी वेदों का निर्माण।
वह सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्ण। स्वयं कह गया गीता ।।१४२८।।

अतः वेदों का मूल गीता। कहना उचित तत्त्वतः।
और भी एक उपपत्ति बताता। कृपया सुनें ।।१४२९।।

जो स्वरूप में नहीं प्रकटता। उसका विस्तार जिसमें होता।
उसी को विश्व जानता। बीज नाम से ।।१४३०।।

जिसके हैं काण्ड तीन। ऐसा वेदराशि महान।
गीता में है सम्पूर्ण। जैसे वृक्ष बीज में ।।१४३१।।

अतः गीता बीज वेदों का। मेरा मत है नीका।
और वैसा ही रूप इसका। दिखता भी है ।।१४३२।।

वेदों के जो भाग तीन। गीता उनसे शोभायमान।
रत्नाभूषणों से दीप्तिमान। शरीर जैसे ।।१४३३।।

कर्म, उपासना, ज्ञान। इनका गीता में कहाँ वर्णन।
इसका करता हूँ प्रतिपादन। अब सुस्पष्ट ।।१४३४।।

इसका पहला अध्याय। शास्त्रों का है अभिप्राय।
बीज रूप में शास्त्र समवाय। दूसरे अध्याय में ।।१४३५।।

कर्मयोगादि उपाय बिन। ज्ञानयोग करता मोक्षदान।
सूत्ररूप में बताया दर्शन। दूसरे अध्याय में ।।१४३६।।

जो अज्ञान में निबद्ध। उनको पाने मोक्षपद।
कर्मयोग साधन प्रसिद्ध। बताया तीसरे में ।।१४३७।।

देहाभिमान से जो बद्ध। वे छोड़ काम्यनिषिद्ध।
कर्म करें शास्त्रशुद्ध। देहाभिमान त्यागें ।।१४३८।।

कर्म करें सद्भावयुत। ऐसा तृतीयाध्याय में भगवंत।
बता रहे सुनिश्चित। कर्मकाण्ड यहाँ ।।१४३९।।

कर्म नित्य नैमित्तिक। अज्ञों के लिये आवश्यक।
वे भी बंधविमोचक। होंगे कैसे ।।१४४०।।

ऐसी जिज्ञासा के कारण। जिन्हें मिला मुमुक्षुपन।
उन्हें बताया ब्रह्मार्पण। सब क्रियाओं का ।।१४४१।।

काया, वाचा, मन से। विहित कर्म होगा जैसे।
केवल ईश्वरहित उसे। करने को बताया ।।१४४२।।

ईश्वर का भजन-पूजन। करें करते कर्माचरण।
इसका किया निवेदन। चौथे अध्याय के अन्त में ।।१४४३।।

विश्वरूप जहाँ हुआ व्यक्त। उस ग्यारहवें अध्यायपर्यन्त।
स्वकर्म से भजे भगवंत। निवेदन किया ।।१४४४।।

ये आठों अध्याय प्रकट। है गीता का देवताकाण्ड।
लाँघ बाधाओं के बाँध। बताया यहाँ ।।१४४५।।

ईश्वर कृपा का कर अर्जन। श्रीगुरु का होता दर्शन।
गुरुसम्प्रदाय से मिलता ज्ञान। सत्य किन्तु कोमल ।।१४४६।।

जो अद्वेष्टादि लक्षणों में। या अमानित्वादि ज्ञानों में।
पक्व करने इन अध्यायों में। बताया सविस्तार ।।१४४७।।

बारहवें अध्याय से लेकर। पन्द्रहवें के अन्तर्पयन्त।
किया निरूपण सशक्त। आत्मज्ञान का ।।१४४८।।

बारहवें से पन्द्रहवें पर्यन्त। चार अध्यायों में वर्णित।
है विस्तार से निरूपित। ज्ञानकाण्ड वेदों का ।।१४४९।।

इस लोक में गीतारूपिणि। आई वेदमूर्ति सुहानी।
पद्य-रत्नभूषण-धारिणि। तीनों काण्ड बताने ।।१४५०।।

यह त्रिकाण्डयुत श्रुति। मानो ढिंढोरा पीटती।
कि मोक्षफल की प्राप्ति। करो इसी देह ।।१४५१।।

जो ज्ञानयोग से दिन-रात। द्वेष रखता अखंडित।
वह अज्ञानवर्ग निरूपित। सोलहवें अध्याय में ।।१४५२।।

ले शास्त्रों की सहाय। करो अज्ञान की पराजय।
देता सत्रहवाँ अध्याय। सन्देश यही ।।१४५३।।

ऐसे सत्रह अध्यायों में ग्रथित। किया स्पष्ट निरूपित।
अपना वह निःश्वसित। वेद स्वरूप ।।१४५४।।

सत्रहों अध्यायों में निहित। जो दर्शन है निरूपित ।
उसके निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत। कलशाध्याय अठारहवाँ ।।१४५५।।

ऐसे सात सौ श्लोकों में बद्ध। श्रीमद्भगवद्गीता प्रबंध ।
यह मूर्तिमान वेद विशुद्ध। अद्भुत तथा उदार ।।१४५६।।

वह वेद यद्यपि ज्ञानसम्पन्न। उसका स्वभाव बड़ा कृपण ।
बताता अपना गुह्य ज्ञान। त्रैवर्णिकों को ही ।।१४५७।।

स्त्री शूद्रादिक जो अन्य। भवताप से भोगते दैन्य ।
उनका अधिकार छीन वेद। मौन साधे बैठा है ।।१४५८।।

मानो दूर करने यही न्यून। वेद आया गीता बन ।
ले ले जो ले सकता ज्ञान। यही इच्छा लिये ।।१४५९।।

अर्थरूप में रहता मन में। श्रवण द्वारा आता कान में ।
जप निमित्त खेलता वदन में। यह गीता वेद ।।१४६०।।

नित्य गीतापाठ करता। गीताभ्यासी के साथ रहता ।
जो गीता-पुस्तक बाँटता। लिख कर लोगों को ।।१४६१।।

इसविध जो जनहित। इस संसार के हाट ।
मानो सराय बनता विराट। मोक्षसुख की ।।१४६२।।

आकाश में सैर करने। धरती पर बैठने ।
सूर्यतेज में नहाने। सहाय एक आकाश ।।१४६३।।

गीता उपासकों में वैसे। भेद अधम-उत्तम ऐसे ।
नहीं करती, देती एक-से। सबको मोक्षपद ।।१४६४।।

वेद निन्दा से डर गया। गीता की गोद में छिप गया ।
तब उत्तम कीर्ति पाया। जगत में ।।१४६५।।

अतः वेदों की सुबोधता। यह मूर्तिमंत गीता ।
श्रीकृष्ण द्वारा निरूपिता। धनंजय को ।।१४६६।।

जैसे बछड़े के प्रेमहित। घर में सबको गोरस प्राप्त ।
वैसे अर्जुन के निमित्त। उद्धार हुआ जगत का ।।१४६७।।

चातक-दया के कारण। मेघ करता जलवर्षण ।
पर उससे होता शान्त प्रसन्न। चराचर सारा ।।१४६८।।

एकनिष्ठ कमलहित। सूर्य होता नित्य उदित ।
पर प्राणिमात्र के नेत्र। सुख पाते ।।१४६९।।

वैसे अर्जुन के बहाने। गीता बताई श्रीकृष्ण ने ।
जगत का भवबोझ जिसने। हल्का किया ।।१४७०।।

सभी शास्त्ररत्नों की दीप्ति। जिससे त्रिलोक में फैलती ।
ऐसा यह सूर्य अद्‌भुत अति। कृष्णमुख-नभ का ।।१४७१।।

धन्य-धन्य वह कुल पवित्र। जिसमें जन्मा पार्थ ज्ञानपात्र ।
जिसके कारण यह गीताशास्त्र। परकोट विश्व का ।।१४७२।।

अस्तु! पाते वह दिव्यालिंगन। अर्जुन हुआ अद्वैतमग्न ।
तब लाया द्वैतपन। सद्‌गुरु श्रीकृष्ण ने ।।१४७३।।

फिर श्रीकृष्ण ने पूछा, भैया। क्या यह शास्त्र समझ में आया ? ।
अर्जुन कहे, सब जँचा भाया। देव आपकी कृपा से ।।१४७४।।

फिर कहते, हे भ्राता। यह भाग्य से महानिधान मिलता ।
पर इसका उपयोग ज्ञात होता। बिरले को ही ।।१४७५।।

क्षीरसागर-सा बड़ा। शुद्ध दूध का भाँड़ा ।
उसके मंथन में कष्ट कड़ा। किया देव-दानवों ने ।।१४७६।।

वह कष्ट सफल हुआ। अमृत दृष्टिगोचर हुआ ।
पर उसकी रक्षा में विफल हुआ। दानवदल अविवेकी ।।१४७७।।

जिससे मिलता अमरण। वही ले आया मरण ।
उपभोग का न हो ज्ञान। तो होता ऐसा ही ।।१४७८।।

नहुष स्वर्गाधिपति हुआ। पर आचरण में भरमा गया।
इसी कारण भुजंग हो गया। क्या ज्ञात नहीं ? ।।१४७९।।

अर्जुन तुमने निश्चित। पुण्य किया बहुत।
तभी तुम्हें हुआ प्राप्त। यह गीताशास्त्र ।।१४८०।।

इस शास्त्र का सनातन। सम्प्रदाय का पा ज्ञान।
नित्य करो आचरण। शास्त्रानुसार ।।१४८१।।

अन्यथा अमृतमंथन के समान। हाल होगा अर्जुन।
यदि करोगे अनुष्ठान। सम्प्रदायरहित ।।१४८२।।

गाय बहुत ही भली। सौभाग्य से यदि मिली।
दोहन जुगत फली। तभी मिलता दूध ।।१४८३।।

वैसे सद्गुरु होंगे प्रसन्न। तो शिष्य करेगा विद्यार्जन।
किन्तु वह फलेगी अर्जुन। साम्प्रदायिक सेवा से ही ।।१४८४।।

अतः गीताशास्त्र में पार्थ। बताया सम्प्रदाय जो उचित।
उसे सुनो हो दत्तचित्त। अत्यंत आदर से ।।१४८५।।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। ६७ ।।

तुमने गीताशास्त्र, भ्राता। जान लिया रख आस्था।
इसे तपोहीन को सर्वथा। बताओ नहीं ।।१४८६।।

अथवा तापस हो भला। पर गुरुभक्ति में ढीला।
तो वेदवर्णित अन्त्यज-सा। दूर रखो उसे ।।१४८७।।

जैसे बूढ़े काक को भी। यज्ञ-प्रसाद देते नहीं।
गुरु भक्तिहीन तापस को भी। गीता न सुनाना ।।१४८८।।

या देह से तप करता। गुरुदेव की भक्ति करता।
किन्तु मन में न होती आस्था। गीता श्रवण की ।।१४८९।।

ऐसे तपस्वी गुरुभक्त। जगत में उत्तम निश्चित ।
पर गीताश्रवण के हित। अपात्र जानो उन्हें ।।१४९०।।

मोती कितना ही हो सुन्दर। उसमें छेद न हो पर ।
तो उसे सोने का तार। पिरोयेगा कैसे ? ।।१४९१।।

सागर है गहन गम्भीर। इसे कौन करे अस्वीकार ? ।
किन्तु वृष्टि होते उसपर। व्यर्थ ही जाती ।।१४९२।।

जो छका कर भोजन। उसे व्यर्थ देना मिष्टान्न ।
उदारता से वही अन्न। क्यों न दें भूखे को ? ।।१४९३।।

अतः कोई योग्य हो। पर उसे श्रवण की परवाह न हो ।
तो गीताशास्त्र उसको। न बताओ, अर्जुन ।।१४९४।।

रूप जानता जो नयन। उसे गंध का नहीं ज्ञान ।
जिसकी जो योग्यता जान। वही उसके काम का ।।१४९५।।

अतः तपस्वी तथा भक्त ही। इसके योग्य जानो, भाई ।
जिन्हें गीताश्रवण भाता नहीं। करो त्याग उनका ।।१४९६।।

देह में तप, उर में भक्ति। श्रवण में भी आसक्ति ।
ऐसी उत्तम गुणसम्पत्ति। मिल भी जाये ।।१४९७।।

पर गीताशास्त्र का निर्माता। मैं जो सकल-लोक-शास्ता ।
उसमें जो सामान्यता। देखता है ।।१४९८।।

मैं तथा मेरे भक्तगण। जिनसे पाते हो दूषण ।
करने को गीताश्रवण। अपात्र जानो उन्हें ।।१४९९।।

उनके अन्य सभी गुण। वैसे ही जानो व्यर्थ अर्जुन ।
वैसे दीवट दीपबिन। होती रात में ।।१५००।।

देह गोरा तथा तरुण। उस पर धारे आभूषण ।
किन्तु उसमें न हो प्राण। तो किस काम का ? ।।१५०१।।

सुवर्ण का बना हो घर। विशाल तथा सुन्दर।
पर नागिन बैठी हो रोके द्वार। तो किस काम का ? ।।१५०२।।

मिष्टान्न रसीला स्वादिष्ट। पर उसमें मिला हो कालकूट।
मुख में मैत्री मन में कपट। किस काम का ? ।।१५०३।।

वैसे तप, भक्ति, श्रद्धा। सभी को जानो वृथा।
जो निंदा करता मेरी पार्था। अथवा मेरे भक्तों की ।।१५०४।।

वह हो भक्त, तपस्वी, मेधावी। गीता न दो उसे कभी।
यही मेरी आज्ञा, भाई। करो पालन ।।१५०५।।

और क्या बताऊँ भ्राता ? निंदक हो प्रत्यक्ष विधाता।
उसे न सुनाओ गीता। कौतुकवश भी ।।१५०६।।

तपाचरण के पाषाण। जिसकी नींव का अधिष्ठान।
प्रासाद बना जो सज्जन। गुरुभक्ति का• ।।१५०७।।

जिसका श्रवणेच्छा का द्वार। खुला रहता निरंतर।
और सुहाता शिखर सुन्दर। अनिंदा रत्नों का ।।१५०८।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।। ६८ ।।

ऐसा भक्तरूप मन्दिर। उसमें बसाओ गीतेश्वर।
तभी होंगे धनुर्धर। मेरे समान संसार में ।।१५०९।।

त्रिमात्राओं की कोख से। जो एकाक्षरत्व पा के।
गर्भवास में पड़ा चुप से। प्रणव मंत्र ।।१५१०।।

वह वेदों का बीजमंत्र। गीता रूप में पाया विस्तार।
गायत्री खिली सुन्दर। श्लोक रूप में ।।१५११।।

गायत्री का रहस्य गीता। मेरे भक्तों को जो देता।
भूखे बालक को माता। मिलती जैसे ।।१५१२।।

उसके समान जो गीता। भक्त को देता भ्राता।
देहान्त पर सर्वथा। होता मत्स्वरूप ।।१५१३।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।। ६९ ।।

देह गहना धारण करता। स्वयं उससे अलग रहता।
वही मेरा प्राण होता। परम प्रिय ।।१५१४।।

कर्मठ तपस्वी ज्ञानी होता। सबको मैं प्रिय मानता।
पर वही एक मुझे भाता। जैसे अर्जुन ।।१५१५।।

उसके समान दूजा कोई। त्रिभुवन में मुझे भाता नहीं।
जो भक्तों को, भाई। सुनाता गीताशास्त्र ।।१५१६।।

भक्तियुक्त कर अंतःकरण। शांति से करता गीतापठन।
वही एकमेव भूषण। संतसभा का ।।१५१७।।

रोम-रोम पल्लवित होते। वृक्ष-से डोलने लगते।
हर्ष-से झरने लगते। नयन-पुष्प ।।१५१८।।

बोलता ऐसे भावपूर्ण। जैसे कोयल का कूजन।
जब मेरे भक्तों का उद्यान। खिला हो गीता-बसंत से ।।१५१९।।

नभ में आते सुधाकर। जन्म सार्थक मानता चकोर।
अथवा नवघन सुन मयूर गुहार। 'जी' कहते दौड़ता ।।१५२०।।

वैसे करने मेरी प्राप्ति। संतसभा में करते गोष्ठी।
गीता श्लोकों की वृष्टि। जो करता ।।१५२१।।

मुझे उसके समान। प्रिय नहीं कोई अन्य।
न हुआ है न होगा, अर्जुन। त्रिभुवन में ।।१५२२।।

जो गीतार्थ का मिष्टान्न। संत-सज्जनों को करे अर्पण।
मेरे हृदय में उसका स्थान। होता ऐसे ।।१५२३।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। ७० ।।

अपने समागम में पार्थ। यह जो संवाद हुआ उदात्त ।
वह यहाँ मानो प्रवृत्त। मोक्षपद जीतने ।।१५२४।।

हम दोनों का यह संवाद। सकलार्थ का है प्रबोध ।
उसे जाने बिन अन्वयार्थ। जो केवल पढ़ता ।।१५२५।।

उसने ज्ञानाग्नि में, अर्जुन। अविद्या आहुति कर प्रदान ।
मुझ परमात्मा को जान। प्रसन्न कर लिया ।।१५२६।।

गीतार्थ के प्रत्यय से। ज्ञानीजन जो फल पाते ।
वही फल प्राप्त करते। गीता-गायक ।।१५२७।।

गीतार्थ ज्ञानी जो फल पाते। गीतावाचक भी प्राप्त करते ।
ज्ञाता-अज्ञाता भेद न जाने। यह गीता-मैया ।।१५२८।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।। ७१ ।।

सब मार्गों का त्यज निंदन। शुद्ध आस्था का कर प्रवर्त्तन ।
श्रद्धा से जो करे श्रवण। भगवद्गीता का ।।१५२९।।

उसके कानों में, सुभद्रापते। ज्यों ही गीताक्षर घुसते ।
पाप सारे भाग जाते। उसी क्षण ।।१५३०।।

अरण्य में भयानक। आग लगते अचानक ।
सभी वनचर भौचक। भाग खड़े होते ।।१५३१।।

अथवा उदयांचल पर। प्रकटते ही दिनकर ।
आकाश का अंधकार। भाग जाता सर्वथा ।।१५३२।।

वैसे कानों के महाद्वार। गूँजते हो कर गीता-गजर ।
पाप जन्मान्तर के समग्र। भाग जाते ।।१५३३।।

उसकी पूरी वंशावलि। न केवल होती पुण्यशाली।
उससे भी अधिक भली। होती फलप्राप्ति उसे ।।१५३४।।

इस गीता के जितने अक्षर। कर्णद्वार से घुसते भीतर।
उतने अश्वमेध धनुर्धर। सम्पन्न होते ।।१५३५।।

गीताश्रवण से मिटते पाप। धर्मोन्नति होती आप।
स्वर्ग सम्पदा अमाप। देहान्त पर मिलती ।।१५३६।।

चलते मेरी प्राप्ति का मार्ग। पहला पड़ाव होता स्वर्ग।
वहाँ भोग कर सुख सर्व। अन्त में मुझे पाता ।।१५३७।।

ऐसे गीता का श्रवण। और करे जो पठन।
उसे · मिलती आनन्दपूर्ण। मद्रूपता ।।१५३८।।

अस्तु ये बातें, पार्थ। यह शास्त्र बताया जिस हेत।
क्या वह कार्य मनोरथ। पूरा हुआ तुम्हारा ? ।।१५३९।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।। ७२ ।।

सत्य बताओ, अर्जुन। इस शास्त्र सिद्धान्त को ग्रहण।
क्या किया तुमने सम्पूर्ण। एकाग्र चित्त से ? ।।१५४०।।

हमने जो जिस प्रकार। कानों में तुम्हारे कहा शास्त्र।
उसे कानों ने उसी प्रकार। क्या उतारा मन में ? ।।१५४१।।

अथवा बीच में कहीं पर। वह छूट गया गिर कर ?।
या तुम्हीं ने उपेक्षा कर। छोड़ दिया उसे ? ।।१५४२।।

यदि जैसे हमने बताया। वैसे ही मन में पैठ गया।
तो अब मैं जो पूछूँ, भैया। उत्तर दो तुरन्त ।।१५४३।।

जो अज्ञान से जन्मा था। जिसने तुम्हें भरमाया था।
वह मोह अब भ्राता। गया या है शेष ? ।।१५४४।।

अधिक क्या पूछें, पार्थ। बस एक ही बताओ बात ।
है अथवा हो गयी लुप्त। कर्म-अकर्म की अहंता ? ।।१५४५।।

आत्मानंद में निमग्न। अर्जुन होगा इसे जान ।
पूछ कर ऐसे प्रश्न। द्वैत भाव जगाया ।।१५४६।।

पूर्णब्रह्म हो गया अर्जुन। तो कार्य रहेगा अपूर्ण ।
अतः द्वैत-मर्यादा श्रीकृष्ण। लाँघने न देता ।।१५४७।।

अपने किये को अन्यथा। वह सर्वज्ञ क्या न जानता ? ।
पर यह प्रश्न हेतुतः। किया अर्जुन से ।।१५४८।।

लुप्त जान अर्जुनपन। पूछ कर ऐसे प्रश्न ।
पूर्णताबोध आपुन। कहलवाया पार्थ से ।।१५४९।।

जैसे क्षीरसागर जात। चन्द्र गगन में शोभत ।
भिन्न होते हुए भी न दिखत। भिन्न सागर से ।।१५५०।।

वैसे 'अहं ब्रह्माऽस्मि' भुलाता। जगत ब्रह्मत्व से भर जाता ।
उस भाव को छोड़ते लोपता। ब्रह्मानुभव ।।१५५१।।

वैसे ब्रह्मानुभव में धनुर्धर। देहात्मभाव जगा कर ।
'मैं अर्जुन' इस बोध के कारण। खड़ा हुआ दुःख से ।।१५५२।।

अपनी कँपकँपी को थाम कर। रोमांच को दबा कर ।
पसीना अपना रोक कर। अपने ही तन में ।।१५५३।।

प्राणक्षोभ से काँपते। अपने तन को सहेजते ।
स्तब्ध हुआ हर्षाते। स्वयं को भुला कर ।।१५५४।।

हर्ष से भर आये नयन। संयत करता अर्जुन ।
आँसुओं को तत्क्षण। पोंछ डाला उसने ।।१५५५।।

चरम उत्कण्ठा मन में। उभर आई थी कंठ में ।
उसको उर में ही थामे। रखा दबा कर ।।१५५६।।

पिघली-पिघली सी वाणी। सँजो कर कोदंडपाणि ।
संयत करता धमनी। जो थी अनियमित ।।१५५७।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।। ७६ ।।

फिर अर्जुन कहता कृष्ण से। मोह के विषय में क्या पूछते ।
वह तो सपरिवार ठाँव से। भाग गया कभी का ।।१५५८।।

पास आते दिन-कर। सामने रहता क्या तिमिर ? ।
यह प्रश्न भी श्रीधर। उचित किस गाँव में ? ।।१५५९।।

वैसे आपको श्रीकृष्ण। सामने देख रहे लोचन ।
करने मोह का निर्दालन। क्या यही नहीं पर्याप्त ? ।।१५६०।।

और माँ से अधिक ममता कर। ज्ञान जो दिया सविस्तार ।
उसे अन्य किसी प्रकार। समेटना असम्भव ।।१५६१।।

अब मोह है या गया। यह प्रश्न भी क्यों किया ? ।
जीवन कृतार्थ हो गया। देव आपकी कृपा से ।।१५६२।।

अर्जुन बोध से था निबद्ध। त्वद्रूप होते हुआ मुक्त ।
अब प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध। लुप्त अनायास ।।१५६३।।

आपका कृपाप्रसाद पाया। आत्मबोध मुझमें आया ।
अब उस मोह का सफाया। करूँगा जड़-मूल से ।।१५६४।।

अब करण अथवा अकरण। सम्भव जिस द्वैत के कारण ।
वह समाप्त और आप बिन। दिखता न कुछ भी ।।१५६५।।

इस विषय में सन्देह क़तई। अब मुझमें रहा नहीं ।
जहाँ कर्म ही होता नहीं। वह ब्रह्म मैं हो गया ।।१५६६।।

आपकी कृपा से हुआ आत्मबोध। नष्ट हुआ कर्मबोध।
अब आपकी आज्ञाबिन। रहा न कुछ करने ।।१५६७।।

जो दृश्य, दृश्य को मिटाता। जो द्वैत, द्वैत को ग्रसता।
जो एक प्रकार से रहता। सर्वव्यापी बन के ।।१५६८।।

जिससे सम्बन्ध-बंध टूटता। आशा से आशा-बंध छूटता।
जिसके मिलते मिल जाता। आत्मस्वरूप ।।१५६९।।

वे आप मेरे गुरुदेवता। जो एकान्त का सखा होता।
जिसके लिये मन करता। लाँघने को अद्वैत ।।१५७०।।

तथा स्वयं होकर ब्रह्म। समाप्त कर्माकर्म।
यही जिसका असीम। सेवा कार्य ।।१५७१।।

गंगा सागरसेवा में जाती। जाते ही सागरमय होती।
वैसे भक्त में पात्रता आती। निजपद पाने की ।।१५७२।।

आप हुए सद्‌गुरु मेरे। अब भेदभाव कहाँ ठहरें।
किये उपकार बहुतेरे। करने मुझे ब्रह्ममय ।।१५७३।।

आप और मुझमें, श्रीधर। था भेद का जो द्वार।
उसे हटा कर किया मधुर। सेवा सुख आपने ।।१५७४।।

आपकी आज्ञा देवाधिदेव। शिरसावंद्य है, माधव।
किसी भी कार्य की देव। आज्ञा कीजिये ।।१५७५।।

सुन अर्जुन का कथन। नाचने लगा श्रीकृष्ण।
कहे मुझ विश्वफल में अर्जुन। लगा फलस्वरूप ।।१५७६।।

आकाश में पुत्र सुधाकर। हो गया पूर्णाकार।
यह देख क्षीरसागर। क्या सीमा न त्यागता ? ।।१५७७।।

ऐसे संवाद की बेदी पर। अर्जुन तथा श्रीधर।
हृदय से मिले परस्पर। संजय देखता सानंद ।।१५७८।।

और प्रमुदित मन से। कहता धृतराष्ट्र से।
आपको यहाँ व्यास देव से। मिला संरक्षण ।।१५७९।।

आपको देखने यह संसार। चर्मचक्षु भी नहीं नृपवर।
ज्ञानचक्षु से व्यवहार। प्राप्त आपको ।।१५८०।।

मैं आपका रथ हाँकता। घोड़ों का खरहरा करता।
पर यहीं से देख पाया। प्रत्यक्ष सारा प्रसंग ।।१५८१।।

यह निर्णायक भयंकर। होगा वहाँ संगर।
हो किसी की भी हार। पराजय हमारी ।।१५८२।।

इतना प्रसंग है बाँका। पर अनुग्रह महर्षि व्यास का।
कि प्रत्यक्ष ब्रह्मानंद का। सुयोग दे गये ।।१५८३।।

ऐसे संजय ने कहा। पर बूढ़ा नहीं पसीजा।
चन्द्रकिरणों से छुआ। पाषाण जैसे ।।१५८४।।

उसकी देख यह अवस्था। बोलना ही नहीं चाहता था।
पर हर्ष से फूले न समाता। बोला संजय ।।१५८५।।

हर्ष से था उल्लसित। धृतराष्ट्र से बोला अतः।
अन्यथा निश्चित था मत। राजा अपात्र सुनने का ।।१५८६।।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।। ७४ ।।

फिर बोला है कुरुराजा। यों बोला आपका भतीजा।
जिसे सुन कर वह अधोक्षज। हुआ हर्षित अपार ।।१५८७।।

पूर्व-पश्चिम सागर। नाम का ही है अंतर।
अन्यथा सारा नीर। एक ही होता ।।१५८८।।

वैसे श्रीकृष्ण तथा अर्जुन। देहरूप में केवल भिन्न ।
पर उनके संवाद में भेद न। रहा कोई ।।१५८९।।

आमने-सामने दो दर्पण। रखे पोंछ कर राजन् ।
परस्पर का करते दर्शन। परस्पर में ।।१५९०।।

वैसे अर्जुन देवसहित। देवरूप मैं स्वयं को देखत ।
श्रीकृष्ण देखता पार्थ सहित। अर्जुन मैं अपने आपको ।।१५९१।।

वह देवाधिदेव नीको। स्वरूप में देखता अर्जुन को ।
तो वहाँ होता उसको। दर्शन दोनों का ।।१५९२।।

और फिर यह द्वैत। दोनों में अशेष होत ।
अतः हुआ अद्वैत। कृष्णार्जुन का ।।१५९३।।

जब भेद ही हो गया दूर। तो कैसे वहाँ प्रश्नोत्तर ? ।
और भेद न होता दूर। तो संसारसुख कैसे ।।१५९४।।

अतः बोले तो द्वैत भाव से। पर द्वैत लुप्त संवाद से ।
वह बातचीत ध्यान से। मैंने सुनी धृतराष्ट्र ।।१५९५।।

आमने-सामने दो दर्पण। जब रखते हम राजन् ।
तो देखता किसे कौन। कौन जाने ? ।।१५९६।।

एक दीप के सम्मुख। रखते दूसरा दीपक ।
कौन किसे देता आलोक। कौन जाने ? ।।१५९७।।

सूर्य के सामने दूजा सूर्य। यदि उदित हो जाय ।
तो प्रकाशक या प्रकाश्य। कैसे पहचानें ? ।।१५९८।।

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन। संवाद से हुए ऐसे अभिन्न ।
कि उसका करते चिन्तन। वही निरुद्ध होता ।।१५९९।।

प्रवाह संगम रोकने, राजन्। बीच में डाला लवण ।
प्राप्त होता उसे तत्क्षण। जलस्वरूप ।।१६००।।

वैसे श्रीकृष्णार्जुन संवाद। जिसका करते मंथन।
अपनी अवस्था उसके समान। हो रही, धृतराष्ट्र ।।१६०१।।

ऐसे संजय करता भाषण। तो सात्विक भाव हुए उत्पन्न।
और उसका संजयपन। पता नहीं कहाँ खो गया ? ।।१६०२।।

रोमांच में बहार आई। काया संकीर्ण होती गयी।
विस्मय तथा स्वेद से बढ़ गयी। कँपकँपी तन में ।।१६०३।।

अद्वयानंद के स्पर्श से। दृष्टि डबडबाई प्रेम रस से।
वे आँसू न थे, द्रवरूप में। प्रकट हुआ था प्रेम ।।१६०४।।

मन में कुछ नहीं समाता। शब्द भी नहीं निकलता।
वाणी को मानो घेरा पड़ता। उर की धड़कनों का ।।१६०५।।

अष्टसात्विक भाव उमड़े। शब्द अटकते आने लगे।
संजय के रोएँ बन गये। सुखसंवाद का स्थान ।।१६०६।।

उस सुख की ऐसी बात। कि अपने आप होता शान्त।
फिर देहस्मृति हुई प्राप्त। संजय को ।।१६०७।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।। ७५ ।।

कहता हर्ष के घटते। वेदान्त को भी अज्ञात बातें।
व्यास की कृपा होते। सुनी मैंने आज ।।१६०८।।

सुन कर सारा कथन। ब्रह्मत्व ने किया आलिंगन।
हुआ सृष्टि का विस्मरण। 'मैं-तू' बोध समेत ।।१६०९।।

राजन्, ये योग समस्त। जिसे पाने के पथ प्रशस्त।
उस श्रीकृष्ण की बात। सुनी व्यासकृपा से ।।१६१०।।

अर्जुन का रूप धर कर। स्वयं द्विधा बन कर।
अपने को ही लक्ष्य कर। श्रीकृष्ण ने जो कहा, ।।१६११।।

उसे सुनने के पात्र। बने मेरे ये श्रोत्र।
श्रीगुरु सामर्थ्य स्वतंत्र। मैं क्या बखानूँ।।१६१२।।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।। ७६।।

कहते-कहते हुआ स्तिमित। संजयबोध हुआ विस्मृत।
रत्न-तेज से आवृत। रत्न हुआ मानो।।१६१३।।

हिमवंती जो सरोवर। जम जाते चन्द्रोदय पर।
पिघलते सूर्योदय पर। पहले जैसे।।१६१४।।

वैसे शरीरबोध जागते। वे संवाद याद आते।
फिर देह भाव लोपते। यह हाल संजय का।।१६१५।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।। ७७।।

उठ कर कहता मन ही मन। श्रीहरि का रूप देख कर।
चुपचाप कैसे बैठे हो राजन्। आनन्द शून्य ?।।१६१६।।

जो बिना देखें दिखता। नकारने पर भी होता।
भुलाये नहीं भूलता। कैसे टालूँ उसे।।१६१७।।

उसे मानूँ चमत्कार। तो उतना भी नहीं अवसर।
मेरे सहित वह महापूर। लिये जा रहा सबको।।१६१८।।

कृष्णार्जुन संवाद उदात्त। मान संगमक्षेत्र अद्भुत।
वहीं स्नान कर के देत। तिलांजलि अहंता को।।१६१९।।

ऐसा अपार आनन्द पाता। संजय फूट-फूटकर रोता।
रुँधे गले से कहता। कृष्णा कृष्णा श्रीकृष्णा।।१६२०।।

इस हर्ष का कतई। उस अन्धे को ज्ञान नहीं।
वह सोचता रहा कुछ भी। कल्पना करते।।१६२१।।

अतः हर्ष को अपने। उर में ही दबाया संजय ने।
सम्भाला देहभान उसने। तत्काल ।।१६२२।।

इस प्रकार कुछ अवसर। बीतते कहे धृतराष्ट्र।
संजय, यह क्या है प्रकार। शुरू किया तुमने ? ।।१६२३।।

तुम्हें उस व्यास ऋषि ने। यहाँ बिठाया किसलिये ?।
और ये अप्रासंगिक बातें। किसलिये कहते हो ? ।।१६२४।।

अनाड़ी गया राजभवन। उसे सर्वत्र लगता वीरान।
या पौ फटते निशाचर। मानते रात आई ।।१६२५।।

जो न जाने जिसका महत्त्व। उसे लगता वह निःसत्व।
अतः प्रस्तुत में भी अप्रस्तुत। सहज देखता ।।१६२६।।

फिर कहे बताओ प्रस्तुत। यहाँ हुआ जो प्रवृत्त।
बताओ उसमें सांप्रत। विजय होगी किसकी ? ।।१६२७।।

अन्यथा हमारा चित्त। यही मानता बात।
कि दुर्योधन है श्रेष्ठ। अधिक पराक्रमी ।।१६२८।।

तथा पाण्डवों की तुलना में। उसकी सेना ड्योढ़ी संख्या में।
अतः विजय उसी के पक्ष में। आयेगी निश्चित ।।१६२९।।

हमें तो यही लगता। तुम्हारा ज्योतिष क्या कहता ?।
बताओ जैसे भी होता। संजय सुस्पष्ट ।।१६३०।।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।। ७८ ।।

सुन कर संजय कहता। दूसरों की मैं नहीं जानता।
किन्तु जहाँ आयु वहाँ होता। जीवन निश्चित ।।१६३१।।

जहाँ चन्द्र तहाँ चन्द्रिका। जहाँ शम्भु वहाँ अम्बिका।
सन्तों के साथ होता। विवेक निश्चय ही ।।१६३२।।

जहाँ राजा वहाँ सेना। सौजन्य तहाँ रिश्ता आना।
वह्नि तहाँ जलाना। स्वाभाविक ।।१६३३।।

दया तहाँ धर्म। धर्म तहाँ सुखागम।
सुख तहाँ पुरुषोत्तम। निवास करता ।।१६३४।।

वसंत तहाँ वन सुहाते। वन में सुमन खिलते।
सुमनों के पास दौड़े आते। भ्रमर समुदाय ।।१६३५।।

जहाँ गुरु तहाँ ज्ञान। ज्ञान तहाँ आत्मदर्शन।
आत्मदर्शन सन्तोषनिधान। अनायास ।।१६३६।।

भाग्य तहाँ विलास। सुख तहाँ उल्लास।
सूर्य तहाँ प्रकाश। निरन्तर ।।१६३७।।

वैसे सभी पुरुषार्थ। जिसके कारण सनाथ।
वह जहाँ श्रीकृष्णनाथ। वहाँ लक्ष्मी अवश्य ही ।।१६३८।।

तथा अपने पतिसहित। लक्ष्मी बसती जहाँ सतत।
वहाँ दौड़ी चली आवत। अष्टसिद्धियाँ चेरी-सी ।।१६३९।।

विजयरूप श्रीकृष्ण। जहाँ बनाता निवासस्थान।
दौड़ती आयेगी राजन। विजय वहाँ ।।१६४०।।

अर्जुन विजय नाम से ख्यात। विजयरूप श्रीकृष्णनाथ।
अतः विजय लक्ष्मीसहित। वहीं जायेगी ।।१६४१।।

उसके देश के वृक्ष सारे। कल्पतरु बन जाते।
लक्ष्मी तथा श्रीहरि होते। मातुपिता जिसके ।।१६४२।।

बनते वहाँ के पाषाण। चिन्तामणि के समान।
तो उस भूमि से क्यों न। सुवर्ण निकलेगा ? ।।१६४३।।

वहाँ की नदियों में भूप। क्यों न बहेगा अमृत अमाप।
आश्चर्य न करिये आप। सोच कर देखिये ।।१६४४।।

उनके स्वच्छंद शब्द। निश्चय ही बन जाते वेद।
सदेह सच्चिदानंद। क्यों न होंगे वे ? ।।१६४५।।

श्रीकृष्ण तथा कमला जिसके। जनक जननी होते।
उसे दोनों वश हो जाते। स्वर्ग तथा अपवर्ग ।।१६४६।।

लक्ष्मीपति श्रीधर। जिसका है पक्षधर।
सिद्धियाँ वहाँ जोड़े कर। सिद्ध रहतीं ।।१६४७।।

मेघ बनता सागर से। पर उपयोगी अधिक उससे।
अर्जुन भी अधिक वैसे। श्रीकृष्ण से उपयुक्त ।।१६४८।।

लोहे को सुवर्ण बनाता। अतः पारस को प्राप्त गुरुता।
पर जगत को पाल-पोसता। सुवर्ण ही ।।१६४९।।

यहाँ गुरुता को आती न्यूनता। ऐसा यदि कोई कहता।
वह जाने दीप बन फैलाता। वह्नि स्वप्रकाश ।।१६५०।।

वैसे पा कर देवसामर्थ्य। अधिक योग्य बना पार्थ।
अतः उसकी स्तुति में भगवंत। गौरव अनुभव करता ।।१६५१।।

पुत्र के हाथों मिले शिकस्त। यही पिता की होती चाहत।
कृष्ण में हुई फलित। वही इच्छा पिता की ।।१६५२।।

श्रीकृष्ण की कृपा पाते। पार्थ ऐसा हुआ नृपते।
कि जहाँ उसके चरण जमते। आत्मीयता से ।।१६५३।।

विजयस्थान होता वहीं। इसमें सन्देह करो नहीं।
विजय होगी व्यर्थ ही। यदि न बसे वहाँ ।।१६५४।।

अतः जहाँ श्री तथा श्रीकृष्ण। जहाँ पण्डुसुत अर्जुन।
वहाँ विजय सम्पूर्ण। तथा अभ्युदय भी ।।१६५५।।

श्रीव्यास के कथन पर। यदि आस्था हो नृपवर।
तो मेरी बात का अक्षर-अक्षर। सच मानिये ।।१६५६।।

जहाँ लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण। तथा जहाँ भक्त जन।
वहाँ सुख मांगल्य सम्पूर्ण। अवश्य होगा ।।१६५७।।

असत्य हुआ मेरा वचन। तो व्यासशिष्य कहलाऊँगा न।
ऐसे बाहु उठा गर्जन। किया संजय ने ।।१६५८।।

ऐसे भारत का रहस्य। एक श्लोक में बद्ध कर।
सौंपा धृतराष्ट्र को समग्र। संजय ने ।।१६५९।।

अग्नि मर्यादातीत। बाती पर कर प्रज्ज्वलित।
सूर्यप्रकाश का होते अस्त। लाते तिमिर मिटाने ।।१६६०।।

वैसे शब्दब्रह्म वेद अनंत। उसके सवा लाख भारत।
सप्तशती गीता उदात्त। सर्वस्व उसका ।।१६६१।।

सप्तशती गीता का इत्यर्थ। इस अन्तिम श्लोक में ग्रथित।
व्यासशिष्य संजय का होत। पूर्णोद्गार जो ।।१६६२।।

इसी एक श्लोकानुसार। जिसका हो सारा व्यवहार।
उसने अविद्या का आधार। नष्ट किया जानो ।।१६६३।।

ऐसे सात सौ श्लोक सुन्दर। गीतापद के अलंकार।
नहीं ! परमामृत यह मधुर। गीता आकाश का ।।१६६४।।

आत्मा महान नृपवर। गीता उसका सभागार।
जिसके ये स्तम्भ सुंदर। श्लोक सात सौ ।।१६६५।।

अथवा गीता है सप्तशती। मंत्र प्रतिपाद्य भगवती।
मोह महिष को दे मुक्ति। आनंदित जो ।।१६६६।।

काया, वाचा, मन से अतः। गीता-सेवा में जो निरत।
स्वानंद साम्राज्य का प्राप्त। चक्रवर्तित्व उसे ।।१६६७।।

जो अविद्या का अन्धकार। निश्चय ही करते दूर।
ऐसे ये श्लोक-सूर्य प्रखर। किये प्रकाशित कृष्ण ने ।।१६६८।।

जिस पर श्लोकाक्षर अंगूरलता। ऐसा मंडप मानो गीता ।
विश्राम के लिये है रचा। संसार यात्रा में ।।१६६९।।

श्रीकृष्ण दिव्य सरोवर। जिसमें श्लोक-कमल मनोहर ।
भाग्यवान संत-भ्रमर। लूटते मकरंद जिनका ।।१६७०।।

गीता की महिमा अपार। बखानते जो निरंतर ।
ऐसे मानो भाट चतुर। ये गीता श्लोक ।।१६७१।।

या सात सौ श्लोकों की चहुँ ओर। बना कर दृढ़ प्राचीर ।
सभी शास्त्र सपरिवार। बसे गीतापुरी में ।।१६७२।।

आत्मरूपी प्रिय को। प्रेमालिंगन देने को ।
फैला श्लोक-बाहुओं को। मानो आई गीता ।।१६७३।।

ये गीता कमल के भृंग। या गीतासागर के तरंग ।
अथवा गीतारथ के तुरंग। श्लोक सात सौ ।।१६७४।।

या सभी तीर्थ-संघात। गीतागंगा में अवतरित ।
कारण अर्जुन सिंहस्थ। पर्व हो गया ।।१६७५।।

अथवा यह श्लोक श्रेणी। अचिन्त्य की चिन्तामणि ।
या कल्पतरु की रोपनी। निर्विकल्प के लिये ।।१६७६।।

ये सात सौ गहने। एक से एक बढ़िया बने ।
कैसे चुने इने गिने। इनमें से कोई ।।१६७७।।

यह एक बहुदुधा। दूजी नहीं उतनी दुधा ।
ऐसा अंतर क्या किया जाता। कामधेनुओं में ? ।।१६७८।।

अगला-पिछला दीप को। छोटा-बड़ा सूर्य को ।
गहन-उथला अमृतसिंधु को। कैसे बतायें ? ।।१६७९।।

प्रथम या अन्तिम। गीताश्लोकों का नहीं नाम ।
क्या कल्पतरु के क़ुसुम। होते नये-पुराने ? ।।१६८०।।

श्लोक नहीं हैं विषम। इसका क्या दूँ प्रमाण ? ।
यहाँ कतई नहीं भिन्न। वाच्य तथा वाचक ।।१६८१।।

इस शास्त्र में है एक। श्रीकृष्ण ही वाच्य-वाचक ।
जानते हैं सभी लोग। सिद्धान्त प्रख्यात ।।१६८२।।

अर्थ-ज्ञान या पारायण। दोनों का फल समान ।
कारण यहाँ एकीकरण। वाच्य-वाचक का ।।१६८३।।

अतः मुझे यहाँ कोई। समर्थन का विषय नहीं ।
वाङ्मयमूर्ति प्रभु की। यह भगवद्गीता ।।१६८४।।

अन्य शास्त्र ज्ञान देते। और फिर लोप होते ।
हाल ऐसे नहीं होते। यहाँ सकल परब्रह्म ही ।।१६८५।।

करने कृपा विश्व पर। महानंद को आसान कर ।
अर्जुन के निर्मित्त किया साकार। गीता में देव ने ।।१६८६।।

चकोर का कर निमित्त। तीनों भुवन संतप्त ।
शान्त करता कलावंत। चन्द्र जैसे ।।१६८७।।

कलिकाल का महाज्वर। उतारने के लिये शंकर ।
गौतम के निमित्त भू पर। लाते गंगा को ।।१६८८।।

करने कल्याण जगत का। श्रीकृष्णरूपी गोमाता ।
निमित्त कर भारत का। गीता-दुग्ध देती ।।१६८९।।

गीता में गोता लगाओगे। तो गीतामय हो जाओगे ।
या जिव्हा को कष्ट दोगे। केवल पारायण का ।।१६९०।।

तब भी जैसे लोहकण। पारस स्पर्श पा सहज ।
बन जाता अनायास। शुद्ध सोना ।।१६९१।।

वैसे श्लोकपदों का घूँट। जिस क्षण चखेंगे होंठ ।
तन होगा हृष्ट-पुष्ट। ब्रह्मत्व से ।।१६९२।।

अथवा बिना किये पारायण। करोगे केवल गीता श्रवण।
तब भी वही फल सम्पूर्ण। प्राप्त होगा ।।१६९३।।

श्रवण, पठन, मनन का। मोक्षफल ही देती गीता।
जैसे दानसमर्थ दाता। ना न करता किसी को ।।१६९४।।

अतः जो-जो है ज्ञाता। सेवा के लिये चुने गीता।
अन्य शास्त्रपठन का। क्या उपयोग ? ।।१६९५।।

कृष्णार्जुन ने परस्पर। मुक्त चर्चा की सविस्तार।
लेने योग्य उसे करतल पर। किया व्यास ने ।।१६९६।।

माता पास बैठ कर। बालक को कराती भोजन।
उसकी शक्ति जान कर। ग्रास देती ।।१६९७।।

हवा होती सर्वत्र। पर उसे पंखा झल कर।
मोड़ लेते अपनी ओर। जन सयाने ।।१६९८।।

वैसे ज्ञान जो शब्दातीत। उसे अनुष्टुभ में कर ग्रथित।
स्त्री-शूद्र के लिये मुक्त। किया व्यास ने ।।१६९९।।

यदि स्वाती की बूँद से। मोती उत्पन्न नहीं होते।
तो क्या उन्हें धारण करते। रूपवान लोग ? ।।१७००।।

वाद्यों में नाद न होता। तो कैसे कोई जान पाता ?।
अथवा फूल ही नहीं होता। तो कैसे आता सुगंध ? ।।१७०१।।

मिष्टान्न में मिठास न होती। तो जीभ कैसे स्वाद जानती ?।
क्या बिना दर्पण के दिखतीं। आँखें आँखों को ? ।।१७०२।।

अथवा श्रीगुरु सर्वद्रष्टा। सगुण साकार नहीं होता।
तो शिष्य कैसे उसे जानता। उपासना से ? ।।१७०३।।

वैसे ब्रह्म शब्दातीत। इन श्लोकों में सप्तशत।
यदि न होता निरूपित। किसकी समझ में आता ? ।।१७०४।।

मेघ सिंधु का जलवाहक। पर लोग मेघदर्शन के उत्सुक।
सिंधु असीम, नहीं शंक। किसी के काम का ? ।।१७०५।।

वाचा के लिये भी अगोचर। ये श्लोक न होते सुंदर।
तो श्रवण, प्रवचन उनका घर पर। कैसे सम्भव होता ? ।।१७०६।।

अतः व्यास ने बड़ा उपकार। किया है इस विश्व पर।
जो दिया ग्रंथाकार। श्रीकृष्ण वचन को ।।१७०७।।

वही गीता ग्रंथ सांप्रत। व्यासपदों को कर लक्षित।
स्वभाषा में प्रस्तुत। किया मैंने ।।१७०८।।

दिव्य ज्ञान व्यासादि के। जहाँ सशंक हो जाते।
मैंने वहाँ अज्ञानी होते। भी किया यह व्याख्यान ।।१७०९।।

यह गीतारूपी देवता। व्यासोक्ति की माला पहनता।
फिर भी नहीं नकारता। मेरे इस दूर्वादल को ।।१७१०।।

क्षीरसागर के तट पर। पानी पीने आते कुंजर।
क्या उड़ाते रहते मच्छर। पानी पीते ? ।।१७११।।

गरुड़ अत्यंत वेगवान। जिस गगन में भरता उड़ान।
नए पखेरू उड़ने का जतन। करते उसी गगन में ।।१७१२।।

राजहंस की चाल। होती बड़ी शानदार।
इसलिये क्या इतर। चलना ही छोड़ दें? ।।१७१३।।

कलश जितना बड़ा होता। बहुत पानी समा लेता।
पर क्या चुल्लू में न आता। चुल्लूभर पानी ? ।।१७१४।।

दिवली का बड़ा आकार। अतः तेज देती भरपूर।
बाती निज सामर्थ्यानुसार। प्रकाश देती तो है ।।१७१५।।

सागर में सागर-सा बड़ा। आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ा।
डबरे में डबरे जितना। पड़ता तो है ।।१७१६।।

वैसे व्यासादि महाज्ञानी। गीताचिन्तन में अग्रणि।
अतः हम जैसे अल्पमति। क्यों न करें चिन्तन ? ।।१७१७।।

जिस सागर में मंदाराकार। विचरते रहते जलचर।
अतः क्या छोटे इतर। रहते नहीं मीन ? ।।१७१८।।

अरुण सूर्य के पास रहता। अतः उसको देख सकता।
क्या धरती की चींटी को न होता। दर्शन सूर्य का ? ।।१७१९।।

हमने स्वभाषा में अतः। की है गीता निवेदित।
इसमें क्या किया अनुचित। कहिये भला ? ।।१७२०।।

पिता गया आगे चल कर। उसके पदचिह्न देख कर।
बालक चला अनुसरण कर। क्या स्वस्थान न पहुँचेगा ? ।।१७२१।।

वैसे व्यास-पदचिह्नों पर चल कर। भाष्यकारों से राह पूछ कर।
चला मुझ जैसा अपात्र। क्या योग्य स्थान न जायेगा ? ।।१७२२।।

जिस क्षमा-बल पर धरती। स्थावर जंगम सम्भालती।
लिये जिसकी अमृतशक्ति। चंद्रशीतल करता जगत को ।।१७२३।।

जिसके तेज का अंश मात्र। तेजो निधि करता प्राप्त।
तभी होता है समर्थ। तिमिर को हटाने ।।१७२४।।

समुद्र में तोय। तोय में माधुर्य।
माधुर्य में सौन्दर्य। भरा जिसने ।।१७२५।।

जिसके बल पर वायु प्रबल। जिसके कारण नभ विशाल।
सार्वभौम तथा उज्जवल। ज्ञान होता जिससे ।।१७२६।।

जो देता वाचा वेद को। तथा उल्लास सुख को।
जिसके कारण विश्व को। प्राप्त होता रूप ।।१७२७।।

वह सर्वोपकारी समर्थ। सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ।
मेरे अन्तरतम को नितान्त। व्याप्त कर रहा है ।।१७२८।।

अतः यह गीता विश्व में। कही मैंने स्वभाषा में ।
तो भला क्या इसमें। बात आश्चर्य की ? ।।१७२६।।

माटी की ही गुरुमूर्ति। पहाड़ों में जिसके पास थी ।
उस एकलव्य को कीर्ति। मिली त्रैलोक्य में ।।१७३०।।

चन्दन की संगत में वृक्ष। बन जाते चन्दन प्रत्यक्ष ।
सूर्य-सी हुई प्रदीप्त। कफनी वसिष्ठ की ।।१७३१।।

व्याख्यान का शौक मुझको। है सद्गुरु झेलने को ।
जो दृष्टिपात से शिष्य को। देते निजरूप ।।१७३२।।

दृष्टि हो पहले ही सतेज। धूप भी खिली हो सतेज ।
फिर दिखाई न दे ऐसी चीज़। क्या होगी जगत में ।।१७३३।।

अतः मेरे श्वासोच्छ्वास। काव्य बनेंगे, है विश्वास ।
गुरुकृपा से क्या न सम्भव। कहे ज्ञानदेव ।।१७३४।।

मैंने स्वभाषा में अतः। गीतार्थ किया व्यक्त ।
ताकि सबको हो सुगम। बोध इसका ।।१७३५।।

किन्तु स्वभाषा में गीता का। अर्थ बताया नीका ।
तो देख दोष गायक का। उदास होइये नहीं ।।१७३६।।

अतः जो चाहे गीता गाना। उसके गायन का होगा गहना ।
जो चाहे केवल पाठ करना। वक्तृत्व पायेगा ।।१७३७।।

सुंदर तन पर न हो अलंकार। वह फिर भी दिखता मनोहर ।
वह पहन ले गहने सुंदर। इससे उचित क्या ? ।।१७३८।।

सोने में मोती जड़े। तो सोने की शोभा बढ़े ।
अकेले भी सुहाते बड़े। आभा से अपनी ।।१७३९।।

वैसे वसंत के आते। खुले हो या गूँथे ।
परिमल में न्यून न होते। बेला के फूल ।।१७४०।।

वैसे गीतासहित इसे गाता। या केवल इसका ही गायन करता।
उसके गायन में रंग भरता। यह ग्रंथ ओवीबद्ध ।।१७४१।।

आबालवृद्ध को सुबोध। ऐसे अक्षर ओवीबद्ध।
रचे यहाँ अत्यन्त शुद्ध। ब्रह्मरस में सुस्वादु ।।१७४२।।

चन्दन का सुगंध मंद। फैले सर्वत्र इसके हित।
न जोहनी पड़ती बाट। उसमें फूल आने की ।।१७४३।।

वैसे इस ग्रंथ का करते श्रवण। समाधिसुख मिलता तत्क्षण।
सुनते ध्यान से व्याख्यान। अपना व्यसन लगाता ।।१७४४।।

इस ग्रंथ का करते पठन। पांडित्य प्राप्त होता पूर्ण।
करने पर इसका प्रवचन। मानो अमृत बरसाता ।।१७४५।।

वैसे यह कवित्व अनायास। प्रकट हुआ यहाँ विशेष।
इसके श्रवण से काम अशेष। मनन-निदिध्यासन का ।।१७४६।।

इसका सेवन जो करेगा। स्वानंद का सुख भोगेगा।
श्रवण द्वारा कर लेगा। तृप्त सब इन्द्रियों को ।।१७४७।।

चकोर चातुर्य के कारण। चन्द्रामृत का करता प्राशन।
पर चाँदनी का सर्व जन। उपभोग लेते ।।१७४८।।

वैसे इस अध्यात्मशास्त्र में। अधिकारी पहुंचेंगे अंतरतम में।
इतर केवल वक्तृत्व से। होंगे आनन्दित ।।१७४९।।

ऐसे निवृत्तिनाथ की। महिमा है अत्यंत नीकी।
यह ग्रंथ नहीं, है उन्हींकी। कृपा-वैभव-गाथा ।।१७५०।।

क्षीरसिंधु के परिसर में। शक्ति के कर्णकुहर में।
श्रीशंकर ने किसी समय में। कहा जो योगतत्त्व ।।१७५१।।

तब क्षीरसागर की तह में। मत्स्येन्द्रनाथ मत्स्य उदर में।
रहते थे गुप्त रूप में। उन्होंने पाया जो ।।१७५२।।

मत्स्येन्द्र को सप्तशृंगी में। श्री चौरंगीनाथ थे मिले ।
जिनके भग्नावयव उस भेंट में। हुए थे परिपूर्ण ।।१७५३।।

फिर समाधि अव्यत्यय। भोगने की इच्छा से स्वयं ।
गोरक्ष को योगज्ञान। मत्स्येन्द्र ने दिया वह ।।१७५४।।

जो योगकमल का सरोवर। विषय ध्वंसक महावीर ।
उस गोरस को योगाधिकार। मत्स्येन्द्र ने पूरा दिया ।।१७५५।।

फिर शंकर का दिव्य ज्ञान। जो अद्वयानंद परिपूर्ण ।
वह गोरक्ष ने किया अर्पण। श्री गहिनीनाथ को ।।१७५६।।

फिर भूतजात को समस्त। देख कर कलिकालग्रस्त ।
आज्ञा देते गहिनीनाथ। श्रीनिवृत्तिनाथ को ।।१७५७।।

कि आदिगुरु श्री शंकर। उनका रहस्य ज्ञान अपार ।
शिष्य परम्परा से वह समग्र। आया हमारे पर्यन्त ।।१७५८।।

उसे कर समग्र ग्रहण। तारने कलिग्रस्त जन-जन ।
विलम्ब न करो एक क्षण। दौड़ जाओ शीघ्र ही ।।१७५९।।

पहले ही कृपालु निवृत्तिनाथ। उस पर गुरु से आज्ञापित ।
मानो मेघों के लिये प्राप्त। वर्षाकाल दयालु ।।१७६०।।

फिर आर्तजन की लगन से। गीतार्थ के निमित्त से ।
शांत रस की धारा बरसे। वही यह ग्रंथ ।।१७६१।।

था चातक-सा मैं तृषार्त। दौड़ कर हुआ प्रस्तुत ।
अतः हुआ यह यश प्राप्त। सौभाग्य से मुझे ।।१७६२।।

ऐसे परम्परा से प्राप्त। अपनी समाधि विरासत ।
इस ग्रंथबोध के निमित्त। मुझे दी निवृत्तिनाथ ने ।।१७६३।।

मैंने न किया पठन वाचन। मुझे न गुरुसेवा का ज्ञान ।
फिर ग्रंथ का करने निर्माण। मैं पात्र कैसे ? ।।१७६४।।

पर कृपालु सद्गुरुनाथ। मुझे कर मात्र निमित्त ।
विश्वरक्षार्थ यह ग्रंथ। रचा उन्होंने ।।१७६५।।

फिर भी पुरोहित की नाईं। मैंने जो न्यूनाधिक बातें कहीं ।
आप बन कर मैया भाई। झेल लीजे कृपया ।।१७६६।।

शब्दयोजना कैसी करते। सिद्धान्त कैसे प्रस्तुत करते ।
अलंकार कैसे साधते। मैं न जानता कुछ भी ।।१७६७।।

जैसे गुड़िया कठपुतली। सूत्र चलाया तो चली ।
मेरे मुख में वैसे बोली। मेरे स्वामी की ही ।।१७६८।।

अतः गुणदोषों के लिये ग्रंथ के। शब्द क्षमायाचना के ।
मैं न बोलूँगा क्योंकि इसके। रचनाकार सद्गुरु ।।१७६९।।

और सभा ने आप सन्तों की। कोई त्रुटि सम्मत नहीं की ।
तो कारण ममता से आपकी। मैं होऊँगा कुपित ।।१७७०।।

पारस ने स्पर्श किया। और लौहत्व नहीं गया ।
तो इसमें दोषी कौन हो गया। आप ही बताइये ।।१७७१।।

प्रवाह इतना ही करेगा। कि गंगा में जा मिलेगा ।
फिर भी न हुआ वह गंगा। तो दोष किसका ? ।।१७७२।।

मेरे अहोभाग्य के कारण। आप सन्तों के मिले चरण ।
अब क्या रहेगा अपूर्ण। जगत में मेरा ? ।।१७७३।।

अजी मेरे सद्गुरु ने। आपकी शरण में डाला मुझे ।
अतः सभी मनोरथ मेरे। हो गये परिपूर्ण ।।१७७४।।

आप जैसा परम उदार। मुझे मिला पीहर ।
अतः पूरा मेरा शौक अपार। हुआ ग्रंथरचना का ।।१७७५।।

शुद्ध सुवर्ण का सकल। गढ़ा जा सकता भूमंडल ।
चिन्तामणि का कुलांचल । बनाया जा सकता ।।१७७६।।

सातों सागरों में अविरत। भरा जा सकता अमृत ।
यह तारागण समस्त। चंद्रगण किया जा सकता ।।१७७७।।

कल्पतरु का उद्यान। रोपना नहीं कोई कठिन ।
पर गीतारहस्य का आकलन। है सबसे गहन ।।१७७८।।

मैंने गूँगा होते हुए भी। स्वभाषा में कहा वही ।
ताकि सभी लोग इसे सही। देख सकें आसानी से ।।१७७९।।

इतना यह ग्रंथसागर। लाँघ कर किया पार ।
और उसके उस पार। कीर्तिध्वज श्रीगुरु का ।।१७८०।।

यह गीतार्थ का देवालय। उस पर यह शिखराध्याय ।
उसमें सद्गुरु की मूर्ति सदय। पूँजी मैंने भक्ति से ।।१७८१।।

गीता ममतामयी माता। मुमुक्षु पुत्र समुदाय भटकता ।
तो माता-पुत्र को मिलाना। धर्म आप सन्तों का ।।१७८२।।

मुझ पर आप सभी सन्तों ने। कृपा की अतः मैं ।
समर्थ हुआ इस प्रवचन में। कहे ज्ञानदेव ।।१७८३।।

अधिक क्या कहूँ देवता। जन्म सार्थक हुआ सर्वथा ।
ग्रंथकार्य समापनता। दिखाई आपने ।।१७८४।।

जो-जो आशा मन में धर कर। करता था मैं आप पर निर्भर ।
उसे कृपापूर्वक पूरी कर। सुखी किया मुझे ।।१७८५।।

मेरे लिये सद्गुरु आप ही। ग्रंथसृष्टि रच गये अनोखी ।
जिसे देख हँसते हम भी। विश्वामित्र ऋषि को ।।१७८६।।

चले थे त्रिशंकु के बहाने। विधाता को नीचा दिखाने ।
भंगुर सृष्टि रची उन्होंने। आपकी सृष्टि शाश्वत ।।१७८७।।

उपमन्यु के वात्सल्य से। क्षीराब्धि बनाया शिव ने ।
पर उर में विष होने से। यह भी न इसके जैसा ।।१७८८।।

तिमिर और निशाचर। इनसे त्रस्त चराचर।
प्रार्थना करते आया भास्कर। पर तापदायक बड़ा ।।१७८६।।

जगत की देख कर तपन। चाँदनी का जो करे वर्षण।
कैसे मानें इसके समान। क्षयी कलंकी चन्द्र को ? ।।१७९०।।

अतः आप सन्तों ने ही। ग्रंथ रचना मुझसे करवाई।
जो त्रिभुवन को उपयोगी। अतः सर्वथा निरुपम ।।१७९१।।

आपने करवाया इसी कारण। सम्पन्न हुआ यह धर्मकीर्तन।
अब आपकी सेवा के बिन। मुझे कुछ भी न चाहिये ।।१७९२।।

अब विश्वात्मक ईश। इस वाग्यज्ञ से पाये सन्तोष।
प्रसन्न हो साशीष। देवे पसाउदान यह ।।१७९३।।

कि खलों की कटुता मिटे। उनकी सत्कर्म में रुचि बढ़े।
प्राणिमात्र में मैत्री जुटे। परस्पर ।।१७९४।।

पाप का तिमिर जाये। विश्व में स्वधर्म सूर्योदय होवे।
जो-जो चाहे वही पाये। प्राणिजात ।।१७९५।।

मंगल बरसाते अक्षय। ईश्वरनिष्ठों के समवाय।
भूतल पर बिना प्रत्यवाय। मिलें सबको ।।१७९६।।

उद्यान चल कल्पतरु के। गाँव चेतना चिन्तामणि के।
जो अर्णव पीयूष के। मुखरित ।।१७९७।।

चन्द्र जो हैं अलांछित। मार्तण्ड जो तापरहित।
वे सभी के सुचरित। प्रियजन होवें ।।१७९८।।

अधिक क्या यह त्रिलोक। पा कर सम्पूर्ण सुख।
आदिपुरुष को अहर्निश। भजे अखंडित ।।१७९९।।

तथा जो-जो भक्तिभावी। जो विशेष ग्रंथोपजीवी।
इह-पर भोगों पर विजयी। होते रहें ।।१८००।।

तब कहते विश्वेशराऊ। यह होगा दान-पसाऊ।
इस वर से ज्ञानदेव। सुखी हो गया ।।१८०१।।

ऐसे इस कलियुग में। तथा महाराष्ट्र देश में।
गोदावरी के दक्षिण में। प्रशान्त तट पर ।।१८०२।।

पंचक्रोशी में अनादि क्षेत्र। नेवासे नामक अतिपवित्र।
जहाँ से विश्व का जीवनसूत्र। चलाते मोहिनीराज ।।१८०३।।

वहाँ यदुवंशोत्पन्न। सब कलाओं का केतन।
था न्यायनीतिसम्पन्न। राजा रामचन्द्र ।।१८०४।।

महेश्वर परम्परागत। निवृत्तिनाथ का प्रिय सुत।
ज्ञानदेव करता ग्रथित। गीता स्वभाषा में ।।१८०५।।

महाभारत ग्रंथ में। प्रख्यात भीष्म-पर्व में।
कृष्णार्जुन के बीच में। जो संवाद वर्णित ।।१८०६।।

वह उपनिषदों का सार। सब शास्त्रों का पीहर।
रम्य क्रीड़ा सरोवर। परमहंस का ।।१८०७।।

ऐसी गीता का पूर्ण कलश। यह अध्याय अष्टादश।
कहे ज्ञानदेव निवृत्तिदास। हुआ सम्पूर्ण यहाँ ।।१८०८।।

पुण्य सम्पदा इस ग्रंथ की। होवे सम्पत्ति जन-जन की।
सबको उत्तरोत्तर सुख की। सम्पूर्ण प्राप्ति होवे ।।१८०९।।

शक संवत् बारह सौ बारह। टीका रच गये ज्ञानेश्वर।
सच्चिदानन्दबाबा लिपिक। हुआ उनका ।।१८१०।।

मराठी ज्ञानेश्वरी प्रचलित। सुगम हिन्दी में अनूदित।
सर्व गीतार्थ संग्रह नामक समाप्त। उसका अध्याय अठारहवाँ ।।

समाप्त



[illegible] कोई ।
[illegible]ती नहीं जिसे ॥

इह पर लोक में सकल ।
जिसके सुख-दुख में ही केवल ।
पाये ही अपने जीवन का फल ।
माना जिसने ॥

पशु-पक्षी, ये शब्द भुलाता ।
सबमें मुझे ही देखता ।
इसीलिये जो निर्वैर होता ।
और भजता मुझे ॥

ऐसा जो मेरा भक्त होता ।
वह [illegible]ता ।
[illegible] ।
[illegible] ॥